महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितायां श्रीमद्भागवत–

सुबोधिन्यां

तृतीयः स्कन्धः

(अध्याय : २०–३३)

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

कंसारा बजार, मांडवी–कच्छ,

गुजरात–३७०४६५

Tel. 02834-231463

Email:gosharad@rediffmail.com

www.vallabhacharyavidyapeeth.org

www.pushtimarg.net

सम्पादक :

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ–पार्ला)

गोस्वामी श्रीशरद्कुमार (मांडवी–कच्छ)

प्रकाशन वर्ष :

वल्लभाब्द ५४१,

वि.सं.२०७५, सन.२०१९

प्रति : ५००

मुद्रक :

पूर्वी प्रेस्, राजकोट

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकॆ:

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती) १०
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) निःशुल्क
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी) निःशुल्क
पुष्टिप्रवेश १–२ ले. : गो.शरद् (गुज) २०
पुष्टिप्रवेश–१–२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)१०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती) ३०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) २०
प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती) २०
Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद् ६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा अप्राप्य
साधनाप्रणाली संगोष्ठी अप्राप्य
अधिकारपरिचर्चा दुर्लभ
पुष्टिभक्तिमॆ कथासाधना संगोष्ठी अप्राप्य
शरणागति विचारगोष्ठी ५०
सेवा–समर्पण विचारगोष्ठी ५०
पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमॆ प्रतिबन्ध १००
जघन्याधिकार विचारगोष्ठी ८०
पुष्टिफलमीमांसा १००
पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच २५
पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत–संक्षिप्तविवरण) १००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा २००
अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी २००
प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी २००
वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

नित्यस्तोत्रपाठ:

पुष्टिपाठावली (हिन्दी) २०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) २०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) पोकेट साईझ १०
पुरुषोत्तमसहस्रनाम–त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद) २०

सन्दर्भग्रन्थ:

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०
Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद १५
अमृत वचनावली (गुजराती) निःशुल्क
अमृत वचनावली (हिन्दी) निःशुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:

पुष्टिविधानम्–२(व्याकरणम्) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थॊका पदच्छेद–अन्वय– शब्दपरिचय–वृत्तिपरिचय १००
पुष्टिविधानम्–३ (व्रजभाषा) श्रीवल्लभाचार्य–श्रीगोपीनाथजी–श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थॊका शब्दार्थ–श्लोकार्थ–विवेचन–पादानुक्रमणिका १५०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००
श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीकल्याणजी कानजी शास्त्री ४००

श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी
श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण सहित ५०
विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०
गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य
सेवा[हिन्दी] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवा[गुज.] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य
श्रीकृष्णचरित्र (दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी अप्राप्य
रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवाकौमुदी[(हिन्दी)], विषय: नवधाभक्ति, लेखक: श्रीलालूभट्टजी. व्याख्याता:गो.श्रीश्या.म.अप्राप्य
भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य
षोडशग्रन्थगतउपदेशोअनेतेमनी६४वार्ताओ,लेखक:श्रीभूपेन्द्रभाटीया अप्राप्य
कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद अप्राप्य
जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य, सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र, पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थॄकी टीकाआॄका गुजराती अनुवाद. ७०
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण)(संस्कृत-गुज.-हिन्दी) १००
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-६(उपनिषद्-गीताविवृति) संस्कृत २००
श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी प्रथम खंड (अध्याय १-१९) संस्कृत २००

इतिहास

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५
आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव[गुज.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव[हिन्दी.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद

प्रथमस्कन्ध १०० द्वितीयस्कन्ध १००

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य निःशुल्क श्रीगोपीनाथप्रभुचरण निःशुल्क
महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क

गोशाला : मांडवी-कच्छ मॄ प्राकृतिक वातावरणमॄ गोपाल गोशाला.

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

।। श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ ।।

। संस्कृत, शास्त्र और सम्प्रदाय के अध्ययनके लिए समर्पित पुष्टिमार्गीय केन्द्र ।

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाआृसे सुसज्ज.

पता : २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, गरबा ग्राउंडके पीछे, हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात-३८९३५०. फोन : 02676-225171, 9428514130

व्होट्स्एप द्वारा श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ तथा पुष्टिमार्ग सम्बन्धी महात्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त करनेकेलिए सम्पर्क करृ : विद्यापीठ : 094262623565

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/
http://www.pushtimarg.net/

टेलि कोन्फरन्स्-पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल-वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीआृ केलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थाृका अध्यापन विद्‌वान् आचार्यवंशजाृ द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् के माध्यमसे होता है. **सम्पर्क:** विद्यापीठ : 02676-225171, नीरजभाई(यु.एस्.ए.):+7325424165. gosharad@rediffmail.com

Subscribe us on You Tube **'Pushtiswadhyay'**

Like our page on Facebook : Sri Vallabhacharya Vidyapeeth

Pushti-Vidya **'पुष्टिविद्या' मोबाईल् एप्लिकेशन् :**

आधुनिक संसाधनाृ का उपयोग करने वाले पुष्टिमार्गी तथा पुष्टिमार्गमृ रुचि रखनेवाले जिज्ञासु जनाृको पुष्टिमार्गका यथार्थ परिचय करानेके उद्देश्य से प्रस्तावित की गई है। इसमृ पुष्टिमार्गीय टीप्पणी (कैलृडर), उत्सवाृका परिचय, सिद्धान्तसूक्तियाँ, कीर्तन, प्रवचन, ग्रंथाृ का अध्यापन, सिद्धांत सम्मत प्रणालीसे आयोजित होते कार्योकी जानकारी, टेलीफोनिक कॉन्फरेन्ससे होते नित्य पुष्टिस्वाध्याय की जानकारी, उनकी रेकॉर्डिंगक तथा उनकी लिंक आदि विषय इस एप्लिकेशनमृ क्रमिक रूपसे उपलब्ध कराये जायृगे।

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित–पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्

खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी

खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

प्रकाश–रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

खंड १–२. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ

खंड ३. द्वितीयाध्याय

खंड ४. तृतीयाध्याय

खंड ५. चतुर्थाध्याय

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

खंड १. शास्त्रार्थ–सर्वनिर्णयप्रकरण

खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १–५

खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६–१२

पुष्टिविधानम् गुजराती, व्रज तथा संस्कृत संस्करण

श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

वल्लभाख्यान (सप्तटीकोपेत)

श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

खंड १. प्रथम–द्वितीयस्कन्ध

खंड ४. जन्मप्रकरण

खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण

खंड ६. तामसप्रमेय–साधनप्रकरण

खंड ७. तामसफलप्रकरण

खंड ८. राजसप्रमाण–प्रमेयप्रकरण

खंड ९. राजससाधन–फलप्रकरण

खंड १०. सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण

खंड ११. गुणप्रकरण

सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुलर्भ

वेदान्ताधिकरणमाला–भावप्रकाशिका

विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

प्रस्थानरत्नाकर

विद्वन्मण्डनम्

श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि

वादावली : ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्य–स्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चितप्रकृत्यधि–करणसमालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः

अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनवादः, भागवतस्वरूप–विषयकशंकानिरासवादः, उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः, भगवत्प्रति–कृतिपूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्र–धारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्र–धारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः यमुनाष्टपदी, प्रबोधः, मंगलारार्तिकार्या, व्रतचर्या, प्रेङ्खपर्याङ्कविवृति, 'लालयति' पलनापद, राजभोगारार्तिकार्या, वसन्ताष्टपदी, शयनारार्तिकार्या, चतुःश्लोकी, रक्षास्मरणम्, गीताहेतुतात्पर्यम्, मुक्तितारतम्यम्, भक्तिजीवनम्, अस्मत्कुलस्वरूपवर्णनम्, सेवाश्लोकाः, गायत्रीव्याख्या, परिशिष्ट : महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्य विरचित तेलगुपद, पदविवरण, श्रीमत्प्रभुचरणस्वरूपनिर्णयव्याख्यानम्.

श्रीमत्प्रभुचरणकृता स्ताविज्ञाप्तयः राधाकैङ्कर्यप्रार्थना, स्वामिन्यष्टकम्, स्वामिनीप्रार्थनाष्टपदी, स्वामिनी–स्तोत्रम्, ललितत्रिभङ्गीस्तोत्रम्, गोकुलाष्टकम्, लालयति दोलिकामञ्चशयनम्, भुजंगप्रयाताष्टकम्, विज्ञप्तयः, शयनारार्तिकार्या, विज्ञप्तयः.

सम्पर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३.स्वस्तिक सोसायटी, ४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई

।। प्रकाशकीय ।।

सप्रकाश सुबोधिनी तृतीयस्कन्धका प्रकाशन गोस्वामी तिलकायत नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी महाराज की आज्ञासे आज से ९० वर्ष पूर्व, वि.सं. १९८४ मृ विद्याविभाग(श्रीनाथद्वारा) ने किया था. गो.वा.श्रीनन्दकिशोर शास्त्री उसके सम्पादक थे. ग्रन्थके सम्पादनकेलिए तिलकायतश्रीने अपने निजी पुस्तकालयमृसे चार हस्तलिखित प्रतियां उनको उपलब्ध करायीं थीं.

तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी पर गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित 'प्रकाश' की दो दुर्वाच्य प्रतियां सम्पादकको विद्याविभाग(श्रीनाथद्वारा)से प्राप्त हुई थी. तत्पश्चात् मुम्बई निवासी गो.वा.श्रीधीरजलालभाईके पाससे उनकेद्वारा प्रतिलिपि की हुई तृतीयस्कन्ध प्रकाशकी एक प्रति तथा नि.ली.गो.श्रीगोकुलनाथजी महाराज (मुम्बई) के संग्रहमृसे भट्ट श्रीरमानाथ शास्त्री द्वारा इसकी एक ओर प्रति सम्पादकको प्राप्त हुई. इन सभी प्रतियॄके, किन्तु, अपूर्ण-अशुद्ध होनेके कारण 'प्रकाश' टीकाके प्रामाणिक पाठके निर्धारणमृ तत्कालीन विद्वान् श्रीसदानन्द झा और श्रीपुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदीने अध्याय १-२० पर्यन्त तथा शेष ग्रन्थके संशोधनमृ श्रीदामोदर शास्त्री, श्रीगिरिधारिलाल शास्त्री, आनन्दिलाल शास्त्री, श्रीलक्ष्मीनारायण शास्त्री आदिने सम्पादककी सहायता कीथी. इस ग्रन्थके पुनः प्रकाशनके अवसर पर इन सभी महानुभावॄके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं. इन सभी महानुभावॄके अवलोकन करलेने पर भी प्रकाश टीकामृ जो अंश सन्दिग्ध लगे वहां आद्यसम्पादकने(?) चिह्न रखे हैं जिनको इस नूतन प्रकाशनमृ भी यथावत् रखा गया है.

तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी पर श्रीविट्ठलरायात्मज श्रीवल्लभजी लिखित 'लेख' नामक टीका उस समय सम्पादकको प्राप्त नहीं हो पायी थी अतः उसका प्रकाशन वे कर नहीं पाय थे.

प्रकृतप्रकाशनके विषयमृः

इस ग्रन्थके पुनःप्रकाशनमृ शुद्धपाठके निर्धारणार्थ उल्लिखित मुद्रित प्रतिके साथ मिलान करनेकेलिए हमृ मांडवी घरसे तीन हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हुईं. इनमृसे दूसरी सर्वाधिक प्राचीन प्रतिका पाठ मुद्रित पाठके साथ अत्यधिक साम्य रखता है. इनके अतिरिक्त संखेडा, अहमदाबाद और जुनागढ से प्राप्त (द्रष्टव्य परिशिष्ट) हस्तलिखित प्रतियॄका और मांडवीकी शेष दो प्रतियॄका पाठ लगभग समान है. इतनी सब प्रतियॄके साथ मिलान करने पर भी उल्लेखनीय पाठभेद हमृ उपलब्ध नहीं हो पाये हैं. जो उपलब्ध हुवे हैं उनको पूर्वप्रकाशनमृ मुद्रित पाठभेदॄके साथ ही पादटिप्पणीमृ लिख दिया है. ध्यातव्य है कि प्रथमादिक्रमसे निर्दिष्ट पाठभेद पूर्वप्रकाशित ग्रन्थके हैं जबकि ककारादिक्रमसे निर्दिष्ट पाठभेद नूतन प्रतियॄके हैं. जहां-जहां दोनॄके पाठभेद समान हैं

उनको प्रथमादिनिर्दिष्ट पाठभेदके साथ ही लिख दिया गया है.

इस प्रकाशनकी उल्लेखनीय उपलब्धि श्रीवल्लभजीकृत 'लेख'टीका है जो हमृ श्रीगट्टुलालजीके संग्रहमृसे चतुर्थाध्यायके १६ वृ श्लोक पर्यन्त ही और वह भी मध्यमृ अनेकत्र तृटित अवस्थामृ प्राप्त हुई है. 'लेख' टीकाकी ही एक ओर प्रति हमृ मांडवीके संग्रहमृसे भी प्राप्त हुई है. उसके भी, परन्तु, अपूर्ण होनेके कारण और उसमृ द्वितीयस्कन्धके लेखके कुछ पत्र मिश्रित हो जानेके कारण शुद्धपाठके निर्धारणमृ अल्प ही सहायता प्राप्त हो पायी है. फिर भी जो जैसा उपलब्ध हुवा उसे यहां नूतनतया प्रकाशित किया गया है. समादरणीय गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ–पार्ला) ने कृपाकरके उसका अवलोकन कर जो महत्वपूर्ण निर्देश दिये तदनुसार उसका संशोधन किया गया है.

ग्रन्थमृ उद्धृत वचनृके आकरस्थलृको खोजकर उद्धृतस्थलमृ लिखा है. साथ–साथ समग्र ग्रन्थमृ उद्धृत वचनृकी आकारादि क्रमसे सूचि भी ग्रन्थान्तमृ दी गयी है.

जिज्ञासु पाठकृकी सुविधाकेलिए ग्रन्थारम्भमृ ही महाप्रभु विरचित श्रीभागवततत्त्वार्थदीपनिबन्ध ग्रन्थमृसे तृतीयस्कन्धके प्रकरण तथा अध्याय(२०–३३)के अर्थ एवं श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रम् स्तोत्रमृसे तृतीयस्कन्धके नामृको उपलब्ध कराया है.

स्मरण:

इस ग्रन्थके सम्पादनार्थ अपने–अपने संग्रहोमृसे हस्तलिखित प्रतियां प्रदान करनेवाले ज्ञाताज्ञात सभी महानुभावृका सहयोग सर्वथा अविस्मरणीय है. पाठभेदको जांचनेकेलिये इतनी सारी हस्तलिखित प्रतियृके मिलानमृ महीनृ प्रतिदिन कई घंटृ तक एकाग्रता और धीरज से बैठनेवाले श्रीपंकज दूबे तथा चि.निकिता ठक्कर का सहयोग तथा पुनर्मुद्रणके कार्यमृ टाईप् सेट् की हुई कम्प्युटरकी फाईल्को प्रेस्मृ भेजने लायक बनाना तथा छपाईमृ जानेसे लेकर छपकर तैयार हुवे ग्रन्थको तत्तत्स्थान तक पहूंचाने का कार्य निःस्पृह भावसे करनेवाले यथाक्रम श्रीपीयूष गाृधिया तथा श्रीप्रवीणभाई डढाणीया का सहयोग भी अवश्य स्मरणीय है.

अन्तमृ, दैवोद्धारप्रयत्नात्मा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण कि जिन्हृने आधुनिक दैवी–पुष्टि जीवृके हितार्थ समारब्ध श्रीभागवतके गूढार्थके प्रकाशनका कार्य सम्पन्न हुवा न होनेके कारण स्वधाम पधारनेकी दो–दो भगवदाज्ञाका उल्लंघन किया वे तथा आपके द्वारा परिश्रम पूर्वक किये गये इस अदेयदानसे आपके प्रति ऋणानुबन्धिताका अनुभव करनेवाले श्रीभागवतके गूढार्थके जिज्ञासु जन तो इसके प्रकाशनसे अवश्य सन्तोषका अनुभव करृगे!

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्टकी ओरसे

शरद् गोस्वामी(मांडवी–हालोल)

श्रीभागवतसारसमुच्चये महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्योद्धृतानि
श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्रान्तर्गत–

तृतीयस्कन्धनामानि

वैराग्यहेतुः[१] तीर्थात्मा[२] सर्वतीर्थफलप्रदः[३]। तीर्थशुद्धैकनिलयः[४] स्वमार्गपरिपोषकः[५]।।३०।।

तीर्थकीर्तिः[६] भक्तगम्यो[७] भक्तानुशयकार्यकृत्[८]।भक्ततुल्यः[९] सर्वतुल्यः[१०] स्वेच्छासर्वप्रवर्तकः[११]।।३१।।

[१२]गुणातीतो [१३]ऽनवद्यात्मा [१४]सर्गलीलाप्रवर्तकः। [१५]साक्षात् सर्वजगत्कर्ता [१६]महदादिप्रवर्तकः।।३२।।

[१७]मायाप्रवर्तकः [१८]साक्षी [१९]मायारतिविवर्धनः। [२०]आकाशात्मा [२१]चतुर्मूर्तिः [२२]चतुर्धा भूतभावनः।।३३।।

[२३]रजःप्रवर्तको [२४]ब्रह्मा [२५]मरीच्यादिपितामहः। [२६]वेदकर्ता [२७]यज्ञकर्ता [२८]सर्वकर्ता [२९]ऽमितात्मकः।।३४।।

[३०]अनेकसृष्टिकर्ता च [३१]दशधासृष्टिकारकः। [३२]यज्ञाङ्गो [३३]यज्ञवाराहो [३४]भूधरो [३५]भूमिपालकः।।३५।।

[३६]सेतुर् [३७]विधरणो [३८]जैत्रो [३९]हिरण्याक्षान्तकः [४०]सुरः। [४१]दितिकश्यपकामैकहेतुसृष्टिप्रवर्तकः।।३६।।

[४२]देवाभयप्रदाता च [४३]वैकुण्ठाधिपतिर् [४४]महान्। [४५]सर्वगर्वप्रहारी च [४६]सनकाद्यखिलार्थदः।।३७।।

[४६]सर्वाश्वासनकर्ता च [४७]भक्ततुल्याहवप्रदः। [४८]काललक्षणहेतुश्च [४९]सर्वार्थज्ञापकः [५०]परः।।३८।।

[५१]भक्तोन्नतिकरः [५२]सर्वप्रकारसुखदायकः। [५२]नानायुद्धप्रहरणो [५३]ब्रह्मशापविमोचकः।।३९।।

[५४]पुष्टिसर्गप्रणेता च [५५]गुणसृष्टिप्रवर्तकः। [५६]कर्दमेष्टप्रदाता च [५७]देवहूत्यखिलार्थदः।।४०।।

श्र[५८]शुक्ल–नारायणः [५९]सत्य–काल–धर्म–प्रवर्तकः।

[६०]ज्ञानावतारः [६१]शान्तात्मा [६२]कपिलः [६३]कालनाशकः।।४१।।

[६४]त्रिगुणाधिपतिः [६५]साङ्ख्यशास्त्रकर्ता [६६]विशारदः। [६७]सर्गदूषणहारी च [६८]पुष्टिमोक्षप्रवर्तकः।।४२।।

[६९]लौकिकानन्ददाता च [७०]ब्रह्मानन्दप्रवर्तकः। [७१]भक्तिसिद्धान्तवक्ता च [७२]सगुणज्ञानदीपकः।।४३।।

[७३]आत्मप्रदः [७४]पूर्णकामो [७५]योगात्मा [७६]योगभावितः।

[७७]जीवन्मुक्ति–प्रदः [७८]श्रीमान् [७९]अन्य–भक्ति–प्रवर्तकः।।४४।।

[८०]कालसामर्थ्यदाता च [८१]कालदोषनिवारकः। [८२]गर्भोत्तमज्ञानदाता [८३]कर्ममार्गनियामकः।।४५।।

[८४]सर्वमार्ग–निराकर्ता [८५]भक्तिमार्गैक–पोषकः।

[८६]सिद्धिहेतुः [८७]सर्वहेतुः [८८]सर्वाश्चर्यैक–कारणम्।।४६।।

[८९]चेतनाचेतन–पतिः [९०]समुद्र–परि–पूजितः।

[९१]साङ्ख्याचार्य–स्तुतः [९२]सिद्ध–पूजितः [९३]सर्व–पूजितः।।४७।।

।। इति तृतीयस्कन्धनामानि ।।

महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितः सप्रकाशः

तत्त्वार्थदीपनिबन्धः

।। तृतीयस्कन्धप्रकरणार्थः ।।

(अध्याय २०-३३)

एवं भाषान्तरेण निरूप्य समाधिभाषायामपि अयमेव अर्थः इति निरूपयितुम् आह **इति दर्शयितुम्** इति.

इति दर्शयितुं साङ्ख्यमते सृष्ट्यादिवर्णनम् ।
तेषां गुणप्रधानत्वाद् गौणी सृष्टिर्निरूप्यते ।।१४५ ।।

साङ्ख्यपुरुषाः जीवन्मुक्ताः. अतः तन्मतानुसारेण उत्पन्ना मुक्त्यर्थमेव भवन्ति इति सिद्धम्. तत्र सृष्टिभेदाः एकादशप्रकाराः. तत्र हेतुम् आह **तेषां गुणप्रधानत्वाद्** इति. अतएव प्रथमतो **गौणी सृष्टिः निरूप्यते** ।।१४५ ।।

अत्र शौनकानां भगवत्कथाप्रस्तावे मनुकथाप्रश्नो न युक्तः इति आशङ्क्य आह **प्रकारान्तरसम्प्रश्नः** इति.

प्रकारान्तरसम्प्रश्नः स्वकृतः परतस्तथा ।
भक्तकर्तृत्वतस्तस्य कृष्णलीलात्वम् उच्यते ।।१४६ ।।

अयमपि प्रश्नो भगवत्कथायाएव किन्तु प्रकारान्तरेण. मनुः भक्तः तेन क्रियमाणं भगवत्प्रीतिजनकमेव भवति इति लीलाहेतुत्वात् सा लीलैव ।।१४६ ।।

''**एवम् उग्रश्रवाः पृष्टः**'' इति व्यासवाक्यं न उपपद्यते इति आशङ्क्य आह **प्रक्रियान्तरबोधाय** इति.

प्रक्रियान्तरबोधाय व्यासोक्तिः शुक-सूतयोः ।
एकरूपत्वकथनाद् एकोक्तिः पाक्षिकोऽन्ययोः ।।१४७ ।।

तथा शुक-सूतयोरपि उक्तिः शुकवाक्येनैव निरूप्यते. अन्यथा सूतो विदूरवाक्यं न वदेत्. शुकश्च वदेत् इति. एकोक्तौ हेतुः एकरूपत्वकथनं, शब्दतो अर्थतश्च समानम्. अन्ययोः परीक्षिच्छुकयोः पाक्षिको अत्र ज्ञातव्यः. यथा शौनकेन पृष्टं तथा राज्ञा पृष्टं, यथा सूतेन उत्तरितं तथा शुकेन इति तुल्यत्वाद् एकः पक्षः कश्चिद् उक्तः इति ।।१४७ ।।

साङ्ख्यमतसृष्टिः कस्मिन् कल्पे जाता? इति आकाङ्क्षायाम् आह **आण्डकोशे पद्मकल्पः** इति.

आण्डकोशे पद्मकल्पो विशेषेणोच्यतेऽधुना ।
साङ्ख्याचार्यास्तु कल्पेऽस्मिन् मुक्तिमार्गं हरीच्छया।।१४८।।

ज्ञानम् एकप्रकारेण हृदि प्राप्य परं गताः ।

ब्रह्माण्डमध्ये यः पद्मकल्पः केवलाद् भिन्नः तस्मिन्नेव साङ्ख्यमतं प्रसिद्धम्. तत्रैव ते सिद्धा इति हेतुः. ननु तेषां ज्ञानं तत्त्वसूत्रे निन्दितम् इति कथं मुक्तिः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **हरीच्छया ज्ञानमेकप्रकारेण** इति ।।१४८ १/२ ।।

इति दर्शयितुं साङ्ख्ये कल्पस्याऽस्य च वर्णनम् ।।१४९ ।।

पञ्चशः प्राकृतोत्पत्तिः तत्तत्त्वज्ञापनाय हि ।

अस्य कल्पस्य पद्मकल्पस्य. चकाराद् वराहकल्पस्य च वर्णनम्. अन्यथा प्रकृते तेन मार्गेण मुक्तिः न स्यात्. तस्य सृष्टिप्रकारस्य पूर्वस्माद् वैलक्षण्यं ज्ञापयितुम् आह **पञ्चशः प्राकृतोत्पत्तिः** इति. ''**पञ्चभिः पञ्चभिः ब्रह्मन्**'' इति अग्रे वक्ष्यति. तथा सङ्ख्यायुक्तत्वकथने साङ्ख्यं मतं भवति. तत्त्वता च पदर्थानां भवति ।।१४९ १/२ ।।

अस्मिन् मते सृष्टेः विस्तरेणाऽकथने हेतुः उपलक्षणमात्रत्वाद् इति.

उपलक्षणमात्रत्वाद् अल्पोक्तिर्न विरुध्यते ।।१५० ।।

तत्रैका दशधा सृष्टिः स्वभावगुणकार्यतः ।

सैव सृष्टिः प्रकारान्तरेण निरूप्यतइति निरूपकं वाक्यम् उपलक्षकं भवति. तत्र एकस्मिन्नेव अध्याये एकादशधा सृष्टिः निरूपिता इति आह **तत्र** इति. स्वभावगुणानां कार्यभेदात्. तत्र स्वभावस्य भेदद्वयम्. गुणानां नव भेदाः इति ।।१५० १/२ ।।

तानेव आह **त्रैगुण्यम्** इति.

त्रैगुण्यं निर्गुणावस्था भगवच्चिन्तनं तथा ।।१५१ ।।

एवम् एकादश प्रोक्ताः स्वभावे विस्तृतिः स्फुटा ।

निर्गुणावस्था दशमं ज्ञानरूपम्. भगवच्चिन्तनम् एकादशरूपम् इति उपसंहरति **एवम्** इति. गुणसृष्टिः एकाध्याये सङ्क्षेपेण उक्ता. स्वभावसृष्टिस्तु ज्ञानभक्तिभेदेन चतुभिः नवभिः क्रमाद् विस्तरेण उक्ता स्वयमेव अग्रे स्फुटा भविष्यति ।।१५१ १/२ ।।

तत्र प्रथमं तामसादिभेदान् आह **यक्षरक्षांसि** इति.

यक्षरक्षांसि देवाश्च दैत्याश्च प्रथमास्त्रयः ।।१५२ ।।

उपाधिरपि तेषां हि तथेति प्रतिपादितम् ।

अत्र अविद्योत्पत्तिः पूर्ववदेव. विशेषस्तु अत्र यक्षरक्षसामपि उत्पत्तिः अविद्यया सह. तथा भावान्तरेण देवानामपि उत्पत्तिः ।।१५२ १/२ ।।

विलक्षणत्वसिद्ध्यर्थं देहत्यागः प्रजापतेः ।।१५३ ।।

तत्तत्कालाभिमानिन्यो देवतास्ताः पृथक् स्थिताः ।

तत्रापि तनुत्यागो भावान्तरग्रहणार्थः. तनूनां स्वरूपम् आह

तत्तत्कालाभिमानिन्यः इति ।।१५३ ।।

ननु पञ्चपर्वाविद्योत्पत्त्यनन्तरं किमिति देहं त्वक्तवान्? तत्र आह **देवतोपाधिसम्बन्धाद्** इति.

देवतोपाधिसम्बन्धात् कार्योत्पत्त्याऽतिविह्वलः ।।१५४ ।।

तामसत्वात्तु ते मूढा वाक्यमात्रेण संस्थिताः ।

देवतारूपा पञ्चपर्वा अविद्या, सा ब्रह्मणः उपाधिरूपा जाता यदा, तदैव यक्षरक्षसाम् उत्पत्तिः ततः तान् विसदृशान् दृष्ट्वा भयविव्हलः सन् तनुम् उत्ससर्ज इति मन्तव्यम्. तदा भगवदिच्छया जाताः ते ब्रह्मा तद् न सहते इति भगवत्प्रेरणया भक्षयितुं प्रवृत्ताः. तर्हि कथं निवृत्ताः? इति आशङ्क्य आह **तामसत्वाद्** इति. ''**अहो मे यक्षरक्षांसि**'' इति वाक्यमात्रेण निवृत्ताः ।।१५४ १/२ ।।

देवपक्षस्तु सुगमः इति आह **सात्त्विके** इति.

सात्त्विके नास्ति शङ्कैव राजसेषु महान् श्रमः ।।१५५।।

पृथक् स्थितां देवतां हि वर्णयन्ति कुबुद्धयः ।

राजसेषु महान् श्रमः. अतो यभनम् आरभ्य भगवदाज्ञया तनुत्यागपर्यन्ता कथा निरूपिता. अन्याः तनवः शीघ्रमेव कालरूपताम् आपन्नाः कालभेदेनैव व्यवह्रियन्ते. रजसा राजसी त्वेषा तनुः न सन्ध्यायाम् एकभावताम् आपन्ना किन्तु पृथक् स्थिता कियत्कालम्, अतस्तां वर्णयन्ति इत्याह **पृथग्** इति. पश्चात् कालेन सह ऐक्ये दैत्यानां निवृत्तिः इति भावः ।।१५५ १/२ ।।

द्वितीयं त्रिकम् आह **गन्धर्वाश्च** इति.

गन्धर्वाश्च पिशाचाश्च पितरस्त्रिविधा गुणैः ।।१५६ ।।

सत्त्वं तमो रजश्चेति न तैर्दोषोऽस्वभावतः ।

तत्र गुणक्रमम् आह **सत्त्वम्** इति. तेषु दोषाः न वर्णिताः. तत्र हेतुः **अस्वभावतः** इति. तेषां गुणत्वेपि न दोषस्वभावत्वम्. दोषरूपेण इतरप्रवेशाभावाद् इति भावः ।।१५६ १/२ ।।

तृतीयं त्रिकम् आह **सिद्धाश्च** इति.

सिद्धाश्च किन्नराः सर्पाः सत्त्वादिभिरुदीरिताः ।।१५७ ।।

का निर्गुणावस्था? इति आकाङ्क्षायाम् आह **कृतकृत्यता च नैर्गुण्यम्** इति.

कृतकृत्यता च नैर्गुण्यं कृष्णत्वं तपआदिभिः ।

ऋषिभावस्ततो भाव्यो नाऽन्यत्र विरमेद् बुधः ।।१५८।।

कृतकृत्यता नाम स्वस्यैव परमपुरुषार्थता. तपआदिभिस्तु कृष्णत्वम्. प्रकृते स ऋषिभावः. ततो ब्रह्मणापि स भावो भाव्यः. ततः किम्? इति आह **न अन्यत्र विरमेद्**

बुधः इति. अन्यथा सृष्टिं कुर्यादेव ब्रह्मा न विरमेत्. एवम् एकाध्यायार्थो निरूपितः ।।१५८।।

अतःपरं ज्ञानभक्त्योः विस्तारं वक्तुं त्रयोदशाध्यायाः इति तत्र भेदद्वयम् आह चतुर्भिः इति.

चतुर्भिः सुखपूर्वा हि पुम्मुक्तिर्नवभिः स्त्रियाः ।
एकस्य तु स्वतः सिद्धं ज्ञानं कृष्णप्रसादतः ।।१५९।।

ननु कथम् एवम् एकस्य अल्पम् अपरस्य बहु? इति तत्र आह **एकस्य तु स्वतः सिद्धम्** इति. पुरुषस्यतु पुरुषार्थचतुष्टयसिद्ध्यर्थं चत्वारो अध्यायाः. तत्रापि तस्य साधनरूपं ज्ञानं स्वतः सिद्धम्. भगवत्कृपयैव पुरुषार्थानां ससाधनानां सिद्धेः ।।१५९।।

अन्यस्या उपदेशे हि स्त्रीत्वात् सर्वं प्रकाश्यते ।
नवकन्याः कारणत्वात् स्त्रीजीवा अत्र बोधिताः ।।१६०।।

अनेनैव स्त्रियाअपि धर्मार्थकामाः सिद्धाः, सहभावात्. मोक्षः परं पृथक् वक्तव्यः, स केवलएव भवति न मिथुनीभावे. अतो बहुवक्तव्यत्वाभावात् पुम्मुक्तिः एकेन. स्त्रीमुक्तिस्तु अन्तःकरणदोषाणां नवानां गुणरूपाणां त्याजनार्थं नवभिः अध्यायैः बह्वेव साधनजातं निरूप्यते इति आह **अन्यस्या उपदेशे हि** इति. ननु अत्र नवकन्यानामुक्तिः अयुक्ता इ आशङ्क्य आह **नव कन्या** इति. स्त्रीजीवाः प्रकृतिपरवशाः ।।१६०।।

ननु जीवानां कारणत्वं पूर्वमेव निरूपितं, पुनः किमर्थं निरूप्यते? इति आशङ्क्य आह **प्रकृतेः कारणत्वाय** इति.

प्रकृतेः कारणत्वाय मायाशक्तिर्हि तादृशी ।
रमणौपयिकरूपा हि शुद्धसत्त्वादिभेदतः ।।१६१।।

स्त्रीजीवो हि प्रकृत्यधीनः. अतस्तस्य कारणत्वे प्रकृतेः कारणत्वं सिद्ध्यति, तथापि नवानां क्व उपयोगः? इति आशङ्क्य आह **मायाशक्तिर्हि तादृशी** इति. सा हि गुणमयी, प्रत्येकं गुणानां त्रैविध्याद् नवरूपा इति भावः. ननु स्त्रीत्वं नाम किम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **रमणौपयिकरूपा हि** इति. प्रकृतिः त्रिगुणात्मिका. तत्र गुणप्राधान्ये क्रोधादिवशानामपि स्त्रीत्वं स्यात्. गुणातिरिक्ता तु प्रकृतिः नास्ति इति मतं निराक्रियते.

''गुणभावं परित्यज्य स्वरूपेण स्थिता तु या ।
पुरुषं रमयन्ती सा स्त्रीरूपेति निगद्यते ।।१।।
पुरुषस्य च तस्याश्च सर्वतत्त्वेष्वथांशवः ।
पृथक् सन्ति ततो यत्र दृष्टादृष्टादिकारणात् ।।२।।
भोग्यभावत्वम् आपन्नाः प्रकृत्यंशाः समागताः ।

बीजभावं प्राप्नुवन्ति तद्वृद्धौ स्त्रीभवे तु सा ।।३ ।।

एवम् अभिप्रेत्य आह **शुद्धसत्त्वादिभेदतः** इति. मिश्राणामेव गुणत्वम्. सत्त्वप्राधान्ये देवस्त्रीत्वम्, रजःप्राधान्ये मनुष्यस्त्रीत्वम्, तमःप्राधान्ये पशुस्त्रीत्वम् इति ।।१६१ ।।

आनन्दांशस्वरूपेपि शुद्धसत्त्वादिरूपतः ।

शक्तिप्राधान्यतः स्त्रीत्वं तत्त्वतः पुरुषाकृतिः ।।१६२ ।।

आनन्दांशः तत्र प्रविष्टः इति भोग्यत्वम्. यद्यपि पुरुषेऽपि आनन्दांशः प्रविशति स्त्रियाः पुरुषो भोग्य इति तथापि गुणाः प्रबला इति **शक्तिप्राधान्यतः स्त्रीत्वम्.** पुरुषाकृतिस्तु **तत्त्वतः** परमार्थतः. पुरुषांशसमवाये पुरुषत्वम् इति भावः ।।१६२ ।।

किम् अत्र नियामकम् ? इत्यत आह **मोहकत्वम् अतः स्त्रीणाम्** इति.

मोहकत्वम् अतः स्त्रीणां शक्त्याकृतिविशेषतः ।

विसर्गस्याऽत्र सम्प्रश्नः उत्तरत्रोपयुज्यते ।।१६३।।

प्रकाश : पुरुषं मोहयन्ती यतः, अतः प्रकृत्याकृतित्वं स्त्रीणाम् इति अर्थः. ननु सर्गलीलायां मनुवंशादेः रुच्यादेः वंशप्रश्नः कुत्र उपयुज्यते? इति आशङ्क्य आह **विसर्गस्य अत्र सम्प्रश्नः** इति ।।१६३ ।।

ननु एवं सति मध्ये कर्दमचरित्रम् अत्र किम् अर्थं निरूपितम्? तत्र आह **नित्यसम्बन्धतासिद्ध्यै** इति.

नित्यसम्बन्धतासिद्ध्यै कर्दमोऽत्रैव योजितः ।

प्रकृतिपुरुषयोः नित्यः सम्बन्धः इति ज्ञापयितुं कर्दमस्य कथा. सम्बन्धस्तु सर्गे उपयुज्यते. भिन्नतया प्रसिद्धावपि स्वभावतएव परस्पराकाङ्क्षा मुक्तौ. अतो अयम् अर्थो निरूपणीयः इति कर्दमः सर्गे निरूपितः. सहजयोरपि विश्लेषे मुक्तिः भवति इति(न्यायेन) त्यागेन उभयोः मुक्तिकथनं च युक्तं भवति.

एवं प्रकरणार्थं शोधयित्वा प्रथमाध्याये तपसा भगवत्तोषस्य प्रयोजनम् आह **सर्वस्य** इति. अतएव प्रकरणादौ भगवत्तोषार्थं कर्दमप्रवृत्तिः ।।१६४ १/२ ।।

सर्वस्य कारणं कृष्ण–प्रसाद इति तत्कथा ।।१६४ ।।

ननु केन तुष्टो भगवान् ? इति आकांक्षायाम् आह **भक्तानां निर्णयः** इति.

भक्तानां निर्णयस्तोत्रे सर्गार्थम् उपयुज्यते ।

कामितं च हरिः पूर्वं स्वयमेव विधास्यति ।।१६५।।

व्यर्थं वचनम् इत्यर्थं बोधयत्युत्तरं वदन् ।

भगवान् तपसा न तुष्टः. नापि स्तोत्रेण, किन्तु यथार्थभाषणेन. तत्रापि स्वगृहमर्मकथनेन, तदा हि भक्तानां निर्णयः इति. तथावचनस्य प्रयोजनं स्वार्थम्. महतो

निष्कपटभजने प्रसादो भवति. भगवत्प्रसादस्य अनित्यताम् आशङ्क्य समाधानम् आह **कामितम्** इति. पूर्वमेव करणाद् न कारणसाध्यत्वम्. कारणमपि प्रसादएव. भगवदीयपदार्थभोगार्थं शरीरेन्द्रिय-संस्कार-तपआदीनां कार्यम्. अतो भगवन्तं प्रति प्रार्थनावचनं व्यर्थम्. एतद् भगवद्वचनादेव अवगम्यते. अन्यथा वृत्तान्तं न कथयेत् ।।१६५ १/२।।

ननु ईश्वरप्रेरणाव्यतिरेकेण कथं पदार्थसिद्धिः? प्रेरणायां वा को हेतुः ? निर्हेतुकत्वे वा सर्वेष्वेव पदार्थसिद्धिः स्याद् इति आशङ्क्य आह **पुरुषार्थाः स्वयं सर्वे** इति.

पुरुषार्थाः स्वयं सर्वे समायान्ति हरिप्रिये ।।१६६।।
इति दर्शयितुं राज्ञः स्वयम् उद्यम्य याचनम् ।

भगवत्प्रियत्वमेव साध्यं न अन्यत्. तेनैव सर्वसिद्धिः इति भावः ।।१६६ १/२।।

कर्दमस्य कन्यावर्णनम् अयुक्तम् इति आशङ्क्य आह **दुहितुः वर्णनं प्रीत्यै** इति.

दुहितुर्वर्णनं प्रीत्यै राज्ञो भक्तत्वतः समम् ।।१६७।।
भक्तिश्च कार्यशुद्ध्यै हि तपश्चैव स्वमुक्तये ।

राजकर्तृत्वं वा वर्णनम् ऋषिप्रीत्यै. ननु सकृदुपभोगप्रतिज्ञायामपि कथं कन्यादानम्? तत्र आह **राज्ञो भक्तत्वतः समम्** इति. सर्वेषां पुरुषार्थसिद्धिः भवत्विति समता. ननु विवाहानन्तरं कथं भक्तिः? कथं वा तपः? इति आशङ्क्य आह **भक्तिश्च** इति. अन्यथा कार्यदोषेणापि कारणं दुष्टं भवेत्, पुत्रापचारे पितुः नरकवत्. कार्यं दुहितरः. 'च'कारेण भक्तेः नान्तरीयकार्यधर्मा गृह्यन्ते. तपसो भिन्नं प्रयोजनम् आह **स्वमुक्तये** इति. 'च'कारात् तस्याअपि मुक्तये. अथवा तपसोपि भक्तिसङ्ग्रहः. तस्यास्तु तपः पूर्ववत् संस्कारार्थम् ।।१६७ १/२।।

प्रार्थिताधिककरणे हेतुम् आह **अलौकिकस्य करणाद्** इति.

अलौकिकस्य करणाद् अनासक्तिः फलिष्यति ।।१६८।।
ध्यानं भगवतो योगो भगवत्प्रेषितं च तत् ।
कन्याश्चैव तथा ज्ञानं तत्कृपातोऽस्य जायते ।।१६९।।
स्त्रिया माहात्म्यबुद्ध्यर्थम् ऋषिकर्तृत्वम् उच्यते ।

विमानादिनिर्माणम् अलौकिकम् अन्यथा चित्ते अनासक्तिः न भविष्यति. "**कर्दमो योगम् आस्थितः**" इत्यत्र योगपदार्थम् आह **ध्यानं भगवतो योगः** इति. अन्यथा भगवत्प्रसादजन्यत्वं न स्यात्, बन्धश्च भवेत्. तर्हि कथं विमानोत्पत्तिः? तत्र आह

भगवत्प्रेषितं च तद् इति. विमानं तामसं, कन्या राजस्यो, ज्ञानं सात्त्विकम् इति. ननु एवं सति किमिति स्पष्टं न उच्यते? तत्र आह **स्त्रिया** इति ।।१६८।१६९ १/२।।

तथापि नियतोपपत्तिः वक्तव्या इति आशङ्क्य आह **अतएव ऋषौ याते** इति.

अतएव ऋषौ यातेऽप्यवस्थानं तु तस्य हि ।।१७०।।
कायव्यूहेन नवधा स्वरूपकरणं मतम् ।

यस्माद् भगवता प्रेषितं न योगेन ऋषिणा जातम्. अन्यथा भोगार्थं सृष्टा भोगाभावे गच्छेयुः. अत्र "**नोधा विधाय रूपं स्वम्**" इति निरूपितं तत् कथं नवधा निरूपणम्? इति आकांक्षायाम् आह **कायव्यूहेन** इति. अग्रे परस्परविवाहसिद्ध्यर्थं भिन्नपारम्पर्यकथनाय नवरूपाणि. गौण्येव एषा सृष्टिः. गुणातीतातु भगवद्रूपा. अतः कायव्यूहं कृत्वा नवधा बीजाधानं कृतवान् ।।१७० १/२।।

ननु एवं क्रियमाणे देवहूतिः कथं मन्यते? इति आशङ्क्य आह **समानत्वाद् न वैषम्यम्** इति.

समानत्वाद् न वैषम्यं दोषाभावः फलं ततः ।।१७१ ।।
रेतः सेकः क्रमेणैव सूक्ष्मत्वात् स न दृश्यते ।।

अतएव दोषाभावोपि. फलं तु रेतःसेकलक्षणं भिन्नं-भिन्नं जातमेव. ननु सेकभेदे कथं तस्याज्ञानम्? तत्र आह **सूक्ष्मत्वाद्** इति. कालः सूक्ष्मः इति भेदो न दृश्यते ।।१७१ १/२।।

एवं करणे प्रयोजनानि आह **मरीच्यादि** इति.

मरीच्यादिविवाहेच्छां बह्वपत्ये स्त्रियास्तथा ।।१७२ ।।
स्ववाक्यं च ऋतं कर्तुं गमनं स्त्रीविरक्तये ।

"मैथुनधर्मेणैव सृष्टिः भवतु" इति भगवदिच्छया मरीच्यादीनां भार्यापेक्षया स्त्रियाअपि बह्वपत्येच्छा. स्ववाक्यं "**यावत् तेजो बिभृयाद् आत्मनो मे**" इति. ननु एवमपि वाक्यं स्वकीयं न कृतं तेजसः एकत्वाभावात्, प्रत्युत बहुपुरुषसम्बन्धेन स्वस्य स्त्रियाश्च दोषजननम् इति चेद्, मा एवम् "**आत्मनो मे**" इत्यत्र अहङ्कारो व्याख्येयः. स च त्रिगुणात्मकः इति नवरूपाणि भवन्ति. साङ्ख्यप्रक्रिया च इयम्. जात्यपेक्षया च एकवचनम्. मन्वादीनां चित्तपरीक्षार्थमेव तथावचनम् इति युक्तम् उत्पश्यामः. ननु एवं समर्थस्य योगेन देहत्यागेपि मुक्तिसम्भवात् कथं वनगमनम्? इति आशङ्क्य आह **गमनं स्त्रीविरक्तये** इति. वस्तुतस्तु योगेपि त्यागो अपेक्षितः. गृहत्यागेन अर्द्धं कैवल्यं भवति. ततो अर्धे देहान्तःकरणभेदेन द्विधा कृत्वा चेत् त्यजति तदैव कैवल्यम् इति योगसाङ्ख्ययोः निष्कर्षः. भगवन्मार्गेतु अन्यथा पराश्रयत्वात्. यथा "भगवानेव फलं" तट्टीकायाम् उपपादितम् इति विरम्यते ।।१७३।।

ननु कपिलावतारस्य किं प्रयोजनम्? इति आशङ्कायाम् आह **विरक्तो ज्ञानसिद्ध्यर्थम्** इति.

विरक्तो ज्ञानसिद्ध्यर्थं कृष्णं भावयते यदि ।।१७३ ।।

ज्ञानांशश्च तदा व्यक्तो येन सर्वं फलिष्यति ।

अनेन 'यावत् तेजः' इत्यत्रैव वाक्यं पर्यवसितं ज्ञेयम्. नव रूपाणितु अन्यानि ।।१७४ ।।

एतत् सर्वं ब्रह्मणो अभिप्रेतम् इति ब्रह्मगमनम्. लोकप्रतीत्यर्थं प्रयोजनान्तरमपि आह **अवतारः** इति.

अवतारो हरेर्यावान् तत्र ब्रह्मा स्वयं व्रजेत् ।।१७४।।

वराद् अनुक्तेप्येवं हि स्तुतिः पूर्णे तु सर्वतः ।

बोधनं सर्वबोधाय गमनं सर्वबोधकम् ।।१७५।।

पुत्रेपि च हरौ सर्वत्यागाद् आवश्यकी भजिः ।

ननु एवं सति सर्वत्र तद्गमनं वक्तव्यं स्यात्, तत्र आह **वराद् अनुक्तेपि एवं हि** इति. "**यद्यत् करिष्यति गृहीतगुणावतारः**" इति प्रार्थनया वरो दत्तः. अतो अनुक्तेपि स्थले ब्रह्मगमनं ज्ञातव्यम्. परं मुख्यतया स्तुतिः पूर्णे कृष्णएव. कन्यादानबोधनं भगवान् अयम् इति च बोधनं सर्वेषामेव बोधाय. दम्पत्योस्तु बोधः पूर्वमेव सिद्धः. ननु मरीच्यादीनां विवाहानन्तरं यद् गमनम् उक्तं तस्य कुत्र उपयोगः? इति आकाक्षायाम् आह गमनं सर्वबोधकम् इति. अन्यथा स्वेच्छया स्त्रीणां पतिसम्बन्धः इति अस्मिन् कल्पे बोधितं स्यात्. हरेः ज्ञानरूपस्य परित्यागेन गमनम् अयुक्तम् इति आशङ्क्य आह **पुत्रेपि च हरौ** इति ।।१७५ ।१७६ ।।

पुम्मुक्तिम् उपसंहरति **एवम्** इति.

एवं चतुर्भिर्भोगादि–मुक्त्यन्तं पुंसि वर्णितम् ।।१७६।।

वैराग्यादिः स्त्रियाः प्रोक्ता मुक्तिर्नवभिरुत्तमा ।

अतः परम् एकेन अध्यायेन स्त्रीमुक्तिः वक्तव्या इति आशङ्क्य आह **वैराग्यादिः** इति. वैराग्यादयो अत्र विशेषतो वक्तव्या इति नैकेन वक्तुं शक्याः. पुंमुक्तेः सकाशाद् हीना भविष्यति इति आशङ्क्य आह **उत्तमा** इति, साधनप्रकारैः उत्तमाः ।।१७७।।

ननु कपिलेन औपनिषदं परित्यज्य किमिति साङ्ख्यं ज्ञानम् उपदिष्टम्? इत्यतः आह **यद् औपनिषदं ज्ञानम्** इति.

यद् औपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा ।

वर्णिनामेव तद्धि स्यात् स्त्री–शूद्राणां ततोऽन्यथा ।।१७८ ।।

गार्गी मैत्रेयीप्रभृतीनां भर्त्रा सह यज्ञसम्बन्धो वेदसम्बन्धोऽस्ति इति तासां मुख्यमेव ज्ञानम्, कर्दमस्य तु न तथा. अन्यथा ''**स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनाम्**'' इत्यत्र स्त्रीग्रहणं व्यर्थं स्यात्. भागवतज्ञानमपि त्रैवर्णिकानामेव, उपासनायाः प्राधान्यात्. यदेव भगवता ब्रह्मणे प्रोच्यते तत् त्रैवर्णिकानामेव इति ज्ञातव्यम् ।।१७८ ।।

विदुरस्याऽधिकारोऽत्र प्राधान्याद् बीजरूपयोः ।
अतः साङ्ख्यप्रकारेण तस्यै ज्ञानम् उदीर्यते ।।१७९ ।।

अत्र मुख्यप्रकरणी विदुरः तस्यापि अनुगुणं साङ्ख्यमेव ज्ञानम्. ननु अतिशूद्रस्य साङ्ख्येपि न अधिकारः इति आशङ्क्य आह **प्राधान्याद् बीजरूपयोः** इति. बीजं ब्राह्मणस्य. रूपं क्षत्रियस्य ।।१७९ ।।

प्रमेयबलम् आश्रित्य समाधानम् आह **यथा कथञ्चिद्** इति.

यथाकथञ्चिद् आत्मा हि ज्ञायतां साधने दृढे ।
ज्ञाने वा भक्तियोगे वा फलं भवति सर्वथा ।।१८० ।।
अतोऽत्र त्रितयं प्रोक्तं योगेनैषा परं गता ।

साङ्ख्य-योगौ भक्तिमार्गश्च इति त्रयम् उपदिष्टम्. तत्र एषा योगेन परङ्गता. तेन त्यागाभावेपि न दोषः भगवतो गमनेपि ।।१८०।।

ननु देवहूतिः कथं ''**निर्विण्णातितराम्**'' इत्यादिवाक्यं कथयति, किमर्थं च इति आकाङ्क्षायाम् आह **गुरूपसत्त्या** इति द्वाभ्याम्.

गुरूपसत्त्या निर्विण्णो हेयांशं पज्ञायेद् गुरौ ।।१८१ ।।
श्रद्धाभक्तियुतस्तस्मै तत्त्वं वाच्यं न चान्यथा ।
भर्तुश्च ब्रह्मणो वाक्याद् भगवत्त्वं तु तस्य हि ।।१८२ ।।
साङ्ख्यप्रणेतृतां चैव ज्ञातवत्याह तादृशम् ।

तत्र प्रथमे प्रकार उच्यते. तथा वचने हेतुस्तु ब्रह्मणो वाक्याद् भर्तृश्च तस्य भगवत्त्वं निश्चितम्. अतो भगवति तथावचनं न अद्भुतम् ।।१८२ १/२ ।।

सामान्य(तो) भर्त्रा साङ्ख्यप्रकारो निरूपितः, अतः प्रकारकथनम् इति आह **देहादिष्वात्मविज्ञानाद्** इति.

देहादिष्वात्मविज्ञानाद् मोहस्तेनेह संसृतिः ।।१८३ ।।
मोहाभावः साङ्ख्ययोगः तद्धेतुस्तेन याचितौ ।

मोहएव संसारः, तदभावः साङ्ख्यात्, तद्धेतु कपिलएवेति तेन कारणेन याचितौ प्रकृति-पुरुषौ ज्ञातौ ।।१८३ १/२ ।।

प्रकृतिपुरुषयोः विवेके प्रार्थिते योगादिकथनम् अयुक्तम् इति आशङ्क्य ससाधनम् उपदिशति इति आह **शाब्दं साङ्ख्यम्** इति त्रिभिः.

शाब्दं साङ्ख्यं नोपयोगि सहकारि तु चेतसः ।।१८४ ।।

ज्ञानशङ्कानिवृत्तिश्च मनसः सहकारिणी ।

अतो हि यादृशं चेतः साक्षात्कारे प्रयोजकम् ।।१८५ ।।

तादृशं साधनैः साध्यम् इत्याह गुरुरादृतः ।

अतो दोषनिवृत्त्यर्थं योगः प्रथमम् उच्यते ।।१८६ ।।

निर्दुष्टमेव रमते समता लिङ्गम् अस्य हि ।

तत्र आदौ योगो मुख्यो दोषनिवर्त्तकत्वात्. दोषनिवृत्तिपर्यन्तं स कर्तव्यः तदभिज्ञापकम् आह **समता लिङ्गमस्य हि** इति ।।१८६ १/२ ।।

केवलयोगेनापि कार्यं न सिद्ध्यति इति तदर्थं भक्तिम् आह इति आह **शुष्कयोगे** इति,

शुष्कयोगे नैव शक्यं स्वनिर्वाहोऽपि दुर्लभः ।।१८७ ।।

अतो भक्तिर्भगवति विना सद्भिर्न सा क्वचित् ।

भक्तिरहितो योगो न चित्तशोधकः, तस्य स्वनिर्वाहोपि सन्दिग्धः. योगोऽपि न सिद्ध्येत् इति अर्थः. तत्रापि भगवत्येव भक्तिः सर्वसाधिका (५७. सर्वतोऽधिका.) सापि स्वत उत्पन्ना अन्यदर्शनजनिता वा न पुरुषार्थपयवसायिनि इति अभिप्रायेण आह **विना सद्भिर्न सा क्वचिद्** इति. नूतनसन्देहानां ततएव निवारणसम्भवात् ।।१८७ १/२ ।।

सन्तश्च लक्षणैरेव सङ्गश्च हरिवाचकः ।।१८८ ।।

अतो विलोमविधिना साक्षात्कारः फलिष्यति ।

सन्तोपि न लोकप्रसिद्ध्या स्वरुच्या वा मन्तव्याः, किन्तु लक्षणैरेव ज्ञातव्याः. सङ्गोपि भगवत्कथार्थमेव. कथायामेव तत्साधने वा. एवं शृङ्खलारूपेण पदार्थान् निरूप्य पर्यवसानम् आह **अतो विलोमविधिना** इति.

सत्सङ्गे कथाश्रवणे तदुक्तप्रकारेण योगसिद्धौ चित्तनैर्मल्ये तद्धर्मरुच्या सद्भावे सम्पन्ने भगवत्साक्षात्कारः, ततः सर्वज्ञता, ततः स्वरूपज्ञानम् इति विलोमविधिः ।।१८८ १/२।।

साङ्ख्ये भक्तेः ङ्गत्वं निरूप्य स्वमार्गे प्रधानरूपता इति आह **भक्त्यैव हि सतां सर्वम्** इति.

भक्त्यैव हि सतां सर्वम् इत्यर्थाद् उक्तम इत्यवैत् ।।१८९।।

अतो भक्तिं च योगं च द्वयं पृच्छति सा पुनः ।

श्रद्धया पृष्टम् इत्याह भक्तिं ज्ञानं च तस्य तत् ।।१९० ।।

प्रतिज्ञातं त्रयं तस्मात् साङ्ख्ये ज्ञानं फलं तथा ।

मां प्रतितु प्रसङ्गादेव उक्तवान् इति अवैद् देवहूतिः. तेन सङ्गार्थं न यत्नं कृतवती. पुनः विशेषप्रश्ने अयमेव हेतुः. मां प्रति यदि वक्ष्यति तदा भक्तियोगो योगो वा मया कर्तव्यः इति वेदएव साधारण्येन पदार्थान् निरूपयति. अन्ये पुनः प्रष्टुरधिकारानुसारेण इति तद् आह **अतो भक्तिं च योगं च** इति. भक्त्या प्रश्ने पुत्रभावो गतः इति सन्तुष्टः सन् चतुष्टयम् आह. भक्तिः आत्मानात्मविवेको ज्ञानं योगश्च इति. तत्र अत्मानात्मविवेकस्य अङ्गत्वात् त्रयं प्रतिज्ञातं ''**विदित्वार्थम्**'' इति श्लोके. तत्तु आम्नायं साङ्ख्यम्. भक्तिवितानेन सहितो योगश्च. तेन त्रयं भवति. ननु एवं सति प्रथमनिर्दिष्टं साङ्ख्यम् अनिरूप्य कथं भक्तिनिरूपणम्? तत्र आह **साङ्ख्ये ज्ञानं फलम्** इति. ज्ञानं हि मुख्यम्. तच्च प्रतिज्ञातं मन्तव्यम्. अन्यथा केवलसाङ्ख्यप्रतिज्ञा व्यर्था स्यात्. अतः ससाधनस्य ज्ञानस्य बहुवक्तव्यत्वाद् भक्तेः प्रथमं निरूपणम् इति अर्थः ।।१९० १/२।।

एवं प्रतिज्ञां सन्दिग्धां मत्वा स्पष्टम् आह **एवं चतुर्भिरध्यायैः** इति.

एवं चतुर्भिरध्यायैः चतुष्टयम् उदीर्यते ।।१९१ ।।
भक्तावनधिकारित्वम् अस्या अर्थाद् उदीरितम् ।
त्रयं तदर्थमेवाह कृतिर्योगे प्रतिष्ठिता ।।१९२ ।।

प्रथमाध्याये भक्तिः साङ्ख्यज्ञानयोगाः उत्तरत्र. ननु भक्तेः असहायशूरत्वात् किं चतुष्टयनिरूपणेन? इति आशङ्क्य आह **भक्तौ अनधिकारित्वम्** इति. न हि देवहूत्यर्थं भक्तिः निरूपिता स्त्रीत्वात् सत्सङ्गाभावात्. ''**अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि**'' इति भिन्नप्रक्रमेण देवहूत्यर्थमेव साङ्ख्यादेः उक्तत्वाच्च. तत्रापि साङ्ख्ययोगयोः प्रकारभेदाद् देवहूत्याः किम्, को मार्गः सिद्धः इति आकांक्षायाम् आह **कृतिर्योगे प्रतिष्ठिता** इति. भक्तिमार्गवत् साङ्ख्यस्यापि तदनुपयोगो निरूपणेनैव ज्ञायते इति साङ्ख्यनिरूपणम् इति भावः ।।१९२ ।।

न अत्र भक्तिस्वरूपं निरूप्यते किन्तु सर्वोपि मार्गः इति आह **भक्तिमार्गस्य** इति.

भक्तिमार्गस्य निर्धारः त्रयोदशभिरीर्यते ।
द्वाभ्यां त्रिभिस्तथा चाऽग्रे त्रयम् एकैकतस्तथा ।।१९३ ।।
सफले लक्षणे मोक्षे लोकेष्वैहिकवस्तुषु ।
हेतौ च सम्मतौ सर्व–निर्धारे क्रमतो मतैः ।।१९४ ।।

देवानाम् इत्यादिभिः. त्रयोदशश्लोकानाम् अवान्तरविनियोगम् आह : अत्र सप्त पदार्था निरूप्यन्ते. भक्तेः स्वरूपं, नान्तरीयकं फलं मोक्षः, लोकेषु भयाभावनिर्धारः, लोकानां विशेषणम् ऐहिकवस्तुषु इति ज्ञानविषयत्वेतु न एवम् इति

भावः. हेतुश्च सम्मतिश्च महतां सर्वनिधारश्च इति. तत्र श्लोकानां विभागः. द्वाभ्यां भक्तिस्वरूपं निरूप्यते. **'नैकात्मताम्'** इत्यादित्रिभिः आनुषङ्गिकं फलम्. **''अतो विभूतिम्''** इति द्वाभ्यां सालोक्यलक्षणो मोक्षः. तथा च अग्रे द्वाभ्याम् इति योजना. पुनः द्वाभ्यां मोक्षनिर्धारः. एवं मोक्षे भेदद्वयं सर्वभावभजन-वैराग्यभेदेन. तथा सति द्वाभ्यां प्रत्येकं त्रयं सिद्धं भवति इति. अग्रिमाणाम् एकैकतः इति एकेन-एकेन निरूपणम्. एवं सप्त वा अष्टौ वा अर्था निरूपिता भवन्ति. एवं सोपपत्तिको भक्तिमार्गो निरूपितः ।।१९४।।

तत्र देवहूतेः अनधिकारम् आह **सङ्गाभावात्** इति.

सङ्गाभावाद् मुमुक्षुत्वात् त्यागाशक्तेरशक्तितः ।
अयुक्ता मुख्यभक्तौ हि तेनार्थान्तरम् उच्यते ।।१९५ ।।

सत्सङ्गाभावात्. मुमुक्षुत्वमपि बाधकम्. बाधकरूपाणां स्त्रीणां त्यागश्च कर्तव्यः. स्वस्य च वैराग्यम् अशक्यं, स्त्रीत्वात्. अतो मुख्यभक्तौ अयोग्या, तेन साङ्ख्यादिकं निरूप्यते ।।१९५ ।।

साङ्ख्यनिरूपणप्रस्तावे ज्ञानमपि प्रतिज्ञायते इति आह **द्वयं तत्र प्रतिज्ञातम्** इति.

द्वयं तत्र प्रतिज्ञातं हेतुः षड्भिर्द्वितीयके ।
सर्वभिन्नतया ज्ञानं खण्डं स्त्रीणां तदेव हि ।।१९६ ।।
वेदानधिकृतनां च साङ्ख्यं तस्माद् निरूप्यते ।

''अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि'' ''ज्ञानं निश्रेयसार्थाय इति'' द्वाभ्याम्. ज्ञानार्थम् अध्यासः षड्भिः श्लोकैः निरूप्यते. अनेन असङ्गतिः परिहृता **''अनादिरात्मा''** इत्यादीनाम्. ननु सर्वं ब्रह्म इत्येवं ज्ञानं बोधनीयं किं सङ्घातविलक्षणात्मज्ञानेन? इति आशङ्क्य आह **सर्वभिन्नतया** इति. इदं हि खण्डज्ञानं स्त्रीणां मुख्ये ज्ञाने अधिकाराभावाद् युक्तम्. अनधिकारे हेतुः **वेदानधिकृतानां च** इति. अध्यासससमर्थनार्थं साङ्ख्यनिरूपणम्. वस्तुतो भेदे हि अध्यासो भवति इति तदाह **साङ्ख्यं तस्मान्निरूप्यते** इति ।।१९६ १/२ ।।

तत्र यद् उक्तं तद् आह **उत्पत्त्या** इति.

उत्पत्त्या चोपपत्त्या च सर्वभेदो निरूपितः ।।१९७ ।।
तदर्थमेव सम्प्रश्नो भेदात् संसारभिन्नता ।

ज्ञानार्थं साङ्ख्यनिरूपणम् इत्यत्र हेतुम् आह **तदर्थमेव सम्प्रश्न** इति. भेदज्ञानं बाधकं मत्वा समाधानम् आह **भेदात् संसारभिन्नता** इति. अनर्थरूपात् संसारात् स्वस्य भिन्नतया ज्ञानं मुख्यानधिकृतेषु न बाधकम् इति अर्थः ।।१९७ ।।

''**प्रकृतिस्थोऽपि पुरुष**'' इति अध्यायार्थम् आह **साधनान्युपपत्तिश्च** इति.

साधानन्युपपत्तिश्च स्वरूपार्थं तथोच्यते ।।१९८ ।।

अष्टाङ्गश्च तथा योगः कर्त्तव्यत्वात् च विस्तृतः ।

उपपत्तिः. प्रथमतः. 'यमादिभिः' इति साधनानि. विचारोऽपि साधनम् इति 'च'कारार्थः. तेन ''**पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्**'' इत्यादि उपपद्यते. ''**योगस्य लक्षणम्**'' इति अध्यायार्थम् आह **अष्टाङ्गश्च** इति. तस्याः कर्तव्यत्वाद् विस्तरेण कथनम् ।।१९८ १/२ ।।

ततो वैराग्यभक्त्योः प्रश्नानुपपत्तिम् आशङ्क्य साधयति **वैराग्ये**ति.

वैराग्यभक्त्योः सम्प्रश्नः साधनत्वाद् विशेषतः ।।१९९ ।।

तत्त्वैर्द्वितीयनिर्धारो दशभिः कारणं परे ।

विशेषतः इति. उभयाभावे योगो न सिद्ध्यति इति भक्त्यध्याये भयहेतोः माहात्म्यनिरूपणं भक्तावपि माहात्म्यमङ्गम् इति बोधनार्थम्. तत्र भक्तिस्वरूपनिरूपणम् अष्टाविंशतिश्लोकैः सार्धैः ''**भक्तियोगश्च योगश्च**'' इत्यतः प्राक्तनैः माहात्म्यं दशभिः श्लोकैः ।।१९९ १/२।।

वैराग्यम् अध्यायद्वयेन उच्यते इति आह **मृत्युजन्मविभेदेन** इति.

मृत्युजन्मविभेदेन दोषो वैराग्यबोधकः ।।२०० ।।

तेनाऽध्यायद्वयं प्रोक्तं यत् श्रुत्वाऽभयम् आप्नुयात् ।

भयाद् वैराग्यम्. तत्र प्रथमाध्याये मृत्युः निरूपितः. स च जन्मावधिरिति ''**पुनरत्राव्रजेत्**'' इति उक्तम् ।।२०० १/२ ।।

गर्भस्तुतेः उपयोगम् आह **सङ्गत्यागं विना** इति.

सङ्गत्यागं विना ज्ञानं नोपयोगाय कल्पते ।।२०१ ।।

इति दर्शयितुं स्तोत्रं यतः सर्वोपि तादृशः ।

सर्वेषामेव गर्भे ज्ञानं भवति. अन्यथा तादृशस्यैव संसारकथनं न उपपद्येत. तस्माद् वैराग्यप्रकरणे ज्ञानस्य अप्रयोजकता निरूपिता ।।२०१ १/२ ।।

अध्यायद्वयेन सिद्धम् आह **तस्मात् सर्वपरित्यागाद्** इति.

तस्मात् सर्वपरित्यागाद् भ्रमणं साधनं महत् ।।२०२ ।।

एवं त्रिभिर्द्वयं प्रोक्तं सर्वनिर्धारकं परम् ।

''**अथ यो गृहमेधीयान्**'' इति अध्यायार्थम् आह **सर्वनिर्धारकं परम्** इति. राजसानां सात्त्विकानां तामसानां च निर्धारो निरूपितः. सात्त्विकनिरूपणे ब्रह्मादीनां निरूपणम्. ''**ये त्विहाऽऽसक्तमनसः**'' इति तामसाः. ''**तस्मात् त्वम्**'' इति निर्गुणावस्था. एवं सर्वनिर्धारो विस्तरेण एकस्मिन् अध्याये निरूपितः. सङ्क्षेपेण निरूपणार्थम्

अन्तिमाध्यायार्थः ।।२०२ १/२ ।।

''**नैतत् खलाय**'' इत्यादिश्लोकानां प्रकृतोपयोगम् आह **भविता सर्वथैव एतत्** इति.

भविता सर्वथैवैतत् संवादस्य निबन्धनम् ।।२०३ ।।
गुणदोषास्त्वतस्तस्य विविच्यन्ते ह्यनेकधा ।

अयं संवादो व्यासादिभिः भागवतादौ अवश्यं निरूपणीयः. अतो गुणदोषाः निरूप्यन्ते. प्रकृते तु न उपयोगः. अतः सङ्गत्यभावो न दोषाय ।।२०३ १/२।।

अध्यायाष्टकार्थम् उपसंहरति **एवम्** इति.

एवं व्यासप्रकारेण तत्त्वम् उक्तं विभागशः ।।२०४ ।।
समासेन तथैकस्मिन् सफलं पूरणं तथा ।

विस्तारप्रकारेण सर्ववस्तुनिर्धारार्थं तत्त्वम् उक्तम्. सुखप्रतिपत्त्यर्थं सङ्क्षेपेण आह तस्याफलत्वम् आशङ्क्य सारोद्धारत्वज्ञापनाय शीघ्रं फलसिद्धिम् आह **सफलम्** इति ।।२०४ १/२ ।।

अवान्तराध्यायार्थम् आह **गुरुप्रसाद** इति.

गुरुप्रसादसिद्ध्यर्थं स्तोत्रं वागेव स स्मृतः ।।२०५ ।।
प्रतिपत्तिम् अकृत्वा चेद् लीना को वेद किं भवेत् ।
इत्यब्धारणया देह जलं चक्रे महामतिः ।।२०६ ।।
अवतारचरित्रत्वात् श्रवणे फलम् उच्यते ।।२०६ १/२ ।।

स्तोत्रं देवहूतिकृतम्. स्तोत्रमात्रेणैव तोषे हेतुम् आह **वागेव** इति. ''ज्ञानकलावतीर्णः'' इति सरस्वतीरूपः कपिलः. देहस्य संस्कारः तथा कथं कृतः? इति आशङ्क्य आह **प्रतिपत्तिम् अकृत्वा** इति. स्वस्य स्त्रीत्वाद् गुरोश्च सरस्वतीरूपत्वात् तिर्यग्गतावपि जलधारणैव कृता. अग्निभावेऽपि ऊर्ध्वगतिः गुरुसायुज्याद् भविष्यति इति ज्ञात्वैव तथाकृतवति इति आह **महामतिः** इति कथायाअपि सफलत्वम् आह ।।२०५ ।२०६ १/२ ।।

।। इति श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचिते सप्रकाशतत्त्वार्थदीपनिबन्धे श्रीमद्भागवतार्थप्रकरणे तृतीयस्कन्धार्थनिरूपणं समाप्तम्।।

॥ तृतीयस्कन्धार्थ सर्गलीला ॥

गो. श्रीश्याम मनोहरजी. (किशनगढ–पार्ला)

प्रथम स्कन्धमॆ उत्तम मध्यम तथा आदिम प्रकारके श्रवणाधिकार और द्वितीय स्कन्धमॆ तत्त्वध्यान हृत्प्रसाद और मनन रूप तीन साधनॊके निरूपणके बाद अब इस स्कन्धमॆ भगवान्‌की दस लीलाऒमॆसे प्रथम सर्गरूपा लीलाका निरूपण अभिप्रेत है. लौकिक सर्ग और अलौकिक सर्ग दोनॊ ही तैंतीस तरहके दिखलाये गये हैं. जैसे कि बृहदारण्यकोपनिषद्‌के ‘‘देवता कितने होते हैं ? आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, यॊ इकत्तीसके बाद बत्तीसवां इन्द्र और तैंतीसवां प्रजापति’’ (बृह.उप.३।९।१–२) इस वचनके अनुसार स्पष्ट है. इसी तरह अट्ठाईस तत्त्व, चार तरहके उद्‌भिज्ज अण्डज जरायुज और स्वेदज यॊ चार तरहके भूतबीज की गणना करनेपर ३२ और ३३ वां काल यॊ लौकिक सर्ग भी तैंतीस तरहका माना गया है. अतः लौकिकालौकिक अथवा बन्धमोक्ष के प्रभेदवश दो प्रकरणॊमॆ और तैंतीस अध्यायॊवाला यह स्कन्ध है.

(प्रकारान्तर)

[१]गुणातीतसृष्टि, [२]सगुणसृष्टि, [३]कालसृष्टि, [४]जीवसृष्टि और [५]तत्त्वसृष्टि यॊ पांचॊ तरहकी सृष्टिके अन्तर्गत एक प्रकार मोक्षार्थ सृष्टिका और दूसरा प्रकार बन्धार्थ सृष्टिका यॊ कुल मिला कर दस प्रकरणॊवाला भी स्कन्ध माना जाता है.

(तृतीयस्कन्धमॆ बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १–६ अध्यायॊवाला गुणातीतसृष्टिका प्रथम प्रकरण)

इस प्रथम प्रकरणका प्रथम अध्याय गुणातीत तत्त्वके वर्णनार्थ है.

(१) इस अध्यायमॆ अधिकारके प्रसंगवश प्रतिबन्धकी निवृत्ति तीर्थसेवन सत्संगप्रीति भगवान्‌के बारेमॆ प्रश्नात्मिका उत्कण्ठा या जिज्ञासा के रूपमॆ बाह्यशुद्धि निरूपित हुयी है.

(२) दूसरा अध्याय गुणातीत कार्यके वर्णनार्थ है. इसमॆ भगवत्कथाके श्रवणवशात् शास्त्रीय रीतिके अनुसार भगवान्‌के माहात्म्यका ज्ञान हुवा वह आभ्यन्तर शुद्धिका निरूपण है.

(३) तीसरा अध्याय प्रतिबन्धोंकी निवृत्तिके द्वारा उत्तमोत्तमाधिकाररूप श्रवणके अधिकारके वर्णनार्थ है. इसमें केवल भगवच्चरित्रके श्रवणके कारण आन्तरिक ज्ञानरूप भगवद्गुणोंका प्रकट होना प्रतिपादित हुवा है.

(४) चौथा अध्याय उक्त अधिकारीकी शुद्धिके वर्णनार्थ है. इसमें भगवान्के प्रयाणके समय विद्यमान अधिकारी उद्धवकी तरह अविद्यमान विदुर पर भी, यों दोनोंपर भगवान्के प्रसादका वर्णन अभिप्रेत है.

(५) पांचवां अध्याय तीर्थाटनरूप उसके अधिकारानुरूप साधनके निरूपणार्थ है. इसमें ब्रह्माण्डके कारणीभूत महद् आदि तत्त्वोंकी उत्पत्तिका निरूपण स्तुतिद्वारा किया गया है.

(६) छट्ठा अध्याय उस उत्तमोत्तम अधिकारीकी श्रवणासक्तिके निरूपणार्थ है. इसमें महद् आदि तत्त्वोंके कार्यभूत ब्रह्माण्डरूप शरीरकी उत्पत्तिके वर्णन करनेवालोंके कर्मका निरूपण किया गया है.

यों छह अध्यायोंवाले इस प्रथम प्रकरणके बाद अब दूसरा प्रकरण तीन अध्यायोंका है.

(तृतीयस्कन्धमें बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ ७-९ अध्यायोंवाला सगुणसृष्टिका द्वितीय प्रकरण)

प्रकृतिके तीन, सात्त्विक राजस एवं तामस, गुणोंके कारण सगुणसृष्टिका भी निरूपण तीन प्रकारसे इन अध्यायोंमें यहां करना अभिप्रेत माना गया है.

(१) इस सगुणसृष्टिके निरूपणके प्रकरणके प्रथम, अर्थात् आदितः सातवें, अध्यायमें शंका-समाधानके रूपमें मतान्तरके आधारपर सृष्टि और भगवान् के बीचमें गुणोंके प्रवेशका वर्णन किया गया है.

(२) द्वितीय, अर्थात् आदितः आठवें, अध्यायमें चतुर्मुख ब्रह्माजीको जो उनके हृदयमें जगत्कारणरूप भगवान्के दर्शन हुवे उसके कारण वे सृष्टिकर्ता बने, ऐसा समझाया गया है.

(३) तृतीय, अर्थात् आदितः नौवें, अध्यायमें जो सृष्टि अवश्यंभावी थी उसकी उत्पत्ति सफलतया हो पाये, तदर्थ ब्रह्माजी द्वारा की गयी स्तुतिका वर्णन है.

यों तीन अध्यायोंवाले दूसरे प्रकरणके बाद अब दो अध्यायोंवाला तीसरा प्रकरण आता है.

(तृतीयस्कन्धमॄ बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १०-११ अध्यायॄवाला कालसृष्टिका तृतीय प्रकरण)

इस कालसृष्टिके प्रकरणमॄ, क्यॄकि, कालके स्थूल और सूक्ष्म यॄ दो प्रभेद होते हैं, अतः दो अध्यायॄमॄ वर्णन अभिलषित है.

(१) इस कालसृष्टिके प्रकरणके पहले, अर्थात् आदितः दसवॄ, अध्यायमॄ दशविध सर्गरूप कार्यके रूपमॄ कालके जन्मका वर्णन हुवा है.

(२) दूसरे, अर्थात् आदितः ग्यारहवॄ, अध्यायमॄ परमाणुसे लेकर परार्ध संख्याकी उपाधिवाले कालके जन्मका निरूपण अभिप्रेत है.

अमुक्त जीव कालके आधीन ही रहते होनेसे उनका निरूपण कालसृष्टिके वर्णनके अन्तर्गत ही यहां कर दिया गया है.

(तृतीयस्कन्धमॄ बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १२वॄ अध्यायवाला मुक्तजीवकी सृष्टिका चतुर्थ प्रकरण)

इस चौथे प्रकरणमॄ मुक्तजीवकी सृष्टिका वर्णन एक ही अध्यायमॄ किया गया है.

(१) इस बारहवॄ एक अध्यायरूप प्रकरणमॄ लोकातीत एवं लौकिक मुक्त जीवकी सृष्टिका निरूपण और इसी तरह इनके अंगरूपेण नामसृष्टिके प्राकट्यका भी निरूपण अभिप्रेत है.

(तृतीयस्कन्धमॄ बन्धसृष्टिके निरूपणार्थ १३-१९ यॄ कुल सात अध्यायॄवाला पांचवां प्रकरण)

मुक्ति, क्यॄकि, बन्धसे मुक्ति होनेके अर्थमॄ अपेक्षित है. अतः इस बन्धसृष्टिके अवान्तर प्रकरणमॄ प्रथम अध्यायसे लेकर उन्नीसवॄ अध्याय तक बन्धसृष्टिका वर्णन किया गया है.

(१) इसके प्रथम, अर्थात् आदितः तेरहवॄ, अध्यायमॄ सारे तत्त्वॄकी आधारभूत भूमिके उद्धारार्थ वराहकल्पके निरूपण द्वारा मुक्तजीवॄकी सृष्टिमॄ उपपत्तिका निरूपण किया गया है.

अग्रिम छह अध्यायॄमॄ विस्तारपूर्वक जन्म-मरणात्मक संसारका निरूपण अभिप्रेत है. तदनुसार —

(२) दूसरे, अर्थात् आदितः चौदहवें, अध्यायमें मुक्तजीवोंकी सृष्टिकी उपपत्तिके प्रयोजनवश सन्ध्याकालमें कामके द्वारा आसुरी बीजके जननका वर्णन किया गया है.

(३) अतएव इस उपपत्तिके अंगतया तीसरे, अर्थात् आदितः पंदरहवें, अध्यायमें ब्रह्मशापवश वैकुण्ठस्थित पार्षदोंका आसुरबीजमें समागमन प्रतिपादित हुवा है.

(४) चौथे, अर्थात् आदितः सोलहवें, अध्यायमें भगवान्द्वारा शाप प्रदान करनेवालेको सान्त्वनाप्रदान और अपने पार्षद जय-विजयके भीतर भगवद्विभूतिके आवेशका निरूपण अभिप्रेत है.

(५) उपपत्तिनिरूपणके अंगतया पांचवें, अर्थात् आदितः सत्रहवें, अध्यायमें सृष्टिमें अतिशयित उत्कर्ष नाशका बीज बनता है यह दिखाना अभिप्रेत है.

(६) इस उपपत्तिके प्रसंगवश छट्ठे, अर्थात् आदितः अट्ठारहवें, अध्यायमें दैत्यका भगवान्के साथ जो युद्ध हुवा उसकी विनाशकथा वर्णित हुयी है.

(७) इसी उपपत्तिके निरूपणार्थ इस सातवें, अर्थात् आदितः उन्नीसवें, अध्यायमें दैत्यनाशनकी कथा पूर्ण हुयी.

इस तरह सात अध्यायोंवाले इस पांचमें अवान्तर प्रकरणके बाद अब चार अध्यायोंवाला छट्ठा प्रकरण आता है.

(तृतीयस्कन्धमें मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २०-२४ अध्यायोंवाला तत्त्वमुक्तिका छट्ठा प्रकरण)

इस छट्ठे अवान्तर प्रकरणकी अध्याययोजना निम्नलिखित रूपमें है. इस प्रकरणमें प्रथम, अर्थात् आदितः बीसवां अध्याय, क्योंकि अग्रिम चार अध्यायोंमें पुरुषकी मुक्तिका निरूपण अभिप्रेत है अतः, मुक्तसृष्टिके उपक्रमार्थ योजित है. शेष चार अध्यायोंमें पुरुषकी मुक्तिके निरूपण द्वारा ही, पुरुषद्वारा त्यक्त तत्त्व पुनः अपरिगृहीत स्वस्वरूपमें अवस्थित हो जाते होनेसे तत्त्वमुक्तिका निरूपण भी द्योतित हो गया है.

(१) यहां प्रथम, अर्थात् आदितः बीसवें, अध्यायमें सात्त्विक राजस और तामस के इतरेतरगुणित नौ प्रकार सगुणावस्थाके और दसमी निर्गुणावस्थाके

प्रभेदके अनुसार भगवच्चिन्तनमॄ भी सगुण और निर्गुण यॄ दो तरहके स्वभाव प्रकट होते हैं. इन्हींके आधारपर मोक्ष उपपन्न होता होनेसे मुक्तसृष्टि भी उपपन्न हो जाती है.

(२) द्वितीय, अर्थात् आदितः इक्कीसवॄ, अध्यायमॄ मोक्षसृष्टिके प्रकरणके अन्तर्गत तत्त्वमुक्तिके अवान्तरप्रकरणमॄ भोगसहित मोक्षके वर्णनके प्रसंगमॄ कर्दम और मनु की धर्मसिद्धियॄका निरूपण किया गया है.

(३) तृतीय, अर्थात् आदितः बाईसवॄ, अध्यायमॄ भोगसहित मोक्षके निरूपणतया ऐहिक-आमुष्मिक उत्कर्षवाले मनुके कन्यालाभ और कर्दमके अर्थलाभ का निरूपण किया गया है.

(४) चौथे, अर्थात् आदितः तेईसवॄ, अध्यायमॄ कर्दमकी भोगसहित मुक्तिके वर्णनके अन्तर्गत कामनाआॄकी पूर्तिकी कथा वर्णित हुयी है.

(५) पांचवॄ, अर्थात् आदितः चौबीसवॄ, अध्यायमॄ कर्दम ऋषिके सांख्यके फलरूप मोक्षकी प्राप्तिका निरूपण किया गया है. अर्थात् सांख्यकी प्रक्रियाद्वारा पुरुषके प्राकृत गुणाॄसे मुक्त होनेपर प्राकृत तत्त्व वैराग्यवश छूट जाते होनेसे उन तत्त्वाॄकी मुक्ति हो जाती है.

इस तरह पांच अध्यायॄवाले इस प्रकरणके बाद अब एकाध्यायात्मक सातवां प्रकरण आता है.

(तृतीयस्कन्धमॄ मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २५वॄ अध्यायवाला कालमुक्तिका सातवां प्रकरण)

जो गुणातीत या भगवदधीन होते हैं उनकी मुक्ति तो भक्तिरूपा ही मानी जाती है. अतः—

(१) इस एकाध्यायात्मक प्रकरणमॄ भक्तिके मुख्य स्वरूपका निरूपण किया गया है. यह पुनः कालमुक्तिके रूपमॄ अभिप्रेत है.

इस एकाध्यायात्मक प्रकरणके बाद अब दो अध्यायॄवाला प्रकरण आता है.

(तृतीयस्कन्धमॄ मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २६-२७ अध्यायॄवाला गुणातीतमुक्तिका आठवां प्रकरण)

इस प्रकरणके दो अध्यायॊमॆ अज्ञाननिवृत्तिरूप ज्ञानका निरूपण अभिलषित है. यह गुणातीतमुक्तिलीलाका प्रकरण है.

(१) यहां प्रथम, अर्थात् आदितः छब्बीसवॆ, अध्यायमॆ सांख्यशास्त्रीय प्रक्रियाके अनुसार उत्पत्ति तथा उपपत्ति दोनॊके आधारपर अप्राकृत आत्माकी भिन्नताके निरूपण द्वारा गुणातीत आत्माकी मुक्तिका वर्णन किया गया है.

(२) यहां इस द्वितीय, अर्थात् आदितः सत्ताईसवॆ, अध्यायमॆ सांख्यशास्त्रके आधारपर ज्ञान और उसके साधनतया उपपत्तियॊका निरूपण किया गया है.

(तृतीयस्कन्धमॆ मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २८वॆ अध्यायवाला सगुणमुक्तिका नौवां प्रकरण)

यह पुनः एकाध्यायात्मक प्रकरण है.

(१) इस प्रकरणके अन्तर्गत एक अध्यायमॆ योगका निरूपण किया गया है.

यह सगुणॊकी मुक्तिलीलाके रूपमॆ है. क्यॊकि सगुणसृष्टि तत्तद् भावॊके साथ निर्मित हुयी होती है. अतः उनकी भीति उनके वैसे भावॊसे मुक्त होनेपर और स्वयं अपने स्वरूपमॆ अवस्थित होनेपर होती है. यह जबतक चित्तवृत्तिऒका निरोध न हो तबतक शक्य न होनेके कारण योगसाधनाके निरूपणद्वारा मुक्तिलीलाका निरूपण यहां अभिलषित माना गया है.

(तृतीयस्कन्धमॆ मुक्तसृष्टिके निरूपणार्थ २९–३३ अध्यायॊवाला जीवमुक्तिका दसमां प्रकरण)

इस प्रकरणमॆ पांच अध्याय योजित हुवे हैं. प्रथम, अर्थात् २९वॆ अध्यायमॆ, योगकी अंगभूता भक्तिका निरूपण अभिप्रेत है. अग्रिम दो अर्थात् ३०–३१ अध्यायॊमॆ वैराग्यका निरूपण अभिलषित है. एतावता जीवकी मुक्तिलीलाका यह प्रकरण फलित होता है. अवशिष्ट दो अर्थात् ३२–३३ अध्यायॊमॆ स्त्रीमुक्तिका वर्णन अभिप्रेत है.

(१) यहां प्रथम, अर्थात् आदितः उनत्तीसवॆ, अध्यायमॆ मोक्षसृष्टिके प्रकरणमॆ जीवमुक्तिके प्रसंगवश सभीका साधन बन पाये ऐसी चार प्रकारकी भक्ति और वैराग्य के अंगतया भयंकर कालके माहात्म्यका निरूपण किया गया है.

(२) द्वितीय, अर्थात् आदितः तीसवृ, अध्यायमृ संसारमृ भयवश प्रकटे वैराग्यके उद्बोधनार्थ मृत्युरूप दोषका निरूपण किया गया है.

(३) तृतीय, अर्थात् आदितः इकत्तीसवृ, अध्यायमृ पूर्वोक्त कालजनित मृत्युजनित वैराग्यके ही उद्बोधनार्थ पुनर्जन्मरूप दोषका निरूपण अभिप्रेत है.

(४) चौथे, अर्थात् आदितः बत्तीसवृ, अध्यायमृ इन्हीं सारी बातृके उपसंहारार्थ सर्वशेषरूप अन्य भी सारी बातृ समझायी गयी हैं.

(५) पांचवृ, अर्थात् आदितः तैंतीसवृ, अध्यायमृ मुक्तसृष्टिके प्रकरणके अनुरूप सर्गरूप फलके बोधक योगसाधनाद्वारा देवहूतिको मिले मोक्षका निरूपण किया गया है.

इस तरह १९ अध्यायृवाली बन्धसृष्टि और १४ अध्यायृवाली मुक्तिसृष्टि यृ कुल मिला कर ३३ अध्यायृवाले दस प्रकरणृमृ तृतीय स्कन्धमृ सर्गलीला निरूपित हुयी है.

यहां श्रीशुकदेवजी और मैत्रेय की सर्गनिरूपणकी रीति अलग-अलग होनेसे प्रकरण एवं अध्याय के मूलार्थमृ अन्तर पड़ जाता है. अतः मैत्रेयकी निरूपणरीतिके अनुसार सर्गलीलाके अन्तर्गत चार प्रकरण यृ हैं : [१]अधिकारप्रकरण, सृष्टिप्रकरण, उपपत्तिप्रकरण और फलप्रकरण.

इनमृ जो सृष्टिप्रकरण है वह [२]गुणातीतसृष्टि, [३]सगुणसृष्टि, [४]कालसृष्टि, [५]तत्त्वसृष्टि और [६]जीवसृष्टि रूपी पांच प्रकरणृवाला है.

इसके बाद आनेवाले उपपत्तिके प्रकरणमृ [७/क]बन्धसृष्टि और [७/ख]मोक्षसृष्टि के प्रभेदवश दो तरहके अवान्तरप्रकरण हैं.

फलप्रकरणमृ मुक्तिका प्रतिपादन किया गया है. यह मुक्ति [८]भक्ति [९]सांख्य और [१०]योग के तीन प्रभेदवश तीन तरहसे प्रतिपादित हुयी है. इस तरह तृतीयस्कन्ध दस प्रकरणृवाला मैत्रेयमतके अनुसार प्रतिपादित हुवा है.

इस फलप्रकरणमृ भक्तिके अवान्तरप्रकरणके पुनः पुंमुक्ति और सफला मुक्ति यृ दो अवान्तरप्रकरण हैं. सांख्यमृ अवान्तरप्रकरण नहीं है परन्तु योगप्रकरणके अन्तर्गत पुनः स्वयं योग वैराग्य सर्वनिर्धार और स्वयं मुक्ति रूप

चार अवान्तरप्रकरण माने गये हैं.

यहॉं श्रीशुकदेवजीके अभिप्रायके अनुसार स्थूलदृष्टिसे पांच प्रकरण सूक्ष्मदृष्टिसे दस प्रकरण बनते हैं. जबकि मैत्रेयजीके अनुसार स्थूलदृष्टिसे चार प्रकरण और सूक्ष्मदृष्टिसे दस प्रकरण बनते हैं. यह दोनॉं दृष्टियॉंका प्रभेद है.

तृतीयस्कन्धानुक्रमणिका

।। मोक्षसृष्टिप्रकरणम् ।।

(अध्याय २०-३३)

२०. मोक्षसृष्टिप्रकरणे नवभेदभिन्न-त्रैगुण्य-निर्गुण्यवस्थारूप-ज्ञानभगवच्-चिन्तनात्मक-स्वाभावभेदद्वय-निरूपणेन मोक्षोपपत्तिनिरूपणम्. १

२१. मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-तत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुत-मुक्तिकथन-प्रस्तावे कर्दमस्य मनोश्च धर्मसिद्धिनिरूपणम्. ३५

२२. मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-तत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुत-मुक्तिकथन-प्रस्तावे ऐहिकामुष्मिकोत्कर्षयुक्तस्य मनोः कन्यालाभेन कर्दमस्य अर्थसिद्धिनिरूपणम्. ६७

२३. मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-तत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुत-मुक्तिकथन-प्रस्तावे कर्दमस्य कामसिद्धिनिरूपणम्. ८४

२४. मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-तत्त्वमुक्तिप्रकरणे भोगादिसंयुत-मुक्तिकथन-प्रस्तावे कर्दमस्य साङ्ख्यफलरूप-मोक्षनिरूपणम् १०८

२५. मोक्षसृष्टिप्रकरणे कालस्य मुक्तिलीलारूप-मुख्यभक्तिनिरूपणम्. १२९

२६. मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-गुणातीतमुक्तिप्रकरणे साङ्ख्येन उत्पपत्त्या उपपत्त्या च आत्मनः सर्वभिन्नत्वनिरूपणम्. १६१

२७. मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-गुणातीतसृष्टिलीलाप्रकरणे साङ्ख्येन ज्ञान-तत्साधनोपपत्तीनां निरूपणम्. २१७

२८. मोक्षसृष्टिप्रकरणे सगुणमुक्तिलीलारूप-ससाधनाष्टाङ्ग-योगनिरूपणम्. २३६

२९. मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवमुक्तिप्रकरणे सर्वसाधनरूप-

चतुर्विधभक्ति-वैराग्यहेतुभयहेतोः कालस्य माहात्म्यनिरूपणम्. २६५
३०. मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवमुक्तिप्रकरणे भयहेतुक-वैराग्य-बोधकमृत्युना दोषनिरूपणम्. २८९
३१. मोक्षसृष्टिप्रकरणान्तर्गत-जीवसृष्टिप्रकरणे भयहेतुकवैराग्यबोधक-जन्मना दोषनिरूपणम्. ३०२
३२. मोक्षसृष्टिप्रकरणे सर्वशेषसर्वनिर्धारणम्. ३२६
३३. मोक्षसृष्टिप्रकरणे सर्गफलबोधक-योगाफ्लात्मक-देवहूतिमोक्ष-निरूपणम्. ३४८

।। इति सर्गनिरूपणे तृतीयस्कन्धः ।।

।। विंशाध्यायविवरणम् ।।

भगवत्कृतसर्गस्तु सोपोद्घातो निरूपितः।
चतुर्दशभिरध्यायैः उच्यते हरये परः।।१।।
गुणवैषम्यभावेन सर्गाः पूर्वं निरूपिताः।
गुणवैषम्यभावोऽत्र द्विविधो वर्ण्यते स्फुटः।।२।।
आधिदैविकभावोऽत्र नाऽस्तीति द्वैधवर्णनम्।
आधिभौतिकमेकेन चतुर्भिश्च तथा परम्।।३।।
भूतमात्रेन्द्रियधियां हरौ ज्ञानोपयोगिनाम्।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ विंशाध्यायं विवरिषवः प्रकरणान्तरस्य आरप्स्यमाणत्वात् प्रथमतः सङ्गतिं वक्तुं पूर्वप्रकरणार्थानुवादपूर्वकम् एतस्य अर्थम् आहुः **भगवदि**त्यादि. **ईरितः** इति. एकोनविंशतिभिः ईरितः. **हरये** इति हर्यर्थम्. तस्य च स्वार्थ-परार्थभेदेन सर्गद्वैविध्यात् प्रथमं परार्थम् उक्त्वा अधुना स्वार्थ उच्यते, अतो अवसरः सङ्गतिः इति अर्थः. अत्र **सोपोद्घातः** इति कथनाद् उपोद्घातप्रकरणस्य मध्यस्थस्य ब्रह्मरूप-कर्तृनिरूपकत्वाद् एतं प्रत्यपि हेतुता इति तेन सह हेतुहेतुमद्भावोऽपि इति च (१).

ननु करणभूतस्य गुणवैषम्यस्यापि मध्यमप्रकरणे निरूपितत्वात् तस्य कुतो न हेतुता-प्रयोजकत्वम्? इत्यतः आहुः **गुणे**त्यादि. **स्फुटः** इति. विंशे षड्विंशे च 'क्षोभ'पदस्य कण्ठतः उक्तत्वात् स्फुटः इति अर्थः. तथा च, यस्माद् अत्र पुनः (नि)रूप्यते, तस्माद् न तत्र गुणवैषम्ये हेतुताप्रयोजकत्वं, किन्तु पूर्वान् प्रत्येव तथा इति अर्थः(२).

एवं सङ्गतिं सोपपत्तिकां निरूप्य वैषम्यद्वैविध्ये हेतुम् आहुः **आधि-दैविके**त्यादि. **अत्र** एतत्प्रकरणोक्ते सर्गे "**एते देवाः कला विष्णोः**" (भाग.पुरा. ३।५।३७) इतिवद् देवत्वस्य तत्त्वेषु अकथनात् प्रकारभेददर्शनेन पूर्वानुवादस्य अशक्यवचनतया तेषां ग्रहीतुम् अशक्यत्वात् च आधिदैविकत्वं न अस्ति इत्यतः तथा इति अर्थः. वर्णने क्रमम् आहुः **आधिभौतिके**त्यादि. एकोनविंशेन भौतिकं वैषम्यम्. **तथा चतुर्भिः हरौ** हर्यर्थम्(३).

भगवत्प्रादुर्भावयोग्यत्वाय **ज्ञानोपयोगिनां भूतमात्रेन्द्रियधियां**

गुणाः स्वभावतः केऽत्र पुष्टिमार्गोपयोगिनः॥४॥
निरूप्यन्ते हरेरुक्ताः प्रत्येकं त्रिविधा यथा।
आधिदैविकम् आध्यात्मम् आधिभौतिकमेव च॥५॥
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च तथैकेनोच्यते क्रमात्।
भक्तिसाङ्ख्यात्मविज्ञान–योगैश्चत्वार आद्यके॥६॥
आध्यात्मिकः काल एव माहात्म्यकरणे तथा।
तदधीनं जगत्सर्वम् इत्यथाऽस्तु द्वितीयके॥७॥
मुक्त एव हरेरर्थे भूतत्वेनोपयुज्यते।
अतो मुक्तिः स्त्रियाश्चैव पूर्वेषु द्विविधेष्वपि॥८॥

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

गुणसंस्काररूपं जन्म उच्यते. तथा च, पञ्चाध्यायात्मकम् एकम् आद्यम् अवान्तर-प्रकरणम् इति अर्थः. अग्रिमस्य प्रकारम् आहुः **गुणा**ः इत्यादि. **अत्र** अस्मिन् प्रकरणे **स्वभावतः पुष्टिमार्गोपयोगिनो** ये भूतमात्रेन्द्रियधियां **गुणाः** संस्काररूपाः ते **के**? इति आकाङ्क्षायां, **हरे**ः कपिलस्य **उक्ताः** ये **निरूप्यन्ते**, ते **यथा** यथावद् अधिदैविकादिभेदेन **प्रत्येकं त्रिविधाः**(४-५).

अतः क्रमात् पूर्वं **चतुर्भि**ः आधिदैविकं, **च** पुनः **चतुर्भिः** अध्यात्मं, **च** पुनः **एकेन** आधिभौतिकम् इत्येवं तेषां त्रैविध्यम् उच्यते. तथाच एवं नवाध्यायात्मकं द्वितीयम् अवान्तरप्रकरणम् इति अर्थः. आधिदैविकादीन् विशदीकुर्वन्ति **भक्ती**त्यादि. तथाच आधिदैविके भक्त्यादयः चत्वारो गुणाः क्रमेण भूतादिसंस्कारकाः. आध्यात्मिके कालाद्याः चत्वारः तथा(६).

आध्यात्मिकः इति. संवत्सरात्मकः. **माहात्म्यकरणे** इति द्विवचनम्. 'करण'पदेन मुक्तसङ्गतया विवरणम् उच्यते. **तदधीनं जगत् सर्वम्** इति एषा बुद्धिः बुद्धिसंस्काररूपा. **अथ द्वितीयके.** आध्यात्मिकप्रकारे. **अस्तु.** कालादिसंस्कृतं भूतादिकं क्रमेण सर्गरूपम् अस्तु इति अर्थः(७).

तृतीये एकएव अध्यायः कुतः? इति अपेक्षायाम् आहुः **मुक्तएव** इत्यादि. आधिदैविकाध्यात्मिकभेदेन द्विविधेष्वपि **हरेः अर्थे** संस्कृतेषु सत्सु शिष्टो **मुक्तः**. मुक्तदेहएव **भूतत्वेन** भौतिककक्षानिविष्टत्वेन **उपयुज्यते. अतो** हेतोः. **स्त्रियाः चैव** स्त्रियाअपि **मुक्तिः** उच्यते. अतो निराकाङ्क्षत्वात् तृतीयः एको अध्यायः इति

धर्मादयोऽपि द्विविधाः तत्रोच्यन्ते क्रमादिमे।
सर्गे तेषामनुत्पत्तौ मार्गस्तेषां न वै भवेत्।।९।।
यादृशा भगवन्मार्गे जीवचिन्तनचिन्तिताः।।
एकविंशतिभिस्तेऽत्र निरूप्यन्ते क्रमात् स्फुटाः।।१०।।
***भगवच्चिन्तिता ये वै पञ्चविंशतिभिस्तु ते।**
अन्यत् सर्वं कालकृतं चत्वारस्तेऽपि वर्णिताः।।११।।
त्रिविधा अपि तेऽप्युक्ता मुख्यो मोक्षस्तथाऽन्तिमः।
मूलं सर्गस्त्रयाणां तु मुख्यो मोक्षः फलं तथा।।१२।।
चतुर्दशभिरध्यायैर् अतः सर्गो निरूपितः।
तद्विंशतितमेऽध्याये सङ्कीर्णः सर्ग उच्यते।।१३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अर्थः(८).

एकम् एकधा विभज्य प्रयोजनान्तरेण विभागान्तरम् आहुः **धर्मे**त्यादि. **तत्र** तेषु अध्यायेषु **क्रमाद् इमे धर्मादयो द्विविधाः** पुरुषार्था**अपि उच्यन्ते.** तत्कथनहेतुः **सर्गे** इत्यादि. तथाच, तन्मार्गप्रचारार्थं द्विविधाः ते उच्यन्ते इति अष्टौ अध्यायाः इति अर्थः.(९)

द्वैविध्यं कुतः? इति अपेक्षायाम् आहुः **यादृशाः** इत्यादि. **एकविंशतिभिः** इति. एकविंशाद् आरभ्य चतुर्भिः. एवं **पञ्चविंशतिभिः** इत्यत्रापि बोध्यम्. अग्रिमाणां प्रयोजनम् आहुः **अन्यद्** इत्यादि. **अन्यद्** भगवन्मार्गीयव्यतिरिक्तं तच्चतुष्टयं **कालकृतम्** इति ज्ञापयितुं ते धर्मादयः **चत्वारो**ऽपि ऊनत्रिंशाद् आरभ्य चतुर्षु **वर्णिताः** इति अर्थः(१०-११).

अतः परम् अध्यायद्वयं वक्तुं सर्वं संगृह्य आहुः **त्रिविधा** इत्यादि. एवं **त्रिविधाअपि तेऽपि उक्ताः** बद्धत्वेन मुक्तत्वेन च उक्ताः इति **मुख्यो** मुखे भवो विशेषः तेषां **मोक्षः. अन्तिमः** त्रयस्त्रिंशो **मूलम्** उत्पत्तिरूपः. **तुः** शङ्कानिरासे. **त्रयाणां** धर्मप्रभृतीनां **सर्गो** अस्ति, तथा **मुख्यः** परमो **मोक्षः** तेषां **फलम्** अस्ति. अतः उभयथा विभागेऽपि प्रयोजनसत्वात् **तथा** इति अर्थः(१२).

एवं प्रकरणानि अध्यायांश्च विभज्य प्रस्तुतस्य अर्थम् आहुः

---

* ''भगवच्चिन्तिता ते वै .....स्तुतौ'' इति मां.४

षड्विधो हरिकार्यार्थम् अत्रोक्ताः सकला हरौ।
सर्गम् एकविधं ज्ञात्वा विसर्गे प्रश्न ईदृशः॥१४॥
तथापि शास्त्रमेवात्र वक्तव्यम् इति निश्चयः।
अभिप्रेतं न तस्याऽपि तथैवेत्यन्यथोच्यते॥१५॥
प्रश्नद्वयं तु कुरुते शौनकः प्रकृतौ महान्।
विसर्गविषयं त्वाद्यं भक्तानां तु तथा परम्॥१६॥
एकेन पञ्चभिश्चैव मूलारम्भो हि भेदकः।
परीक्षिच्छुकयोरत्र विरामो नैव दृश्यते।
सूत एव ततो वक्ता तुल्यार्थत्वाद् न दूषणम्॥१७॥

तत्र शौनकः, सर्गः सविशेषः श्रुतः इति, विसर्गं पृच्छति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

त(दि)त्रेत्यादि. **सङ्कीर्णः** इति. सत्यपि वैलक्षण्ये स्वरूपतौल्याद् विविच्य ज्ञातुम् अशक्यः. **सर्गः** इति. वैषम्यपूर्वकः सर्गः. **हरौ** इति. तादात्म्येन साक्षाद् भगवन्निष्ठाः तथाच अस्य वैलक्षण्यस्य दुरापत्वात् तथा इति अर्थः ननु अत्र द्वितीयः सर्गएव चेद् वक्तव्यः तदा व्यासेन शुकेन वक्तव्यः, विदुरप्रश्नादिकं किमिति उच्यते? इत्यतः आहुः **सर्गम्** इत्यादि. **ईदृशः** इति. भगवदुपयोगिकार्यविषयकः. तथाच विवक्षित-सर्गानुकूलत्वात् तद् उच्यते इति अर्थः(१४).

ननु आनुकूल्येपि प्रश्नस्य विसर्गविषयकत्वाद् मैत्रेयस्य तावदेव वक्तव्यं, नतु सर्गोऽपि इति तेन कुतः उच्यते? इत्यतः आहुः **तथापि** इत्यादि. तथाच, प्रश्नाभावेपि शास्त्रमेव तदर्थं वक्तव्यम्, अतः प्रसङ्गात् तेन उच्यते इति अर्थः. ननु तदुक्तौ इदं प्रासङ्गिकम् इत्यत्र किं गमकम्? अतः आहुः **अभिप्रेतम्** इत्यादि. 'अपि'शब्दाद् विदुरस्य. तथाच उपेक्षया यथाकथञ्चित् कथनमेव प्रासङ्गिकत्व-गमकम् इति अर्थः(१५).

ननु भवतु एवं, तथापि शौनकाद्युक्त्युपन्यासस्य किं प्रयोजनम्? अतः आहुः **प्रश्नद्वयम्** इत्यादि. तथाच, तस्य अतिसात्त्विकज्ञापनाय तदुपन्यासः इति अर्थः(१६).

ननु तर्हि ''**एवम् उग्रश्रवाः**''(भाग.पुरा.३।२०।७) इत्यस्य किं प्रयोजनम्? अतः आहुः **मूले**त्यादि. **भेदकः** इति. सूताधिकारस्य भेदकः. तथाच

शौनकः उवाच

महीं प्रतिष्ठामध्यस्य सौते! स्वायम्भुवो मनुः।

कान्यन्वतिष्ठद् द्वाराणि [1]मार्गायाऽवरजन्मनाम्।।१।।

महीं प्रतिष्ठाम् इति. पूर्वानुवादपूर्वकं हि प्रष्टव्यम्. हिरण्याक्षवधः उपोद्घातइति न सः पूर्वोक्तत्वेन गृह्यते. भूमिश्च मनोः अर्थे समाहृताइति मनोरेव चरित्रं पृच्छति. प्रकर्षेण स्थिता **प्रतिष्ठा**; सर्वेषां वा जीवानाम् इयमेव प्रतिष्ठाइति, देहस्य तन्मूलकत्वात्. तदर्थमेव उद्धृताइति सएव ताम् अधिष्ठाय स्थितः. प्रतिष्ठां प्राप्तः सर्वं करोतिइति कृतिप्रश्नावसरः. शुकादिभिः इदं न उक्तमिति[2] त्वया वक्तव्यम् इति ज्ञापनार्थं **सौते!** इति सम्बोधनं; हे सूतपुत्र! कथाकथनं तस्य कुलपरम्परागतो धर्मः. मनोः सृष्ट्यावश्यकत्वाय **स्वायम्भुवे**ति पदम्. **मनुः** इति धर्मप्रवर्तकत्वाद् न अन्यथाकरणम्. ब्रह्मणातु द्वारद्वयमेव कृतं, मनः शरीरञ्च. यदि अन्येऽपि शरीराद् मनसश्च जाताः तथैव जनकाः स्युः, तदा जगतः त्रैविध्यं न स्याद् इति विशेषप्रश्नः **कानि अन्वतिष्ठद् द्वाराणि** इति. **अवरजन्मनां** मनोः सकाशाद् अर्वाचीनजन्मयुक्तानाम्।।१।।

एवं मनोः धर्मात्मनः कार्यं पृष्ट्वा, स्वापेक्षया विदुरं भक्तं ज्ञात्वा, तत् पृष्टमेव त्वया वक्तव्यम् इति अभिप्रायेण तेन सर्वथा पृष्टं भविष्यति इति अर्थे प्रमाणम् आह त्रिभिः. **क्षत्ता महाभागवतः** इति.

क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत्।

यस्तत्याजाऽग्रजं कृष्णे सापत्यमघवान् इति ।।२।।

सोपपत्तिकभक्तत्वं तस्य मूलं निरूप्यते।

उत्कृष्टप्रश्नकर्तृत्वं सोपपत्तिकम् आह हि।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एतदर्थं तद्वाक्यम् इति अर्थः.

शेषं स्फुटम्.

महीम् इत्यत्र. **सविशेषः** इति. तज्जनकव्यापारादिसहितः ।।१।।

क्षत्ता इत्यत्र. **तस्य मूलम्** इति. स्वकरिष्यमाणप्रश्नमूलम्. तत्र गमकम् आहुः **उत्कृष्टे**त्यादि. **हि** यतो हेतोः द्वाभ्याम् उत्कृष्टत्वं तस्य आह, अग्रे च संवादस्य

१.सर्गाय इति पाठः ङ.मां.-४. २.अपि ख. ग.

प्रथमं विदुरस्य भागवतत्वं निरूपयति. यस्तु असिधाराव्रतं करोति सः महाभागवतो भवति. विदुरस्य भागवतत्वे मुख्यम् एतद् बीजं; तद् आह **क्षत्ता महाभागवतः** इति. क्षत्ता हि असिधाराव्रतकर्ता, पुराणान्तरे राजसूये युधिष्ठिरं प्रति भगवता तद् व्रतम् उपदिष्टं

''स्वयं पुष्टश्च तरुणः सकामः सन्निधौ स्त्रियाः,
नित्यं स्थितोऽपि मनसा विकारं यो न गच्छति.
स्त्रियः सर्वाङ्गसंहृद्याः सर्वाभरणभूषिताः,
अप्राप्तकामास्तं प्राप्य साभिलाषा अपि स्वयम्.
स्वकीयासु तथाऽन्यासु स्वभार्यास्वपि कुत्रचित्,
पञ्चाग्निमध्यवत्तिष्ठेद् असिधाराव्रतं तु तत्''

( )

क्षत्ता तथा भवति इति तस्य महाभागवतत्वम्. दृष्टप्रकारेणाऽपि महाभागवतत्वम् आह **कृष्णस्य ऐकान्तिकः** इति. एकान्ते हितः ऐकान्तिकः.

''स्वामिकार्यप्रसङ्गानां तथात्वेऽपि यतो दृढः,
यः केवलं हरेरर्थे सर्वथा यत्नवान् स्वतः,
प्रसङ्गादपि न स्वार्थे महाभागवतस्तु सः''

( )

किञ्च, **सुहृत्** सुष्ठु हृदयं यस्य; अन्येऽपि दोषाः तत्र न सन्ति इति. सांसर्गिकोऽपि दोषो न अस्ति इति आह **यः तत्त्याज** इति. अग्रे जातः पितृसमो भवति. ''भ्रातणाम् एकजातानाम्''इति न्यायेन तत्पुत्रः स्वपुत्रएव इति पूर्वपरापेक्षापरित्यागेन भगवद्वैमुख्यमात्रं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रं दुर्योधनादिसहितं त्यक्तवान् इति अर्थः. वस्तुतः कृष्णे अघवानपि न भवति, तथापि भगवदङ्गीकृत-पाण्डवविरोधाद् अघवान्. 'इति'शब्दः प्रकारवाची सम्भावनावाची वा ।।२।।

एवं सोपपत्तिकं भागवतत्वम् उपपाद्य तथात्वं तस्य उचितमेव इति आह **द्वैपायनाद्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आह अतः तथा इति अर्थः. **एतद्** इति. क्षत्तृत्वम्. **तथात्वेऽपि** इति. विरुद्धत्वे ।।२।।

द्वैपायनाद् अनवरो महित्वे तस्य देहजः ।
सर्वात्मना श्रितः कृष्णं तत्परांश्चाऽप्यनुव्रतः ॥३॥

भगवदंशएव महाभागवतो भवतीति भगवदंशत्वनिरूपणार्थं वेदव्यासाद् **महित्वे अनवरः,** अवरो न भवति, न्यूनो न भवति इति अर्थः. महो अस्य अस्ति इति मही, महिनो भावो महित्वम्. तादृशे धर्मे विचार्यमाणे यथा महित्वं वेदव्यासे तथैव विदुरे. उत्सवो अत्र भगवत्स्मरणादिकम्. "**महउद्धव उत्सवः**" (अमरको. १।३८) इति कोशाद् अकारान्तो 'मह'शब्दः. यथा ज्ञानं, भगवत्स्मरणं, भगवद्धर्मप्रवर्तकत्वं वा वेदव्यासे; तथा इति. तत्र हेतुम् आह **तस्य देहजः** इति. वेदव्यासस्य अयं बीजजः पुत्रो अत्यन्तरङ्गः, अतो युक्तमेव तस्य तथात्वम् इति. इदन्तु ततोऽपि अधिकं **सर्वात्मना श्रितः कृष्णम्** इति. वेदव्यासस्य अधिकारित्वाद् न सर्वात्मना आश्रितत्वम्. *सर्वात्मभावेन ऐहिक–पारलौकिक–दैहिकात्मीयादीनां कार्यफलार्थे भगवन्तमेव आश्रयति इति तथा. सर्वरूपत्वं भगवतो वक्तुं नामविशेषम् आह. भक्तिमार्गे रसिकः च अयम् इति अधिकारिज्ञानिभक्ताद् विशेषम् आह **तत्परान् चापि अनुव्रतः** इति. भगवत्परान् भक्तान् अनुव्रतः सेवमानः. एवं सर्वप्रकारेण तस्य भागवतत्वं युक्तम्॥३॥

एवं विदुरं भक्तत्वेन स्तुत्वा तस्य प्रश्नस्य उत्तमत्वम् आह **किम् अन्वपृच्छद्** इति.

किमन्वपृच्छद् मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया ।
उपगम्य कुशावर्त्त आसीनं तत्त्ववित्तमम् ॥४॥

पृष्टे कथनं रोषाभावञ्च प्रतिपादयितुम् आह **मैत्रेयम्** इति. स हि मित्रायाः सुतः. ननु अत्यन्तभगवद्भक्तोऽपि गुणवशात्, कालवशाद् वा लौकिकं प्राकृतं वा पृच्छेत्. तद् व्यावृत्यर्थम् आह **विरजाः तीर्थसेवया** इति. यः साधनेन निष्पापः, रजोगुणरहितो वा जातः, सः न अन्यत् पृच्छति. रजसएव निराकृतत्वाद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

द्वैपायनेत्यत्र. **सर्वरूपत्वम्** इति. भजनीयसर्वरूपत्वम्. अत्र पद्ये **सर्वात्मना** इत्यादिना, **सर्वरूपत्वे**त्यादिना च यथायथं शरणमार्गीय-भक्तिमार्गीयौ सर्वात्मभावौ विवेचितौ ज्ञेयौ ॥३॥

---

* 'सर्वभावेन' इति मां४.

दूरे तमः. तत्रापि महता कष्टेन, विषमे देशे गत्वा, सत्सङ्गे सति कथम् अन्यत् पृच्छेद् इति आह **उपगम्य कुशावर्त्त** इति. गङ्गाद्वारस्थानान्तर्गत–देशविशेषः कुशावर्तः, तस्मिन् **आसीनम्** इति. तत्रापि तत्त्वविदां मध्ये श्रेष्ठं, नहि तादृशे देशे तादृशो अन्यत् पृच्छति. अलौकिकं गूढं सएव जानाति इति **तत्त्ववित्तमम्** इति उक्तम्।।४।।

किं प्रश्नमात्रं वक्तव्यम्, आहोस्विद् उत्तरम्, उभयं वा? तथा सति *तत्त्वेनाऽग्रहे भगवत्कथारसाभिनिवेशो न स्याद् इति आशङ्क्य निरूपणं भगवत्कथार्थम् इति आह **तयोः** इति.

तयोः संवदतोः सूत! प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः।
आपो गाङ्गा इवाऽघघ्नीः हरेः पादाम्बुजाश्रयाः।।५।।

तयोः विदुर–मैत्रेययोः **संवदतोः** सतोः मध्ये **कथाः प्रवृत्ताः** स्वतएव भवन्ति. **सूत!** इति सम्बोधनं तादृशकथाज्ञानार्थं, तस्य सैव वृत्तिः इति. यथा वीराणां युद्धे रुधिरप्रवाहाः; ते समलाः, एतास्तु **अमलाः** इति. अमलत्वं कीदृशम्? इति अपेक्षायां दृष्टान्तेन स्पष्टयति **आपो गाङ्गा इव** इति. आपः स्वभावतएव मेध्याः, तत्रापि उत्कर्षो गङ्गायाः, साक्षाद् भगवद्रूपा इति अर्थः. **अघघ्नीः** इति पापनाशिकाः, अपराधनिवर्तिकाः वा. स्वयं निर्मलाएव अन्यमपि तथा कुर्वन्ति, ब्रह्मदण्डदग्धाअपि गङ्गया पाविताः इति. तथात्वे उभयोः एकं हेतुम् आह **हरेः पादाम्बुजाश्रयाः** इति. चरणाम्बुजाश्रयाः उभयाः।।५।।

ततः किम्? अतः आह **ताः नः कीर्त्तय** इति.

ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः।
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन्।।६।।

सूतत्वाद् देयं चेत् तत्र आह **भद्रं ते** इति. ते भद्रम् अस्तु. ब्राह्मणानाम् आशिषएव देयाः. कथानाम् आधिक्ये हेतुम् आह **कीर्तन्यानि उदाराणि कर्माणि** यस्य इति. भगवतः कर्मणां स्वभावद्वयं, यः कश्चन तानि कीर्तयेदेव, अफलार्थी

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

किम् इत्यत्र(?). ***तत्त्वेन** इति. तत्संवादत्वेन।।५।।

ताः नः इत्यत्र.

फलार्थी च. अफलार्थिनो नित्यविधिः **कीर्तन्यानि** इति. फलार्थिनस्तु सर्वाण्येव फलानि. पात्रापात्रविचारव्यतिरेकेणैव सर्वफलदातणि **उदाराणि**; तस्मात् कीर्तनीयानि. सर्वेषु पदार्थेषु सन्ति रसाः, रसज्ञं प्राप्य अभिव्यक्ताः भवन्ति. भगवतस्तु कर्माणि अभिव्यक्तान्येव, रसज्ञः परम् अपेक्ष्यते. कथानां स्वविषय–रुच्युत्पादकत्वं *पूर्वम् अवोचाम. यथा आग्नेयेन औषधेन क्षुद् जायते, एवम् अन्नेन च तृप्यते. अन्नमेव चेद् क्षुद् जनकं स्यात्, कथं तृप्येत? तद्वद् **रसज्ञः को** वा, **नु** निश्चयेन **तृप्येत?** पीतेन अमृतेन उत्तरत्र इच्छोत्पादनात्. सहि दुःखहर्ता स्मरन्नेव; दुःखञ्च आत्मतिरोभावात्, तिरोभावकः च प्राकृतो गणः, सः भूयान् इति. कालादिरपि. अतो निरन्तरोत्पद्यमानदुःखनिवृत्यर्थं हरिः स्मर्तव्यः. किञ्च, लोके [1]आलस्याद्युद्वेगादिषु लीलया स्वास्थ्यं भवति; स्वस्य अन्यस्य वा, क्रियमाणया कीर्त्यमानया वा. मृत्योः भयं सर्वेषां, तत्र अवश्यापेक्षम् अमृतम्. किञ्च, पानस्य कियत्कालव्यवधाने, कालादिना, प्राकृतैः वा, मध्ये रसान्तरोत्पादने अलं मन्येताऽपि; अस्मरणाद् वा. **पिबन्नेव** कथं तृप्येत? इति अर्थः।।६।।

सर्गलीला प्रथमतः आरभ्यते इति ज्ञापयितुं व्यासः स्वयम् आह **एवम् उग्रश्रवाः** इति.

एवम् उग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायनैः ।
भगवत्यर्पिताध्यात्मः तान् आह श्रूयताम् इति ।।७।।

उग्रं श्रवःकीर्तिः यस्य इति. इदम् उग्रत्वं भगवत्कीर्तिविरोधि–निराकरणार्थम्. रोमहर्षणस्य अयं पुत्रः, **उग्रश्रवाः** इति नाम्ना. ऋषयो हि ज्ञात्वा पृच्छन्ति, अनेन कार्यसिद्धिः भविष्यति इति. नैमिषमेव अयनं येषां; वैष्णवक्षेत्रे स्थिताः देशगुणेनाऽपि वैष्णवाः भवन्ति इति. आत्मनि यावान् परिकरो बाह्याभ्यन्तरभेदेन देहादिः, बुद्ध्यादिः वा; तत् सर्वं भगवत्येव अर्पितं येन,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

***पूर्वम्** इति. द्वितीयस्कन्धस्य तृतीयाध्याये ''**ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्त-गुणोर्मिचक्रम्**''(भाग.पुरा.२।३।१२) इति श्लोके ।।६।।

---

१. 'आलस्योद्वेगादिषु' मां४.

तादृशस्य एतदेव कृत्यम्. अतः तान् प्रति आह **श्रूयताम्** इति. स्वस्य वक्तृत्वं सिद्धं; तेषां श्रोतृत्वं स्थिरीकरोति **श्रूयताम्** इति. शुकस्तु मध्ये न विरतः इति तस्य [१]प्रश्नेन उत्तरम्. विदुरवाक्यं शुकोऽपि आह इति ज्ञातव्यम्।।७।।

सूतस्तु विदुरः प्रश्नं कृतवान् इति आह **हरेः** इति.

सूतः उवाच

हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात् ।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः ।।८।।

शुकस्तु प्रश्नमेव आह, अयन्तु उपोद्घातम् अनुवदति, विदुरप्रश्नेनैव विशेषतो हिरण्याक्षवधस्य उक्तत्वात्. सर्वदुःखहरणार्थमेव क्रोडतनुः भगवता धृता. **स्वमायया** इति स्वाधीनया मायया, यथासुखं परिवर्तमानया. लोकप्रदर्शनार्थं तथा भावं बोधयति, सम्पादयति वा; अतएव मायया धृतक्रोडतनोः तस्य चरित्रद्वयं भूम्युद्धरणम् इष्टरूपं, हिरण्याक्षहननम् अनिष्ट-निवृत्तिरूपम्. उभयं श्रुत्वा सञ्जातहर्षः. अनुवादेऽपि भगवतो माहात्म्यज्ञापनार्थम् उभयोः लीलात्वम् आह मध्ये **लीलाम्** इति. उभयं लीला. हिरण्याक्षो भगवदीयइति सएव लीलात्वेन उक्तः. विशेषणपर्यवसानेतु लक्षणा, गौरवं च स्याद्; हिरण्याक्षचरित्रं च अधिकं स्यात्. एवं सर्वं लीलैव भवति. [२]हर्षोत्पत्ती

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवम् इत्यत्र. **ज्ञातव्यम्** इति. ‘‘**कुत्र क्षत्तुर्भगवता**’’(भाग.पुरा.३।१।३) इति श्लोके संवादस्य सर्वस्यापि पृष्टत्वात् तदनुरोधेन ज्ञातव्यम् इति अर्थः ।।७।।

हरेः इत्यत्र. ननु लीलायाः कर्मात्मकत्वाद् भूम्युद्धारस्य लीलात्वं युक्तं, नतु हिरण्याक्षस्य पुरुषत्वाद् इति आशङ्क्य आहुः **हिरण्याक्ष** इत्यादि. **भगवदीयः** इति. भगवत्क्रीडोपकरणात्मकः. तथाच, तस्यापि युद्धलीलेच्छासम्पादितशरीरत्वेन लीलाशेषइति लीलात्वेन उक्तः इति अर्थः. ननु किमिति एवं कल्प्येत? तद्धननस्यैव लीलात्वं वक्तव्यम् इति आशङ्कायाम् आहुः **विशेषणे**त्यादि. अत्र हि विशेषणभूतं ‘हत’पदं कर्मव्युत्पन्नम्, तस्य भावव्युत्पन्नत्वम् अङ्गीकार्यं, ‘हिरण्याक्ष’पदस्य तदन्वयार्थं तद्गतद्वितीयायाः षष्ठ्यर्थे लक्षणा अङ्गीकार्या इति तत्पर्यवसाने **लक्षणा गौरवं च स्यात्.** हिरण्याक्षकृते भगवल्लीलायाम् अप्रवेशात् तच्चरित्रस्य सर्गलीला-

---

१. प्रश्नो नोत्तरम् ख. ग. ङ.मां-४, प्रश्नोत्तरम् घ. २. ‘हर्षोत्पत्तिः’मां४. ३. ‘प्राकृतै’ इति मां४.

रुच्युत्पादकत्वेन. **मुनिम्** इति अग्रिमज्ञानार्थम्. **भारतः** इति [1]प्रकृते रसान्तरा-जननार्थम्।।८।।

विदुरः उवाच

प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन्।
किम् आरभत मे ब्रह्मन् प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित्।।९।।
ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः।
ते वै ब्रह्मण आदेशात्कथमेतदभावयन्।।१०।।
सद्वितीयाः किमसृजन्स्वतन्त्रा उत कर्मसु।
आहोस्वित्संहताः सर्व इदं स्म समकल्पयन्।।११।।

प्रजापतिपतिः इति. विदुरस्तु एवं मन्यते, भक्तो हि ब्रह्मा सृष्टिं कृतवानेव; अतः परं भक्त्युपयोग्येव किञ्चित् कार्यं करिष्यति इति. **किम् आरभत?** इति ब्रह्मकार्यविषयकः प्रथमः प्रश्नः. भक्तेन भगवदर्थमेव सृष्टाः इति मरीच्यादयोऽपि कीदृशान् भक्तान् उत्पादितवन्तः? इति द्वितीयः प्रश्नः. तत्राऽपि प्रकारत्रयं भक्तजनने तारतम्यबोधनार्थम्. **सद्वितीयाः** इति. **सद्वितीयाः** सभार्याः, तथा सति प्राकृतभक्तोत्पत्तिः. **स्वतन्त्राः** एकाकिनः, तथा सति ज्ञानि-भक्तोत्पत्तिः. **संहताः** मिलिताः, तथा सति परमभक्तोत्पत्तिः इति. यदि ब्रह्मा प्रजापतिसृष्ट्यनन्तरं न किञ्चित् कुर्यात्, प्रजापतिरेव भवेद्, नतु प्रजापतिपतिः. सर्गस्य प्रवाहवत् प्रवर्त्तमानत्वाद् न मरीच्यादिभ्यो विशेषः. प्रजापतिसृष्टि-व्यतिरेकेण केवलं प्रजासृष्टौ रक्षकाभावात् प्रजाः अमर्यादाः स्युः; तत्सृष्टौतु तैरेव प्रजाः भविष्यन्ति इति प्रजासर्गे प्रजापतीनेव सृष्टवान्. **सृष्ट्वा** इत्येव अनुवादः. पूर्वशेषव्यावृत्त्यर्थम् **किम् आरभत** इति उक्तम्. **ब्रह्मन्** इति ज्ञानार्थम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मध्यपाताभावेन आधिक्यं स्याद्, अतः सः पक्षो न युक्तः. एवम् अस्मदुक्तरीत्या (?) अत्यङ्गीकारेतु यथा 'याग'पदेन कर्मसचिवपदार्थसङ्ग्रहः, यथा च ''राज्ञां क्ष्वेली'' इत्यत्र तदुपकरणसंघसङ्ग्रहः सापेक्षवृत्तिकत्वाद् एवं 'लीला'पदस्यापि सापेक्षवृत्तिकत्वेन तच्छेषभूतं सर्वं लीलैव भवति, प्रचुरप्रयोगात् च न लक्षणादिदोषः इति अयमेव पक्षो ज्यायान् इति अर्थः ।।८।।

---

१. 'प्राकृतै' इति मां४.

मे इति स्वाधिकारिज्ञानात्. ब्रह्मणः ततोऽपि अलौकिक-करणज्ञानार्थम् आह **अव्यक्तमार्गविद्** इति. अव्यक्त इति कारणरूपं ब्रह्म, तस्य मार्गः उत्पत्ति-प्रलयप्रकारः. कथं तस्माद् एते समायान्ति, कथं प्रविशन्ति इति एतद् ब्रह्मैव जानाति. सर्वस्याऽपि कारणम् अव्यक्तम् इति तथा उक्तम्. द्वितीयं प्रश्नम् आह **ये मरीच्यादयः** इति. मरीच्यादयः स्वतन्त्राः सृष्टाः, मनुस्तु सभार्य. ते सर्वे सृष्टौ नियोजिताः. निश्चयेन ब्रह्मणः आदेशाद् **एतद्** जगत् **कथम् अभावयन्?** उत्पादितवन्तः इति अर्थः. **कर्मसु** उत्पादनादिषु अन्येष्वपि इति भिन्नं वाक्यं, नहि उत्पादनमात्रेणैव सर्वं भवति. **सर्वे** इति वचनात् त्रिचतुराः, सर्वे वा कृतवन्तः इति प्रश्नः. **इदम्** इति परिदृश्यमानस्य कार्यस्य विद्यमानत्वाद् अवश्यं कृतिः, प्रकारः सन्दिग्धः इति प्रश्नः. **स्म** इति प्रसिद्धे, न इदं जगद् मायिकं, भ्रमसृष्टञ्च इति कथनार्थम्. अतः सम्यग् अकल्पयन्, कात्स्न्र्येन अभिव्यक्तं केन प्रकारेण कृतवन्तः इति प्रश्नः।।९-११।।

सृष्टिभेदान् वक्तुं *साधारणीं सृष्टिम् अनुवदति षड्भिः भगवद्गुणत्वाय.

महत्तत्वम् अहङ्कारः सकार्योऽण्डं तथैव च।
नारायणत्वं पद्मं च ब्रह्मा चेत्यत्र षट् क्रमात्।।१।।
+प्राकृताः षडिमे सृष्टा एकादश तु वैकृताः।
सगुणास्तु नवैतेषु पुरुषो भगवत्कृतः।।२।।
निर्गुणः प्रोच्यते पुम्भिः शब्दब्रह्मात्मनो ऋषिः।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दैवेन इत्यत्र. ***साधारणीम्** इति. सर्वकल्पेषु एकरूपाम्. +**प्राकृताः सृष्टाः** इति. भगवता सर्वसृष्टिकारणत्वेन सृष्टाः. **वैकृताः** इति. तत्तत्सृष्टिकारणभूताः. ननु अविद्यादिऋष्यन्तगणनायां सर्गाः बहवो भवन्ति इति कथम् एकादश? इति आकाङ्क्षायां विभाजकोपाधिविचारेण तावत्वम् इति आशयेन आहुः **सगुणाः** इत्यादि. **एतेषु** एकादशसु **पुरुषो** मनुसर्गः, **पुम्भिः** पूर्वसृष्टैः स्तुतः इति **निर्गुणः प्रोच्यते.** शब्दब्रह्मात्मनः सकाशाद् जातः ऋषिः, ऋषिसर्ग एकादश इति अर्थः. समुदाय-सङ्ख्याप्रयोजनम् आहुः **एवम्** इत्यादि. ''**एष सप्तदश प्रजापतिः**'' (शतप.ब्राह्म. ५।१।३।७) इति श्रुतेः अस्य सर्गस्य यज्ञियाक्षर-समान-सङ्ख्याकत्वाद् **इमे**

एवं सप्तदश प्रोक्ता यज्ञात्मानो मता इमे ।।३।।
तेनैव प्रथमं देवस्तृप्यते सर्गलीलया ।
अतस्तदर्थसर्गोऽयं नाऽन्यथेति निरूपितम् ।
वेदे सर्गोऽयमेवोक्तस् तस्माद् उभयतो महान् ।।४।।

प्रथमतो महतः सृष्टिम् आह

मैत्रेयः उवाच

दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणाऽनिमिषेण च ।
जातक्षोभाद् भगवतो महान् आसीद् गुणत्रयात् ।।१२।।

दैवेन इति. अयं महान्, न प्रकृतेः[१], किन्तु ब्रह्मणएव गुणवैषम्याद् जातः. अत्र त्रयो गुणाः दैवं, परः, कालश्च इति. **दैवं** भगवदिच्छा, कामः इति यावत्. तस्यतु स्वरूपम् इदमित्थतया वक्तुम् अशक्यम् इति **दुर्वितर्क्यम्** उक्तम्. सः कामो देवसम्बन्धी ''**सो अकामयत**''(तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतेः. सच कामो न निरूपितः इति निरूपकाणाम् अतर्क्यः. **परो** अत्र पुरुषो अक्षरं वा, सः राजसः. **अनिमिषः** कालः तामसः. **च**काराद् निमित्तम् आपद्यन्ते कर्मस्वभावादयोऽपि कालादिभेदाः. एतैः त्रिभिः गुणैरपि जातः क्षोभो यस्य, तस्माद् **भगवतः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यज्ञात्मानो मताः. देवो भगवान् **सर्गलीलया प्रथमं तेन** यज्ञे**नैव तृप्यते. अतो अयं सर्गः तदर्थो** भगवदर्थः. **न अन्यथा** न जीवार्थ **इति** इदं **निरूपितं** सङ्ख्यया बोधितम्.

तथाच इदं समुदाय-सङ्ख्याप्रयोजनम् इति अर्थः. सङ्ख्यामात्रस्य अनिर्णायकत्वम् आशङ्क्य हेत्वन्तरम् आहुः **वेदे** इत्यादि. **उभयतः** इति. सङ्ख्यातः शब्दतश्च, प्रमाणतः प्रमेयतश्च इति वा. एवं सङ्ख्यातात्पर्यम् उक्त्वा वैलक्षण्यं बोधयितुं व्याकुर्वते **प्रथमतः** इत्यादि. **त्रयः** इत्यादि. तथाच, सत्वरजस्तमः-स्थानापन्नाः एते इति अर्थः. **न निरूपितः** इति. ''**बहु स्यां प्रजायेय**'' (छान्दो.उप. ६।२।३) इति श्रुतौ सामान्याकारेण उक्तोऽपि येन प्रकारेण बहुत्वं, येन च प्रकारेण उच्चनीचत्वादिरूपः प्रकर्षः, तेन विशेषाकारेण अनिरूपितः. **सः राजसः** इति. रजःस्थानापन्नः. **न** 'तत्त्व'पदप्रयोगः इति. तत्त्वं हि तस्य भावः, धर्मः इति यावत्. अत्रतु धर्मिणएव तथा आविर्भावाद् न 'तत्त्व'पद-प्रयोगः इति अर्थः. एवञ्च पूर्वस्माद्

१. 'प्राकृतः' इति ग. घ. ङ.

पुरुषोत्तमाद् **महान् आसीत्.** एते भगवद्रूपाएवेति न ‘**तत्त्व**’पदप्रयोगः. **गुणत्रयाद्** इति सच्चिदानन्देभ्यः, तदंशेभ्यो वा।।१२।।

महतः सकाशात् सकार्यस्य अहङ्कारस्य सृष्टिम् आह **रजःप्रधानाद्** इति.

रजःप्रधानाद् महतः त्रिलिङ्गो दैवचोदितात्।
जातः ससर्ज भूतादिः वियदादीनि पञ्चशः।।१३।।

महान् त्रिगुणात्मकोऽपि अहङ्कारसृष्ट्यर्थं रजःप्रधानो जातः. सः त्रिविधोऽपि रजोभेदकृतएव. तत्रापि भगवदिच्छा प्रेरिका इति आह **दैवचोदिताद्** इति. सः जातएव त्रिविधोऽपि **पञ्चशः ससर्ज** इति सम्बन्धः. तत्र **भूतादिः** तामसः. सः आकाशादीनि भूतानि पञ्च, मात्राश्च पञ्च इति. एवम् इन्द्रियादिरपि, ज्ञानेन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि, प्राणादीनि, नागादीनि च. सृष्टवान् देवादिश्च तत्तदभिमानि-देवदिगादीन् पञ्च; वह्न्यादींश्च, मनः, अन्तःकरण-देवताचतुष्टयं च. एवं **पञ्चशः** त्रिलिङ्गोऽपि उत्पादितवान् इति अर्थः।।१३।।

तैः ब्रह्माण्डनिर्माणम् आह **तानि च** इति.

तानि चैकैकशः स्रष्टुम् असमर्थानि भौतिकम्।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन्।।१४।।

असमर्थत्वाद् नपुंसकनिर्देशः. **च**काराद् देवादयोऽपि एकैकं कार्यार्थे क्षोभयितुम् अशक्ताः इति उक्तम्. **एकैकशः** प्रत्येकं ब्रह्माण्डनिर्माणे अशक्ताः,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अस्य वैलक्षण्ये गुणभेदः, साक्षाद् भगवतः कारणत्वं, ‘तत्त्व’पदाप्रयोगश्च इति गमकत्रयम् अत्र उक्तम्. सच्चिदानन्देषु ‘गुण’पदप्रयोगस्य अप्रसिद्धत्वात्. पक्षान्तरम् आहुः **तदंशेभ्यो वा** इति. द्वितीय-स्कन्धोक्तेभ्यः सत्वादिभ्यः ।।१२।।

रजःप्रधानाद् इत्यत्र. अत्रापि वैलक्षण्यम् आहुः **सः** इत्यादि. **त्रिविधोऽपि.** अहङ्कारः. **रजोभेदकृतएव** इति. पूर्वत्र ‘तत्त्व’पदप्रयोगाद्, द्वितीयस्कन्धे च “**महतस्तु विकुर्वाणाद् रजःसत्वोपबृंहितात्, तमःप्रधानाद्**”(भाग.पुरा.२।५।२३) इति महद्विशेषणाद्, अत्रतु ‘रजःप्रधानाद्’ इति गुणान्तरोपबृंहणानुक्तेश्च. **देवताचतुष्टयम्** इति. चन्द्ररुद्रब्रह्मचैत्याः ।।१३।।

यतः सर्वभूतात्मकं ब्रह्माण्डम्. अतः संहत्य भगवदिच्छया प्रकाशबहुलं सुवर्णमयं ब्रह्माण्डम् असृजन्. **अवो**पसर्गो नानार्थोऽपि प्रकृते रक्षावाचकः, दृढम् अनश्वरम् अवृद्धिक्षयम् अण्डम् असृजन् इति।।१४।।

तत्र प्रविष्टो भगवान् नारायणो जातः इति आह

सोऽशयिष्टाऽब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः।
साग्रं वै वर्षसाहस्रम् अन्ववात्सीत् तमीश्वरः।।१५।।

सः इति. **अब्धिसलिले** इति प्रलयोदके. पूर्वं वा समुद्रनिर्माणम् ''**अप एव ससर्ज**''( ) इति वाक्यात्. सएव अण्डः कमलकोशात्मको जातः, यथा अण्डात् पक्षी भवति एवं कोशात्मको जातः. **सः आण्डकोशः** इति उच्यते. सहि भगवदर्थं सृष्टइति न अन्यः तत्र प्रवेशम् अर्हति, अतो **निरात्मक**एव सम्पूर्णं **वर्षसाहस्रम् अशयिष्ट.** ततो भगवान्, **अनु** उत्पत्यनन्तरम्, **अवात्सीत्** तत्रैव वासं कृतवान्, तं प्रविवेश इति वा. तत्र प्रयोजनादिजिज्ञासा न कर्तव्या इति आह **ईश्वरः** इति।।१५।।

एवं नारायणत्वम् उक्त्वा तस्मात् पद्मोद्भवम् आह

तस्य नाभेरभूत् पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयम् अभूत् स्वराट्।।१६।।

तस्य नाभेः इति. प्राकृतपद्मवत् तस्य विकासजनक-सूर्याद्यपेक्षार्थम् आह **सहस्रम् अर्काः,** तेभ्योऽपि **उरुः** अधिका **दीधितिः** यस्य. न केवलं तस्य जगत्प्रकाशकत्वं, किन्तु जगदाधारत्वमपि इति आह सर्वजीवानां समूहस्थानम् इति. उत्पादकञ्च तदेव इति आह **यत्र** कमले **स्वयं** भगवानेव, **स्वराट्** ब्रह्मा, **अभूत्.** ततः सर्वं भविष्यति इति भावः।।१६।।

यथा ब्रह्मणः सकाशात् सृष्टिः भवति तथा उपायम् आह **सो अनुविष्टः** इति.

सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये।
लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया।।१७।।

भगवता सह **अनुविष्टः** प्रविष्टः. को भगवान्? इति [1]आकाङ्क्षायाम्

१.'आशङ्क्य' इति मां-४

आह **यः शेते** इति. सलिलमेव आशयो गृहम्. नारायणः इति अर्थः. ततः किं जातम्? अतः आह **लोकसंस्थाम्** इति. लोकानां सम्यग्व्यवस्था, जाति-गुण-स्थानभेदेन, यथा पूर्वकल्पे स्थिता. ननु अस्याः सृष्टेः तथा सति को विशेषः? इति आशङ्क्य आह **संस्थया स्वया** इति. अत्र स्वयमेव भगवान् तथा स्थितः, आकृतिमात्रसमतातु पूर्वेण. एवं षड्विधा मूलसृष्टिः निरूपिता।।१७।।

कार्यसृष्टिनिरूपणे प्रथमं तामसीं सृष्टिम् आह **ससर्जे**ति त्रिभिः, कार्य-करण-तत्कार्यभेदेन.

ससर्ज च्छाययाऽविद्यां पञ्चपर्वाणम् अग्रतः।
तामिस्रम् अन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः।।१८।।

तत्र प्रथमं स्वस्मिन् विद्यमानतमसा तामसं पञ्चविधं कार्यम् आह **छायया अविद्याम्** इति.

आत्मा देहस्तथा छाया सात्विकादिविभेदजाः।
तामसी तत्र वै छाया तस्यामपि हरिः स्वयम्।।१।।
ततश्छाया हि करणम् अविद्यां प्रति नाऽन्यथा।
एतस्याः पञ्च पर्वाणि पूर्वस्मात्तु विशिष्यते।।२।।
ससर्जाग्रेन्धतामिस्रम् इति पूर्वप्रकल्पना।
अन्यथेयं समाख्याता महामोहफला मता।।३।।

अत्र प्रथमम् अविद्यायाः पर्वणां मध्ये तामिस्रं; भगवतो वैमुख्ये महाभोगेच्छा परमं बाधकं, तदनु भोगेच्छा, ततोऽपि अज्ञानं स्वल्पं, ततोऽपि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सो अनुविष्टः इत्यत्र. अत्रापि वैलक्षण्यं बोधयन्ति **अत्र** इत्यादि ।।१७।।

ससर्ज इत्यत्र. **कार्यकरणे**त्यत्र. 'करण'पदेन छाया बोध्या. तेन अत्रापि वैलक्षण्यं बोधितम्. पूर्वं दशमे "**अबुद्धिकृतः**"(   ) इति उक्तम्, एकादशे च करणं न उक्तं, परन्तु 'अज्ञानवृत्तयः' इति कथनाद् अज्ञानमेव तत्र करणम् इति. वैलक्षण्यान्तरं कारिकाभिः स्पष्टयन्ति **आत्मे**त्यादि. **विशिष्यते** इति. अविद्यारूपं भिन्नम् उत्तमञ्च भवति इति अर्थः. **महामोहफले**ति. महामोहोत्तम-पर्विका. **परमं बाधकम्** इत्यादि. एतेषां बाधकरूपत्वेऽपि भगवदुपयोगित्वम् एवं ज्ञेयम्. तथाहि **इन्द्रस्य** यथा मखभङ्ग-द्युतरुहरणयोः उच्यमानं क्रोधजनकम् अज्ञानं

पुत्रादिषु विकलेषु सकलेषु अहमेव विकलादिः इति. एतस्य[१] वैराग्यजनकत्वाद् अज्ञानात् समीचीनता. ततोऽपि देहाहङ्कारो भगवत्सेवौपयिकत्वाद् उत्कृष्टः इति. प्रकृतएवतु अयं क्रमः. **अग्रतः** इति. अग्रिमा इयं छाया इति लक्ष्यते, अन्यथा प्रथमनिरूप्यो[२] अग्रिमो भवत्येव।।१८।।

यया मूर्त्या एषा छाया भवति तां मूर्तिं जहौ **विससर्ज** इति.

विससर्जाऽऽत्मनः कायं नाऽभिनन्दंस्तमोमयम्।

जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम्।।१९।।

तस्याः तामसत्वं कार्यवशाद् अवगम्यते. वस्तुतः इयं सृष्ट्युपयोगिनी इति तस्याः अभिनन्दनम् उचितं, तदपि न कृतवान्. तत्र हेतुः **तमोमयम्** इति. अस्यां स्थितायां भगवद्वैमुख्यं भविष्यति इति तां तनुं त्यक्तवान्. अतेजसां हरिवैमुख्यं सुखकरम् इति ताम् अन्ये यक्षरक्षांसि जगृहुः. सा रात्र्यभिमानिनी देवता

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तामिस्रं महाभोगेच्छारूपं भक्तौ बाधकमपि गोवर्धनोद्धरणाद्युपयोगि, अतएव अग्रे अनुग्रहो बोधितः ''**मखभङ्गे अनुगृह्णता**''(भाग.पुरा.१०।२७।१५) इति. एवम् अन्धतामिस्रमपि बभ्रूग्रसेनयोः भोगेच्छारूपं भगवल्लीलोपयोगि ''**न्यबोधयद् देवनिधारय**''(भाग.पुरा.३।२।२२) इति वाक्यात्. उग्रसेनादीनां भोगेच्छातु राजधर्मेषु भगवन्नारदसंवादे ''**दास्यम् ऐश्वर्यवादेन ज्ञाते(ती)नां वै करोम्यहम्, अर्धभाक् चास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि चक्षमे**''(   ) इति भगवद्वाक्येषु ''**बभ्रूग्रसेनयो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथञ्चन**''(   ) इत्यादि-नारदवाक्येषु च स्पष्टम्(?). एवं तमःपर्वरूपम् अज्ञानं च मातृचरणादीनां ''**सद्यो नष्टस्मृतिः**'' (भाग.पुरा. १०।८।४४) इत्यादिषु स्फुटमेव. पुष्ट्युपयोगित्वम् अत्रैव 'ततोपि' इत्यादिना विवृतम् इति सर्वं सुस्थम्. **प्रकृते** इति. सप्तम्यन्तम् इदम्. **अग्रिमा** इति. स्वदर्शनयोग्या. यथा पृष्ठस्थे सूर्ये तथा इति अर्थः. एवम् अर्थानुक्तौ बाधकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. तथाच **अग्रतः** इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तिः इति अर्थः।।१८।।

भविष्यति इति. यथा प्रक्षिप्ताध्यायोक्तवत्साहरणे जातं, तथा भविष्यति.

१.एतस्याः ग. २.निरूपितः क. ङ,मां-४.

जाता. त्यक्तायाः तस्याः कार्यम् आह **क्षुत्तृट्समुद्भवाम्** इति. पूर्वकल्पएव उत्पन्नानि यक्षरक्षांसि, अष्टदेवसर्गमध्ये गणनात्. अथवा, पूर्वोक्तायाः पञ्चपर्वायाः एतानि देवताः, अतः पञ्चपर्वा सदेवोत्पन्ना इति. अत्रैव तेषाम् उत्पत्तिः. अतएव स्वकारणभूतां तां जगृहुः।।१९।।

तस्याः स्पर्शमात्रेण यक्षरक्षसां क्षुत्तृड् जाता इति आह **क्षुत्तृड्भ्याम्** इति.

क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुम् अभिदुद्रुवुः।
मा रक्षतैनं जक्षध्वम् इत्यूचुः क्षुत्तृडर्दिताः।।२०।।

ततः पूर्वम् अस्मिन् कल्पे क्षुत्तृडुद्भवो न स्थितः. स्थितावपि देवाधिष्ठानसहितौ न स्थितौ इति कामादिवत् पूर्वं स्थितौ, वृक्षाणामिव सह्यौ. अतो महद्भ्यां **क्षुत्तृड्भ्याम् उपसृष्टाः** भक्षान्तरस्य असृष्टत्वाद् ब्रह्माणं **जग्धुमे**व **अभिदुद्रुवुः**. पूर्वं नपुंसकत्वेन निर्दिष्टाअपि. प्रतिनिर्देशे पुंस्त्वेन निर्देशो ब्रह्मापेक्षयाऽपि बलिष्ठत्वात्. अत्र केचिद् आहुः **मा रक्षत एनम्** इति. **एनं** ब्रह्माणं मा रक्षत. इदानीं मायया अविद्यया वा क्षुत्तृड् उपशान्तिं कुर्यादपि, तथापि एनं मा रक्षत, पुनः उपद्रवान्तरम् उत्पादयिष्यति इति. अन्येतु आहुः **जक्षध्वम्** इति. ''**जक्ष भक्ष–हसनयोः**''(धा.पा.अदादि.६४) इति भक्षणार्थो जक्षिः, यक्षधातुः वा भक्षणार्थः. ननु कथं पितरम् एवम् ऊचुः ? इति आशङ्क्य आह **क्षुत्तृडर्दिताः** इति. नहि पीडितः किञ्चिद् जानाति धर्माधर्मम्।।२०।।

ततः किं जातम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **देवः तान् आह** इति.

देवस्तान् आह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत।
अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ।।२१।।

देवत्वात् तस्य तथा ज्ञानं, तामसोत्पादनात् तस्य तथा भयम्. भगवदिच्छयैव तथा जातम् इति तन्निराकरणार्थं स्वयं देहे त्यक्ते भगवतः कोपाद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अत्र च तादृशतनुत्यागकथोक्त्या तत्कार्यं न एतत्कल्पीयस्य ब्रह्मण इत्यपि स्फुटति इति बोध्यम्।।१९।।

क्षुत्तृड्भ्याम् इत्यत्र. **देवाधिष्ठानसहितौ** इति. क्षुत्तृट्पदार्थौ इति शेषः।।२०।।

देवः इत्यत्र. **तन्निराकरणार्थम्** इति. तामसोत्पत्तिनिराकरणार्थम्. **एवं**

एवं जातम् इति लक्ष्यते, अन्यथा दैन्यमात्रे कृते ते न त्यजेयुः. **मा मां जक्षत रक्षत** इति आह. मां मा जक्षत मा भक्षत इति अर्थः, किन्तु रक्षत. तत्र उपपत्तिम् आह **अहो मे यक्ष–रक्षांसि** इति. **अहो** इति आश्चर्ये. नहि पुत्राः पितरं भक्षयन्ति, यतो मे यक्षरक्षांसि **प्रजाः** पुत्राः इति अर्थः. ननु यक्षरक्षसां पुत्रत्वे किम् अस्माकं तत्र आह यूयं[1] मे यक्षरक्षांसि बभूविथ. ''**मा रक्षतैनं यक्षध्वम्**''(भाग.पुरा.३।२०।२०) इति वचनाद् यूयं यक्षरक्षांसि, अतएव मे प्रजाः बभूविथ. **प्रजा** इति जातिवचनम्. सर्वेऽपि मम प्रजामात्रं, तेन मध्यमपुरुषैकवचनम् उपपद्यते. एवं प्रार्थनया सह चतुर्भिः प्रथमसृष्टिः निरूपिता।।२१।।

सात्विकीं सृष्टिम् आह **देवताः** इति.

देवताः प्रभया या या दीव्यन् प्रमुखतोऽसृजत्।
तेऽहारिषुर्देवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः।।२२।।

प्रभा यथा दीपस्य, यथा वा मणेः, सूर्यादेः वा तथा ब्रह्मणोऽपि अतः तया **प्रभया देवताः असृजत्.** प्रभया सृष्टाः देवताः विशिनष्टि **याः याः प्रमुखतो दीव्यन्.** सम्मुखतया याः याः देवताः क्रीडन्ति, उपास्याः देवताः सूर्यादिरूपाः, ताएव प्रमुखतः उपासकस्य क्रीडन्ति. एवं ताः सृष्ट्वा दोषाभावेऽपि भिन्नभावोत्पत्तेः तामपि तनुं विससर्ज. ततो ब्रह्मणा विसृष्टां तां प्रभारूपां, **त**एव [2]देवाः, पूर्वं स्त्रीत्वेनाऽपि उक्ताः, **अहारिषुः** हृतवन्तः, गृहीतवन्तः इति अर्थः. **अहो**रूपां दिनरूपाम्. **अहाविषुः** इति पाठेऽपि अर्थः सएव।।२२।।

रजसा सृष्टिम् आह **देवः** इति.

देवोऽदेवान् जघनतः सृजति स्माऽतिलोलुपान्।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाऽभिपेदिरे।।२३।।

पूर्वं तत्तद्भावापन्नः तत्तत्सृष्टिं करोति, दैत्यसृष्टिन्तु देवभावापन्नः करोति इति आह **देवः** इति. **अदेवान्** देवप्रतिपक्षान्. **जघनतः** इति गुह्यस्थानात् कटिस्थानाद् वा; कटिम् आरभ्य जानुपर्यन्ताद् वा; यत्रैव कामसम्बन्धः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

जातम् इति. भयमात्रं जातं. **अन्यथा** इति. सर्वथा मारणेच्छायाम्।।२१।।

१.यूयमेव. ख. ग.मां–४. २.'देवताः' इति मां.–४.

अतिलोलुपान् इति उत्कटकामान्. कामस्तु स्त्रीसम्भोगात्मको मुख्यः. मैथुनं पुरुषेऽपि भवति इति **ते** असुराः, **एनं** प्रजापतिं, मैथुनार्थम् **अभिपेदिरे.** यथा मातुः सङ्गो निषिद्धः, तथा पितृसङ्गोऽपि; तथापि **लोलुपतया** तथा कृतवन्तः. कामेन अस्थिरत्वं **लोलुपता,** कामो विवेकादीनां नाशकः।।२३।।

ततः किं जातम् अतः आह **ततः** इति.

ततो हसन् सभगवान् असुरैर्निरपत्रपैः।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत्।।२४।।

प्रथमतो **हसन्** जातः. तेषां लज्जाभावेन हास्यम्. तदनन्तरं **सभगवान्,** भगवता सहितो जातः, भगवद्धर्मएव तस्य स्थिरो जातः, न दैत्यधर्मः, अन्यथा तैः सह क्रीडां कुर्यात्. [१]रसाभासेन प्रवृत्ताः इति **निरपत्रपाः.** अन्यतो लज्जा अपत्रपा. असुराश्च स्वभावतो रजःप्रधानाः, अतः तैः, **अन्वीयमानः तरसा** प्रथमतः क्रुद्धो जातः, क्रोधेन कामो निवर्तनीयः इति. तदनन्तरं भीतः, अभीतान् अनिवृत्तान् दृष्ट्वा ततः **परापतत्** पलायनं कृतवान् इति अर्थः।।२४।।

सः गच्छन् वैकुण्ठं गतः, यत्र भगवान् अधिष्ठाय आस्ते इति आह **सः उपव्रज्य** इति.

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम्।
अनुग्रहाय भक्तानाम् अनुरूपात्मदर्शनम्।।२५।।

लौकिकोपायेन न एते शान्ताः भविष्यन्ति, अलौकिकस्तु उपायो भगवतएव भवति इति ज्ञापयितुम् आह **वरदम्** इति. वरो हि अलौकिक-पदार्थप्राप्त्युपायः. ते वराः लोके इष्टप्राप्तिरूपाः इति तद् व्यावृत्यर्थम् आह **प्रपन्नार्तिहरम्** इति. दैत्याअपि गताः इति तेषामपि कदाचिद् आर्तिं हरेद् अतः आह **प्रपन्ने**ति. यतो **हरिः.** किञ्च, भक्तानाम् अनुग्रहार्थमेव वैकुण्ठम् अधिष्ठाय स्थितः. तद् आह **अनुग्रहाय** इति. भक्तानाम् अनुग्रहार्थम्. भक्तानां यादृशं रूपम् अनुरूपं, तादृशम् आत्मनो दर्शनं यस्य. **आत्मा** स्वरूपम्. लोके सङ्घातः, प्रकृतेतु सच्चिदानन्दरूपमेव, न अन्तरात्मान्तरम् अस्ति. पौराणिकास्तु अस्ति इति आहुः।।२५।।

---

१. 'रसाभावेन' इति जु, अ, मां.-४.

एवं भगवन्तं गत्वा, असुरैः पीडितत्वात् स्तोत्र-नमस्कारादिकम् अकृत्वैव विज्ञापनामेव आह **पाहि** इति.

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेरणेनाऽसृजं प्रजाम्।

ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो।।२६।।

तव **प्रेरणेन अहं प्रजाम् असृजम्.** तत्र दैत्यरूपाः इमाः प्रजाः, मामेव **यभितुम् उपाक्रामन्ति** अतः **पाहि** इति सम्बन्धः. पालनसामर्थ्यं, मम प्रेर्यत्वं, तव प्रेरकत्वञ्च न सन्दिग्धं यतः त्वं **परमात्मा.** परमश्च असौ आत्मा च इति नियामकभूतः आत्मा. अतएव त्वया अहं प्रेरितः. एते एवंविधाः उत्पत्स्यन्ति इति भवानेव जानाति, न अहम्. अतो दोषसमाधानमपि त्वयैव कर्तव्यम् इति दोषविज्ञापना. निकटे च अतिक्रमणं जायते इति शीघ्रसमाधानम्. तत्र सामर्थ्यज्ञापकं **प्रभो** इति।।२६।।

ननु त्वया उपार्जिताः प्रजा, त्वं पिता ते च पुत्राः, अतो अन्यतर-हितं कर्त्तुम् अशक्यम्, उभयोस्तु हितं विरोधे कथं भविष्यति इति आशङ्क्य, दैत्येषु प्रसादाभावाद् अन्यतरहितमेव प्रार्थयितुम् आह **त्वम् एकः** इति.

त्वमेकः किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः।

त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव।।२७।।

अनासन्नपदाम् इति विपरीते वचनाद् आसन्नपदां **त्वमेव** एको असहायः, तेषाम् अदृष्टादिकमपि अनपेक्ष्य, **किल** इति प्रसिद्धे, **क्लिष्टानां लोकानां** क्लेशं नाशयसि. कालादिकृतश्च क्लेशः. तर्हि अन्येषु उपेक्षा स्यात्, तद् व्यावृत्यर्थम् आह **त्वम् एकः क्लेशदः** इति. **अनासन्नपदाम्** इति वाक्यात् “**सुखं दुःखं भवो भावः**”(भग.गीता १०।४) इति शास्त्रानुसारेण न अत्र क्लेशदानं, किन्तु भक्तिप्रवर्तकरूपेण. यथा कालादयो अधिकारिणो दुःखदाः तथा भगवानपि स्वतन्त्रतया दुःखदः इति **त्वम् एकः क्लेशदः** इति उक्तम्. अनासन्नपदां त्वम् एकएव क्लेशदः. ननु कथम् एवं शास्त्रार्थो वैषम्यापादकः? तत्र आह **तव** इति. तव भूत्वा ये अनासन्नपदः तेषाम् इति अर्थः. अनेन त्वदीयानां न अन्यः सुखदुःखदाता किन्तु त्वमेव इति उक्तं कालस्य साधारणत्वाद् दुःखदानेऽपि त्वं निवारकः इति. ततो अस्मद्दुखं दूरीकर्तव्यम्, एते च निराकार्याः

इति।।२७।।

तद् भगवतो न अत्यन्तम् अभीष्टमिति उभयसमाधानम् आह **सो अवधार्य** इति.

सोऽवधार्याऽस्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः।
विमुञ्चाऽऽत्मतनुं घोराम् इत्युक्तो विमुमोच ह।।२८।।

दोषस्य निदानापरिज्ञानेन तन्निवर्तकत्वे भगवतो मर्यादानाशकत्वं स्याद् इति तदर्थम् आह **विविक्ताध्यात्मदर्शनः** इति. **विविक्तः** सम्यक्तया इतरवैलक्षण्यपूर्वकं विवेचितः **अध्यात्मा** ब्रह्मसङ्घातस्थित-सकलपदार्थः तत्र **दर्शनं** प्रत्यक्षतया ज्ञानं यस्य इति. एतादृशो भगवान् ब्रह्माणम् आह **विमुञ्च आत्मतनुम्** इति. यया तन्वा दैत्याः सृष्टाः, सा घोरा भवति, कारणातथात्वे[१] तादृशकार्यानुत्पत्तेः. एवम् उक्तो ब्रह्मा तां **विमुमोच**. विमोचनार्थं वा **विविक्ताध्यात्मदर्शनः** इति ब्रह्मणो विशेषणम्. **ह** इति आश्चर्ये।।२८।।

भिन्नस्वभावेन उत्पादितत्वात् सा देवताऽपि दैत्यहितकारिणी, देवत्वाद् भ्रामिका च जाता इति आह **ताम्** इति अनुवर्णयति त्रिभिः

तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम्।
काञ्चीकलापविलसद् दुकूलच्छन्नरोधसम्।।२९।।
अन्योन्यश्लेषणोत्तुङ्ग-निरन्तरपयोधराम्।
सुनासां सुद्विजां स्निग्ध-हासलीलावलोकनाम्।।३०।।

देवता हि यादृश्या भावनया दृश्यते, तादृशी भवति. ते च कामातुराः तां स्त्रियं रूपवतीं दृष्टवन्तः. यादृशाश्च प्रकाराः तेषां मनसि रोचन्ते, ते-ते देवतात्वात् तस्यां दृष्टा अनुवर्ण्यन्ते. यावच्च दैत्यैः न स्पृष्टा, तावद् बहिः स्थिता तथा आत्मानं प्रदर्शितवती. यदा पुनः सा स्पृष्टा, तदा तेष्वेव सन्निविष्टा सन्ध्याभिमानिनी देवता इति दृष्टायाः वर्णनं, स्तोत्रं, निकटे गमनं, कामलीलया च प्रश्नपूर्वकं वर्णनम् इति अष्टभिः तत्प्रशंसा निरूप्यते. ततो ग्रहणम् एकेन, अर्द्धेन च अनुभवः. क्वणन्तौ चरणावेव अम्भोजतुल्यौ यस्याः. तस्याः देहे

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ताम् इत्यत्र. **कलाप(?)समूहतुल्यरूपा वा** इति. 'कलाप'शब्दो बर्हे समूहे च वर्तते इति तद् उभयम् उक्तम्।।२९।।

अनावृतं द्वयमेव, पादौ मुखञ्च; अन्यद् वस्त्रादिकम्. अतः तेषां हीनाङ्गे स्पृहा इति प्रथमतः चरणवर्णनम्. नेत्रयोः सुखजनकत्वाद् अम्भोजत्वम्. ततो मुखवर्णनं स्वाभिलषितप्रकारेण. मदेन विह्वले लोचने यस्याः. **काञ्चीकलापेन विलसद्** यद् **दुकूलम्,** तेन **छन्नं रोधः** कटिभागो यस्याः. अनेन प्रकटाभरणं वस्त्रञ्च निरूपितम्. काञ्च्याः कलापत्वं, कलां पाति इति; श्लथद्वस्त्रधारकत्वम् इति अर्थः. अंशानामपि उत्कृष्टत्वात् कलापतुल्यसमूहरूपा वा. 'रोधश्'शब्दः कामकुण्डे स्नानार्थिनां तटत्वबोधकः. ***अन्योन्यश्लेषणौ, उत्तुङ्गौ** ऊद्‌र्ध्वम् उद्गतौ, **निरन्तरौ** मध्ये छिद्ररहितौ, **पयोधरौ** स्तनौ यस्याः।।२९-३०।।

एवं रूपं द्वाभ्याम् उक्त्वा स्त्रीभावम् अनुवर्णयति

गूहन्तीं व्रीडयाऽऽत्मानं नीलालकवरूथिनीम् ।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे संमुमुहुःस्त्रियम्।।३१।।

व्रीडया आत्मानं गोपयन्तीम्. अत्र आत्मा स्त्रीभावम् आपन्नः. सः ययैव चेष्टया गुप्तो भासते, व्रीडया तादृशीं चेष्टां करोति इति अर्थः. परिदृश्यमानावयवान् वस्त्रेण [१]गोपायति इति केचित्. यथा बाह्याः पदार्थाः बुद्ध्या परिकल्पिताः तथा व्रीडाऽपि अत्र. नीलवर्णाः ये अलकाः, तेषां समूहयुक्ता च. अनेन तस्याः स्वलक्षणानि निरूपितानि. केचिद् एनाम् आध्यात्मिकीं वर्णयन्ति. चरणक्वणनं पक्ष्यादिशब्दाः, अर्धोदयास्तमययुक्तौ चन्द्र-सूर्यौ लोचने; आरक्ताः मेघाः काञ्ची आकाशमेव अम्बरं[२] तटा दिशः कामुकी-कामुकयोः मनोरथावेव स्तनौ, चक्रवाकौ वा; उत्तमा नासिका शुकाः; दन्ताः कुन्दादयः; शोभना द्विजा यस्याः इति पक्षिणो वा योगात्; स्निग्धो यो हासः पुरुषेण सह सम्बन्धसूचकः; तत्र या लीला तया सहितमेव अवलोकनं यस्याः. तत्काले कामिनीनां,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

गूहन्तीं व्रीडया इत्यत्र. श्रीधरमतम् आहुः **परिदृश्यमाने**त्यादि. पुनः श्रीधरमतम् आहुः, **अन्येषां वेदम्. केचिद्** इत्यादि. तत्र अस्वरसं बोधयितुम् आहुः **एते** इत्यादि. आधिदैविकस्वरूपस्य तादृशत्वज्ञापकाएव, नतु गौण्या कथनमात्रं, यदि एवं न अङ्गीक्रियते तदा स्त्रीरूपो वाक्यार्थः असम्भवन् बाधितः स्याद्, मोहधैर्य-ग्रहणाग्रिमवर्णनादिवाक्यानाञ्च विरोधः स्याद् इति अर्थः।।३१।।

---

*अन्योन्यश्लेषेण. क. ख. घ. १.गोपयती. ख.मां-४., गोपयन्ती. ङ. २.चोधिकः क.ख.

विकसितपुष्पस्थ–भ्रमरादीनां वा भावाः. प्रतिक्षणं सन्ध्यातिरोभावएव **गूहनं** लज्जा तदानीन्तन–सत्कर्माणि; अन्धकारएव केशपाशः. एते धर्माः ज्ञापकाएव, नतु एतन्मात्रम्, अन्यथा वाक्यार्थो बाधितः स्यात्, सर्ववाक्यविरोधश्च. अतो ज्ञापकत्वेनैव एतेषां वर्णनम् उचितम्. देवतायाः तथात्वाभावे लोके सन्ध्यायां तथा भावाः न भवेयुः इति. एवं तां वर्णयित्वा तद्दर्शनकार्यम् आह **उपलभ्य** इति. **धर्म** इति विदुरसम्बोधनं मोहाभावाय. हे धर्मराज! इति अर्थः. एकदेशसम्बोधनं साम्प्रतं राजत्वाभावाद् विद्यमानधर्ममात्रबोधकम्. **सर्वे** असुराः **संमुमुहुः**. मोहे हेतुः स्त्रीत्वमेव, अतो अन्ते निरूपणम्।।३१।।

दृष्टानां तद्भावेन मुग्धानां भावप्रतिपादकं वाक्यम् आह **अहो रूपम्** इति.

अहो रूपम् अहो धैर्यम् अहो अस्या नवं वयः।
मध्ये कामयमानानाम् अकामेव प्रसर्पति।।३२।।

रूपम् अनूद्य आश्चर्यत्वं विधीयते. **अहो धैर्यम्** इत्यपि तथा. चेष्टया कामस्तु अस्याअपि महानिव लक्ष्यते, तथापि या न लोलुपा, अतः आश्चर्यम् अस्याः धैर्यम् इति अर्थः. एतद् द्वयमपि भुक्तभोगायाः, जरठायाः वा, न आश्चर्यहेतुः इति आशङ्क्य आह **अहो अस्याः नवं वयः** इति. नवम् अनुपभुक्तं, प्रत्यग्रविकसितं वा; वयः उद्दिश्य आश्चर्यत्वं विधीयते. एवं दोषत्रयं तस्याः कामलक्षणसन्निपातजनकं, सा कथम् अकामेव. [१]अस्याः अकामत्वज्ञापकं विशेषसर्पणमेव, स्तम्भो अपेक्ष्यते मुख्यः. भावादीनां दृश्यमानत्वाद् **अकामेव.** किञ्च न केवलम् अस्याः आन्तराएव दोषाः, किन्तु बाह्याअपि इति आह **मध्ये कामयमानानाम्** इति. वयं सर्वएव कामयमानाः, तेन कामस्य आवश्यकत्वाद्, वेष्टकत्वाच्च, मध्ये कथम् अकामा भवेद् इति अर्थः।।३२।।

परिचयाभावाद् इति, तर्हि 'संवादेन परिचितां करिष्यामः' इति अभिप्रेत्य संवादार्थं यत्नं कृतवन्तः इति आह **वितर्कयन्तः** इति.

वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम्।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अहो इत्यत्र. **विशेषसर्पणम्** इति. स्वाकारगोपनम् ।।३२।।

१.'यस्याः' इति मां.–४, जु.

अभिसम्भाव्य विश्रम्भात् पर्यपृच्छन् कुमेधसः॥३३॥

प्रमदाकृतिं तां सन्ध्यां बहुधा वितर्कयन्तः पर्यपृच्छन् इति सम्बन्धः. **बहुधा** इति स्वरूपसम्बन्धाद्यर्थं, नतु स्त्रीत्वे तस्याः सम्भोग्यत्वे वा सन्देहः; किन्तु सन्देहरूपाणि अग्रे प्रक्ष्यन्ते. प्रश्नात् पूर्वं स्वतएव ज्ञानार्थं वितर्कः. प्रकर्षेण मदो यस्याः सकाशात्. स्त्रीरूपा च सा देवता. **अभितः सम्भाव्य** स्तुत्वा, कुशलादिकञ्च पृष्ट्वा इति अर्थः. **विश्रम्भाद्** इति विश्वासाद्, इयम् अस्मान् भजिष्यति इति. **परितो** नामगोत्रादिभेदेन. **कुमेधसः** इति देवतात्वाज्ञानाद्, नहि देवता भोग्या भवति. दृश्यैव सा, नतु स्पृश्या इति अर्थः॥३३॥

प्रश्नत्रयम् आहुः **का असि** इति.

काऽसि कस्याऽसि रम्भोरु को वाऽर्थस्तेऽत्र भामिनि।

रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान्नो विबाधसे॥३४॥

जातिकुलप्रश्नः. **कस्य असि** इति सम्बन्धिप्रश्नः, पितुः भर्तुश्च. अत्र आगमने च किं प्रयोजनम् इति तृतीयः. परिचर्यार्थमेव ते प्रश्नाः, नतु उत्तरज्ञाने किञ्चित् प्रयोजनम् अस्ति. **भामिनि** इति स्तोत्रं, हे भव्ये. आपाततो ज्ञायते महती, महतो महत् कार्यं तव इति. परम् एकमेव तव असामीचीन्यं, यद्**रूपद्रविणपण्येन** दरिद्रान् अस्मान् **बाधसे** इति. रूपमेव द्रविणं सुवर्णादि, तदेव च पण्यं, बहुद्रव्येण च प्राप्यं, वयं च दुर्भगाः; तन्मूल्यद्रव्यरहिताः, अतो बाधसे. केचित् तामसाः उपायम् अज्ञात्वा एवम् उक्तवन्तः॥३४॥

अन्येतु आहुः **या वा कास्विद्** इति.

या वा कास्वित्वम् अबले दिष्ट्या संदर्शनं तव।

उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः॥३५॥

त्वं या काचित्. वा इति अनादरे. **स्विद्** इति सम्भावनायाम्. सम्बन्धे सम्भावनायां वा[१] अनादरः. हे **अबले!** इति सम्बोधनेन, बलरहितायाः शुश्रूषणं कर्तव्यम् इति, पादसंवाहनादिकं करिष्यामः इति ज्ञापितम्. वयं न दुर्भगाः, किन्तु सुभाग्याः इति निश्चितं, यतः **संदर्शनं तव** जातम्. एतद् **दिष्ट्या.** सापराधां[२] वदन्ति **उत्सुनोषि** इति. तत् त्वं सर्वथा देवता देवताभजनं देवतादर्शनञ्च न

१.च. ख. घ. २.सापराधाः क. घ. ङ.

अल्पभाग्येन इत्यपि सूचयन्ति. त्वं नो अस्माकं कन्दुकक्रीडया मनः उत्सुनोषि[३]. यथा ग्रावभिः सोमो अभिषूयते, तथा मनः ऊर्ध्वम् अभिषुणोषि, यतः उर्ध्वमेव न उत्सर्पति. कन्दुकक्रीडातु देहचालनेन भवति, तत्र अवयवानां संवरणविवरणे भवतः, अतो यद्दर्शनाकाङ्क्षि चित्तं, तत् क्षणे-क्षणे सम्भृतं भवति इति मनसः खेदः।।३५।।

अन्ये सात्विकाः, न एषा उपालभ्या, किन्तु स्तुत्या; अतः स्तोत्रेण प्रसन्ना भविष्यति इति अभिप्रेत्य स्तोत्रं कृतवन्तः **न एकत्र** इति.

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम्।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं *श्रान्तेव दृष्टिरलसा सुशिखासमूहः।।३६।।

कामशास्त्रे हि कामिन्येव देवता, "**ताः स्तुमः**"( ) इति वाक्यात्. अलौकिकरूपवर्णनमेव महत्वेन कथनं स्तोत्रम् इति तद् आह हे **शालिनि** मनोहरे, विनययुक्ते वा, **ते पादपद्मं न एकत्र जयति.** प्रसिद्धं पद्मन्तु जलएव शोभते, तवतु सर्वत्र इति विशेषः. 'पादपद्म'पदं च भक्तिसूचकम्. एकत्र न जयति, किन्तु सर्वत्र. **न एकत्र** अनेकत्र वा. पादपद्मस्य चलने हेतुम् आह **घ्नन्त्या** इति. **मुहुः** वारं-वारं, **करतलेन पतत्पतङ्गं घ्नन्त्या.** कन्दुकार्थं गच्छन्ती मध्ये समागतान् भ्रमरान् करतलेन घ्नन्ती. तेऽपि पतङ्गाः पतन्तो भवन्ति. जात्यपेक्षयातु एकचनम्. सात्विकत्वाद् वा सूर्यमेव तथा मन्यन्ते, अस्तं गच्छन् सूर्यः सन्ध्याकिरणैः हन्यते इति. मध्यं **विषीदति** इति खेदनिराकरणार्थम् अस्माभिः वा कलशौ स्तम्भनीयौ इति भावः. कृशत्वाद् विषादः. उत्तमस्त्रियाः च लक्षणं कृशमध्यत्वम्, अन्यथा तृतीयशास्त्रे बन्धाः केऽपि न सङ्गच्छेरन्. विषादहेतुः **बृहत्स्तनभारेण भीतम्** इति. न केवलं विषादमात्रं, किन्तु भङ्गो भविष्यति इति भयमपि. तेन सुप्त्वैव स्थातव्यम् इति भावः. किञ्च दृष्टिरपि ते **श्रान्तेव,** रसेन पूर्णा आलस्ययुक्ता च जाता. श्रमो बहिः कार्येण शारीरः, आलस्यं मनसः. सुष्ठु शिखासमूहो यस्याः. अतः उत्सङ्गे शयनं कर्तव्यम् इति भावः।।३६।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नैकत्र इत्यत्र. न शब्देन सह समासम् अभिप्रेत्य आहुः **अनेकत्र वा** इति ।।३६।।

३.इतीत्यधिकम्. क. घ. ङ. *'श्रान्ता च' इति मां-४,जु,अ

एवं स्तुत्वा तूष्णीं स्थितां ताम् ''अप्रतिषिद्धम् अनुमतं भवति'' इति ज्ञात्वा सर्वे तां गृहीतवन्तः इति आह **इति** इति.

इति सायन्तनीं सन्ध्याम् असुराः प्रमदायतीम्।
प्रलोभयन्तीं जगृहुः मत्वा मूढधियः स्त्रियम्।।३७।।
प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना।।३८।।

सायन्तनीं पश्चिमां, **सन्ध्यां** प्रमदामिव आचरन्तीम् [१]आत्मना च प्रलोभयन्तीं कामम् उत्पादयन्तीम्. स्त्री चेत् प्रलोभयन्ती जाता, तदा सिद्धा जाता इति ज्ञात्वा, **जगृहुः** आलिङ्गितवन्तः, यतः एते **मूढधियः**. ब्रह्मणः पुत्राअपि तत्त्वं न जानन्ति इति तथा वचनम्. ततः किं जातम्? इति आशङ्क्य आह ते सर्वे ताम् आलिङ्ग्य, स्वस्मिन् तस्यां प्रविष्टायां भूताविष्टाइव आत्मनैव आत्मानं **जिघ्रन्ति** स्म. प्रथमतः तया आलिङ्गिताइव सन्तुष्टाः, क्षणात् ताम् अदृष्ट्वा, अस्मान् वञ्चयितुं लीना इति, **भावगम्भीरं** यथा भवति तथा **प्रहस्य,** पश्चाद् आत्मानमेव स्त्रियं ज्ञात्वा, नियामकं रूपादिकम् अदृष्ट्वा, कमलगन्धां तां मत्वा घ्राणेन ज्ञातुं **जिघ्रन्ति**।।३८।।

एवम् एकप्रकारेण प्रथमं त्रिविधां सृष्टिम् उक्त्वा द्वितीयेन प्रकारेण आह **कान्त्या ससर्ज** इति.

कान्त्या ससर्ज भगवान् गन्धर्वाप्सरसां गणान्।
विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमयीं प्रियाम्।
त एव चाऽऽददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः।।३९।।

कान्तिः लावण्यम्. एषा सात्विकी सृष्टिः. राजसी इति केचित्, साध्याः पितरश्च सात्विकाः इति. तत् चिन्त्यम्. **भगवान्** इति पुनः मूलप्रवेशः,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कान्तेत्यत्र. **एक प्रकारेण** इत्यादि. तामसतामस-तामससात्विक-तामसराजस-प्रकारेण उक्त्वा, सात्विकसात्विक-सात्विकतामस-सात्विकराजस-प्रकारेण आह इति अर्थः. **सात्विकी** इति एतज्जनिकायास्तनोः प्रकाशकत्वात् प्रियत्वाच्च तत्कार्यभूता इयमपि सात्विकी इति अर्थः. **राजसी**त्यादि. इदं न श्रीधरमतम्. मतान्तरे दूषणम् आहुः **चिन्त्यम्** इति. युक्त्यभावात् चिन्त्यम् इति अर्थः ।।३९।।

१.आत्मनश्च. ग. घ. ङ.मां.-४.

आरब्धगुणानां समाप्तत्वात्. **गन्धर्वाप्सरसां गणान्** इति अवान्तरजातिभेदान्. **विससर्ज** इति. तामपि **तनुं विससर्ज,** सा **ज्योत्स्ना** अभवद्, यतः **कान्तिमयी** सा. **कान्तिमतीम्** इत्यपि पाठे तथा. सा हि ब्रह्मणः प्रिया, गन्धर्वाप्सरसां वा; ते हि ज्योत्स्नायामेव रमन्ते इति. अतएव तएव गणाः ताम् **आददुः. च**काराद् भौतिकीं च ज्योत्स्नाम्. विश्वावसुः मुख्यो वेदे "**विश्वावसुः पर्यमुष्णाद्** (   ) इति श्रुतेः "**विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसाम्**"(भाग.पुरा.११।१६।३३) इति विभूतिवाक्याच्च।।३९।।

तामसी सृष्टिम् आह **सृष्ट्वा** इति.

सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवान् आत्मतन्द्रिणा।
दिग्वाससो मुक्तकेशान् वीक्ष्य चामीलयद् दृशौ।।४०।।

तन्द्री आलस्यनिद्रा, तया भूतानि पिशाचांश्च असृजत्. नच एषा सृष्टिः एतावती, किन्तु अधिकाऽपि अस्ति इति ज्ञापयितुं **सृष्ट्वा** इति 'क्त्वा'प्रत्ययः. दृशोः मीलनं च आलस्यनिद्रायाम् अवान्तरं [१]करणम्. सृष्टाः पिशाचाः **दिग्वाससो मुक्तकेशांश्च.** तान् अमङ्गलान् दृष्ट्वा, **दृशौ अमीलयद्** निमीलनेन च उन्मादो गणः उत्पन्नः इति. तनुद्वयं च त्यक्तम्।।४०।।

तत्र एकस्याः विनियोगम् आह **जगृहुः** इति.

जगृहुस्तद् विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः।
निद्राम् इन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते।
येनोच्छिष्टान् धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते।।४१।।

भूतपिशाचाएव तां जगृहुः. विशेषेण सृष्टा विसृष्टा इति योगेन पूर्ववद् ग्रहणमपि सूचितम्. **विसृष्टा** त्यक्ता. तयोः भेदार्थं पूर्वस्याः नाम आह **जृम्भणाख्याम्** इति. आलस्यनिद्रायां हि समागतायां जृम्भा भवति इति. असमीचीनायाअपि ग्रहणे हेतुः **प्रभोः** इति. द्वितीयां पूर्वसन्दिग्धाम् इदानीं लक्षयति **निद्राम्** इति. निद्राएव तनुः द्वितीया, पूर्वातु जृम्भणाख्या. तस्याः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सृष्ट्वा इत्यत्र. **त्यक्तम्** इति. निमीलितं त्यक्तम् ।।४०।।

१.'कारणम्' इति मां-४.

देवतारूपायाः निद्रायाः कार्यद्वारा लक्षणं निरूपयति **इन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते** इति. निद्रया हि इन्द्रियाणि सर्वाणि लीनानि भवन्ति, स्रवन्ति च निद्रया. तयैव आधिदैविकया चक्षुःस्रावादिकमपि भवति. अतः त्रिविधमपि कार्यम् 'इन्द्रियविक्लेद'शब्देन उच्यते. तां ये गृहीतवन्तः तान् आह **येन उच्छिष्टान्** इति. सः गणस्तु उन्मादलक्षणः, येन सा गृहीता इति अर्थाद् उक्तं भवति, अन्यथा निरूपणवैयर्थ्यापत्तेः. तेषाम् उन्मादसञ्ज्ञा कथं जाता? इति आशङ्क्य आह **येन** कारणेन **उच्छिष्टान्**. भोजनादिना, मलोत्सर्गादिना वा, उच्छिष्टाः भवन्ति, तान् ते धर्षयन्ति. तत् तेन कारणेन तं गणम् उन्मादं प्रचक्षते. उद्गतो मादो यस्य इति. उन्मत्ताएव हि अनवहितान् धर्षयन्ति, अतः **तं** गणम् उन्मादं प्रचक्षते. यद्वा, भूतपिशाचाएव जृम्भणाख्यां निद्राञ्च गृहीतवन्तः. निद्रया द्वितीयतन्वा उत्पादितं च गणं धर्षणार्थं करणत्वेन गृहीतवन्तः. तथा सति सः गणः पिशाचमध्यएव अन्तर्भूतो ज्ञेयः. धर्षयन्ति पिशाचाः आचक्षते अभिज्ञाः।।४१।।

राजसीं सृष्टिम् आह **ऊर्जस्वन्तम्** इति.

ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः।

साध्यान् गणान् पितृगणान् परोक्षेणाऽसृजत्प्रभुः।।४२।।

'इडो(डू)र्जश्'शब्दौ शक्तिविशेषवाचकौ. इन्द्रियाणां विषयग्रहण-सामर्थ्यविशेषसम्पादिका आत्मनिष्ठा शक्तिः विचारकारणभूता च 'ऊर्जश्'शब्देन उच्यते. क्षुत्पिपासाभिवृद्धिकर्त्रीतु शक्तिः 'इट्'शब्देन उच्यते. अतएव शाखाच्छेदने[1] एते काम्ये "**इषेत्वोर्जेत्वा**"(यजुर्वेद.१।१।१) इति. एते शक्ती भगवतएव, जीवे ओषधि-वनस्पतिषु च प्रतिष्ठिते. "**ऊर्ग्वा अन्नाद्यं दधि**"(तैत्ति.ब्राह्म.२।७।२।६) "**ऊर्ग्वा उदुम्बरम्**"(   ) इति च; "**इषे प्राणाय, ऊर्जे अपानाय**"(   ) इति च. यस्तु ऊर्ग्युक्तः सः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ऊर्जस्वन्तम् इत्यत्र. **अतएव** इत्यादि. इन्द्रियसामर्थ्यसम्पादकत्व-तदभिवृद्धि-कर्तृत्वाभ्यामेव सान्नाय्यस्य इन्द्रियवीर्यरूपतया तत् तन्त्रे पवित्रार्थम् "**इषेत्वे**"(यजुवेद.१।१)ति 'शाखाम् आच्छिनत्ति' इत्यनेन विहिते शाखाच्छेदने तथा इति अर्थः. उभयत्र प्रतिष्ठितत्वे प्रमाणम् आहुः **ऊर्ग्वे**त्यादि ।।४२।।

१.शिखाच्छेदने क. घ. ङ.

ऊर्जस्वान्. यदा एवं ब्रह्मणो अभिमानो जातः. **भगवान्** इति मूलोक्संबन्ध-ज्ञापकः[1]. **अजः** इति अभिमाने हेतुः, अन्यथा भगवान् सर्वरूपो न आत्मानं तथा अभिमन्यते. तदा परोक्षेण भावेन साध्यान् पितृगणांश्च असृजत्. अदृष्टं सर्वं परोक्षम्. अतएव साध्याः अतिरिक्तभागिनो जाताः पितरश्च न्युब्जभागिनः, "**परोक्षभागिनश्च ह्रीकाः**[2]"( ) इति श्रुतेः. अतः उभयेषां सृष्टिः अदृष्ट्वैव कृता. तथा सृष्टौ सामर्थ्यं **प्रभुः** इति।।४२।।

तामपि तनुं विससर्ज [2]**तन्तु आत्मे**ति.

तं त्वात्मसर्गं तत्कायं पितरः प्रतिपेदिरे।
साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद् वितन्वते।।४३।।

अतएव **ते** उभये, **आत्मसर्गं** स्वोत्पादकं, **तस्य** ब्रह्मणः **कायं** शरीरं, मुख्यतया **पितरः प्रतिपेदिरे.** लोके अत्यन्तं पितरएव प्रसिद्धाः इति. तेन शरीरेण उभयेषां विनियोगम् आह **साध्येभ्यः पितृभ्यश्च** इति. **यद्** येन शरीरेण **वितन्वते** लोकाः, अतिरिक्तेन श्राद्धेन च।।४३।।

पुनः तृतीयं गुणत्रयसर्गम् आह **सिद्धान्** इति.

सिद्धान् विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत्।
तेभ्योऽददात् तम् आत्मानम् अन्तर्धानाख्यम् अद्भुतम्।।४४।।

एते सात्विकाः. **सिद्धाः** ज्ञानसिद्धाः, **विद्याधराः** कर्मसिद्धाः, उभयानपि **तिरोधानेनैव असृजत्.** तिरोधानविद्यारूपो यो भावः तेन असृजद् इति अर्थः. तां च तनुं पूर्ववद् न त्यक्तवान्, किन्तु तेभ्यो दत्तवान् इति आह **तेभ्यः** इति. **आत्मानं** देहम् **अददात्.** असन्देहार्थं तस्य नाम आह **अन्तर्धानम्** इति आख्या यस्य. **अद्भुतम्** इति स्वतो[3] दाने हेतुः।।४४।।

राजसीम् आह **सः किन्नरान्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सिद्धान् इत्यत्र. **तृतीयम्** इति. राजसराजस-राजससात्विक-राजसतामस-भेदभिन्नम् ।।४४।।

१.मूलसम्बन्ध... ख.मां-४, भूर्लोकसम्बन्धः क. घ. ङ. ३.ह्लीकाः ख. घ. ङ.मां-४. २. 'ते त्वात्मसर्गम्' इति मां-४. ३. तनोः. क.

स किन्नरान् किम्पुरुषान् प्रत्यात्म्येनाऽसृजत् प्रभुः।
मानयन्नात्मनाऽऽत्मानम् आत्माभासं विलोकयन्।।४५।।

किन्नराः किम्पुरुषाश्च देवगायकाः, तान् **प्रत्यात्म्येन** प्रतिबिम्बेन असृजत्. **प्रभुः** इति पूर्ववत्. न प्रतिबिम्बमात्रेण तेषां सृष्टिः किन्तु सन्मानपुरःसरम् इति आह **मानयन्** इति. **आत्मना** प्रतिबिम्बरूपेण, **आत्मानं** बिम्बरूपं, **मानयन्** असृजद् इति सम्बन्धः. लोकोऽपि दर्पणादौ मुखं पश्यन् आत्मानं बहु मन्यते. किञ्च नापि सन्माननमात्रसहितेन, किन्तु **आत्माभासं विलोकयन्नेव** असृजत्. तेन दर्शनेन सन्माननेन सहितेन प्रतिबिम्बेन असृजद् इति अर्थः।।४५।।

तेन कार्ये त्रिरूपता जाता इति आह **तेतु** इति.

ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत् परमेष्ठिना।
मिथुनीभूय गायन्तः तमेवोषसि कर्मभिः।।४६।।

इदं रूपं ब्रह्मणा त्यक्तमेव, यतः सः **परमेष्ठी,** परमां निष्ठां प्राप्तवान् इति. ‘‘**तेन स परमां काष्ठाम् अगच्छद्**’’(   ) इति श्रुतेः. ततो यद् जातं तद् आह **मिथुनीभूय** इति. ते उभयेऽपि स्त्री-पुरुषरूपेण जाताः, माननस्य अयं धर्मः. **उषसि** च प्रातः काले, **कर्मभिः** ब्रह्मकृतैः उत्कर्षहेतुभिः **मिथुनीभूयै**व रसाभिव्यक्त्यर्थं, तमेव ब्रह्माणं गायन्तो **जगृहुः** इति सम्बन्धः. गानं दर्शनकृतम्।।४६।।

तामसी सृष्टिम् आह **देहेन** इति.

देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया।
सर्गेऽनुपचिते क्रोधाद् उत्ससर्ज ह तद्वपुः।।४७।।

भोगवता स्थूलेन देहेन. **भोगो** विषयभोगः, तद्वान् स्थूलो भवत्येव. इदं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तेतु इत्यत्र. **अयम्** इति. (?)स्त्रीत्व-पुंस्त्वाभ्यां भवनरूपः. **दर्शनकृतम्** इति. दर्शनधर्मः. प्रतिबिम्बधर्मास्तु किन्नराः. किम्पुरुषाः मिथुनीभावश्च इति स्वाप्रतिबिम्बः सम्माननां त्रयाणां कार्यं निर्दिष्टम् ।।४६।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे विंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

लोकप्रसिद्धम् इति **वै** निश्चयेन इति उक्तम्. **बहुचिन्तया शयानो** जातः, पतित्वा स्थितः इति अर्थः. चिन्तायां हेतुः **सर्गे अनुपचिते** इति. कामस्य अपूर्तौ क्रोधो जातः, **क्रोधात्** च **तद्वपुः उत्ससर्ज**।।४७।।

त्यक्ताद् वपुषः सृष्टिः जाता इति आह **ये अहीयन्त** इति.

येऽहीयन्ताऽमुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे।
सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः।।४८।।

अमुतः शरीराद् **ये केशाः अहीयन्त.** अनेन क्रोधात् स्वकेशाकर्षणमपि कृतवान् इति ज्ञायते. तएव केशाः अहयो जाताः. **अहयः सर्पाः, नागाः** इति अवान्तरभेदाः. **क्रियावन्तोऽफणाद्याश्च सफणास्तु तथा परे, नागा अजगराः प्रोक्ता मध्यमाः सविषाः स्मृताः**. यतो अहीयन्त, अतो अहयः. क्रोधाद् यद् धावनं कृतवान्, ततः प्रसर्पतो देहाद् ये जाताः, ते **सर्पाः**. पतितात् क्रिया रहिताद् ये जाताः, ते **नागाः**. स्थूलाकाराद् देहात् क्रियारहिताद् यद् जाताः, अतः **भोगोरुकन्धराः**. महान् भोगः, उरुः कन्धरा च येषाम्. कन्धराः फणस्थानानि. 'ऊरु'शब्दस्य मध्ये प्रयोगाद् उभयसम्बन्धः. भोगार्थं वा उरुकन्धरा, भोगापेक्षया वा।।४८।।

एवं नवविधां सृष्टिम् उक्त्वा स्वस्य गुणातीतभावनया काञ्चित् सृष्टिं कृतवान्. ताम् आह **सः आत्मानम्** इति.

स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवाऽऽत्मभूः।
तदा मनून् ससर्जाऽन्ते मनसा लोकभावनान्।।४९।।
यदैव पुरुषः स्वस्मिन् गुणातीतेऽवतिष्ठते।
तदैव कृतकृत्योऽहम् इत्यात्मानं स मन्यते।।१।।

इव इति भावनया तथात्वात्. एवं भावे हेतुः **आत्मभूः** इति. आत्मनो भगवतः सकाशाद् जातः. **तदा मनून् ससर्ज. मनसा** शरीरस्थानीयेन. मनवो अत्र चतुर्दश मुख्याः, अन्येऽपि बहवः तद्विधाः. स्वसृष्टेः **अन्ते**. न अतः परं ब्रह्मणः सृष्टिः, ऋषिसृष्टिस्तु वेदात्मकभगवतः. एतेषाम् उत्कर्षम् आह **लोकभावनान्** इति. लोकान् अनुभावयन्ति धर्मादिभिः इति।।४९।।

तदा ब्रह्मा स्वस्य सामर्थ्यं तेभ्यो दत्तवान् इति आह **तेभ्यः** इति.

तेभ्यः सोऽत्यसृजत् स्वीयं पुरं पुरुष आत्मवान्।
तान् दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम्।।५०।।

पुरं ब्रह्माण्डात्मकम्. तदेव तेभ्यः कालतो विभज्य दत्तवान्[१], यतः सः **पुरुषः**. ते हि पुरं पालयिष्यन्ति, स्वयं शयिष्यते इति. तदा बहवो मनवो ब्रह्मस्थानीयाः जाताः इति पूर्वसृष्टानां सुखं जातम् इति आह **तान् दृष्ट्वा** इति. ये मन्वपेक्षया **पुरा सृष्टाः**, ते **प्रजापतिं प्रशशंसुः**।।५०।।

प्रशंसामेव आह **अहो** इति.

अहो एतज्जगत्स्रष्टुः सुकृतं बत ते कृतम्।
प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन् साकम् अन्नम् अदामहे।।५१।।

सृष्टिः अत्यन्ताश्चर्यरूपा, वयमपि तेनैव सृष्टाः, एतेऽपि. तथापि कारणतुल्यत्वेऽपि उत्तमाः जाताः इति एतत्कृतमेव जगत्स्रष्टुः सुकृतम्. **बत** इति हर्षे, स्वकारणाद् उत्तमं जातम् इति. हेत्वन्तरमपि आह **प्रतिष्ठिताः क्रियाः यस्मिन्** इति. **यस्मिन्** कृते मनुरूपे, **क्रियाः** धर्मादिरूपाः, प्रकर्षेण स्थिताः. अनेन धर्मो मोक्षश्च सिद्धः उक्तः. **साकम् अन्नम् अदामहे** इति [२]**चार्थः** कामश्च. एवं सर्वपुरुषार्थसाधकता।।५१।।

उत्कृष्टभगवद्भावेन सृष्टिम् आह **तपसा** इति.

तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना।
ऋषीनृषिहृषीकेशः ससर्जाऽभिमताः प्रजाः।।५२।।

ज्ञान-कर्म-भक्तिभिः **हृषीकेशो** भगवान्, **ऋषीन्** सर्ववेदादिप्रवर्तकान्, अभिमतप्रजारूपान् **ससर्ज तपो** अत्र ज्ञानं, विद्या भक्तिः. **योगेन युक्तो** भगवद्भावं प्राप्तः, समाध्यन्तेन योगेन वा युक्तः. सर्वैः[३] भगवता वा, इन्द्रियपतित्वात् स्रष्टुः. ऋषयो जितेन्द्रियाः त्रिविधाः च; ज्ञाननिष्ठाः, कर्मनिष्ठाः, भक्तिनिष्ठाश्च इति. ऋषिः च असौ हृषीकेशश्च, शब्दार्थब्रह्मरूपः इति अर्थः।।५२।।

भगवतः षड्गुणाः एकीभूताः कर्तृविशेषणभूताः इति सृष्टेभ्यः एकैकम्

१.इतिः पूर्वे 'तत्' इति अधिकम् क.ग. २.'वाक्यादर्थः' इति मां-४. ३.इतः प्राक् 'अभिमतप्र' इतिपाठः क्वचित् पुस्तकेषु दृश्यते.

अंशम् अदाद् इति आह **तेभ्यः** इति.

तेभ्यो ह्येकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः।
यत्तत्समाधियोगर्द्धितपोविद्याविरक्तिमत्।।५३।।

हि युक्तः च अयम् अर्थः, यदंशपुरस्कारेण ये सृष्टाः, तेभ्यः सो अंशो देयः इति. स्वार्थन्तु न अपेक्ष्यते, यतो अयम् **अजः**, अतःपरं पुत्रादिरूपेण न भविष्यति इति. तानेव अंशान् आह **यत्तद्** इति. यदेव[1] यस्य तदेव तस्य इति अर्थः. ऐश्वर्यादिषु षट्सु[2] समाध्यादयः षडन्तर्भाव्याः, तत् तत्त्वेन वा व्याख्येयाः, भिन्नाः वा. एते प्रकृतोपयोगि–'भग'शब्दवाच्याः[3]. **समाधिः** चित्तैकाग्र्यं, **योगः** तस्य उपायः, **ऋद्धिः** फलं तस्य; इति त्रयम् एका कोटिः. **तपो** ज्ञानं, **विद्या** भक्तिः, वैराग्यञ्च इति अपरा. विद्यैव यशः, **ऋद्धिरेव** श्रीः, **योगो** बलं, **समाधिः** ऐश्वर्यम् इति. सम्यग् आधिः शत्रूणां यस्माद् इति योगश्च. ऋषयो हि भगवतः एकैकम् अंशं सम्पादयन्ति इति।।५३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे विंशाध्यायविवरणम्.

१.यादवस्य. क. ख. घ. ङ. 'यावदस्य तदेव तस्य' इति मां.–४. २.षड्गुणेषु ख. षट्स्वेते ग. ३.भगवच्छब्दवाच्याः ग. ङ.मां.–४.

।। एकविंशाध्यायविवरणम् ।।

एकविंशे तु सफलो[1] धर्ममार्गो निरूप्यते।
भूतसंस्कारकर्तृत्वाद् भूतसर्गोऽयम् उच्यते।।१।।
षड्विधं रूपम् अस्याऽपि तपोदर्शनसंस्तवाः।
त्रिविधाः कारणे युक्ता वाक्यागमसमृद्धयः।।
फलेऽपि त्रिविधाः प्रोक्ता ऋषिवाक्यं समृद्धये।।२।।

एवं [2]सकलां ब्रह्मसृष्टिं पूर्वाध्याये श्रुत्वा, तद्विशेषं श्रोतुं मनोः वंशं पृच्छति **स्वायम्भुवस्य** इति पञ्चभिः

विदुरः उवाच

स्वायंभुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः।
कथ्यतां भगवन्! यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः।।१।।

अस्य विशेषत्वं मैथुनजनितत्वमेव. स्वयंभुवो वंशः श्रुतः, **स्वायंभुवस्य च मनोः वंशः** श्रोतव्यः. तत्र हेतुः **परमसम्मतः** इति. परमम् अत्यर्थं सम्मतः. सर्वसम्मतं च श्रोतव्यं, यतः इदानीन्तनानां तथैव जन्म. तद् आह **मैथुनेन एधिरे प्रजाः** इति. **भगवन्!** इति ज्ञानार्थं सम्बोधनं मैत्रेयस्य।।१।।

एवं सामान्यतः पृष्ट्वा पुत्रयोः विशेषं पृच्छति **प्रियव्रते**ति.

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायंभुवस्य वै।
यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम्।।२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथैकविंशाध्यायविवरणं चिकीर्षवः सङ्गतीनां पूर्वम् उक्तत्वात् तान् निरूप्य अस्य प्रकरणस्य प्रकारद्वयेन विभक्तत्वाद् एकैकाध्याये अर्थद्वयस्य सत्वात् ताभ्याम् अध्यायादिभेदो यथा न भवेत् तदर्थम् अर्थयोरेव हेतुहेतुमद्भावः इति बोधयन्तः प्रस्तुताध्यायार्थम् आहुः **एकविंशेतु** इत्यादि. **अयम्** इति. धर्ममार्गः. द्वाभ्याम् एतद् अध्यायस्थान् अर्थान् विभजन्ते **षडित्यादि. कारणे** इति. भूतसंस्कारकारणे धर्मे. **फले** इति. भूतसंस्काररूपे फले. **ऋषिवाक्यम्** इति. मनुं प्रति कर्दमवाक्यम्. एवं सर्वो अध्यायार्थः उक्तः. तत्र विदुरप्रश्नस्य सङ्गतिः अनुप्रसङ्गरूपा बोध्या.

१.सफलम् क. ग. ङ. च. २.'सफलाम्' इति मां-४

यौ स्वायंभुवस्य सुतौ प्रियव्रतोत्तानपादौ उक्तौ तौ निश्चयेन धर्मम् अनतिक्रम्य सप्तद्वीपवतीं [1]महीं जुगुपतुः. जन्ममात्रं श्रुतं, युक्त्या रक्षा च निर्द्धारिता. तयोः वंशस्तु वक्तव्यः इति भावः।।२।।

कन्यकानां वंशं पृच्छति **तस्य** इति.

तस्य वै दुहिता ब्रह्मन् देवहूतीति विश्रुता।

पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयाऽनघ!।।३।।

मध्यमायाः द्वयेन, शिष्टयोः एकेन. मध्यमा सर्वत्र मूलभूता इति तस्याः प्रशंसा. तन्मोक्षावधिरेव सर्गः. **ब्रह्मन्!** इति सम्बोधनम् अविकृतत्वाय. देवानां हूतिः यस्याः इति सर्वदेवमयी, सर्वदेवाधिष्ठिता वा. [2]सन्तर्पणार्थं वा देवानाम् आह्वानम्. उपभोगार्थं वा, मोहिता रूपेण समाहूता इति. सर्वथा विशेषेण श्रुता प्रसिद्धा. तस्याः विवाहश्च श्रुतः. **कर्दमस्य प्रजापतेः, त्वया, पत्नी** इति निरुक्ता. **अनघ!** इति सम्बोधनात् स्त्रीकृतो भावो हृदये न उत्पत्स्यते इति उक्तम्. पापयुक्तानामेव तादृशः कामो भवति, यो लौकिकेन क्षुभ्यति।।३।।

अनूद्य [3]प्रश्नम् आह **तस्याम्** इति.

तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः।

ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद।।४।।

तस्य महायोगित्वाद्, बीजावापो योगप्रतिबन्धकः इति, तादृशस्यापि बह्वपत्यजनकत्वम् आश्चर्यम् इति प्रश्नः. सापि योगलक्षणैः युक्ता. द्वात्रिंशद् लक्षणयुक्तो योगस्य अधिष्ठानं भवति इति कर्दमस्यतु सिद्धो योगः. तस्यास्तु लक्षणानि सन्ति, योगस्तु अग्रे सेत्स्यति. अतः उभयोरपि सृष्टिविरुद्धत्वात् प्रश्नः. महायोगित्वाच्च सर्गेऽपि न काचित् क्षतिः इति. **वै** निश्चयेन. **तस्यां कतिधा वीर्यं ससर्ज** इति सङ्ख्यायां प्रकारविशेषे च प्रश्नः. उत्तरे हेतुः **शुश्रूषवे** इति. श्रोतुम् इच्छवे. **वद** इति प्रार्थना।।४।।

अवशिष्टयोरपि वंशप्रश्नम् आह **रुचिः** इति.

रुचिर्यो भगवान् ब्रह्मन् दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः।

यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्यां च मानवीम्।।५।।

१.पृथिवीं ग. घ. च. २.सर्वतर्पणार्थम्. घ. ङ.जु.अ.मां-४. ३.'तत्प्रश्नम्' इति मां-४

रुचिः ज्ञानपूर्ण इति पूर्वकल्पेषु उर्वरितः. **ब्रह्मन्** इति सर्वथा सर्वार्थपरिज्ञाने दक्षः तृतीयायाः. **भूतानि** इति कन्यासु नानाविधोत्पत्तिः सूचिता. **मानवीम्** इति मनोः पुत्रीं भार्यात्वेन लब्ध्वा, **च**काराद् ब्रह्मणः आज्ञाम्।।५।।

सर्गे कर्दमस्यैव उपयोगाद् देवहूत्याः [1]सकाशात् सृष्टिम् आह चतुर्भिः अध्यायैः.

साधनं च विवाहश्च सृष्टिर्द्वेधा विभेदतः।
विसर्गे सर्ववस्तूनां धर्मादावुपयोगिनाम्।
निरूपणं हि सर्गे तु सर्वं सर्गार्थमेव हि।।१।।

मैत्रेयः उवाच

प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणि समा दश।।६।।

ब्रह्मा भगवद्रूपः, कर्दमोऽपि भगवद्रूपः, अतः स्वकर्तव्यसृष्टौ कर्दममेव प्रेरितवान्, स्वतुल्यत्वात्. सृष्ट्युपयोगिनी हि ब्रह्मदैवत्या सरस्वती; तस्याः तीरे दशवर्षसहस्राणि दिव्यानि तपः तेपे. एतावता चतुर्युगानाम् आवृत्तिः जाता. स्वतन्त्रब्रह्मसृष्ट्यर्थमपि सहस्रवर्षमात्रं तपः, इदन्तु ततोऽपि अधिकम् इति तत्र हेतुं वक्ष्यति।।६।।

न केवलं तपसा भगवान् परितुष्यति, किन्तु भक्त्या इति भगवद्भजनम् आह **ततः समाधियुक्तेन** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मैत्रेयवाक्यतात्पर्यकथने. **साधनं च** इति अर्धेन अध्यायचतुष्टयस्य अर्थः उक्तो भवति. तत्र द्वेधासृष्टिमध्ये कन्यासृष्टिः तृतीयस्य पुत्रसृष्टिः तुरीयस्य इति बोध्यम्. उच्यमाने द्विविधेऽपि अध्यायार्थे येषां वाक्यार्थानां यत्र उपयोगः तम् आहुः **विसर्गे** इत्यादि. **तु** शङ्कानिरासे. **हि** यतो हेतोः **निरूपणं सर्ववस्तूनां सर्गे** अतो **हि** निश्चयेन **सर्वं सर्गार्थमेव.** तत्र युक्तिः प्रकरणित्वाद् इति द्वितीयेन 'हि'शब्देन उच्यते. अवान्तरे मैत्रेयवाक्यविचारेतु सर्वं विसर्गार्थं, विदुरप्रश्नेन तस्यैव अवान्तर-प्रकरणित्वावगमात्. उपयोगिनां निरूपणं धर्मादौ धर्माद्यर्थम् इति विभागेन बोध्यम् इति अर्थः. तस्य हेतोः स्वरूपम् आहुः **न केवलम्** इत्यादि ।।६।।

१.सकाशादेव ख. ग.

ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः।

सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम् ।।७।।

समाधौ भगवान् आविर्भावितः. तत्र क्रियायोगः परिचर्या. अतः समाधिना युक्तेन क्रियायोगेन इति उक्तम्. एवं परिचर्यया सम्यक् प्रपेदे. ततो भजनक्लेशनिवृत्तिः भजनीयगुणात्. तद् आह **हरिम्** इति. ततः प्रेमभक्तिः. तयापि सम्प्रपेदे. भगवान् वा तया कृत्वा प्रपन्नानां वरदाता जातः. **दाशुषं** दातारम्।।७।।

ततो भगवत्साक्षात्कारो जातः इति आह **तावद्** इति.

तावत् प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे।

दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद् वपुः।।८।।

तावता कालेन प्रसन्नः. प्रेम्णा वा प्रपन्नवरदातारं यावत् सेवते, मनःपूर्णा सेवा यावद् न जाता; [१]तन्मध्यएव भगवान् प्रसन्नो जातः इति अर्थः. विलम्बे कारणं **कृते युगे** इति. सहि सत्ययुगे तपः कर्तुम् उपविष्टः. सत्ये तपसा शुद्धान्तःकरणो जातः, ततः त्रेतायां योगसिद्धो जातः; तपस्तु अनुवर्ततएव सर्वत्र. ततो भगवदाविर्भावः. ततो द्वापरे परिचर्या. ततः प्रेम कलौ. तत्र चेद् आविर्भावं प्राप्नुयात्, ततः कलौ उत्पन्ना सृष्टिः असङ्गता स्यात्. [२]अतो जातेऽपि स्नेहे प्रपन्नानां वरदाता इति तदनाशार्थं कृतयुगे प्रादुर्भूतो जातः. तत्रतु न विलम्बः इति द्योतितम्. **तावद्** इति. **पुष्कराक्षः** इति दृष्ट्यैव आप्यायनजनकः. शब्दब्रह्मणा वेदेन निष्पादितं छन्दोमयं, वेदपुरुषो, भगवान्, तादृग्रूपं गृहीत्वा आविर्भूतः, तं दर्शयामास. **क्षत्तः** इति सम्बोधनम् अन्तः पुराद् बहुप्रकारेण प्रभुः आविर्भवति इति भगवतो रूपविशेषे सन्देहाभावाय उक्तम्. यद्यपि तद् अतीन्द्रियमेव, तथापि भगवानेव दर्शयामास. नहि भगवतो अशक्यं किञ्चित्, स्वरूपमेव बहिः अनेकधा कृतवतः।।८।।

एवं दृष्टं भगवद्रूपम् अनुवर्णयति त्रिभिः. **सः तम्** इति.

स तं विरजम् अर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम्।

स्निग्धनीलालकव्रात-वक्त्राब्जं विरजाम्बरम्।।९।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः तम् इत्यत्र. चतुर्दशभगवद्विशेषणतात्पर्यम् आहुः **सृष्ट्यर्थम्** इत्यादि.

१.तावत् क. २.'ततो'इति मां-४,अ.

स्वरूपाभरणोपकल्पैः प्रथमं स्वरूपम् अनुवर्णयति. **सः** कर्दमः, **तं** प्रसिद्धं, दृष्ट्वा **जातहर्षः** सन् **मूर्ध्ना अपतद्** इति सम्बन्धः.

सृष्ट्यर्थं पुरुषार्थार्थं चतुर्दशविधो हरिः।
सृष्टिश्च द्विविधा तस्माद् अतो द्वाभ्यां तु पञ्चधा।।१।।
दशापत्यानि तस्माद् हि एक एव पुमान् यतः।
सर्गे च दोषव्यावृत्तिः पुरुषार्थेषु च स्वयम्।।२।।
शुक्लो हरिः प्रादुरासीद् आद्या नव हिताः सताम्।।३।।

प्रथमतो दोषाभावम् आह **विरजम्** इति. रजोगुणो, रागः, कालुष्यञ्च न अस्ति इति अर्थः. अज्ञानान्धकारजडत्व-व्यावृत्यर्थम् आह **अर्काभम्** इति. अर्को हि देवतामण्डलं नारायणश्च. अर्कस्येव आभा यस्य. सितानि पद्मानि, उत्पलानि च तेषां स्रग् यस्य. अहोरात्र-विकासयुक्त-गणसमूहवान् भगवान् उक्तः. स्निग्धाः नीलाः ये अलकव्राताः तैः आवृतं **वक्राब्जं** यस्य. अनेन भक्तिः सर्वसुखसहिता तस्मिन् प्रकाशिता. सुखञ्च ऐहिकामुष्मिकम् इति अलके विशेषणद्वयम्. विरजं शुक्लम् अम्बरं यस्य, शुद्धाएव वेदभागाः तेन गृहीताः इति. अनेन पूर्णा ज्ञानशक्तिः उक्ता. एवम् [१]अनेन दोषाभावो गुणाश्च त्रिविधाः उक्ताः।।९।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अर्धेन समुदायसङ्ख्याम् उक्त्वा अग्रे विभज्य आहुः **तस्मात्** कर्दमात् **सृष्टिः** सगुण-निर्गुणभेदेन वा, स्त्री-पुंभेदेन वा, **द्विधा.** अतो हेतोः **द्वाभ्यां** श्लोकाभ्यां **तु** पुनः **पञ्चधा** एकैकस्मिन् पञ्च-पञ्च विशेषणानि. पुंस एकत्वे बीजम् आहुः **एकएव** इत्यादि. साङ्ख्यान्तरे यथा पुरुषबहुत्वं, तथा न अत्र इति ज्ञापनाय तथा इति अर्थः. तृतीयपद्योक्त-विशेषणसङ्ख्यातात्पर्यम् आहुः **सर्गे च** इत्यादि. **आद्याः** इति स्त्रियः. **हिताः सताम्** इत्यनेन समानसृष्टिकर्त्र्यः इति बोध्यते. तेन सङ्ख्यया सृष्टि-प्रकाराच्चापि साङ्ख्यान्तराद् वैलक्षण्यम् इति हृदयम्. **विशेषणद्वयम्** इति. अत्र 'स्निग्ध'शब्देन समुदायशक्त्या त्र(व)यो(?)रूपम् ऐहिकं सुखम् उच्यते. 'नील'शब्देनतु निकृष्टा इला भूः यस्माद् इति योगेन आमुष्मिकम् उच्यते इति भावबोधनाय इदं द्वयम् इति अर्थः ।।९।।

१.'एकेन दोषाभावौ' इति मां-४. २.दोषाभावौ' इति मां-४.

पुनः द्वितीयेन राजसान् गुणान् [२]दोषाभावञ्च आह **किरीटिनम्** इति.

किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्ख–चक्रगदाधरम् ।
श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम्।।१०।।

किरीटयुक्तं कुण्डलयुक्तं शङ्खचक्रादियुक्तञ्च.

[१]**वेदान्ते परमं वेद्यं प्रमेयबलमीरितम्।**
साङ्ख्ययौगौ प्रमाणं च तत्त्वानां कार्यतो बलम्।
त्रिविधान्यपि तत्त्वानि प्रोक्तानि त्रिभिरायुधैः।।१।।

भूमौ अवतीर्णो लीलां कुर्वाणः तद्गतदोषयुक्तो भवेद् इति तन्निराकरणार्थं चतुर्थम् आयुधं पद्ममपि परित्यज्य, श्वेतं यद् उत्पलं तदेव क्रीडनकं यस्य, तथा जातः. **क्रीडनकम्** इति वचनाद् भ्रामणं लक्ष्यते. कमले च भ्रामिते जगदेव भ्रामितं स्याद्, उत्पलेतु अज्ञानम्; अतो लीलापि अज्ञाननाशिकैव इति उक्तम्. मनः स्पृशति मनोहरं यत् स्मितं, तत्सहितम् ईक्षणं यस्य. भगवतो मायासृष्टिः च मनस्येव अल्पं किञ्चिद् विकारं जनयति, नतु कायिकादि. अनेन अयं पुत्रो योगभक्तिज्ञानानि च नेष्यति[२] इत्यपि सूचितम्।।१०।।

पुरुषार्थेषु दोषान् निराकुर्वन् आह **विन्यस्ते**ति.

विन्यस्तचरणाम्भोजम् अंसदेशे गरुत्मतः।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम्।।११।।

धर्मे हि मृत्युः श्रमात्मको मृत्युरूपश्च निमित्तभूतश्च कालो बाधको भवति इति तन्निराकरणार्थम्. गरुत्मति काले चरणकमलं भक्तिमार्गं च विन्यस्य स्थितः. **अंसदेशे** इति मोक्षपर्यन्तं भक्तिः उक्ता, शिरः चतुर्थो अंशः इति. **खे** आकाशे[३] स्थितम्, आकस्मिको अर्थः तस्य निरूपितः. वक्षसि श्रीः यस्य, कामो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

किरीटिनम् इत्यत्र. **उत्पलेतु अज्ञानम्** इति. उत्पलस्य रात्रिविकासित्वात् तद्भ्रामणेन तमो अज्ञानरूपं भ्रामितं दूरीकृतं स्याद् इति अर्थः. **नेष्यति** इति. प्रणेष्यति ।।१०।।

श्रमात्मकः इति **''तानि मृत्युः श्रमो भूत्वा उपयेमे''** (बृहदा.उप. १।५।२१) इति श्रुतेः इति अर्थः. **यथेच्छम्** इति. कर्दमेच्छानुरूपः ।।११।।

१.वेदान्तैः' इति मां–४,जु. २.निष्पादितानि क. ३.च्यकाशे क. ग. ङ. 'अवस्थितम्' इति मां–४.

यथेच्छं निरूपितः. कौस्तुभो मणिः कन्धरायां यस्य. जीवाः सर्वे स्वोपरि यथासुखं[1] नयनार्थं स्थापिताः इति सर्वविधा मुक्तिः उक्ता।।११।।

जातहर्षोऽपतन् मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः।

गीर्भिस्त्वभ्यगृणात् प्रीतिस्वभावात्मा कृताञ्जलिः।।१२।।

जातहर्षः इति. अतएव जातो हर्षो यस्य. **मूर्ध्ना क्षितौ अपतद्,** उपरि स्थितस्य तिष्ठन्नेव चरणं न स्पृष्टवान्. दर्शनाकाङ्क्षी च शिरो न नामयेद् इति दोषश्च व्यावर्तितः. समागतो मदर्थमेव इति लब्धो भगवद्रूपो मनोरथो येन. एवं कायिकं मानसिकञ्च भजनम् उक्त्वा वाचनिकं भजनम् आह **गीर्भिस्तु अभ्यगृणाद्** इति. अभितो गृणनं सर्वसिद्धान्तनिरूपणपूर्वकम्. भगवति **प्रीतिः स्वभाव**एव यस्य. अतो भक्त्या गृणनं न वक्तव्यं[2], सर्वकर्मस्वेव भक्तेः विनियोगात्. तादृशः आत्मा यस्य. जीवान्तःकरणस्वभावएव[3] तादृशः इति देहकार्ये दासकार्ये वा स्नेहो अनवच्छिन्नो निरूपितः. प्रार्थनार्थं **कृताञ्जलिः** इति. प्रसृताञ्जलिः उक्तः प्रसादग्रहणार्थम्।।१२।।

नवधा वर्णयामास सृष्ट्यर्थं गुणभावतः।
आद्यास्तु रजसा सत्वे तमसाऽप्यत्र योजितम्।।१।।
द्वाभ्यां सत्वं रजःसत्वात् त्रिभिरन्तिम ईर्यते।
सत्वमिश्रं रजः पूर्वं तमोमिश्रं तथा परम्।।२।।
फलं तु भगवानेव सर्वोत्कृष्टम् इति स्थितिः।
तं परित्यज्य तस्माद्धि प्राप्यं प्रथमम् उच्यते।।३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

गीर्भिः इत्यत्र. **जीवान्तःकरणस्वभावः** इति. जीवान्तःकरणयोः स्वभावः।।१२।।

कारिकासु. आद्याः इति **जुष्टम्** इति आद्याः चत्वारः श्लोकाः, **त्रिभिः** षड्भ्यो अग्रिमैरजःसत्वाद् **अन्तिमे** नवमे रजः सत्वम् उत्तरावधीकृत्य. **पूर्वं** सप्तमे. सत्वमिश्रं रजः. **परम्** अष्टमे **तमोमिश्रं रजस्तथा** तेन प्रकारेण ईर्यते इति अर्थः. आद्यानां चतुर्णाम् अर्थम् आहुः **फलम्** इत्यादि द्वाभ्याम्. तत्र आद्यार्द्धेन प्रथमस्य

१.यथासुखं न यथार्थम् क. यथासुखं यथार्थम् ङ. २.न कर्त्तव्यम् ख. कर्त्तव्यम् क. ङ. वक्तव्यम् घ. ३.एतादृशः ग. च.मां-४

दोषज्ञाने तथा कामे विद्यमाने तु मध्यमः।
विचार्य भगवान् दातेत्यस्य वै शरणं गतः।।४।।

प्रथमं सत्वयुक्त-रजोभावेन भगवानेव परमपुरुषार्थः इति निरूपयति **जुष्टम्** इति.

ऋषिः उवाच[1]

जुष्टं बताऽद्याऽखिलसत्वराशेः सांसिध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनाद् नः।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भिः आशासते योगिनो रूढयोगाः ।।१३।।

नो अक्ष्णोः सांसिद्धयं सम्यक् सिद्धेः भावः, **तव दर्शना**देव **जुष्टं** सेवितम्. सिद्धिः उत्तमा सर्वफलाद्, यतः सर्वाणि फलानि स्वाधीनान्येव भवन्ति. सा च सिद्धिः अस्माकं जाता इति सर्वप्रकारेण भविष्यति इति ज्ञायते. यतः प्रथमम् अक्ष्णोः सिद्धिः जाता, अस्माभिः ज्ञाता; नहि असिद्धा दृष्टिः अधोक्षजं द्रष्टुम् अर्हति. तेन ज्ञायते, अक्षिभ्यां सांसिद्धयम् आधिदैविकी सिद्धिः सेविता इति. अतएव **बत** इति हर्षे. **अद्य** इति अलभ्यलाभोक्तिः. सिद्धयः सर्वाः सत्वकार्याः, अखिलानि च सत्वानि त्वयि राशीभूतानि. तानि चेद् निकटे दृष्टानि, तदा का सिद्धिः अवशिष्येत? इति अभिप्रायेण आह **अखिलसत्वराशेः** इति. **नः** इति सर्वानेव सिद्धान् आत्मत्वेन ज्ञात्वा वदति. एवं दर्शनान्यथानुपपत्या चक्षुषोः सिद्धिः उक्ता. इदानीं दर्शनमेव सर्वसिद्धीनां फलम् इति आह **यद् दर्शनम्** इति. **ईड्य** इति सम्बोधनाद् न इदं स्तोत्रं क्रियते, किन्तु वस्तुस्वरूपमेव तथा इति ज्ञापितम्. भगवतः स्तोत्रं नित्यसिद्धं, सर्वैरेव क्रियते इति. अतः स्तोत्रस्य आश्चर्यत्वाभावाद्, न वाक्यानां स्तोत्रपरत्वम्. **रूढयोगा** अपि, बहुभिः जन्मभिः,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

द्वितीयार्द्धेन द्वितीयस्य. **दोषज्ञाने** इति. दोषं ज्ञात्वा **तथा** इत्यारभ्य तृतीयार्द्धेन तृतीयस्य अग्रे तुरीयस्य इति ज्ञेयम्. **विचार्य** इति. मध्यमत्वं स्वस्मिन् विचार्य इति अर्थः.

जुष्टम् इत्यत्र. **यतः** इति. सिद्धेः सकाशाद् इति अर्थः. **भविष्यति** इति. सिद्धिः भविष्यति. **स्तोत्रम्** इति. असत्समारोपणरूपं स्तोत्रम्. **सूचकत्वेन** इति. सिद्धसूचकत्वेन।।१३।।

१.कर्दमः उवाच. जु.अ.मां-४ पाठः

कायव्यूहमपि कृत्वा, देहदेशकालकृतसन्देहव्यावृत्यर्थं **सद्भिरपि** जन्मभिः यद् दर्शनम् आशासते तेषां सिद्धयः स्वतः सिद्धाः, दर्शनन्तु दुर्लभम् आकाङ्क्षितमेव।।१३।।

एवं भगवद्दर्शनं सूचकत्वेन फलत्वेन च निरूप्य दर्शनानन्तरं दर्शनदातुः सकाशाद् ये अन्यत् कामयन्ति तान् निन्दति **ये मायया** इति.

ये मायया ते हतचेतसस्त्वत्पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम्।
उपासते कामलवाय तेषां रासीश कामाद् निरयेऽपि ये स्युः।।१४।।

ये ते पदारविन्दं कामलवाय उपासते, ते **मायया हृतचेतसः**. बालो हि मायया मोहितो बहुसुवर्णं दत्वा भक्ष्मुष्टिं गृह्णाति तद्वद् इति. तथा ग्रहणे हेतुः **हृतचेतसः** इति. **पादारविन्दम्** इति सुसेव्यता. ननु ये भजन्ति, ते हि कार्यार्थमेव; अतो वरप्रार्थना उचिता इति आशङ्क्य आह **भवसिन्धुपोतम्** इति. [१]सैन्धवः पोतो अस्ति तत्तीरवासिनां परोत्तरणहेतुः; तदर्थमेव तस्य निर्माणाद्, नतु ग्रामवद् भोगार्थे. अतो ये पारगमनेच्छवः तैरेव आरोढव्यः, नतु ग्रामवत् स्थित्यर्थम्. तथार्थम् आरोहे कर्णधारः क्रुद्ध्यति. ये पुनः तत्र कार्यार्थं स्थापिताः, ते भोगं प्राप्नुवन्तोऽपि निरोधेन क्लिष्ट-यातयाम-भोगानेव भुञ्जते. तेतु नरकेऽपि भवन्ति, निरोधादीनां विद्यमानत्वात्. अतः पोतारूढो यथाकथञ्चित् पारएव गच्छेत्. नतु ततो विषयभोगं वाञ्छेत्; तत्र निरोधस्य सहजस्य विद्यमानत्वात्. (क्षणमात्रं प्राप्नोति) कामलवएव तत्र भोगेन भवति. परमदयालुस्तु भगवान् तदपि प्रयच्छति यथा महता कष्टेन पोतारूढः, तत्र-तत्र स्थितकर्णधाराद् भक्ष्यमात्रं प्राप्नोति, महानगराद्यपेक्षयातु तदन्नादिकम् अपकृष्टमेव तद्वद् इति अर्थः।।१४।।

एवं गुणदोषान् ज्ञात्वाऽपि गत्यन्तराभावाद्, उद्यतकामस्य प्रतीकाराभावाच्च आत्मार्थमपि भगवन्तमेव प्रार्थयति **तथा** इति.

तथा स चाऽहं परिवोढुकामः समानशीलां गृहमेधिधेनुम्।
उपेयिवान् मूलम् अशेषमूलं दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य।।१५।।

सच अहम् इति. ज्ञात्वाऽपि प्रकटकामः, अतएव **परिवोढुकामः**.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ये इत्यत्र. **तत्र** इति. पोते इति अर्थः ।।१४।।

१.सिन्धोः ख. घ. ङ. च. 'सिन्धौ' इति मां-४.

स्वयोगबलेन कामिनीः निर्माय न भोगकामः, न वा तथोत्पादिताः ब्रह्मणः कार्ये प्रयोजकाः भवेयुः हीनाः ते. तद् व्यावृत्यर्थम् आह **समानशीलाम्** इति. समानं शीलं यस्याः. तदा पूर्णम् अपत्यं भवति. अनेन भगवता मदानन्देनैव[1] सा निर्मिता भवति इति ज्ञापितम्. किञ्च न केवलं कामार्था, किन्तु धर्मादयोऽपि अपेक्ष्यन्ते. अतो ये **गृहमेधिनो** गृहस्थितबुद्धयो धर्मार्थकामपराः, तेषां **धेनुः** धर्मादिदोग्ध्री. तादृशीं परिवोढुकामः ते **कामदुघाङ्घ्रिपस्य मूलम् उपेयिवान्.** कल्पवृक्षमूले गतः सर्वं प्राप्नोति, यावती शक्तिः कल्पवृक्षे भगवत्स्थापिता, तत्र सिद्धम्. भगवच्चरणारविन्दद्वयन्तु ततो विशिष्टम् इति आह **अशेषमूलम्** इति. नहि कल्पवृक्षः सर्वस्य मूलं, नहि देवहूतिं दातुं समर्थो वा भवति. ननु चित्तशुद्धिं प्रार्थय, सम्पादय वा; किम् अनया इति आशङ्क्य आह **दुराशयः** इति. अन्तःकरणशुद्ध्यभावाद् न सः पक्षः सिद्ध्यति. यथा भवसिन्धुपोतः, तथा कल्पवृक्षोऽपि भवान्; अतो भार्यार्थमपि भजनं युक्तम् इति भावः।।१५।।

ननु अन्तःकरणशुद्धिरेव [2]वरात् कथं न प्रार्थ्यते? किं कामपूरणेन? इति आशङ्क्य आह **प्रजापतेः** इति.

प्रजापतेस्ते वचसाऽधीश तन्त्या लोकः किलाऽयं कामहतोऽनुबद्धः।
अहं च लोकानुगतो वहामि बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम्।।१६।।

न केवलं कामः किन्तु पितुः आज्ञा च. सच वैष्णवः त्वत्पुत्रः. अतः तव यः प्रजापतिः, तस्य वचसा. लोकापेक्षया वा सएव भवान्; यथा ग्रामवासिनां ग्रामाधिपतिरेव महाराजः. लोकानां ब्रह्मवाक्यम् अनुल्लङ्घनीयम् इति आह **ते वचसा तन्त्या अयं** सर्वोपि **लोकः कामहतो अनुबद्धः**. ''**ऋणत्रयम् अपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेद्**''(मनुस्मृति ६।३५) ''**जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिर् ऋणैर्वा जायते**''(तैत्ति.सं.६।३।१०) इति च. एवंविधानि श्रुतिस्मृतिवाक्यानि सकाम-पराणि, अतः सकामश्चेद् अन्यथा कुर्यात् पतेदेव. अतो हे **अधीश!** अनुल्लङ्घ्यसामर्थ्य, सर्वएव लोकः कामहतो अनुबद्धएव. एवं सामान्यतः कामहतस्य ऋणत्रयापाकरणं कर्तव्यम् इति उक्त्वा, स्वस्य लोकत्वाभावेऽपि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथा इत्यत्र. **ते** इति. स्वार्थं योगनिर्मिताः पदार्थाः इति अर्थः ।।१५।।

१.सदानन्दन. क. २.'वरः' इति मां-४.

सकामत्वं लोकानुगतत्वं च वर्तते इति आह **अहं च** इति. हे **शुक्ल!** ते **च बलिं वहामि.** इदम् अधिकं, भक्तो अहमपि यतः. अतः त्रितयकार्यार्थं मह्यं स्त्री देया इति भावः. **शुक्ल!** इति सम्बोधनाद् न संसारकृतः कश्चन क्लेशो भविष्यति इति सूचितम्।।१६।।

एवं लोकानुसारिणं सकामभक्तम् आत्मानं निरूप्य, मुख्यभक्तान् निरूपयितुं तेषां धर्मम् आह **लोकान् च** इति.

लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च हित्वाश्रितास्ते चरणातपत्रम्।
परस्परं त्वद् गुणवादसिन्धु–पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः।।१७।।

मुख्याः भगवद्भक्ताः त्रिधर्माः भवन्ति. प्रथमतो लोकान् त्यजन्ति, तदनु ते चरणातपत्रम् आश्रिताः भवन्ति, निरन्तरञ्च तादृशैः सह तथा भगवद्गुणगानं[1] कुर्वन्ति. यथा देहादीनाम् अस्मरणं भवति. यदि एतद् मध्ये एकमपि न्यूनं भवेद्, न सः वैष्णवो मुख्यः. यथा लोकाः त्यक्तव्याः, एवमेव भगवद्भक्ताअपि लोकानुगताश्चेत् त्यक्तव्याएव. लोकापेक्षयाऽपि एते विशेषतः त्यक्तव्याः इत्यत्र हेतुम् आह **पशून्** इति. अन्धश्चेत् कूपे पतति, युक्तं तत्[3]; चक्षुष्मान् चेत् पतति सः महान् अन्धः इति ज्ञेयम्. त्यक्त्वा[2] पश्चात् चरणशरणता. आतपत्रग्रहणाद् इदानीमिव भगवान् यस्य प्रसन्नो भवति, तथा सति शरणागतश्चेत्, स मुख्यो भवति. स्वतएव गुणकथने रसाविर्भावो न स्याद्, अभिमानश्च स्याद् इति समानाश्चेत् परस्परं वदेयुः. तत्रापि त्वद्गुणानां वादो यत्र; तादृशवाक्समुद्रएव, मथनादिव उद्धृतं यद् अमृतं, तेन कृत्वा नितरां यापिताश्चेत् क्षुत्पिपासादयः. तएव भगवद्भक्ताः, ये कथामृते पीयमाने देहधर्मरहिताः भवन्ति. अमृतं च तदेव यद् देहधर्मनिवर्तकम्. येषाञ्च निवर्तते, तएव त्यक्तलोकाः भवन्ति, अन्येषां तदपेक्षायाः विद्यमानत्वात्. वादः तदैव अन्तः तापं दूरीकुर्याद्; यदि चरणच्छायाम् आश्रितो भवेत्. यस्य च्छायान्तरेण धर्मनिवृत्तिः, अन्नादिना च क्षुन्निवृत्तिः, ते चेद् लोकानुगताः, पतिताएव; तदा **उभयभ्रंशात्.** अतो लक्षणत्रयम् उक्तम्।।१७।।

तथाविधानां फलं वदन् कालादीनाम् अबाधकत्वम् आह **न ते** इति.

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व।

१.'गुणपरनं' इति मां–४. २.त्यक्त्वा' इति नास्ति मां–४. ३.युक्तमेतत् क. ख.

षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि करालस्त्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ।।१८।।

ते[1] **त्रिणाभि कालचक्रम् एषाम् आयुः आच्छिद्य धावद्** न भवति इति सम्बन्धः. कालस्य बलिष्ठत्वम् अनन्यप्रेर्यत्वं वक्तुं प्रवाहत्वेन उच्यते स्वरूपं, चक्रेतु अन्यप्रेरणं भवति. चक्रस्येव वा गतिविशेषस्य प्रवाहत्वं विधीयते. कालचक्रं संवत्सरात्मकम् अविकृते अक्षे अक्षररूपे प्रोतं भ्रमति, नाशकम् इति. समलं त्रयोदशारम् उच्यते. त्रयोदशमासाएव अराः. सारम् एतत् चक्रं, नतु प्रधियुक्तम्. एकैकस्य अरस्य त्रिंशत् पर्वाणि भवन्ति. तथा सति त्रिशतं षष्टि च पर्वाणि यस्य. इदम् आधिदैविकं चक्रं तुल्यमेव, अन्यथा तस्यैव परिवर्तो न स्यात्. आधिभौतिके हि वृद्धिक्षयौ, अतः तावत् पर्वत्वं न अनुपपन्नम्. षड् ऋतवएव नेमयो यस्य. अरास्तु नाभिं नेमिं[2] प्रविशन्ति. अयञ्च त्रिणाभिः भवति सर्पकुण्डलिकावद् नाभित्रयं, परं चत्वारएव अराः एकस्यां नाभौ प्रविशन्ति. अतएव अस्य करालत्वम्. ते च वर्षातप-हिमागमाः नाभिस्थानीयाः. किञ्च **अनन्तच्छदि** च भवति. प्ररोहात्मा च अयं संवत्सरः, यतो अस्य पत्राणि सन्ति, नतु प्राकृतचक्रवत् शुष्ककाष्ठजनितम्, अतो न अस्य कदाऽपि क्षयः. करालं च अस्य स्रोतः, अतएव **जगद् आच्छिद्य धावद्** भवति. लोकमध्ये स्थितौ अवर्जनीयतयापि तस्य आयुः आच्छिद्येत्. तटच्छायाश्रयणेऽपि कदाचित् पातयेत्, परिवृत्तौ तद्गतानां वैकल्यसम्भवात्. तदपेक्षया तन्निकटगमने पातयेदेव. अपेक्षा च कथया चेद् देहधर्मनिवृत्तिः, दैव निवर्तते. एवं द्वाभ्यां भक्तिमार्गनिष्कर्षो निरूपितः।।१८।।

तामसभावेन जगत्कर्तृत्वेन उक्त्वा तं च लीलाविग्रहं मत्वा, तेन च वरं प्रार्थयते **एकः** इति त्रिभिः.

एकः स्वयं सन् जगतः सिसृक्षया द्वितीययात्मन्यधियोगमायया ।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे यथोर्णनाभिः भगवान् स्वशक्तिभिः।।१९।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

न ते इत्यत्र. त्रयोदशारत्वे त्रिशतं नवतिश्च पर्वाणि भवन्ति इति विशेषणयोः विरोधम् आशङ्क्य समादधते **इदम्** इत्यादि. **अतएव** इति. सर्वकुण्डलिकाकारत्वादेव इति अर्थः ।।१८।।

१.तत् क. घ. ङ. २.'नेमिंच' इति मां-४.

त्वम् **एक**एव **स्वयम्**. यदा जगतः सिसृक्षा जाता, तदा तादृशोऽपि **सन्, आत्मनि** स्वाधिष्ठाने, अधिका योगमाया निर्मिता. तदा सा द्वितीया करणत्वेन प्राप्ता, तदा सर्वमेव जगद् **अदो** अव्यक्तरूपमपि **सृजसि, पासि,** पुनश्च **ग्रसिष्यसे**. असहाये करणमात्रापेक्षायां दृष्टान्तः **यथोर्णनाभिः** इति. तथा करणे सामर्थ्यं **भगवान्** इति. ऊर्णांशाः स्वशक्तयः सत्वादयः।।१९।।

सर्वकर्तृत्वात् पालकत्वाच्च स्त्रयादिदानेन सृष्टिकारणं न आश्चर्यं, तथापि भक्तिमार्गे तथा करणं तस्याऽपि आश्चर्यम् इति आह **न एतद्** इति.

नैतद् बताऽधीश पदं तवेप्सितं यन् मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम्।
अनुग्रहायाऽस्त्वयि यर्हि मायया लसत् तुलस्या तनुवा विलक्षितः।।२०।।

एतद् विवाहादिलक्षणं पदं, **तव** अभी**प्सितं न** भवति. **बत** इति खेदे. यतः त्वम् अधीशः, अन्यथापि सर्वां सृष्टिं कर्तुं शक्तः. भक्तेभ्यश्च संसारदायकं **भूतसूक्ष्मम्** अहङ्कारं, तन्मात्रा वा, **यद् नः तनुषे** विस्तारयसि, एतद् न तव ईप्सितम्. सहज–जगन्निर्माणे भक्तार्थं त्वया विषयाः न सृष्टाः इति अर्थः. ननु एवं सति अन्यार्थं निष्पादिताः विषयाः कथं प्रार्थ्यन्ते? तत्र आह **अनुग्रहाय अस्तु** इति. अन्यार्थं कृताअपि अनुग्रहेण अन्यस्मै देयाः, अतएव तद्दानम् **अनुग्रहाय** भवतु. **अयि!** इति सम्बोधनं स्नेहेन. अव्ययञ्च एतत्. ननु अनुग्रहेणाऽपि कथम् अन्यथाकर्तुं शक्यते? तत्र आह **यर्हि मायया** कृत्वा **लसत् तुलस्या तनुवा भवान् वि**शेषेण **लक्षितः**. त्वया न भक्तार्थं स्वार्थं वा किञ्चित् सृष्टं, तत्र परार्थसृष्टैरेव सत्वकार्यैः स्वस्य तनुं सम्पाद्य, तुलस्याद्याभरणानि च गृहीत्वा, विष्णुः अयम् इति चेद् आत्मानं प्रकाशयसि, तदा भक्तमपि यथाभिलषितं विषययुक्तं सम्पादय इति अर्थः. तामसभावत्वेऽपि एवंविधैव सृष्टिः।।२०।।

एवं स्वाभिलषितं ज्ञापयित्वा तद्दानार्थं नमस्यति

तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं स्वमाययाऽऽवर्तितलोकतन्त्रम्।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपादसरोजमल्पीयसि कामवर्षम्।।२१।।

तं त्वेति. सर्वप्रकारेण उक्तं **त्वां नमामि** इति सम्बन्धः. भगवान् हि स्वतो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

न एतद् इत्यत्र. **एवंविधैव** इति. परार्थसृष्टसत्वकार्यनिर्मिता इति अर्थः।।२०।।

अनुभूयमान–स्वानन्देनैव, पूर्णः स्वार्थं कामपि क्रियां न करोति, अतो अनुभूत्यैव उपरतक्रियार्थो भवति. क्रियायाश्च अर्थद्वयं दुःखाभावः [१]स्वसुखञ्च इति. जगत्कारणव्यावृत्तिरपि न तस्य स्वतः, किन्तु मायया इति आह **स्वमायया** इति. बहुधा आवर्तितं लोकतन्त्रं लोकरचना येन; स्वाधीनया माययैव बहुधा सृष्टिः क्रियते इति. अतः एतादृशम् **अभीक्ष्णं नमामि**. इदं च नमनं न अपूर्वम् इति आह **नमनीय**मेव **पादसरोजं** सर्वेषां यस्य इति. प्रकृतोपयोगाय विशिनष्टि **अल्पीयसि कामवर्षम्** इति. अल्पीयस्यपि अर्थे, पुरुषे [२]वा यथेष्टं वर्षति इति. मयातु गार्हस्थ्यमात्रं प्रार्थ्यते, अलौकिकं च दास्यसि इति भावः।।२१।।

अद्भुतकर्मा भगवान् प्रार्थिते सति किं कृतवान्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **इति अव्यलीकम्** इति.

मैत्रेयः[१] उवाच

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभः तमाबभाषे वचसाऽमृतेन।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः।।२२।।

यथाहृदयं कथनाद् अव्यलीकत्वम्. स्वरूपनिरूपणम् एतत्[२]. भगवांस्तु प्रकर्षेण नुतः, तपोभक्त्यादिकन्तु अग्रे[३] फलिष्यति. इदन्तु स्तोत्रं फलमेव इति ज्ञापितम्. **अब्जनाभः** इति जगत्कर्तृत्वादेव करणम् अभीष्टमेव. विषयदाने कदाचिद् मृत्युः भवेद् इति आशङ्क्य **अमृतेन वचसा** इति उक्तम्. तथात्वसिद्ध्यर्थं **सुपर्णपक्षोपरि रोचमान**एव **बभाषे**. 'पक्ष'पदेन कालपक्षपातोऽपि लक्षितः, येन परित्यागादिसाधनानि च कृतवान्. भगवता सह संवादे अस्य मायापगतिः मा भवतु इति स्मितपूर्वं दर्शनं, संसारभावापत्ति–व्यावृत्यर्थं प्रेम च. उद्वीक्षणम् उत्कर्षाधायकं, तदर्थं विभ्रमयुक्ता भ्रूः यस्य. मोक्षे देहपरित्यागः उत्कर्षाधायको भवति. एवं सर्वमेव भाव्यर्थं सूचयन् बभाषे इति अर्थः।।२२।।

स्वसिद्धान्तं कामनायाः पूरणं द्विविधं तथा।
तव च त्वत्पितुश्चैव मदाज्ञा न्यास एव च।
एवं कृते त्वहं तुष्टः पुत्रस्ते भविता शुभः।।१।।

१.सुखम् ख. ग. २.वा कामं यथेष्टं' इति मां–४,जु.अ. ३.ऋषिरुवाच. पाठः. ४.स्वस्वरूप...ग. ५.स्वर्गे. क.

द्वाभ्यां भगवच्छास्त्रसिद्धान्तम् आह **विदित्वा** इति.

श्रीभगवान् उवाच

विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत्।
यदर्थम् आत्मनियमैः त्वयैवाऽहं समर्चितः।।२३।।

भक्तस्य हृदये कामः तदैव स्याद् यदा पुरा।
भगवान् पूरकं कुर्यात् सिद्ध एव हि[१] साधनम्।।१।।
अतो हि सर्वमार्गाणां भगवन्मार्ग उत्तमः।
सफलान्येव सर्वाणि साधनान्यत्र सर्वदा।।२।।

तव चैत्यं चित्तभावं **विदित्वा,** त्वद् याचनात् पूर्वमेव, **तद् मया समयोजि.** किं त्वया योजितम्? इति आशङ्क्य भयाभावार्थम् आह **यदर्थम्** इति. यत्कामनार्थम् **आत्मनियमैः** तपस्यादिभिः सह भक्त्या **त्वयैव अहं समर्चितः**. यदि मया तद् न कृतं स्यात् तदा अन्तर्यामिप्रेरणया अहमेव त्वया कथम् अर्चितः स्याम्! अतो मदर्चनायाः सफलत्वाय पुरैव मया कृतं, सफलैव [२]उत्पद्यताम् इति।।२३।।

ननु अर्चना पश्चात् कुतो न फलति? इति आशङ्क्य आह **न वा** इति.

न वै जातु मृषैव स्यात् प्रजाध्यक्ष मदर्हणम्।
भवद् विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मसु।।२४।।

मदर्चनं कदाचिदपि **मृषा** फलरहितं न स्यात्, कालभेदेनाऽपि मद्भजनस्य न फलाभावसम्बन्धः. भगवच्छास्त्रे अदृष्टादेः अभावाद्, भगवतो व्यापारत्वाभावात्, तदानीं फलानि न भवेयुः, भजनस्य निवृत्तत्वात्. सामग्री पूर्वसिद्धा कामिता इति न समकालमपि फलोत्पत्तिः. सर्वेष्वेव पक्षेषु फलस्य एको अंशो बाध्येत, यदि पूर्वं न क्रियेत. अतो मद्भजनस्य स्वभावएव तादृशः इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

न वै जातु इत्यत्र. **कालभेदेनापि** इति. जीवकृतं याञ्चा. साधनता-निर्वाहक-पूर्वकालरूपेणापि इति अर्थः. तथाच ''भगवद्भजने फलसाधनता-प्रतीतिव्यवहारौ व्यापकावाहनन्यायेनौपकारिकौ'' इति भावः. **समकालम्** इति याञ्चासमकालम् इति अर्थः ।।२४।।

१.च इति क. तु. ङ. २.'उत्पत्स्यताम्' इति मां-४.

पूर्वमेव फलजननम्. किञ्च, अभक्तेषु मदर्हणम् अन्यथापि भवेद्, भक्ति-विरोधात्. भवद्विधेषुतु अन्यथाभावशङ्का न अस्त्येव इति आह **भवद्विधेषु** इति. **अतितरां** सर्वथा न केनापि अंशेन अन्यथाभावः. तमेव प्रकारम् आह **मयि संगृभितात्मसु** इति. मयि सम्यग् गृभितो गृहीतः आत्मा येषां तेषु।।२४।।

एवं सिद्धान्तकथनेन सामान्यतः तस्य कामनां पूरयित्वा विशेषतः पूरयति **प्रजापतेः** इति चतुर्भिः

प्रजापतेः सुतः सम्राट् मनुर्विख्यातमङ्गलः।
ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम्।।२५।।

श्वशुराधिक्यकथनं तत्समागमएव च।
कन्यादानं ततः कन्यारुचिस्त्वयि[1] च वर्ण्यते।।१।।

प्रथमं मनोः उत्कर्षम् आह **प्रजापतेः** ब्रह्मणः **सुतः** अनेन उत्तमो वंशो निरूपितः. **सम्राड्** इति राजा, सम्पत्तिः उक्ता. **मनुः** इति धर्मः. **विख्यातमङ्गलः** इति कीर्तिः. विख्यातं मङ्गलं सदाचारो यस्य. देशस्वधर्मौ आह **ब्रह्मावर्ते** देशे अभितो वसन् सप्तार्णवामेव पृथिवीं शास्ति. ''**सरस्वती-दृषद्वत्योर्-देवनद्योर् यदन्तरम्, तद् देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते**''(मनुस्मृ.२।१७) इति. इदानीं कुरुक्षेत्रम् इति प्रसिद्धम्. एवं मनुः सर्वतः उत्कृष्टः उक्तः।।२५।।

तस्य आगमनम् आह स्वयं[2] **सच इह** इति.

स चेह विप्र राजर्षिः महिष्या शतरूपया।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः।।२६।।

नहि भक्ताः स्वयं याचन्ते. **विप्र!** इति सम्बोधनम् आगते स्वागत-करणार्थम्. विप्राः हि पश्चिमबुद्धयः, असम्मानने अभिमानो दोषो भवेत् तदभावार्थं सम्बोधनेन उपदेशः. **राजर्षिः** इति योग्यता. भार्यायाअपि सम्मत्यर्थं तया सह आगमनम्. तस्याः प्रतिबन्धकत्वाभावाय विचक्षणत्व-निरूपणार्थं **शतरूपया** इति उक्तम्. विवाहस्य अज्ञातत्वाद् **दिदृक्षुरेव त्वाम् आयास्यति.** अयं च अर्थो न अतिदूरः इति आह **परश्वः** इति. **धर्मकोविदः** इति. ''**अभिगम्य स्वयं कन्याम् अलङ्कृत्य यथाविधि, सद्वराय प्रयच्छेद् यः स [3]कूकुद इति स्मृतः**''[4] (   )

१.त्वपि. ग. २.स्वयम् इति नास्ति. ख. घ. ङ.मां-४. ३.'कोविदः' इति मां-४,अ,जु.
४.''सत्कृत्यालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकुदः'' (अमरकोश.३।१।२९)

अतः कन्यादानधर्मं जानाति इति।।२६।।

आगत्य कन्यां दास्यति इति आह **आत्मजाम्** इति.

आत्मजाम् असितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम्।

मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो! ।।२७।।

पिता हि कन्यादाने मुख्यो अधिकारी. **असितापाङ्गीम्** इति स्वभावतो नेत्रप्रान्तकार्ष्ण्यं सर्वसल्लक्षणसूचकम्. **वयः** तारुण्यं, **शीलं** पातिव्रत्यं, गुणाः स्त्रीलक्षणानि. विरक्तायाः विवाहानौचित्यात्. **पतिं मृगयन्तीम्** इति. त्वमपि तादृशः इति **अनुरूपाय ते दास्यति. प्रभो!** इति सम्बोधनं स्वसामर्थ्यं तत्र दत्तवान् इति ज्ञापनार्थम्. अतः स्त्रीणां यावान् अपेक्ष्यते भोगपदार्थः सः सर्वोऽपि मया दत्तः इति बोधितः।।२७।।

एतद् अज्ञानेऽपि सा त्वां भजिष्यति इति आह **समाहितम्** इति.

समाहितं ते हृदयं यत्रेमान् परिवत्सरान्।

सा त्वां ब्रह्मन् नृपवधूः काममाशु भजिष्यति ।।२८।।

यस्यां देवहूत्यां **ते हृदयं** सम्यग् आहितम्. **इमान् परिवत्सरान्** इति दशसहस्रसङ्ख्याकान्. अत्यन्तसंयोगे द्वितीया. **सा** देवहूतिः **त्वां भजिष्यति.** ऋषिर्हि राजकन्यायाः न रोचते, तथापि मदिच्छया भजिष्यति. **ब्रह्मन्** इति निरूपितार्थसंवादार्थम्. **नृपवधूः** नृपकन्या. वधूरिव सुरक्षिता, पितृगृहे चाञ्चल्यसम्भवात् तन्निवृत्यर्थम् उक्तम्. **कामं** यथासुखम् नतु अतिक्रमेण रतिः [१]प्रीतये भवति इति उभयोरतिः उक्ता।।२८।।

या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति।

वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यत्यञ्जसात्मनः।।२९।।

या ते इति. ततः त्वया सर्वभावेन सा भोक्तव्या. भिन्न-भिन्नभावेन स्थापितान्यपि बीजानि स्वसामर्थ्याद् एकधा एकभावापन्नम् आत्मनि धृतं नवधा प्रसविष्यति. ताः नवापि कन्याएव भविष्यति. ततः **त्वदीये वीर्ये** कन्यासु, मरीच्यादयः **ऋषयः आत्मनः** पुत्रान् **आधास्यन्ति.** अतः तेभ्यो देया इति भावः।।२९।।

१.'प्रीतयोः' इति मां-४,अ.जु.

त्वया च ततः सन्न्यासो ग्राह्यः इति आह **त्वं च** इति.

त्वं च सम्यग् अनुष्ठाय निदेशं म उशत्तम।
मयि तीर्थीकृताशेष–क्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे॥३०॥

नतु यावद् जीवं श्रुत्यनुरोधेन गार्हस्थ्येनैव स्थातव्यम् इति भावः. मम आज्ञा पूर्वोक्तैव. **त्वं च** इति. **च**कारः त्वर्थे. सापि प्रपत्स्यते इति ज्ञापितम्. **निदेशम्** आज्ञां, **सम्यग्** उक्तप्रकारेण **अनुष्ठाय मां प्रपत्स्यसे** इति सम्बन्धः. **उशत्तम!** इति सम्बोधनं मत्प्रवेशयोग्यतार्थम्. ननु कर्मणां विद्यमानत्वात् कथं भगवति प्रवेशः? तत्र आह **मयि** इति. **तीर्थीकृताः** तीर्थे समर्पिताः **अशेषक्रियार्थाः** येन, तादृशो मां प्रपत्स्यसे इति अर्थः॥३०॥

ततः पूर्वम् अभिज्ञापकं तव ज्ञानं भविष्यति इति आह **कृत्वा** इति.

कृत्वा दयां च जीवेषु दत्वा चाऽभयम् आत्मवान्।
मय्यात्मानं सह जगद् द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम्॥३१॥

सर्वसाक्षात्कारो हि तस्य अभिज्ञापकं, ब्रह्मविदएव भगवत्प्राप्तिः. ज्ञानस्य च निदर्शनं "**यस्मिन् विदिते सर्वम् इदं विदितम्**"(शाण्डिल्योप.२।२) इति. तस्यापि निदर्शनम् आह **जीवेषु दयां कृत्वा अभयञ्च दत्वा** इति. स्वयं [१]च ब्रह्मभावम् आपन्नः, अन्येतु तद्रहिताः दीनाः दयापात्रं भवन्ति. आत्मत्वे स्फुरितेतु अभयदानं च आत्मविदो हि तत्कृत्यम्. तद् आह **आत्मवान्** इति. आत्मवत्वं नाम मूलचिद्रूपस्य स्वस्मिन् आविर्भावः. इन्द्रियजयः तत्र न उपयुज्यतएव, पूर्वमेव सिद्धत्वात्. तदा सर्वाधिष्ठानत्वेन मां पश्यति इति आह **मयि आत्मानं सह जगद्** इति. भगवति स्वात्मानं जगच्च द्रक्ष्यसि. **आत्मनि, च**काराद् जगति च मां द्रक्ष्यसि. एतावता आधाराधेयभूतो भगवान् ज्ञातः, स्वाधारश्च इति पूर्णब्रह्मज्ञानं तस्य उक्तम्॥३१॥

एवं तस्मै आज्ञाम् उक्त्वा तदङ्गीकारे स्वस्य प्रसादम् आह **सहे**ति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कृत्वा इत्यत्र. **आत्मवान्** इत्यस्य जितान्तःकरण इति अर्थोक्तौ बाधकम् आहुः **इन्द्रिये**त्यादि ॥३१॥

---

१. 'हि' इति मां–४,जु,अ.

सहाऽहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम्।।३२।।

स्वांशकलया सह. अंशाः आनन्दरूपाः, भगवतः तएव स्वांशभूताः. जीवास्तु अंशाः, कलाः ज्ञानक्रियाशक्तयः. तत्र आनन्दांशो ज्ञानकलासहितः. **त्वद् वीर्येण** सह, **तव क्षेत्रे देवहूत्यां, तत्त्वसंहितां** साङ्ख्यसिद्धान्तप्रतिपादिकां **प्र**कर्षेण **नेष्ये** कथयिष्यामि. वीर्यक्षेत्रसम्बन्धएव, नतु जीववद् उत्पत्तिः अस्ति इति. पुराणे वेदवद् मूलसंहिताः चतस्रः, साङ्ख्य–योग–पशुपतिमत–वैष्णवसिद्धान्त–प्रतिपादकमन्त्ररूपाः. सर्वाण्येव पुराणानि तस्याः अपेक्षित–षडङ्गभूत–कालादिप्रतिपादकानि ब्राह्मणस्थानीयानि. तत्र मूलसंहिताः कालेन ग्रस्ताः इति, तत्र आद्यां प्रकाशयिष्यामि इति अर्थः. स्वस्य अंशस्य वीर्यस्य च अभेदप्रतिपादनाय प्रथमतएव **सह** इति उक्तम्. **महामुने!** इति सम्बोधनं तथातु अधिकारज्ञापनाय।।३२।।

एवं कामनां पूरयित्वा, स्वसन्निधाने जीवस्य कामना न सिद्ध्यति इति, भगवान् वरं दत्वा प्रस्थितः इति आह द्वाभ्यां **एवम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

एवं तमनुभाष्याऽथ भगवान् प्रत्यगक्षजः।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात्।।३३।।

तं कर्दमम् **अनुभाष्य.** करिष्यति सर्वं स्वयमेव, अनुभाषणमात्रन्तु क्रियते. **अथ** भिन्नप्रक्रमेण. पूर्वं दयापरीतः समागतः इदानीं भक्तम् उद्धृत्य पूर्णमनोरथइव गतः. अतो भिन्नप्रक्रमः. तस्मिन् स्थापितं ब्रह्मभावं गृहीत्वा गतः इति ज्ञापयितुं **भगवान्** इति उक्तम्. पुनः आविर्भावः कदा भविष्यति इति आशङ्क्य तामेव अवस्थां कथयन्निव भगवन्तं विशिनष्टि **प्रत्यगक्षजः** इति. प्रत्यग् भूतेषु अक्षेषु आविर्भवति इति. यदैव अयम् अन्तर्मुखो भविष्यति, तदैव भगवदाविर्भावः इति अर्थः. तद्धि तीर्थं बिन्दुसरः इति भगवतैव निर्मितं, सरस्वती च ब्रह्मदैवत्या, तया च परिश्रितम्. भगवद्भावः सृष्टिश्च द्वयं तत्र सिद्धं [१]भवति इति. स्थानादेव तस्य द्वयं सेत्स्यति इति सरस्वतीपरिवेष्टिताद् बिन्दुसरसो जगाम इति उक्तम्।।३३।।

अन्यचित्ते तदानीं देशोऽपि अनुपयुक्तो भविष्यति इति, हृदये भगवत्स्थापनार्थं च निरीक्षतएव तस्य सतो ययौ इति आह **निरीक्षतः** इति.

निरीक्षतस्तस्य ययावशेष–सिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः।
आकर्णयन् पत्त्ररथेन्द्रपक्षैः उच्चारितस्तोममुदीर्णसाम।।३४।।

अशेषसिद्धेश्वरैः अभितः स्तुतः, **सिद्धः** स्वतएव सिद्धो **मार्गो** यस्य, वैकुण्ठमार्गो वा. सिद्धैः मृग्यते इति भगवतो गमनागमने च सिद्धानां सम्मते. अतो भगवति गते न तस्य काचिद् अप्रतिष्ठा, पुनरागमनसम्भवात्. सिद्धैः सह भगवतो व्यवहारएव तादृशः. सर्वसम्मतिः अत्र इति 'अशेष'पदम्. येषामपि सिद्धिः जाता, स्वयं च सिद्धिदातारः, तेषामपि भगवन्मार्गो अभीष्टदः, ततोऽपि अधिकफलापेक्षित्वात्. ननु सिद्धेश्वराः भगवन्तं निरन्तरं स्तुवन्ति इति तेषां स्तोत्राणि अश्रुत्वा कथं गतः? इति आशङ्क्य आह [1]**पत्त्ररथस्य** गरुडस्य, **पक्षैः** पृष्टरूपैः बृहद्रथन्तरादिभिः **उच्चारितः स्तोमः** स्तोत्रियसमुदायो यस्मिन्. **उदीर्णं**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निरीक्षतः इत्यत्र. **पृष्टरूपैः** इति. ''**अभित्वाशूरनो नुमः**'' (ऋग्वेदसं. मं.७।३२।२२) इति, ''**कयानश्चित्रे**''(ऋग्वेदसं.मं.४।३१।१)ति, ''**तं वोदस्म-मृतीषहम्**''(ऋग्वेदसं.मं.८।८८।१) इति, ''**तिरोभिर्वा(?)वदद् वस्तुम्**'' (   ) इति सूक्तचतुष्टयानि, क्रमेण रथन्तर-वामदेव्यानौध-सकालेयसामभिः माध्यन्दिनसवने गीयमानानि 'पृष्ट'शब्दवाच्यानि तद्रूपैः इति अर्थः. 'पृष्ट'शब्दनिरुक्तिश्च स्पर्शनात् पृष्टानि इतिरूपा द्रष्टव्या. **स्तोत्रिय-समुदायः** इति. पृष्टेषु सप्तदशःस्तोमो भवति, तस्य विष्टुतिः च एवम् आम्नायते. ''**पञ्चभ्यो हिंकरोति स एकया तिसृभिः स एकया सप्तभ्यो हिंकरोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिः**''(ताण्ड्यब्राह्म.३) इति. हिंकरोति गायति इति अर्थः. अत्र प्रथमावृत्तौ प्रथमायाः त्रिरभ्यासो द्वितीयावृत्तौ मध्यमायाः तृतीयावृत्तौ मध्यमो-त्तमयोः एवं कृते गाने सप्तदशस्तोमः. ईदृशो गीयमान-मन्त्रसमुदायः इति अर्थः. **त्रिवृदादयः** इति. त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदशैकविंशाः चत्वारः. तल्लक्षणं विस्तरभयाद् न लिख्यते.

१.'पत्त्रं रथो यस्य गरुडस्य'' इति मां–४.

यत् **साम,** ऋगधिरूढगीतम्[1]. त्रिवृदादयः स्तोमाः चत्वारः, बृहदादयोऽपि. तत्र ऋचः प्रधानभूताः. पक्षैः उदीर्णं यत् साम तद् **आकर्णयन्** इति सम्बन्धः. **उच्चारित–स्तोमम्** इति विशेषणम्. अतो वेदैः साक्षाद् भगवानेव स्तूयते तदेव[2] च शृणोति. अन्येतु मार्गानेव स्तुवन्ति इति भावः।।३४।।

एवं भगवत्कृतम् उक्त्वा [3]तथैव इदं जातम् इति आह **अथ** इति.

अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवान् ऋषिः।
आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन्।।३५।।

अथ आनन्तर्यवाचकः. यस्मिन्नेव क्षणे शुक्लनारायणः प्रस्थितः, तदैव मनुः स्वगृहाद् निर्गतः. कर्दमोऽपि ऋषित्वात् तमर्थं जानन्, भगवत्वात् च अदीनः सन्, **तं कालं परिपालयन्ने**व स्थितः. कदा दिनद्वयं यास्यति इति. दीनो हि तत्र प्रयत्नं कुर्यात्. कामापेक्षयापि भगवद्वाक्यं महद् इति विश्वासो भगवद्भावापन्नस्यैव।।३५।।

मनुस्तु सभार्यः समागतः इति आह **मनुः** इति.

मनुः स्यन्दनम् आस्थाय शातकौम्भपरिच्छदम् ।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यो व्यचरन् महीम्।।३६।।

शातकौम्भपरिच्छदम् इति सौवर्णपरिकरयुक्तं स्यन्दनं विवाहं सूचयति. **आरोप्य स्वां दुहितरम्** इति विवाहे कृतनिश्चयः. अन्तर्यामिप्रेरणया तत् तथैव भविष्यति इति विनिश्चित्य, स्वकन्यायाः न अन्यः प्रष्टव्यः इति दम्पत्योः प्राधान्यात् **सभार्यः,** देयत्वेन तां गृहीत्वा, ताम् अज्ञापयन्, तस्याः पश्चात् कौतुकदर्शनं न भविष्यति इति **महीं व्यचरत्.** उत्तमस्थानानि सर्वाणि प्रदर्शितवान् इति अर्थः।।३६।।

एवं दिनद्वयम् अतीतम्. तृतीये दिवसे कुरुक्षेत्राद् बिन्दुसरसि समागतः इति आह **तस्मिन्** इति.

तस्मिन् सुधन्वन्नहनि भगवान् यत् समादिशत्।
उपायाद् आश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत् ।।३७।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

बृहदादयः इति. सर्वे सामविशेषाः. **तत्र** इति. सामसु इति अर्थः ।।३४।।

१.'समधिरूढ क. ङ २.तदेव शृणोति क. ख. ३.'तदुक्तं तथैव जातम्' इति मां–४

हे **सुधन्वन्!** इति स्वपौरुषं ख्यापयन् स्वस्य जितेन्द्रियत्वं बोधयति इति विदुरप्रतीत्यर्थं सम्बोधनम्. भगवदाज्ञा न अन्यथा भवति इति तस्मिन्नेव दिने समागतः. **यद् भगवान् समादिशद्,** नतु काकतालीय-न्यायेन तदा समागतः. एतद् व्यावृत्त्यर्थमेव भगवदाज्ञाकीर्त्तनम्. **आश्रमो** यस्मिन् **पदे** देशे, तम् **उपायात्** तस्य निकटे समागतः. ननु तपसा तप्यमाने तस्मिन् तत् तेजसा कथं निकटे गतः? इति तत्र आह **शान्तव्रतस्य** इति. परिसमाप्तं तपोलक्षणं व्रतं यस्य. **तत्** प्रसिद्धम्. न ज्ञानार्थं प्रश्नापेक्षा।।३७।।

भगवन्निरूपितकालः सएव इति निरूप्य, देशोऽपि भगवत्कृतः इति आह **यस्मिन्** इति.

यस्मिन् भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम्।।३८।।

बिन्दुसरोनिरुक्तिः ततएव, बिन्दवः सरसि यस्मिन् इति. तेषां बिन्दूनाम् उत्पत्तिम् आह **यस्मिन्** सरसि **भगवतो नेत्राद् अश्रुबिन्दवो न्यपतन्.** बिन्दुपाते निमित्तं **कृपया सम्परीतस्य** इति. कृपायां निमित्तं **प्रपन्ने अर्पितया** इति. शरणागतश्चेत् क्लिष्टः, तदा तत्र कृपा भवति. कृपया यो व्याप्रियते स्वस्थानात् प्रच्याव्यते. तदा नेत्राद् बिन्दवो भवन्ति. भगवान् स्वकृपां शरणागतेष्वेव अर्पितवान्, अतो न दीनमात्रे भगवतो दया, यतः प्रपन्नाय दत्तवान्, तद् आह **अर्पितया** इति. **भृशम्** इति सर्वभावेन।।३८।।

एवं देश-कालयोः भगवन्निरूपितत्वम् उक्त्वा भगवत्कृपाकार्यं तस्मिन् देशे वर्णयति कन्यायाः [1]सुखस्थित्यर्थम्. **तद्वै बिन्दुसरः** इति षड्भिः

तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिश्रितम्।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम्।।३९।।

भगवद्गुणकृतत्वाय **'बिन्दुसरः'** इति नाम प्रसिद्धम्. **सरस्वत्या परिश्रितम्** इति. तत्र धर्मसिद्धिः. 'परिप्लुतम्' इति पाठे सरस्वतीमध्यएव कालीयह्रदइव तत् कुण्डम्. प्रथमतो जलं वर्णयति **पुण्यम्** अदुष्टजनकम्. **शिवम्** आरोग्यकरम्. **अमृतं** स्वादु. प्रमाणम् आह **महर्षिगणसेवितम्** इति. महर्षयो ये

१.सुखस्यात्यर्थम् क. सुखप्रीत्यर्थे. घ. सुखंस्फोत्यर्थं. ङ.

सर्वपदार्थयाथात्म्यद्रष्टारः तेषां सङ्गेन **सेवितम्,** अतो महाफलमेव एतद् जलम्।।३९।।

जलप्रान्तभागं ऋषिगणसेवितत्वेन उक्त्वा, तस्याऽपि वेष्टनरूपं वनम् अनुवर्णयति[१] **पुण्ये**ति.

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम्।।४०।।

द्रुमाः वृक्षाः, **लताश्च** स्वभावतोऽपि पुण्याः आम्रादयः द्राक्षादयश्च, पुण्यजनकाश्च. **पुण्याः** तत्फलभक्षकाः कूजन्तो **मृगाः** हरिणादयः, **द्विजाः** मयूरादयश्च यत्र. तत्र[२] तादृशानि **द्रुमलतानां जालानि** तैः कृत्वा **सर्वर्तुषु** तत्स्थानं **फलैः, पुष्पैश्च आढ्यम्.** वनपङ्क्तिश्च तत्र शोभमाना[३] परितः. तद् आह **वनराजिश्रियान्वितम्** इति।।४०।।

एवं धर्मजनकत्वं वनस्य निरूप्य रसालत्वं निरूपयति **मत्ते**ति.

मत्तद्विजगणैर्जुष्टं मत्तभ्रमरविभ्रमम्।
मत्तबर्हिनटाटोपम् आह्वयन् मत्तकोकिलम्।।४१।।

द्विजगणाः पक्षिगणाः. सर्वएव तत्रत्यरसेन **मत्ताः**. [४]अतएव तल्लोभेन सेवन्तएव, अतः तैः **जुष्टम्. मत्तानां भ्रमराणां, विभ्रमो** विलासः, मधुररणनं, गतिविशेषो वा यत्र. **मत्ताः** ये **बर्हिणः** तएव **नटाः** नर्तकाः तेषाम् **आटोपः** सम्भ्रमो यस्मिन्. निश्चिन्तता अहिंसकत्वात् तेषां निरूपिता. **आह्वयन्तो मत्ताः कोकिलाः** यस्मिन्।।४१।।

एवं रसालतां निरूप्य पुष्पप्रधानान् वृक्षान् गणयति **कदम्बे**ति.

कदम्ब–चम्पकाशोक–करञ्ज–बकुलासनैः।
कुन्द–मन्दार–कुटजैश्चूत–पोतैर् अलङ्कृतम्।।४२।।

आसनोऽपि वृक्षः पुष्पप्रधानः. **चूतपोताः** सूक्ष्माम्राः, तैरपि **अलङ्कृतम्** ।।४२।।

कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः।
सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम्।।४३।।

१.वनमुपवर्णयति. ग. २.एतन् न अस्ति. ख. ग. ३.शोभायमाना. ख. ग. ४.'अनेन' इति मां–४.

कारण्डवैः इति. **कारण्डवादयः** पक्षिविशेषाः, तैः **वल्गु** यथा तथा [1]उपकूजितम्।।४३।।

तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्–गवय–कुञ्जरैः।।
गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैः नकुलैर्नाभिभिर्वृतम्।।४४।।

तथैव इति. **हरिणादयो** मृगविशेषाः तैः **वृतम्. क्रोडः** सूकरः. **श्वावित्** शल्लकः. [1]गोपुच्छादयः मर्कटविशेषाः, **हरयः** सिंहाः, वानराः वा. **नाभिभिः** कस्तूरीमृगैः।।४४।।

तादृशं[3], वनं निःशङ्कं प्रविश्य तत्र विद्यमानं मुनिं दृष्टवान् इति आह **प्रविश्य** इति.

प्रविश्य तत्तीर्थवरम् आदिराजः सहानुगः।
ददर्श मुनिम् आसीनं तस्मिन् हुतहुताशनम्।।४५।।

बिन्दुसरसो निकटे तस्य पर्णशाला; अतएव **तीर्थवरं प्रविश्य** इति उक्तम्. नदीम् उत्तीर्य तदाश्रमे गतः इति 'प्रविश्य' इति पदाद् ज्ञायते. तीर्थश्रैष्ठ्य–परिज्ञानार्थम् **आदिराजः** इति उक्तम्. **आदिराजो** मनुः. **सहानुगः**[2] ससेवकः, राजत्वपरिज्ञानार्थम्. दूरादेव **ददर्श. हुतो हुताशनो** येन. अनेन कर्मसमाप्तिः सूचिता।।४५।।

कन्यादानयोग्यत्वाय वर्णयति सार्द्धाभ्यां **विद्योतमानम्** इति.

विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा चिरम्।
नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात्।
तद्व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन च।।४६।।

उग्रयुजा तपसि वपुषा विद्योतमानम्. उग्रो युग् योगो यस्य. तपसि तस्य महान् योगः, तपसः परमधर्मत्वात् चिरकालकृतेनापि तपसा वपुः विद्योतमानमेव. अनेन वर्णोत्तमता निरूपिता. कृशत्वं परिहरति **न अतिक्षामम्** इति. **भगवतो** यत् **स्निग्धापाङ्गावलोकनं** तेन अत्यन्तं न कृशः. "**दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः**" (भाग.पुरा.२।१।३१) इत्यादिवाक्याद् भगवत्कटाक्षः सर्वपदार्थजनको भवति.

१.तैरुपकूजितम्. ग. ङ. 'तैर्वल्गुकूजितम्' इति मां–४ २. मर्को मर्कटः तद्विशेषा गोपुच्छाः. क.
१.एतादृशं. ख. ग. ङ. २.सदानुजः क. घ. ङ.

सहि देहपुष्टिमपिजनयेत्. दुरन्तत्वव्यावृत्यर्थं स्निग्धता निरूपिता. देहे स्थूलत्वापादकाः अवयवाः भगवत्स्नेहसहितदृष्ट्या जनिताः इति न उत्तरत्र अन्यथाभावः. ते च अवयवाः कियन्तएव भवन्ति इति न अतिक्षामता. साक्षाद् दृष्टिजनितत्वाय सर्वावयवेषु दृष्टिसम्बन्धार्थं बहुवचनम्. तथापि आसन्यो न तृप्यति इति कारणान्तरमपि आह **तद्व्याहृते**ति. भगवतो यद् **व्याहृतं** वाक्यं, सएव **अमृतकलः** चन्द्रः, तस्य आसमन्ताद् यत् **पीयूषं,** तस्य **श्रवणेन च.** भगवद्वाक्यं निरन्तरामृतोत्पत्तिरूपम् इति वाक्यश्रवणेनापि पुष्टिप्रतिपादनार्थम् अमृतकलत्वेन निरूपितम्. अतो न अत्र द्रविडमण्डकः. तत्रापि प्रयोजकं रूपं वक्तुं अमृतकलप्रयोगः. तस्य च श्रवणमात्रम् इति न अतिक्षामता. अन्यथा पुष्टिरेव उक्ता स्यात्. **च**काराद् अलौकिक-कृपया।।४६।।

एवं दोषाभावम् उक्त्वा गुणान् वर्णयति **प्रांशुम्** इति.

प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम्।
उपसंसृत्य मलिनं यथार्हणम् असंस्कृतम्।।४७।।

प्रकृष्टाः **अंशवः** पर्वाणि यस्य. आजानुबाहुत्वं यज्ञियत्वञ्च निरूपितम्. **पद्मपलाशवद् अक्षिणी** यस्य इति. सौन्दर्यं प्रकृतोपयोगि. **जटिलं चीरवाससम्** इति तपः ऋषित्वज्ञापकं सत्वाय. **उपसंसृत्य** निकटे गत्वा ददर्श इति पूर्वेणैव सम्बन्धः. अथवा **उप** निकटे **संसृत्य** संसारं प्राप्य **मलिनम्.** कामेन हि प्राणिनो मलिनाः भवन्ति. ''**धूमेनाव्रियते वह्निः**''(भग.गीता ३।३८) इति वाक्यात्. तत्र दृष्टान्तम् आह सहजदोषत्वाभावाय, **यथार्हणम् असंस्कृतम्** इति. महारत्नम् अनिर्णिक्तं यथा स्वभावतः उज्ज्वलमपि बहिः संस्काराभावे न सुवर्णे योजयितुं शक्यते. तथा अत्र प्रकृते विद्योतमानम् इति विशेषणविरोधाद् ऋषीणां तथात्वस्य बाधकत्वाभावाद् द्वितीयः पक्षः।।४७।।

एवं दूराद् दृष्टं तं वर्णयित्वा तस्य लौकिकधर्मं वक्तुम् आह **अथोटजम्** इति.

[1]अथोटजं प्रत्यायान्तं नृदेवं प्रणतं पुरः।
सपर्यया [2]पर्यगृह्णात् प्रतिनन्द्याऽनुरूपया।।४८।।

१.'सहोटजम् उपायान्तम्' इति मां-४. २.प्रत्यगृह्णात्' इति मां-४.

पर्णशालां **प्रत्यायान्तं** राजानं **पुरः** पादसमीपे **प्रणतं,** क्षत्रियस्य तथैव धर्मः इति राजपूजार्थं पूर्वमेव सम्पादितया **सपर्यया** [१]**पर्यगृह्णात्. प्रतिनन्द्य** आशीर्भिः कुशलप्रश्नैः वा तुल्यताज्ञानार्थं च. **अनुरूपया** महाराजयोग्यया [१]अर्घ्यादिरूपया इति अर्थः. परिग्रहो हि आत्मीयतया गृहे नयनम्।।४८।।

एवं बहिः तस्य पूजां विधाय, आधिनिराकरणार्थं सर्वसन्देहनिवृत्यर्थञ्च वाचा पूजां कृतवान् इति आह **गृहीतार्हणम्** इति.

गृहीतार्हणम् आसीनं संयत्तं प्रीणयन् मुनिः।
स्मरन् भगवदादेशम् इत्याह श्लक्ष्णया गिरा।।४९।।

ऋषिदत्तां पूजां स्वीकृत्य स्थितं ज्ञात्वा अग्रिममपि स्वीकरिष्यति इति निश्चित्य **सम्यग् यत्तं** सावधानं विनीतं, **प्रीणयन्** इति प्रथमं स्तोत्रं कुर्वन्. **मुनिः** इति भाव्यर्थज्ञाता. तथापि निश्चयरूपेण कथं तदुक्तं करिष्यामि इति प्रतिजानीते. सः चेद् अन्यदेव किञ्चिद् वदेद् इति आशङ्क्य आह **स्मरन् भगवदादेशम्** इति. ''**आत्मजामसितापाङ्गीम्**'' (भाग.पुरा.३।२१।२७) इति भगवद्वाक्यात् कन्यां दातुमेव अयम् आगतः. लज्जया च स्वयं न वक्ष्यति. अतः स्वयमेव **श्लक्ष्णया** मनोहरया वाचा अग्रिमवाक्यरूपम् इदम् आह. वाक्यान्येव आह सप्तभिः. यद्यपि त्वया किमर्थम् आगतम् इति न प्रष्टव्यं प्रसङ्गादपि आगमनसम्भवात्. प्रसङ्गश्च वक्तव्यः षड्भिः, तथापि विशेषाकारेण मत्समीपम् आगतः इति लक्षितः इति तथात्वे यद् भवान् आज्ञापयिष्यति तत् करिष्यामि इति समुदायार्थः।।४९।।

प्रसङ्गम् आह **नूनम्** इति.

कर्दमः उवाच

नूनं चङ्क्रमणं देव! सतां संरक्षणाय ते।
वधाय चासतां यत्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी।।५०।।

हे **देव!** तव **चङ्क्रमणं सतां संरक्षणाय, असतां वधाय च.** देव! इति सम्बोधनम् उपपादयति **यत्** यस्मात् **त्वं** हरेः **पालिनी शक्तिः ''स्थाने अथ धर्मः**''( ) इति वाक्यात्, सताम् असताञ्च अनुग्रह-निग्रहौ स्वतन्त्रौ धर्मत्वात्. नतु एकार्थम् अन्यत्।।५०।।

१.' ऋद्ध्यादिरूपया' इत्यपि पाठः

ननु लोकपालकैरेव पालने सिद्धे किं मन्वादिभिः? इति आशङ्क्य, परिपालिकां शक्तिं निरूपयन् तथा कर्तारं भगवन्तं नमस्यति **यो अर्के**ति.

योऽर्केन्द्वग्नीन्द्र–वायूनां यमधर्मप्रचेतसाम्।

रूपाणि स्थान आधत्ते तस्मै शुक्लाय ते नमः।।५१।।

यः अर्कादीनां लोकपालानां **रूपाणि, स्थाने** तत्तत्कार्यावसरे, मनुशरीरे वा **आधत्ते, तस्मै ते शुक्लाय नमः** इति. अयं शुक्लनारायणएव मनौ तिष्ठति इति; तस्मै नमः. सर्वाणि रूपाणि अन्यः तत्र स्थापयितुं न शक्नोति. न वा भगवत्स्थितिव्यतिरेकेण तत्र सर्वदेवतासान्निध्यं भवति; अतो मनुम् अधिष्ठाय पालनार्थं भगवानेव स्थितः।।५१।।

विपरीते बाधकम् आह चतुर्भिः. साधनाभ्यां फलाभ्याञ्च स्वतश्च सेनया च परिपालनं द्वयेन, सेतुधर्मरक्षा अधर्मनिवृत्तिश्च फले. प्रथमतः स्वतो रक्षाभावं बाधकत्वेन आह **न यदा** इति.

न यदा रथम् आस्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम्।

विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन् अघान्।।५२।।

यदा त्वं **जैत्रं रथम् आस्थाय न** पर्यटसि तदा सेतवो [१]नश्येरन् इति सम्बन्धः. रथस्य मुख्यासनत्वम्. **जैत्रम्** इति जयशीलम्. अनेन न क्वापि पराभवशङ्का. **मणिगणार्पितम्** इति महाराजयोग्यत्वाद् दृष्ट्वैव भयम् असतां ज्ञापितम्. **विशेषेण स्फूर्जच्चण्डः कोदण्डो** यस्य. अनेन धनुष्टङ्कारेण दूरादेव भयं जनयति इति ज्ञापितम्. पापानां पापिष्ठानां न मारणं शस्त्रेण किन्तु, रथेनैव त्रासं जनयन्।।५२।।

दुष्टानां बहुत्वात् तदर्थं साधनान्तरमपि आह **स्वसैन्ये**ति.

स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन् मण्डलं भुवः।

विकर्षन् बृहतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव।।५३।।

स्वसैन्यानां चतुर्विधानां **चरणैः क्षुण्णं भुवो मण्डलं वेपयन् महतीं** सेनां दृष्ट्वैव[२], महान्तो दोषाः निवर्तन्ते इति [३]भूकम्पन–निमित्तान्तरत्वज्ञानाभावाय

१.'भिद्येरन्' इति मां–४. २.दृष्ट्वापि. ग. ङ.जु.मां–४ दृष्ट्वा. ३.भूकम्पनं. ग. भूकम्पने. ख. घ. ङ.मां–४

बृहतीं सेनां विकर्षन् तत्र-तत्र नयन्. पूर्वोक्तधर्मं धर्माधर्मनिवृत्तिसाधकत्वेन निरूपयन् दृष्टान्तम् आह **अंशुमानिव** इति. स हि सहस्रकिरणः तमो दूरीकरोति. अग्निहोत्रादिधर्मञ्च जनयति. नहि सूर्ये अनुदिते कश्चिद् धर्मादिः सेत्स्यति ।।५३।।

तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः।
भगवद्रचिता राजन् भिद्येरन् बत दस्युभिः।।५४।।

तदैव इति. **तदैव सर्वे सेतवो** मर्यादाः **वर्ण**कृताः **आश्रम**कृताश्च **भगवद्रचिताः**. औदासीन्याभावाय **राजन्!** इति, तस्य स्वधर्मः इति ज्ञापितम्. **दस्युभिरेव भिद्येरन्**. चौरभये वर्णाश्रमवतां भीतत्वाद् न मर्यादा सिद्ध्यति इति।।५४।।

अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति।।५५।।

अधर्मः इति. न केवलं धर्महानिरेव किन्तु, **अधर्मश्च समेधेत** वृद्धिं गच्छेत्. **च**कारात् पाखण्डधर्माअपि. तत्र हेतुः **लोलुपैः** इति. धर्मे निरन्तरं क्रियमाणे इन्द्रियाणि व्यापृतानि भवन्ति, तदा लौकिके भोगे न आसक्तानि भवेयुः. अन्यथातु आसक्तानि योग्यैः कामैः अपूर्णानि अयोग्ये लोलुपानि भवन्ति. तथापि राजभयं चेद्, न कार्यनिष्पत्तिः स्यात्. अन्यथातु अतिप्रसङ्गः स्यादेव इति आह **व्यङ्कुशैः** इति. विगतो अङ्कुशो नियामको येषाम्. **नृभिः** इति. तएव हि भगवदाज्ञोल्लङ्घकाः वेदेन उक्ता अशनप्रसङ्गे. राज्ञो द्वय्यवस्था; विषयभोगः, परिपालनञ्च. आद्यैव[1] शयनम्. यदि च उभयोः समता यदि वा कालविभेदेन व्यवस्था, यदि वा भोगप्राधान्यं, सर्वप्रकारेणापि **त्वयि शयाने** सति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अधर्मः इत्यत्र. **अशनप्रसङ्गे** इति. तैत्तिरीयब्राह्मण-प्रथमाष्टके. "**तस्मात् त्रिरह्नः पशवः प्रेरित(?)**"(तैत्ति.ब्रा.) इत्यादिना सर्वेषां अशनकालकथने तस्माद् विरह्नो मनुष्येभ्यः उपह्रियते इति उक्ते तत्प्रसङ्गे ।।५५।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे एकविंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

१अद्यैव. क. ख. घ. ङ.

अयं लोको दस्युभिरेव ग्रस्तः, आच्छिन्नदारद्रविणः स्वरूपादपि **विनङ्क्ष्यति.** अतः त्वया पर्यटनम् अवश्यं कर्तव्यम्. अतः प्रसङ्गाद् आगमनम्. अत्रापि चोरादिनिराकरणार्थं च।।५५।।

अथाऽपि पृच्छे त्वां वीर! यदर्थं त्वम् इहागतः।
तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा।।५६।।

अथापि इति. हे **वीर!** स्वधर्मनिष्ठ! **यदर्थं त्वम् इह आगतः** तत्प्रयोजनं पृच्छामि. मां प्रार्थयितुम् इति यदि; तदा तद् वाक्यं **निर्व्यलीकेन हृदा प्रतिपद्यामहे** स्वीकुर्महे. नतु त्वत्प्रार्थनां न करिष्यामि इति सन्देहः. एवं वचनं हि भगवत्प्रसादादेव महाराजादपि उत्कर्षवचनात्।।५६।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षित-विरचितायां तृतीयस्कन्धे एकविंशाध्यायविवरणम्।

।। द्वाविंशाध्यायविवरणम् ।।

द्वाविंशे कर्दमस्यार्थः सिद्धस्त्रीधनरूपवान्।
अयमेवैन्द्रियगणः कृष्णार्थं सुविनिश्चितः।।१।।
अर्थस्य सत्वं चाख्यातुं मनोधर्मस्य वर्णनम्।
भगवत्कृपयैवार्थ उत्तमो नान्यथेति च।।२।।
आकूतिः पुत्रिकात्वेन दत्ता येन निजेच्छया।।
स एवात्यन्तदैन्येन देवहूतिं प्रयच्छति।।३।।
कृतकृत्यं च मनुते ततो धर्मं च सेवते।
यज्ञश्रवणभेदेन द्विरूपमपि सर्वदा।।४।।

पूर्वाध्यायान्ते ''त्वद्वाक्यं कर्तव्यम्'' इति ऋषिमुखात् श्रुत्वा, सन्तुष्टो विज्ञापयितुम् आदौ तं स्तौति इति आह **एवम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

एवम् आविष्कृताशेष–गुणकर्मोदयो मुनिम्।
सव्रीड इव तं सम्राड् उपारतम् उवाच ह।।१।।

आविष्कृताः प्रकटीकृताः सर्वे **गुणाः कर्माणि, अभ्युदय**श्च यस्य, गुणकर्मणां वा अभ्युदयो यस्य. गुणोदयः सर्वदेवाधिष्ठानात्. धर्माधिपालनात् कर्माभ्युदयः. अन्यथाकथनं व्यावर्तयति **मुनिम्** इति. **सव्रीडइव** स्वकीर्ति–श्रवणात्, प्रत्याख्यानशङ्कया वा कन्यार्थं प्रार्थनायामपि. **सम्राड्** इति. महतः सर्वमेव वचनं शोभाकरम्. **उपारतं** तूष्णीम्भूतम्. उप समीपे कन्यायाम् आसमन्ताद् रतं वा. **ह** इति आश्चर्ये. नहि महाराजः कञ्चिद् एवं प्रार्थयति।।१।।

प्रथमं ब्राह्मण–क्षत्रिययोः विवाहो न उचितः इति आशङ्क्य, भगवत्कृतएव तयोः सम्बन्धः इति अन्योऽन्योपकारेण तुल्यताम् आपादयति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ द्वाविंशाध्यायं विवरिषवो अवसरएव अत्र सङ्गतिः इति अर्थनिरूपण-मुखेन ताम् आहुः **द्वाविंशे** इत्यादि. **ऐन्द्रियगणः** इति. इन्द्रियग्राह्या मात्रा **ऐन्द्रियाः** तासां **गणः.** तथाच संवादद्वयेऽपि स्वस्वविचारेण अवसरः सङ्गतिः इति अर्थः. अवान्तरार्थसङ्गतिम् आहुः **अर्थस्य** इत्यादि. **सत्वम्** इति. साधुत्वम्. ''**सद्भावे साधु-भावे च सद् इत्येतत् प्रयुज्यते**''(भग.गीता१७।२६) इति गीतावाक्यात्. शेषं स्फुटम्.

ब्रह्माऽसृजद् इति त्रिभिः.

मनुः उवाच

ब्रह्माऽसृजत् स्वमुखतो युष्मान् आत्मपरीप्सया।
छन्दोमयस् तपोविद्या–योगयुक्तान् अलम्पटान्॥२॥

प्रथमतो **ब्रह्मा** वेदमयः **स्वमुखतो युष्मान्** ब्राह्मणान् **असृजत्. आत्मपरीप्सया** आत्मनः स्वस्य वेदस्य पर्याप्तुम् इच्छया, रक्षार्थं वा. ब्राह्मणव्यतिरेकेण वेदानां यज्ञानां वा पर्याप्तिः पूर्तिः न भवति. **छन्दोमयः** इति सर्ववेदात्मकः. ते ब्राह्मणाः त्रिविधाः; [1]तपोयुक्ताः, योगयुक्ताः, भगवदुपासना–युक्ताः वा. त्रितययुक्ताः मुख्याः. **अलम्पटान्** इति विषयलाम्पट्यं ब्राह्मणानां दोषः, तपस्यादयो गुणाः॥२॥

एवं गुणदोषाभावयुक्तान् ब्राह्मणान् निरूप्य क्षत्रियान् निरूपयति **तत्त्राणाय** इति.

तत् त्राणायाऽसृजत् चाऽस्मान् दोःसहस्रात् सहस्रपात्।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रम् अङ्गं प्रचक्षते॥३॥

ब्राह्मणानां त्राणाय **अस्मान्** क्षत्रियान् **दोःसहस्रात्.** वरेण अन्यस्यापि सहस्रबाहवो भवन्ति इति तद् व्यावृत्यर्थम् आह **सहस्रपाद्** इति. वेदो हि ब्राह्मणेषु स्थितो भगवता रक्ष्यते. रक्षणे च बाहवः करणम्. तत्र जाताः क्षत्रियाः. शब्दप्राधान्येन ब्राह्मणानां सृष्टिः, अर्थप्राधान्येन क्षत्रियाणाम् इति योनिभेदोऽपि विवाहार्थः सूचितः. उभयोः अन्योऽन्योपयोगम् आह **हृदयं तस्य हि ब्रह्म** इति. **तस्य** भगवतः, **ब्रह्म** ब्राह्मणाभिमानिनी देवता, **हृदयम्** अन्तःकरणम्, आत्मा मध्यम् इति यावत्. **क्षत्त्रं** क्षत्त्रियाभिमानिनी देवता, **अङ्गम्** अवयवाः. **प्रचक्षते** इति प्रमाणम्. यथा अङ्गव्यतिरेकेण आत्मा अवसीदति एवम् आत्मव्यतिरेकेणापि अङ्गानि अवसीदन्ति॥३॥

अतो ह्यन्योन्यम् आत्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः ।
रक्षति स्माऽव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः॥४॥

अतः इति. **अतो अन्योन्यं ब्रह्म च क्षत्त्रञ्च रक्षतः.** तथा सति

१.'विद्यायुक्ताः' इति अधिकं मां–४,जु

आत्मानमेव रक्षतः. **हि** युक्तो अयम् अर्थः. यो हि आत्मार्थं अन्यान् पालयति; सहि आत्मानमेव पालयति. एवम् अन्योन्यपालनम् उक्त्वा उभयोः साकाङ्क्षत्वेन पालकत्वम् आशङ्क्य स्वतन्त्रेण भगवता पाल्यमानाः अन्योन्यं पालयन्ति इति वक्तुम् आह **रक्षति स्म** इति. **सहि देवः** स्वतन्त्रः सर्वानेव पालयति. पालने हेतुः **सदसदात्मकः** इति. सर्वात्मकोऽपि निर्विकारः इति आह **अव्ययः** इति. **स्म** इति प्रमाणम्. एवञ्च भगवता कृत्वा यथा अन्योन्यरक्षा तथा काम–कन्यकाभ्यामपि उभयोः रक्षा कर्तव्या. तव कामो अस्माभिः पूरणीयः कन्यादानेन अस्मत्कामोऽपि त्वया पूरणीयो विवाहेन इति भावः।।४।।

सः कामो विवाहात्मकएव इति वक्तुम् अन्यानि [१]फलान्येव वचनादेव सिद्धानीति तानि गणयति **तव सन्दर्शनादेव** इति त्रिभिः

तव सन्दर्शनादेव छिन्ना मे सर्वसंशयाः।
यत् स्वयं भगवान् प्रीत्या धर्मम् आह रिरक्षिषोः।।५।।

ब्राह्मणानां स्थाने राजादयो धर्मनिर्णयार्थमपि आगच्छन्ति; तद् अस्माकं प्रथमतएव जातम्. यतः **तव सन्दर्शनादेव सर्वे संशयाः संछिन्नाः**. एवमेव तपः कार्यं, भगवत्सेवा च. तथा सति एवं प्रसन्ने भगवति सर्वएव पुरुषार्थः सेत्स्यति, न अन्यथा इति. पूर्वं ये सन्देहाः स्थिताः सर्वार्थेषु, ते सर्वे त्वद्दर्शनेनैव जातेन निश्चयेन छिन्नाः इति अर्थः. को धर्मो राज्ञाम्? इत्यपि सन्देहो गतः इति आह **यत् स्वयम्** इति. यद् यस्माद् दर्शनानन्तरं **प्रीत्या रिरक्षिषोः** पालकस्य, पालनेच्छोः वा; [२]**भगवानेव** धर्मम् आह. अतः क्षत्रियाणां धर्मः प्रजापालनं परमो धर्मः इति. अतो वाक्यादेव धर्मसन्देहो गतः।।५।।

महापुरुषाणां दर्शनमेव स्वतन्त्रफलम् इति चेत्; तदपि वचनव्यतिरेकेणैव जातम् इति आह **दिष्ट्या** इति.

दिष्ट्या मे भगवान् दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम्।
दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम्।।६।।

भगवान् भवान् **अकृतात्मनां** [३]**दुर्दर्शोऽपि मे** मया **दिष्ट्या दृष्टः**. यैः सङ्घातात् पृथग् आत्मा न कृतः, भगवदर्थं वा अन्तःकरणं न कृतं; ते

१.'फलानि तव वचनादेव' इति मां–४,जु. २.भवानेव क.ख.घ.ङ.जु.अ.मां–४. ३.दुर्धर्षोऽपि. क.

अकृतात्मानः. आत्मयोग्यदेहार्थं वा यैः भूतानि न संस्कृतानि तादृशस्य तव दर्शने परलोकोपयोगि सर्वमेव कार्यं सिद्धम् इति परलोकसन्देहोऽपि गतः. पापक्षयार्थं प्रायश्चित्तम् इति किमपि न प्रष्टव्यम् इति आह **दिष्ट्या** इति. ते **पादरज**एव **शिवं** कल्याणरूपं **मे** मया **शीर्ष्णा स्पृष्टं** मच्छिरसा वा. ''**पुनन्तु मां ब्राह्मण–पादपांसवः**''([1]संस्कारमालायां) इति सर्वप्रायश्चित्तापेक्षया इदमेव वरम्. किञ्च, न केवलं पापनिवर्त्तकं किन्तु कल्याणकरमपीति **शिवम्** इति उक्तम्. शिरसा चेत् स्पृष्टम् अङ्गानामपि पापं गच्छत्येव, प्रधानत्वात्. दैवगत्या जातम् इति दिष्ट्या।।६।।

ब्राह्मणो हि क्षत्त्रियम् अनुशास्ति. यथा आचार्यो अन्तेवासिनं ''**सत्यं वद**''(तैत्ति.उप.१।११।१) इत्यादिभिः. तदपि अवचनादेव जातम् इति आह **दिष्ट्या** इति.

दिष्ट्या त्वयाऽनुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान् ।
अपावृतैः कर्णरन्ध्रैः जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः।।७।।

वचनव्यतिरेकेण प्रजापालनं कर्तव्यम् इति धर्मोऽपि उपदिष्टः. ''**तद् द्वयं निर्व्यलीकेन**''(भाग.पुरा.३।२१।५६) इति वाक्याद् **अनुग्रहश्च कृतः**. महतां मुखाद् भगवद्गुणाः श्रोतव्याः इत्यपि अस्माकं जातम् इति आह **अपावृतैः** इति. ''**यो अर्केन्द्वग्नीन्द्रे**''(   )ति. एते हि भगवतः सर्वपालकाः गुणाः; तत्प्रतिपादकाएव कमनीया **गिरः** ताः पुनः शब्दान्तरैः आवरणरहितैः **कर्णरन्ध्रैः** अकस्माद् भाग्येनैव **जुष्टाः** सेविताः।।७।।

एवं सद्दर्शनेन यावद् भाव्यं तावत् सर्वं जातम्. अतःपरम् अन्यद् विज्ञापयामि इति आह **सः भवान्** इति.

स भवान् दुहितृस्नेह–परिक्लिष्टात्मनो मम ।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने ।।८।।

सामान्यतः इयं प्रार्थना. **सः** महान् भवान्. ''**कन्यापितृत्वं दुःखाय**'' इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दिष्ट्या इत्यत्र. **अवचनाद्** इति. प्रश्नं विनैव इति अर्थः।।६।।

१.''समस्तसंपत्समवाप्तिहेतवः समुत्थितापत्कुलधूमकेतवः, अपारसंसारसमुद्रसेतवः पुनन्तु मां ब्राह्मणपादपांसवः''

न्यायेन दुहितृस्नेहेन परितः क्लिष्टः आत्मा यस्य. न केवलं दुहितृमात्रं बाधकं किन्तु स्नेहइति तथा उक्तम्. **मम** इति दीनतायाम् अयोग्यता, अतः कृपा. **मुने!** इति प्रकृतार्थपरिज्ञानाय सम्बोधनम्. **श्रावितं** विज्ञापितं, नारदादिद्वारा भगवता वा पूर्वं श्रावितं, श्रवणार्थम् उक्तं वा।।८।।

एवं श्रोतव्यम् इति उक्त्वा तद्वाक्यम् आह **प्रियव्रते**ति.

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम ।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः।।९।।
यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वै पिता ।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया।।१।।

भ्रातुः अभावे विवाह्या न भवति इति **प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसा** इति उक्तम्. [1]उभयोश्च कीर्तनं ''**न एकः पुत्रः पुत्रो भवति**''(   ) इति वाक्यात्. पिता प्रसिद्धः इति वक्तुं **दुहिता मम** इति उक्तम्. अकामायाः कामनम् अयुक्तम् इति **अन्विच्छति पतिम्** इति. दोषाभावाय **युक्तम्** इति. कामार्थं योगो मा अस्तु इति वक्तुं **वयःशीलगुणादिभिः** इति उक्तम्. वयः कामार्थं, शीलं धर्मार्थं, गुणाः अर्थार्थाः. 'आदि'शब्देन ज्ञानादयो मोक्षार्थाः।।९।।

एवं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं स्त्रियाः सर्वं पुरुषाधीनम् इति तादृशं पतिं वाञ्छति. [2]तादृशः कश्चिद् अन्यः तया मनसा स्वीकृतः स्यात्, तथापि निषिद्धा इति तन्निवृत्तिं वदन् त्वदग्रहणे न अस्त्येव अस्याः पतिः इति अभिप्रायेण आह **यदातु** इति.

यदा तु भवतः शील–श्रुतरूपवयोगुणान् ।
अशृणोद् नारदाद् एषा त्वय्यासीत् कृतनिश्चया।।१०।।

सर्वान् वरान् स्वयोग्यान् श्रोतुं प्रवृत्ता यदातु भवतः शीलादिकं श्रुतवती ततः प्रभृति **त्वय्येव कृतनिश्चया आसीत्. शीलम्** आचारः, **श्रुतं** विद्यादिजनितज्ञानं, **रूपं** सौन्दर्यं, **वयः** तारुण्यं, **गुणाः** औदार्यादयः. एतान् यदा **अशृणोत्.** नारदो हि देवकार्यकर्ता प्रसङ्गम् उत्पाद्य वदति. **त्वय्येव कृतो निश्चयः** मम अयमेव पतिः इति।।१०।।

१.'उभयोस्तु' इति मां–४,जु. २. तादृशश्चेदन्यः ख. ग. ङ. 'तादृशश्चेत्' इति मां–४,जु.

एवमपि सति पित्रधीना कन्या इति. पित्रा देया इति मया दीयमानां गृहाण इति आह **तत्प्रतीच्छ** इति

तत्प्रतीच्छ द्विजाग्र्येमां श्रद्धयोपाहृतां मया ।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधेषु कर्मसु ।।११।।

द्विजाग्र्येति. ब्राह्मणानां पित्रादिदत्तायाएव[1] विवाहो मुख्यः, नतु गान्धर्वादिः इति सूचितम्. **इमाम्** इति कालान्तरविवाहं व्यावर्तयति. रूपप्रदर्शनेन प्रलोभयति च ''श्रद्धया दत्तम् अनभिप्रेतमपि गृह्णीयाद्'' इति ग्रहणार्थम् आह **श्रद्धया उपाहृताम्** इति. **सर्वात्मना अनुरूपाम्** इति. भगवता त्वदर्थमेव निर्मिता इति ज्ञापितं, नतु साधारणी. न केवलं कामार्थम् अनुरूपा किन्तु **गृहमेधेषु कर्मसु.** गृहेषु मेधा बुद्धिः यैः, यैश्च कर्मभिः गार्हस्थ्यं सिद्ध्यति इति अर्थः।।११।।

एवं कन्याविषयकं सर्वम् उपपाद्य वरविषयकम् उपपादयति **उद्यतस्य** इति त्रिभिः.

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शक्यते ।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः।।१२।।

बहिर्गतो हि विषयः कामे सत्येव गृह्यते ।
उभयोर्योगसिद्धौ हि विश्लेषोऽशक्यएव च ।।१।।

उभयोः काम-काम्ययोः 'एक'पदेन निरूपणम् ऐक्यबोधाय. **उद्यतस्य** कार्योन्मुखस्य **प्रतिवादो** निराकरणं **न शक्यते** कर्तुम्. न शक्यते इति अर्थात्[2]. सएव वा शक्तिविषयो न भवति. उद्यतस्य स्वतः प्राप्तस्य कामस्य काम्यविषयस्य वा प्रतिवादो न अस्ति. सङ्गत्यागेन कामः काम्यं वा निराकर्तुं शक्यते इति आशङ्क्य आह **अपि निर्मुक्तसङ्गस्य** इति. कामेन रक्तस्य व्यापृतस्य प्रतिवादो दूरापास्तः इति किं वक्तव्यम् इति अर्थः।।१२।।

कामे उद्यतानङ्गीकारे बाधकम् आह **यः उद्यतम्** इति.

य उद्यतम् अनादृत्य कीनाशम् अभियाचते।
क्षीयते तद् यशः स्फीतं मानश्चाऽवज्ञया हतः।।१३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उद्यतस्य इत्यत्र. कारिकायाम्. **उभयोः** इति. काम-काम्ययोः ।।१२।।

---

१. दत्त एव. क. ङ.जु.अ. २. इति अर्थः. ग.

उद्यतं स्वतः प्राप्तम् अनङ्गीकृत्य; अनुद्यतं **यो अभियाचते** तस्य स्फीतमपि यशः क्षीयते. **मानश्च अवज्ञया हतो** भवति. अनुद्यतम् इति वक्तव्ये **कीनाशं** कृपणम् इति वचनं; महतोऽपि अनुद्यतत्वसूचनार्थम्. कृपणगतएव विषयः सर्वेषाम् अप्राप्यो भवति. कृपणो हि विषयमपि अदत्वा कीर्तिञ्च ख्यापयति स्वोत्कर्षार्थम्. अतः **तद् यशः क्षीयते. स्फीतमपि** इति कृपणजनिताकीर्तेः[१] पुष्टत्वात्. एवं बहिः अपवादम् उक्त्वा आन्तरमपि उपचारम् आह **मानश्च** इति. "**मानो हि महतां धनम्**"(चाणक्यनीति ८।१) इति. अङ्गीकृतग्लानौ माननाशो असह्यः. **हतः** इति पुनः प्ररोहाभावाय।।१३।।

एवं काम्यनिराकरणे बाधकम् उक्त्वा तस्मिन् कामनां साधयति **अहम्** इति.

अहं त्वाऽशृणवं विद्वन्! विवाहार्थं समुद्यतम्।
अतस्त्वम् उपकुर्वाणः प्रत्तां प्रतिगृहाण मे।।१४।।

त्वां विवाहार्थं समुद्यतम् इति **अहम**एव साक्षाद् **अशृणवम्. विद्वन्!** इति सम्बोधनम् अयुक्तनिराकरणाय. विवाहं कृत्वैव कामः पूरणीयः इति. अतो विवाहेच्छुः ब्रह्मचारी उपकुर्वाणो भवति. सएव पित्रादिभ्यः उपकरोति इति सावधिब्रह्मचारी **उपकुर्वाणः. प्रत्तां** दत्तां प्रकर्षेण भार्यात्वेन गृहाण. **मे** मया इति।।१४।।

भगवद्गुणाएव अत्र अङ्गीकारे हेतुः इति षड्भिः अङ्गीकारम् आह **बाढम्** इति.

कर्दमः उवाच

बाढम् उद्वोढुकामोऽहम् अप्रत्ता च तवाऽऽत्मजा।
आवयोरनुरूपोऽसौ आद्यो वैवाहिको विधिः।।१५।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यः उद्यतम् इत्यत्र. **महतोऽपि** इत्यादि. रूढवयसोऽपि कर्दमस्य अनुद्यतत्वसूचनार्थम्. तथाच इदानीं मदनादरे अग्रे अन्यो न तव अनादरः इति अर्थः ।।१३।।

---

१. जनितकीर्तेः. क.

इयं हि भगवद्दासी 'भग'शब्दनिरूपिता।
ऐश्वर्यादिप्रसिद्ध्यर्थम् अस्या वर्णनम् उच्यते।।१।।
अनङ्गीकरणे त्वस्याः स्वतः कामेन बाधनात्।
तुल्यत्वं चाभिलषितम् अत आद्यो निरूपितः।।२।।
धर्मो वीर्यं द्वितीयेन विध्यादरणवर्णनात्।
यशो हि वर्ण्यते तस्या विश्वावसुनिरूपणात्।।३।।
कान्त्याधिक्यस्य कथनाद् लक्ष्म्याश्चैव निराकृतेः।
सोमसम्बन्ध एवोक्तो गन्धर्वस्तु ततः स्फुटः।।४।।
लक्ष्मीवद् वर्णनं तस्याः श्रियम् इच्छेद् धुताशनात्।
इति वाक्याच्च तस्यापि सम्बन्धो विनिरूपितः।।५।।
ज्ञानवैराग्ययोर्वाक्ये स्पष्ट एव निरूपिते।
अतोऽस्या वर्णनं तत्र न निषिद्धम् इति स्थितिः।।६।।

बाढम् इति वचनं विवाहे प्रसिद्धम्. "**बाढं वृणीध्वम्**"( ) इति वचनात्. अव्ययम् एतत्. यथासुखम् इति अर्थे, सत्यार्थे वा. अहन्तु वोढुकामएव. तव च **आत्मजा** कन्या न कस्मैचिद् दत्ता.

दत्तायास्तु विवाहोऽत्र लौकिकः परिकीर्तितः।
अप्रत्ताया विवाहो हि ब्राह्म एव निरूपितः।।१।।

उद्वोढुकामः इति वचनाद् ममापि पूर्वं न विवाहः. अतः आवयोरपि अयम् **आद्यो वैवाहिको विधिः** विवाहसम्बन्धी अपूर्वजनकः प्रकारः.

"दत्तामपि हरेत् कन्यां श्रेयांश्चेद् वर आव्रजेत्।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

बाढम् इत्यत्र. कारिकासु. पितुः अग्रे पुत्रीसौन्दर्यवर्णनं लोकविरुद्धम्. श्रीक्षेपनिरूपणञ्च वैष्णवत्वविरुद्धम् इति शङ्कायां तस्याः दूषणत्वाय आहुः **इयम्** इत्यादि षड्भिः **भगे**त्यादि. 'भग'शब्दवाच्यैकदेशश्रीकोटौ निरूपिता. अतः इति शेषः. **आद्यः** इति. ऐश्वर्यरूप एकदेशः. श्रीक्षेपादिकथनस्य प्रयोजनान्तरम् आहुः **लक्ष्म्याः** इत्यादि. तथाच भगिनीत्वनिवृत्यर्थं तथाकथनम् इति अर्थः. शेषं स्फुटम्. **वाक्ये** इति. वाक्यद्वयम्. **अतः** इति. एतैः लक्षणैः भगवद्दासीत्वात्. **तत्र** इति. अङ्गीकारावसरे ।।१५।।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते सति।

पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिर् अन्यो विधीयते''

(विष्णुधर्मोत्त.पुरा.२।८७।१०)इति वाक्यात्. आपदि विवाहः प्राजापत्यश्च सन्तत्यर्थं निरूपितः सो अत्र निराक्रियते विधिः भूयाद् इति।।१५।।

केवलम् अदृष्टजनकः शोभाकरो न भवति इति शोभाऽपि यथासुखं भवतु इति आह **कामः** इति.

कामः स भूयाद् नरदेव तेऽस्याः पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः।

क एव ते तनयां नाद्रियेत स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम्।।१६।।

सएव विधिः **कामो भूयात्** कामितप्रकारेण भवतु इति अर्थः. तत्र हेतुः **नरदेव** इति. राज्ञां हि न ब्राह्मणानामिव विवाहः शोभारहितः परं सः न सर्वात्मना लौकिकः कर्तव्यः, किन्तु **समाम्नायविधौ प्रतीतः** कर्तव्यः. समाम्नायो नाम अभ्यासः. यथा पूर्वं सर्वैः कृतः तादृशविधौ प्रतीतः. समाम्नायो वेदः इति केचित्. ननु तदा कन्यायाः महत्वप्रतीतेः मात्सर्याद् अग्रहणं स्याद् इति आशङ्क्य आह **कएव** इति. **कः ते तनयां न आद्रियेत. एव** इति अनादरे. तत्र हेतुः स्वया असाधारण्या **कान्त्यैव श्रियमिव लक्ष्मीं क्षिपतीम्.** अस्यापि भगवच्छक्तित्वात् तथा कथनं न दोषाय. लक्ष्मीं क्षिपतीमिव इति भक्तिरूपताऽपि अस्याः सूचिता।।१६।।

तस्याः कीर्तिम् आह **यां हर्म्यपृष्ठे** इति.

यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।

विश्वावसुर्न्यपतत् स्वाद् विमानाद् विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः।।१७।।

विश्वावसुः गन्धर्वो **यां** देवहूतिं **हर्म्यपृष्ठे** क्रीडन्तीं कन्दुकेन **विह्वले अक्षिणी** यस्याः. अप्सरसां सान्निध्येऽपि शोभया गृहीतचित्तः उपरि गच्छन् विमानात् तस्याः पुरतः पतितः इति नारदादिवाक्यैः ज्ञायते. हर्म्यपृष्ठेन व्यवधानम्. **क्वणदङ्घ्रिशोभाम्** इति उद्दीपनादयो निरूपिताः. **कन्दुक-विह्वलाक्षीम्** इति चाञ्चल्यं, मुग्धभावश्च निरूपितः. सम्यग् मोहेन विमूढं चेतो यस्य. गन्धर्वत्वाद् न दोषः।।१७।।

तस्याः श्रीत्वं वर्णयति **तां प्रार्थयन्तीम्** इति.

तां प्रार्थयन्तीं ललनाललामाम् असेवितश्रीचरणैरदृष्टाम्।
वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं को नाऽभिमन्येत बुधोऽभियाताम्।।१८।।

प्रथमतः **प्रार्थयन्तीं** स्वयमेव च **अभियातां बुधः** सन् **को** वा **न अभिमन्येत.** प्रार्थयन्ती सर्वथा ग्राह्या. या काचित्. तत्रापि ''**स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि**''(चाणक्यनीति १।१६) इति न्यायेनाऽपि सा ग्राह्या इति आह **ललनाललामाम्** इति. ललना स्त्री, तासां मध्ये ललामा श्रेष्ठा. भगवत्प्रसादरूपत्वाच्च सर्वथा ग्राह्या इति आह न सेवितौ श्रीयुक्तौ भगवच्चरणौ यैः, तैः अदृष्टाम्. ते तां द्रष्टुमपि न शक्नुवन्ति, अतः इयं भगवत्प्रसादरूपा. मनुः धर्मरूपः. सः चेत् फलं दोग्धि, तदा इयं **वत्सा** प्रिया कन्या इति अर्थः. **उच्चपदः स्वसारम्** इति. भ्रातृमती, प्रसिद्धकन्या च. **को** वा सर्वशास्त्रार्थवेत्ता [१] न मन्येत. एतादृशी स्त्री ब्रह्मविद्यायाअपि अधिका इति. आभिमुख्येन याता इति एतादृश्याः परित्यागे दोषश्रवणात्।।१८।।

परम् एको दोषो अस्ति, तं चेत् स्वीकुर्यात् तदा भजिष्ये इति आह **अतो भजिष्ये** इति.

अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं यावत्तेजो बिभृयाद् आत्मनो मे।
अतो धर्मान् पारमहंस्यमुख्यान् शुक्लप्रोक्तान् बहु मन्येऽविहिंस्रान्।।१९।।

यस्माद् एषा सर्वोत्कृष्टा, **अतो भजिष्ये.** परं **समयेन,** कालनियमेन. ननु प्रथमतएव किमिति एवं निर्बन्धः क्रियते यदैव वैराग्यं, तदैव परं त्यक्तव्या. तत्र आह **साध्वीम्** इति. एषा हि पतिव्रता. ''**मृते म्रियते या नारी सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता**'' (बृहस्प.स्मृति १।२५।१२) इति मरणपर्यन्तं तस्याः धर्मसंरक्षार्थं सङ्ग्राह्या स्याद्, अन्यथा शरणागतायाः धर्मो नश्येत्. अतः पूर्वमेव पणबन्धे परिग्रहसमये तया तथाव्रतं न गृहीतं स्यात्. समयम् आह **यावत् तेजो बिभृयाद् आत्मनो मे** इति. मे तेजो बीजात्मकं, ब्रह्मत्वात्. तावतैव तस्याः कृतार्थत्वाय आह **आत्मनः** इति. अहम् आत्मा तस्याअपि आत्मतेजश्चेद् धृतं तदैव पातिव्रत्यं सिद्धं, पतिः स्वस्मिन्नेव स्थितः इति. तदनन्तरं पारमहंस्यधर्मानेव भजिष्ये इति आह **अतः** इति. पारमहंस्ये आश्रमे मुख्यान्. प्रमाणम् आह **शुक्लप्रोक्तान्** इति.

---
१. 'नानुमन्यत' इति मां-४,जु.अ.

शुक्लनारायणेन प्रोक्तान् तानेव **बहु मन्ये**. तेषां धर्माणां प्रमेयतोऽपि उत्कर्षम् आह **अविहिंस्रान्** इति. गार्हस्थ्ये यज्ञादयो हिंस्राः।।१९।।

ननु "**यावद् जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयाद्**"(मैत्राण्युप.६।३०) इति श्रुतेः. "**इत एव ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्**"(जाबा.उप.४) इति स्मृतेश्च गार्हस्थ्यानन्तरं न प्रव्राज इति चेत् तत्र आह **यतो अभवद्** इति.

यतोऽभवद् विश्वम् इदं विचित्रं संस्थाप्यते यत्र च वाऽवतिष्ठते।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं परं प्रमाणं भगवान् अनन्तः।।२०।।

अस्मिन् अर्थे एषः भगवानेव प्रमाणम्.

सर्वथाऽऽदरणीयो यः स प्रमाणम् इहोच्यते।
तत्सम्बन्धात् कृतिस्तस्य प्रमाणं वाक्यमेव च।।१।।

वेदानां प्रामाण्यं भगवद्वाक्यत्वात्. सहि अनन्तः, अनन्तमूर्तिः, देशाद्यपरिच्छिन्नश्च. सहि तत्तदधिकारानुसारेण बहुधा शास्त्रार्थम् आह. भक्तेभ्यश्च पृथक्-पृथग् आह. अतो यद् मां प्रति आह विशेषाकारेण, तदेव प्रमाणं; विशेषो बलवान् इति. वेदात् स्वतन्त्रादपि भगवान् महान् इति वक्तुं जगत्कर्तृत्वम् आह **यतो** भगवतः सकाशाद् **इदं विश्वम् अभवद्** उत्पन्नम्. **विचित्रम्** इति अलौकिककर्तृत्वं तस्य बोधितम्. **यतः** इति कारणम् अविकृतम्. चिन्तामण्यादेः सकाशाद् उत्पादितानां घटादीनां न समवायादि किञ्चिदपि कारणम् अन्यद् दृश्यते. तथा यावद् अपेक्षितकारणानि भगवानेव, न अन्यद् इति अव्ययनिर्देशः. यत्रैव **संस्थाप्यते** लीनं भवति, **यत्र च वा अवतिष्ठते** स्थितं भवति. एककारणत्वं गुणानां तदभिमानिनश्च सम्भवति इति त्रितयकीर्तनम्. नियामकत्वं च आह **प्रजापतीनां पतिः** इति. तत्रापि एषः, इदानीमपि निकटे भासते. अनेन उल्लङ्घनमपि न शक्यम् इति उक्तम्. अतएव वेदाद्यपेक्षयापि परं प्रमाणम्. **भगवान्** इति अविकृतं ब्रह्म इति. **अनन्तः** इति प्रामाण्ये हेतुः, अन्यस्य अनादरणीयत्वात्।।२०।।

एतावद् उक्त्वा चेद् अङ्गीकरिष्यन्ति तदा विवाहं कारयिष्यामि इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यतः इत्यत्र. **एककारणत्वम्** इति. उत्पत्याद्यन्यतमं प्रति कारणत्वम् ।।२०।।

निश्चित्य तूष्णीं स्थितः इति आह **सः** इति.

मैत्रेय: उवाच

स उग्रधन्वन्! नियदेवाऽऽबभाषे आसीच्च तूष्णीम् अरविन्दनाभम् ।

धियोपगुह्य स्मितशोभितेन मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः।।२१।।

उग्रधन्वन्! इति सम्बोधनम् अक्षोभाय. स्त्रिया भाविताया अपि क्षोभयितृत्वात्. **इयदेव** एतावदेव **आबभाषे.** एतत्साधकमपि वक्तव्यं पक्षान्तरे वा अन्यद् वक्तव्यम् इति न तस्य हृदयम् इति आह **आसीत् च तूष्णीम्** इति. पाक्षिकदोषस्य विद्यमानत्वात् तत्परिहारार्थम् **अरविन्दनाभं धिया उपगुह्य** इति उक्तम्. सहि कमलनाभः, जगदेव भिन्नतया कर्तुं शक्तः, किम् एतावन्मात्रे अशक्यम् इति. तावतैव भगवता कश्चन उपायः कृतः इति आह **धिया** उपगृह्णन्नेव[१]. स्मितेन शोभितं यद् मुखं, तेन **देवहूत्याः चेतो लुलुभे**।।२१।।

नहि मायामोहितः वस्तुनि लुब्धो वा भाविगुणदोषान् पश्यति, अतो मनोः सन्दिग्धमपि मनः, भार्यायाः हृदयं समीचीनो दुहितुः पतिः इति, दुहितुश्च चित्तं ज्ञात्वा, निःसन्दिग्धं जातम् इति तस्मै कन्यां दत्तवान् इति आह **सो अनुज्ञात्वा** इति.

सोऽनुज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुःस्फुटम्।

तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः।।२२।।

व्यवसायो निश्चयः, **स्फुटम्** इति वचनादिभिः. अतएव **तस्मै ददौ.** स्वस्य अनिवारणे हेतुः **गुणगणाढ्याय** इति. बाधकं च साधकं ज्ञातवान् इति आह **तुल्याम्** इति. इयमपि मुक्ता भविष्यति इति अर्थः. भगवता अन्यथा तुल्या न उत्पादिता स्यात्. अतएव **प्रहर्षितः**।।२२।।

सङ्कल्प्य अयं दत्तवान्, उत्सवन्तु शतरूपा कृतवती इति आह **शतरूपा** इति.

शतरूपा महारा पारिबर्हान् महाधनान् ।

दम्पत्योः पर्यदात् प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान्।।२३।।

सामर्थ्यं **महाराज्ञी** इति. **पारिबर्हान्** विवाहसमये दानयोग्यान्. **महाधनान्**

---

१. धियोपगृह्णन्निति पाठः.

अमूल्यान्. न केवलं दुहितुः किन्तु **दम्पत्योः**. न सङ्कल्पेन, नापि दयया, किन्तु **प्रीत्या. भूषा** अलङ्काराः कुण्डलादयः. **वासांसि** नानाविधानि. **परिच्छदा** उपकरणानि।।२३।।

कन्यां दत्वा गृहं गन्तुः मनोः कृत्यम् आह **प्रत्ताम्** इति.

प्रत्तां दुहितरं सम्राट् सदृक्षाय गतव्यथः।
उपगुह्य च बाहुभ्याम् औत्कण्ठ्योन्मथिताशयः।।२४।।

दत्तापि दुःखदा कन्या विसदृशाय; तदभावाद् [1]निश्चितो जातः इति आह **सदृक्षाय गतव्यथः** इति. दत्वा [2]इति वक्तव्ये सिद्धत्वात् तदनुवादम् अकृत्वा, उपगूहने ईप्सिततत्वात् **प्रत्ताम्** इति द्वितीयैव उक्ता. शीघ्रगमने हेतुः **सम्राड्** इति. **च**काराद् वाक्यान्यपि तदानीन्तनानि योग्यानि सूचितानि. **उपगृह्य** इति पाठे समीपे ग्रहणमात्रम्. उभयथापि शिरसएव ग्रहणम्. अतिस्नेहो द्विवचनेन ज्ञापितः. प्रेम्णा च विह्वलो जातः इति आह **औत्कण्ठ्ये**ति. **उन्मथितो** अत्यन्तं क्षुभितः **आशयो** यस्य।।२४।।

गन्तुमपि अशक्तो जातः इति आह **अशक्नुवन्** इति.

अशक्नुवंस्तद् विरहं मुञ्चन् बाष्पकलां मुहुः।
आसिञ्चन्नम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाम्।।२५।।
आमन्त्र्य तं मुनिवरम् अनुज्ञातः सहानुगः।
प्रतस्थे रथम् आरुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः।।२६।।

सोढुम् इति अर्थात्. स्वस्मिन् सम्बद्धएव हि विरहः शक्यो अशक्यो वा भवति. अतएव **बाष्पकलां मुञ्चन्.** अन्तःतापेन हि मुखतो बाष्पनिर्गमनम्. बाष्पगतः शोभायमानत्वात् कलात्वम्. **मुहुः** इति प्रतिस्मरणं विरहाधिक्यं द्योतयति. नेत्रे च जलं बहु निर्गतम् इति आह **आसिञ्चन्** इति. तस्याअपि [3]रोदने **अम्ब वत्स** इति सम्बोधनम्. ''मा रोदीः'' इत्यादि वक्तुम् अशक्तो नेत्रजैः जलैः **दुहितुः शिखाम् आसिञ्चन्. मुनिवरञ्च आमन्त्र्य** तेनैव **अनुज्ञातः सहानुगः सभार्यश्च रथम् आरुह्य स्वपुरं प्रतस्थे** इति श्लोकत्रयसम्बन्धः. मुनिवरत्वादेव न विशेषतः समर्पणम्. **स्वपुरं** प्रति. **नृपः** इति रक्षार्थं गमनम् आवश्यकं

१. 'निश्चिन्तो' इति मां-४,जु.अ. २.'इतिच' इति मां-४. ३.बोधने. क. नोदने. च.

निरूपितम्।।२५-२६।।

दुहितुः सहवासो न अस्ति इत्यपि शङ्कां निवारयति **उभयो**ः इति.

उभयोर्ऋषिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः।

ऋषीणाम् उपशान्तानां पश्यन् आश्रमसम्पदः।।२७।।

ऋषिकुलयोग्यायाः **सरस्वत्याः उभयोः, रोधसो**ः स्थितानाम् **उपशान्तानाम् ऋषीणां** पथि **आश्रमसम्पदः पश्यन्** इति पूर्वेणैव सम्बन्धः. **उभयोः रोधसो**ः इति परस्परदर्शनार्थम्. ऋषिकुलयोग्यत्वात् सरस्वत्याः प्रार्थनयाऽपि जामातुः स्वनिकटे गमनं निवारितम्. सृष्ट्यर्थं च सा उपयुज्यते इति **सरस्वत्याः** इति. उत्तमरोधस्त्वं सुव्यवहार्यत्वात्. कलहाभावाय **उपशान्तानाम्** इति. **सम्पदः** इति समृद्धिः निरूपिता।।२७।।

एवम् इतो गमनम् उक्त्वा तस्य स्वनगरे प्रवेशे सम्भ्रमम् आह **तम् आयान्तम्** इति.

तमायान्तम् अभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात् प्रजापतिम् ।

गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः ।।२८।।

ब्रह्मावर्ताद् इति. सरस्वतीतीरं सर्वमेव ब्रह्मावर्त्तत्वेन उच्यते. **ब्रह्मावर्तान्** इति पाठः सुगमः. **प्रजापतिं** मनु. योगो अत्र. **प्रजाः पतिम्** इति पाठः. **प्रहर्षिताः प्रजा**ः गीतादिभिः **प्रत्युदीयु**ः आभिमुख्येन गताः।।२८।।

बिन्दुसरः परित्यज्य स्थलान्तरे मनुः कथं गतः? किमिति तत्रैव राजधानीं न कृतवान्? इति आशङ्क्य मनुस्थितापि नगरी बिन्दुसरः तुल्या इति वक्तुं ताम् अनुवर्णयति **बर्हिष्मती** इति त्रिभिः

बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता।

न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्याऽङ्गं विधुन्वतः।।२९।।

यथा इदं बिन्दुसरः तथा सा **बर्हिष्मती नाम**. ननु तुल्यत्वेऽपि अत्रैव कथं न अवस्थानं? तत्र आह **पुरी** इति. पुर्यामेव हि राजानो वसन्ति, नतु स्थानमात्रे. किञ्च, एषा **सर्वसम्पत्समन्विता**. प्राणिनो हि पुरुषार्थचतुष्टयं, तदपि बहुविधम्. सर्वप्रकाराणां सर्वा सम्पद् अस्याम् अस्ति अतो राज्ञः सर्वोपकारित्वाद् अत्र स्थितिः युक्ता. बर्हिष्मतीत्वं साधयति, **न्यपतद्** इति. बर्हिः वर्तते यस्याम् इति सा

पुरी बर्हिष्मती. बर्हिश्च वैदिकं यज्ञावयवोत्पन्नं, मन्त्रादिना कुशकाशादिषु तत्त्वम् आरोप्यते; यथा पितरो ब्राह्मणेषु. तद्धि देवानाम् आसनं, तद् यत्र, तत्रैव हि देवाः. यत्र पुनः तत् स्वाभाविकं तत्र आवाहनापेक्षाऽपि न अस्ति. तच्च बर्हिः तस्यामेव पुर्याम् उत्पन्नम् इति निरूपयितुं कथाम् आह **यज्ञ**वराहस्य **अङ्गं** [१]**विधुन्वतो यत्र रोमाणि न्यपतन्.** सहि यज्ञात्मा, रोमाणि च बर्हिः।।२९।।

कुशाः काशास्तएवासन् शश्वद् हरितवर्चसः।

ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान् यज्ञम् ईजिरे।।३०।।

तएव कुशकाशाः अभवन्. तेषां यज्ञियत्वपरिज्ञानार्थम् अलौकिकं रूपम् आह **शश्वद् हरितवर्चसः** इति. सर्वेष्वेव कालेषु कुशाः उत्पद्यन्ते, हरितवर्णाश्च भवन्ति, नतु अन्ये व्रीहि-यवादयः. अतः **तएव आसन्.** रोमाणि कुशकाशाएव [२]अभवन् इति अर्थः. ननु यज्ञियाः पश्वादयो बहवएव पदार्थाः, ते च सर्वत्रैव यथायथम् उत्पद्यन्ते इति कथं बर्हिषएव आधिक्यं? कथं वा तेन बर्हिष्मत्या माहात्म्यम्? इति. तत्र आह **ऋषयो यैः** इति. **यैः** कुशकाशैः, **यज्ञघ्नान्** राक्षसान्, **पराभाव्य यज्ञम् ईजिरे.** कुशानां यज्ञप्रतिपक्षनाशकत्वं शाखान्तरेषु चिन्त्यम् ।।३०।।

एवं बर्हिष्मतीत्वम् उपपाद्य विशेषतः तत्र स्थितौ प्रयोजनम् आह **कुशकाशमयम्** इति.

कुशकाशमयं बर्हिः आस्तीर्य भगवान् मनुः।

अयजद् यज्ञपुरुषं लब्ध्वा स्थानं यतो भुवः ।।३१।।

आश्ववालः काशः, सहि प्रस्तरो भवति पश्वादिषु आतिथ्यादिषु च. कुशकाशप्रकृतिकं बर्हिः आस्तीर्य, स्वयं दीक्षितो भगवद्रूपो भूत्वा, **मनुः यज्ञपुरुषम् अयजत्. यतो भुवः स्थानं** प्राप्तवान्. अधिकारित्वाविशेषेऽपि इन्द्रादयः स्वर्गाधिकारिणः, मनुस्तु भूमेः. सा च देवयजनरूपा. देवयजनं प्राप्य अवश्यं यज्ञाः कर्तव्याः इति **लब्ध्वा अयजद्** इति. लाभस्य यज्ञमात्रोपयोगित्वाय 'क्त्वा' प्रत्ययः. **यतो** वा यज्ञात्. यज्ञवराहेणैव सा दत्ता अतो यज्ञार्थमेव मया [१]प्राप्तम् इति अयजत्।।३१।।

१.प्राप्तेत्ययजत्. क.

एवं बर्हिष्मत्यां स्थितौ प्रयोजनम् उक्त्वा तां प्रविष्टः इति आह **बर्हिष्मतीम्** इति.

बर्हिष्मतीं नाम विभुः यां निर्विश्य समावसत्।
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम्॥३२॥
सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजेऽन्याविरोधतः।
सङ्गीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन् हरेः कथाम्॥३३॥

तादृशस्थाने स्थितिसामर्थ्याय **विभुः** इति. अतएव उत्तमाधारे शत्रूणां बाधाभावाद् एकत्रैव सर्वदा स्थितः इति आह **यां निर्विश्य**[१] **समावसद्**[२] इति. **बर्हिष्मतीं** प्रसिद्धां भुवः स्थानं लब्ध्वा इति पूर्वेणैव सम्बन्धः. **याम्** इत्यादि भिन्नम्. सम्यग् **आवसत्**[३]. किञ्च, न केवलं पुर्येव सर्वोत्तमा, किन्तु तस्यां भवनमपि सर्वोत्तमम् इति. **तस्यां प्रविष्टः** इति तस्यां विद्यमानं **भवनं** प्रविष्टः. **तापत्रयविनाशनम्** इति उत्कर्षः, स्थानस्य भक्तिजनकत्वात्॥३२॥

तापत्रयाभावे हि बाह्याभ्यन्तरबाधाभावाद् यथाशास्त्रं पुरुषार्थाः साधयितुं शक्याः. तद् आह **सभार्यः सप्रजः कामान्** विषयान् धर्माद्यविरोधेन **बुभुजे** इति. बाधकत्वादेव भार्यापुत्राः त्यज्यन्ते पुरुषार्थविरोधे. तथात्वे नियतं ज्ञापकम् आह **सङ्गीयमान** इति. **सुरगायकैः** गन्धर्वादिभिः स्त्रीसहितैः **सङ्गीयमाना सत्कीर्तिः** यस्य. देवास्तु असत्यं न गायन्ति, नाऽपि धर्मादिविरुद्धां कीर्तिं गायन्ति शृण्वन्ति वा. अस्याः कीर्तेः पुरुषार्थचतुष्टयरूपत्वं प्रतिपादयति. सम्यक्त्वं मोक्षपर्यवसानाद्, औदार्याद् ज्ञानं, **सदि**ति धर्मः, **कीर्तिः** कामः. अतः कामजनकत्वात् स्त्रीभिः सह गानम्. सुराः हि धर्मफलाः, गायकाः कामार्थप्रधानाः, विशिष्टाः मोक्षोपयोगिनः च इति. पूर्वोक्तस्य सर्वस्य साधकम् आह **प्रत्यूषेषु इति** प्रातःकालेषु. **अनुबद्धेन हृदा हरेः कथां शृण्वन् बुभुजे** इति पूर्वेणैव सम्बन्धः॥३३॥

प्रेम्णा भगवत्कथायाः श्रवणस्य सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन मध्ये निदर्शनम् आह **निष्णातम्** इति.

१.निविश्य. ख. च. २.समाविशत्. ङ. ३.सम्यगाविशत्. क. घ. ङ.

निष्णातं योगमायासु मुनिं स्वायंभुवं मनुम्।
यदा भ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम्।।३४।।
अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः।।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः।।३५।।

योगमायासु निष्णातं स्वायम्भुवं मनुं भोगाः यदा भ्रंशयितुं न शेकुः तदा अयातयामाः तस्य यामाः आसन् इति उत्तरेण सम्बन्धः. योगमाया नानाविध-विषयभोगप्रकाराः अणिमादयः, तत्र **निष्णातं** सर्वभोगभोक्तारं; मननशीलत्वाद् विद्यमानमोक्षम्. तेन मोक्षभयादपि न भोगनिवृत्तिः. परलोकभयन्तु न अस्त्येव, स्वयंभूपुत्रत्वात्. अतएव न ऋणनिवृत्यपेक्षा, नाऽपि परलोकभयम्. एवं सति निःशङ्को भोगो भवति. तथा च सति तदभिनिवेशाद् भ्रंशः सम्भवति. परं ते **भ्रंशयितुं न** शक्ताः. तत्र हेतुः **भगवत्परम्** इति. कथाश्रवणादिना भगवत्परत्वम्. भगवत्परत्वे च विषयासक्त्यभावः. अनासक्तौ न भ्रंशः. मननं ब्रह्मसुतत्वादिकं वा योगमायानिष्णातत्वे हेतुः. विषयासक्त्यैव कालो व्यर्थो भवति, न अन्यथा. प्रकृते तदभावात् **तस्य यामाः** कालविशेषाः, **अयातयामाः** अगतसाराएव अभवन्. सम्पूर्णएव कालः तादृशो जातः इति आह **स्वान्तरयापनाः** इति. स्वमन्वन्तरस्य यापनाः. यापयन्ति समापयन्ति ये कालखण्डाः, ते सर्वएव अयातयामाः इति. एकसप्ततियुगानि हि मन्वन्तरम्. भोगानां भ्रंशाजनकत्वमात्रेण न अयातयामत्वं, किन्तु हेत्वन्तरम् अस्ति इति आह **शृण्वतः** इति. **विष्णोः कथाः शृण्वतः**. कथाएव **ध्यायतः**. योगबलेन भगवद्गुणान् ज्ञात्वा तन्निबन्धनेन **कथाः कुर्वतः**. गोष्ठ्यां वा[1] राजसभायां वा तत्कथामेव कुर्वतः, श्रोतणाम् अर्थे **ब्रुवतः** च. जागरणानन्तरं देहशुद्धेः पूर्वं कथानां श्रवणम्. ततो ध्यानम् आवश्यक-सभापर्यन्तम्. तत्र च सद्भिः सह तत्कथाकरणम्. ततो अनुशिक्षार्थम् आप्रस्वापं भगवत्कथाकथनम् इति एवं प्रत्यहम्।।३४, ३५।।

ततः किं जातम् इति आह **सएव** इति.

स एव स्वान्तरं निन्ये युगानाम् एकसप्ततिम्।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः।।३६।।

---

१. 'च' इति क. ख.जु.मां-४.

मनुरेव तत्र प्रथममन्वन्तरे राजा जातः. स्वाधिकारकाले अन्यः तथाधर्मं न पालयिष्यति इति **सएव स्वान्तरम्** एवं प्रकारेण **निन्ये** नीतवान्. प्रियव्रतस्य राज्यकथा कल्पान्तरीया. उत्तानपदस्तु मन्वन्तरान्तरे. प्रियव्रतपुत्राणामेव मन्वन्तराधिपतित्वात् कल्पान्तरे वा. मनोः[१] बहुकल्पजीवित्वम् अनेन ज्ञापितम्. कालो न बाधकः इति च. भगवद्दत्ताधिकारे[२] हि अधिकारकालो न आयुः गणनायां प्रविशति. अतो अधिकाराभावसमयएव शतायुष्ट्वम्. पितृ-देव-मनुष्येषु वा न अस्य प्रवेशः. मन्वन्तरस्य परिमाणम् आह **युगानाम्** इति. सहस्रकल्पेषु चतुर्दशधा विभागे नवशतं चतुर्नवतिः च युगानां भवति. षड्युगानि च समसङ्ख्यया न आयान्ति इति न गणितानि. अस्य सृष्ट्यन्तरत्वाद् भगवद्गुणानाम् उपभोगार्थे षड् गुणानि वा[३]. ततः किं जातम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **वासुदेवप्रसङ्गेन** इति. वासुदेवएव मानसो वाचिकः कायिकश्च यः **सङ्गो** ध्यान-कीर्तन-परिचर्यादिरूपः, तेनैव, **परिभूतं** तिरस्कृतं **गतित्रयं** येन. ऊर्ध्वाधोमध्ये गतयो गुणत्रयसाध्याः, ते त्रयोऽपि गताः. अतो भगवत्येव गतिश्च अवशिष्यते. नहि मोक्षदातुः एवं सङ्गे धर्मार्थकामरूपा गतिः भवति।।३६।।

ननु निरन्तरं कथं भगवत्कथादि सिद्ध्येत्? क्लेशादीनां बाधकत्वाद् इति आशङ्क्य आह **शारीराः** इति.

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सएव इत्यत्र. **सहस्रयुगपर्यन्तम्** इति(?). चतुर्युगानां च सहस्रम् इति वाक्यैकवाक्यत्वाय अत्र 'युग'पदं चतुर्युगीपरं वक्तव्यम्. तया एवं मन्वन्तरकालगणनायां चतुर्युगी षट्कर्म विशिष्यते इति तन्निवेशप्रकारम् आहुः **अस्य** इत्यादि. मन्वन्तरभोग्य-कालसङ्ख्यायाः सर्वत्र साधारण्येन अन्यत्र दोषानिवृत्तिः इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **गुणानि वा** इति. गुणभूतानि तानि युगानि. तथाच यथासम्भवं तस्यामेव सङ्ख्यायाम् अधिकप्रवेशः इति अर्थः ।।३६।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे द्वाविंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

१.मनोर्वा. कल्प...ग. २.भगवद्दत्ताधिकारकालो हि. क. भगवद्दत्ताधिकारे हि कालो. ङ.जु.मां४. ३.च. ग.

भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ॥३७॥

शारीराः व्याधिरूपाः, **मानसाः** आधिरूपाः, **दिव्याः** अशनिवृष्ट्यादि-जनिताः. विश्वासार्थे **वैयासे** इति सम्बोधनम्. व्यासो हि तस्य चरित्रं बहुधा आह. **मानुषाः** आज्ञातिक्रमादयः. यद्यपि शारीर-मानसमध्ये सर्वस्याऽपि अनुप्रवेशः, तथापि परदृष्ट्या धनाद्यभावे, आज्ञाद्यकरणे, प्रजानां भूताद्युपद्रवे च राजा क्लिष्टः इति लोकाः मन्यन्ते. राजत्वाच्च तन्निराकरणार्थं यत्नकरणात् च. अतः **क्लेशाः** दुःखानि अहङ्काराज्ञानादीनि च कथं बाधन्ते? तत्र हेतुः **हरिसंश्रयम्** इति. उक्तोऽपि हेतुः बहुधा उच्यते॥३७॥

प्रासङ्गिकत्वाभावाय तस्य भगवदाश्रयत्वं निःसन्दिग्धं फलतः साधयति **यः पृष्टः** इति.

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान् नानाविधान् शुभान्।
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा॥३८॥

भगवद्भक्ताएव हि गुह्यं धर्मं विदुः. अतो **मुनिभिः** अयं भक्तः इति ज्ञात्वा **धर्मान् पृष्टः**. अतो मुनिभ्यो धर्मान् आह. एकविधधर्मकथने स्वभावगुणभिन्नानां सर्वेषां सङ्ग्रहो न भवतीति ततो नानाविधान् आह. सर्वएव च कल्याणकराः. विशेषधर्मानपि उक्तवान् इति विशेषान् गणयति **नृणां** मनुष्याणां, वर्णानाम्, आश्रमाणाञ्च. एतत् कथनं न लाभ-पूजा-ख्यात्यर्थं, किन्तु **सर्वभूतहितः** सन् आह. राज्ञा हि सर्वभूतहितं कर्त्तव्यम् इत्येव अभिसन्धाय तथा आह. सर्वदा वा अयं तथा॥३८॥

एवं मनुचरित्रम् उक्त्वा उपसंहरति **एतत् ते** इति.

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितम् अद्भुतम् ।
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु॥३९॥

आदिराजस्य इति राज्ञाम् अग्रे महत्वम्. **मनोः** इति ब्राह्मणानाम्. **अद्भुतम्** इति विषयभोगः, भक्तिः, वैराग्यञ्च त्रितयम् एकस्मिन् स्थितम् इति. तेन मनोरेव चरित्रं पृष्टवान् इति. **वर्णितम्** इति तस्यैव उपसंहारः. न केवलं प्रश्नानुरोधेन वर्णितं किन्तु **वर्णनीयस्य** इति. तस्य हि चरित्रं वर्णनीयमेव, भगवच्चरित्राश्रयत्वात्. अग्रे प्रश्नान्तरव्यावृत्यर्थम् आह **तदपत्योदयं शृणु** इति.

तस्य अपत्यानि पञ्च. तत्र प्रकृता देवहूतिः, तस्याः **उदयः**. कन्यादीनाम् उत्पत्तिविवाहौ, तस्याश्च [1]मुक्तिः, सर्वम् उदयत्वेन उच्यते. तत्र आदरार्थं **शृणु** इति विधिः।।३९।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे द्वाविंशाध्यायविवरणम्।

१.'च भाविनीमुक्तिः' इति मां४.

।। त्रयोविंशाध्यायविवरणम् ।।

कर्दमस्य हि कामोऽत्र स्वीकृततत्वात् तदिच्छया ।
[1]त्रयोविंशतिमेऽध्याये वैराग्यावधिरुच्यते ।।१।।
भगवद्भोगसृष्टौ हि पूर्वं मात्रा निरूपिताः ।
[2]तद्ग्राहकाणीन्द्रियाणि निरूप्यन्तेऽधुना स्फुटम् ।।२।।
भगवत्कृतभोगो हि नाल्पसत्वेन भुज्यते ।
अतस्तस्या योग्यतायै पतिसेवा निरूप्यते ।।३।।
ततः प्रसादो विज्ञप्तिः भोग्यसाधननिर्मितिः ।
अन्तःस्थितहरेर्ज्ञप्त्या [3]तथात्वज्ञापनं तथा ।।४।।
भोगो नानाविधश्चैव सर्वभावेन चैव हि ।
भार्येच्छया कन्यकानां जननं चाऽपि वर्ण्यते ।
वैराग्यम् उभयोश्चैव कामस्तेनैव पूर्यते ।।५।।

तत्र प्रथमं तस्याः पतिसेवाम् आह **पितृभ्याम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिम् इङ्गितकोविदा ।
नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ।।१।।

माता-पितृभ्यां प्रस्थाने कृते सति, दीनाऽपि सती, खेदम् अकृत्वा **पतिं पर्यचरत्.** पतिसम्बन्धपर्यन्तमेव पित्रोः सम्बन्धः, यतः **साध्वी.** पतिव्रतायाः सएव धर्मः. [4]सेवा सैव, या भर्तू रोचते. रुचिश्च महान् न वदति इति, तदिङ्गितैः ज्ञातव्या

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ त्रयोविंशाध्यायं विवरिषवः पूर्ववद् अवसरएव सङ्गतिः इति बोधनायार्थमेव सर्वं सङ्गृह्य आहुः **कर्दमस्य** इति द्वाभ्याम्. **निरूपिताः** इति. भगवद्वाक्यर्षिवाक्यमन्वादिधर्मैः संस्कृता देवहूतिनिष्ठा भगवद्दर्शनतपःप्रभृतिभिः संस्कृताः कर्दमीयाश्च निरूपिताः. **इन्द्रियाणि** इति. तयोरेव इन्द्रियाणि. अवान्तरवाक्यार्थान् आहुः **भगवत्कृते**त्यादि. **तथात्वज्ञापनम्** इति भगवत्कृतत्वज्ञापनम्.

१.त्रयोविंशे तु च अध्याये ख. घ. ङ. च.मां४. २.तज्ज्ञापकानि इन्द्रियाणि ख. ग. च., ३.तत्वानाम्. क. घ. ४.''सैव सेवा या भर्तू रोचते. रुचिं च'' इति मां४.जु.अ.

इति. तज्ज्ञानं च पातिव्रत्यादेव जातम् इति आह **इङ्गितकोविदा** इति. इङ्गिते कोविदा पण्डिता. दीर्घकालादरनैरन्तर्यसेवा फलदा भवति इति तद् आह **नित्यं प्रीत्या** इति. **नित्यम्** इति दीर्घनैरन्तर्ये. **प्रीतिः** आदरः स्नेहश्च सेव्य-वश्यत्वहेतुः. निष्कामकामनायाम् आवश्यकत्वे च दृष्टान्तः **भवानीव भवम्** इति. विवाहात् पूर्वं प्रभुत्वेनैव पार्वत्या सेवितः. केवलं मनसा पतिः इति जानाति, पूर्वसंस्काराच्च. तद्वद् इयमपि सम्बन्धरहिता काम्यालङ्कारादिकामनारहिता च आवश्यकत्वेनैव[१] सेवां कृतवती इति अर्थः।।१।।

सेवायां गुणान् दोषाभावांश्च आह द्वयेन. गुणान् आह **विश्रम्भेण** इति.

विश्रम्भेणाऽऽत्मशौचेन गौरवेण दमेन च ।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः ।।२।।

विश्रम्भेण विश्वासेन. अनेन मम सर्वपुरुषार्थः सेत्स्यति इति. **आत्मनो** देहस्य अन्तःकरणस्य **शौचेन** शुद्ध्या. सन्तः शुद्ध्यैव प्रसीदन्ति. विश्वासः सर्वत्र अङ्गम्. [२]पुत्रपित्रादिष्विव न सेवा, किन्तु देववद् इति आह **गौरवेण** इति. गौरवम् आदरविशेषो महत्वपूर्वकः, यथा गुरौ क्रियते. **दमः** इन्द्रियनिग्रहः. इन्द्रियचाञ्चल्ये सेवा न फलति इति लोकवेदसिद्धम्. **शुश्रूषा** चरणसंवाह-नाद्यन्तरङ्गसेवा. **सौहृदं** सुहृदो भावः. सर्वैरेव मित्रधर्मैः इति अर्थः. गुह्यगूहन-गुणप्रकटीकरणादिभिः. मधुरा च वाणी पूर्वोक्तसर्वगुणेषु प्राणभूता. ''**सद्यस्त्व-प्रियवादिनीम्**''(गरुडपुरा.१।११५।६४) इति तद्विरोधिनः त्यागहेतुत्वात्. **च**काराद् अन्येऽपि शमादयः. **भोः** इति केवलं सम्बोधनं सावधानार्थे।।२।।

दोषाभावान् आह **विसृज्य** इति.

विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभम् अघं मदम् ।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्।।३।।

कामादयः षड् दोषाः, पापापराधौ च अधिकौ. तत्र कामः आद्यः, कामपूरणार्थमेव कामिनीव[३] भजते. **मानम्** इति पाठे अहङ्कारो राजपुत्र्यहम् इति कामस्थानीयः. **दम्भो** लोभात्मकः, धनकीर्त्यादिलोभाभावे दम्भं न कुर्यात्. अत्रतु तदीयं सर्वं तस्याएव इति साक्षाद् लोभो न सम्भवति इति राजपुत्र्याः तद् अग्रे

---

*एव च ग. ङ. च. २.मित्रा. ग. ३.कामिनी. ग. कामिनीम्. घ. ङ.मां४.जु.अ.

पश्चाच्च न एकरूपता सेवायां सम्भवति इति दम्भो निर्दिष्टः. **च**काराद् अपराधो निवारितः. **द्वेषो** मत्सरात्मकः, क्रोधश्च सङ्गृहीतः. लोभः स्पष्टः. **अघम्** अपराधः. **मदो** गर्वः. एवम् अष्टाऽपि निवारिताः. **अप्रमत्ता** च असौ **उद्यता** च. नित्योद्यमः प्रमादाभावश्च अन्तरङ्गौ. एवं कृते यद् जातं तद् आह **तेजीयांसम् अतोषयद्** इति. अतितेजस्विनं दुर्धर्षमपि अतोषयद् इति अर्थः।।३।।

तुष्टस्य प्रसादं वक्तुं तस्य अधीनत्वम् अतिप्रसादाय तद्दृष्टं निरूपयति **स वै** इति द्वाभ्याम्.

स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम् ।
दैवाद् गरीयसः पत्युः आशासानां महाशिषः ।।४।।

महत्वं हि दैन्यसामानाधिकरणं दयाहेतुः भवति इति प्रथमं महत्वम् आह **मानवीम्** इत्यादि विशेषणत्रयेण. तथाज्ञाने हेतुः **देवर्षिवर्यः** इति. देवाः हि हृदयस्थं जानन्ति, ऋषयो अलौकिकं, ततोऽपि उत्तमः. बाह्यम् आभ्यन्तरम् अलौकिकं जानाति. तत्र **मानवीम्** इति बाह्योत्कर्षः. **सम्यग् अनुव्रताम्** इति यथा स्वस्य अनुभावादिः, अन्तःकरणबाह्यधर्माः वा. दैवम् अदृष्टं कालो वा, ततोऽपि गरीयान् पतिः. दैवमपि अन्यथाकर्तुं शक्तः इति अर्थः. ततो **महाशिषः आशासानां** दुर्लभामपि कामनां पूरयिष्यति इति. आभ्यन्तरम् एतत् ।।४।।

दैन्ये हेतुद्वयम् आह **कालेन** इति.

कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया ।
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाऽब्रवीत् ।।५।।

महता **कालेन** विषयरहितेन **क्षामां** दुर्बलाम्. **व्रतचर्यया** च **कर्शिताम्.** यथा पतिः महातपसि तिष्ठति तथा पतिव्रता इयं स्थिता इति क्लिष्टा परमखेदं प्राप्तवती. एतादृशी दृष्ट्वा **कृपया पीडितः**, तद्गत**प्रेम्णा, गद्गदया वाचा** अग्रे वक्ष्यमाणं प्रसादरूपं वाक्यम् अब्रवीद् इति अर्थः।।५।।

तान्येव वाक्यानि आह त्रिभिः **तुष्टो अहम् अद्ये**त्यादिभिः

कर्दमः उवाच

तुष्टोऽहम् अद्य तव मानवि मानदायाः शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या ।
यो देहिनामयम् अतीव सुहृत् स्वदेहो नाऽवेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे ।।६।।

सन्तोषः सर्वदानं च दुर्लभत्वं च तस्य वै।

त्रयं भगवता देयं नाऽन्येनेति[१] निरूप्यते॥१॥

[२]प्रथमं तोषम् आह **तुष्टो अहम्** इति. **सुहृत्** प्रियः. **मदर्थे क्षपितुं न अवेक्षितः,** न गणितः. **समुचितः** श्लाघ्योऽपि. मत्सेवा आशया उपेक्षितः इति अर्थः. हे **मानवि!** महतः पुत्रि! अद्य तव अहं तुष्टः. न केवलं पितृ-मातृमाहात्म्यात् तवापि स्वतो महात्म्याद् इति आह **मानदायाः**. यो हि निरन्तरं मानं सन्माननां प्रयच्छति, सहि पात्रे दानात् स्वयमपि मानं प्राप्नोति. एवम् आधारगतं गुणद्वयं तोषे हेतुः. करणद्वयम् आह **शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या** इति. परमा लोकोत्तरा **शुश्रूषा** अन्तरङ्गसेवा. इदं बाह्यं करणम्. **परा** माहात्म्य-ज्ञानपूर्विका उत्कृष्टा **भक्तिः** प्रीतिः, अन्तरङ्गं करणम्. किञ्च, न केवलं करणद्वयेनैव कार्यं सिद्ध्यति, आजन्मभजनाभावात्. किन्तु आजन्म एतद् द्वयं यत्र व्यापृतं, तस्यापि तदर्थं क्षपणम् अपेक्षते इति. तद् आह **यो देहिनाम्** इति. तत्र पूर्वोक्तं करणद्वयं सर्वथा व्यापृतम् इति वक्तुम् **अयं** देहो **देहिनां** देहाभिमानिनाम् **अतीव सुहृद्** मित्रम् आत्मभूतमित्ररूपं, सोऽपि **मदर्थं क्षपितुं** क्षपयितुम्. कर्तृद्वयस्याऽपि एकत्वाद् अन्तर्भावित-'णिच्'प्रयोगः. स्वार्थम् अनुपयुक्तस्य लोकोपकारार्थं क्षपणं दृष्टम् इति तद् व्यावृत्त्यर्थम् आह **समुचितः** इति. सम्यग् उचितः, स्वस्य सर्वपुरुषार्थसाधकः. अतो गुणत्रयस्य पूर्णप्रसादहेतोः जातत्वाद् **अहं तुष्टः**॥६॥

तुष्टस्य कृत्यम् आह **ये मे** इति.

ये मे स्वधर्मनिरतस्य तपःसमाधि-विद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः।

तानेव ते मदनुसेवनयाऽवरुद्धान् दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयान् अशोकान्॥७॥

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तुष्टः इत्यत्र. **अन्ये**ति. एतादृशव्यतिरिक्ता सम्पत्. **यत्र व्यापृतं तस्यापि तदर्थं क्षपणम्** इति. यस्मिन् अधिकरणे व्यापारत्वेन स्थितं तस्यापि अधिकरणरूपस्य देहस्य अन्तःकरणस्य च तदर्थं व्यापारात्मकसेवाप्रीत्योः अर्थे क्षपणम् इति अर्थः ॥६॥

१.नाऽन्यैस्त्वेवम्. क. नान्येत्येवम्. ङ. च. २. ''प्रथमतः सन्तोषम् आह'' इति मां४.अ.जु.

मे मम **ये** भगवतः प्रसादाः भगवता मह्यं दत्ताः, तानेव **ते** तुभ्यं **वितरामि.** प्रसन्नो हि सर्वस्वं, यद्वा उत्कृष्टं तत् प्रयच्छति. ममतु सर्वस्वम् उत्कृष्टञ्च सर्वएव भगवत्प्रसादाः; तेऽपि प्रसिद्धाः, नतु अप्रयोजकाः. तत्र हेतुः **स्वधर्मनिरतस्य** इति. **स्वधर्मो** भगवद्धर्मः, तत्र **निरतः** प्रतिष्ठितः. ते चेद् दयया प्राप्ताः स्युः तदा अन्यस्मै दीयमानाः न कार्यक्षमाः भवेयुः. अतः तद् व्यावृत्यर्थम् आह **तपःसमाधिविद्यात्मयोगविजिताः** इति. **तपो** धर्मरूपं, धर्मेण ये केचन प्रसादाः सिद्ध्यन्ति ते तेन विजिताः. **समाधिः** योगोत्कर्षः, तेन सिद्धाः अणिमादयो अर्थाः; तद्रूपाअपि भगवत्प्रसादाः तेन जिताः. **विद्या भक्तिः,** उपासना वा वानप्रस्थसाध्याः; तत्साध्याअपि भगवत्प्रसादाः ज्ञानादिरूपाः, तेऽपि विजिताः. **आत्मयोगो** यतिधर्मो मोक्षसाध्यः, तेनाऽपि विजिताः तथा. **तानेव वितरामि. एव**कारो न अन्यव्यवच्छेदकः किन्तु अर्थविशेषे अदेयत्वेन ते सिद्धाः इति तेषाम् उत्कर्षवाचकः. ननु भगवत्प्रसादाः स्वतन्त्राः, दीयमानाअपि कथं मयि समायास्यन्ति? इति आशङ्क्य आह **मदनुसेवनया अवरुद्धान्** इति. मम या अनुसेवा, सा मामेव गृहीतवती. कः सन्देहः परिकरगुणेषु. अवरुद्धाश्च स्वाधीनाः भवन्ति. अलौकिके विश्वासार्थम् आह **दृष्टिं प्रपश्य** इति. दृष्टिं वितरामि तद्दर्शनार्थम्, अतः प्रपश्य इति अर्थः. प्रथमतः तेषां दानं, पश्चाद् दृष्टेः दानम्, आत्मगामित्वात् फलस्य. प्रसादानामपि विषयत्वाद् औत्पत्तिकदोषसहिताएव भविष्यन्ति इति आशङ्क्य दोषद्वयं परिहरति **अभयान्** इहामुत्रभयरहितान्. **अशोकाञ्च**. स्वापगमेन शोकञ्च न जनयन्ति इति अर्थः।।७।।

राजकन्यात्वाद् राज्यविषयकानेव [१]तान् बहु मन्यते, नतु अलौकिकान्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ये मे इत्यत्र. **मोक्षसाध्यः** इति. **''बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः''** (भाग.पुरा.११।१८।२२) इति भगवद्वाक्याद् इन्द्रियसंयमात्मकमोक्षसाध्यः. यस्मिन् अर्थविशेष एवकारो अभिप्रेतः तं स्फुटीकुर्वन्ति **अदेयत्वेन** इत्यादि. तथाच, नित्यं सम्बन्धेन तत्पदप्राप्तावपि या तदुक्तिः, सा तेषां तथाप्रसिद्धिबोधनार्था. तथा सति तत्सन्निधिवशाद् एवकारोऽपि तदुत्कर्षमेव ब्रूते इति तथा इति अर्थः।।७।।

१.'भोगान्' इति मां४.

इति आशङ्क्य पूर्वं भोग्यत्वेनैव ज्ञातान् विषयान् निन्दति **अन्ये पुनः** इति.

अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ–विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य।
सिद्धाऽसि भुङ्क्ष्व विभवान् निजधर्मदोहान्
दिव्यान् नरैर्दुरधिगान् नृपविक्रियाभिः।।८।।

अन्ये राज्यादयः, स्वर्गादयो वा **किं?** न किञ्चिद् इति अर्थः. तत्र हेतुम् आह **उरुक्रमस्य** भगवतः, **भ्रुवः उद्विजृम्भविभ्रंशितार्थरचनाः. भगवतः** इति सामर्थ्यम्. **उरुक्रमे**ति अद्भुतकर्मत्वम्, अन्यथा स्वदत्तं स्वयमेव कथं हन्यात्? कथं वा अपकारि भवेद्? आत्मा वा भूत्वा कथम् एवं कुर्याद्? इति. अनेन सर्वे दोषाः परिहृताः, चिकीर्षितापरिज्ञाने हेतुश्च उक्तः. अतएव तस्य **भ्रुवः** कालस्य, या **उद्विजृम्भा** आलस्येनापि ग्रहणं, तेनैव **विभ्रंशिता** अर्थरचनाः येषां राज्यादीनाम्. स्वरूपतोऽपि नश्यन्ति, यदर्थं क्रियन्ते तदपि न सम्पादयन्ति. **अर्थार्थं रचना** निर्माणम्. ननु अहमपि तादृश्येवेति यथायोग्यं फलं भवतु इति चेत् तत्र आह **सिद्धा असि** इति. नतु असिद्धा[१] पूर्ववत्. अतः पूर्वसिद्धविषयभोगे पातित्यं[२] भवति. न केवलं पूर्वनिषेधः क्रियते, किन्तु **विभवान् भुङ्क्ष्व.** विगतो भवो जन्म येभ्यः. विषयत्वेऽपि मोक्षसाधकान्. नाऽपि एते धर्मफलरूपाः, अन्यथा कृतो[३] धर्मः क्षीयेत प्रत्युत निजधर्मपातिव्रत्यादिकं दुहन्ति इति निजधर्माणां दोहो येभ्यः इति. न केवलं फलतएव उत्कृष्टाः, स्वरूपतोऽपि इति आह **नरैः दुरधिगान्** इति. वयं नृपाः इति विक्रिया सन्निपातकार्यं, तैः करणैः, मनुष्याः उपभोक्तारः, तान् विषयान् ग्रहीतुं न शक्नुवन्ति इति अर्थः।।८।।

एवं वरे दत्ते सहसा तद्हृदये सर्वं न समागतम् इति पूर्वविचारितमिव किञ्चित् प्रार्थयितुम् आरभते इति आह **एवं ब्रुवाणम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

एवं ब्रुवाणम् अबलाऽखिलयोगमाया–विद्याविचक्षणम् अवेक्ष्य गताधिरासीत्।
सम्प्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्व्रीडावलोकविकसद्धसिताननाह ।।९।।

आदौ तस्याः खेदनिवृत्तिम् आह **एवं ब्रुवाणम् अवेक्ष्य गताधिः आसीत्.** केवलमाहात्म्यार्थं न वचनं, स्त्रीषु अनृतं न दोषाय इति. तद् निवृत्यर्थम् आह

१.'नत्वमसिद्धा' इति मां४.जु.अ. २.पातिव्रत्यम्. क. घ. ङ. ३.कृतौ क. ग. ङ.

अखिलयोगमायाविद्याविचक्षणम् इति. अखिला या **योगमाया** नानाविधसर्वविषयरूपा, तस्याः वशीकरणमन्त्रादिरूपा **विद्या,** तत्र **विचक्षणो** अतिनिपुणः. अतः तादृशं ज्ञात्वा. तादृशं च वक्तारं, विचक्ष्य विचारेण सत्यं वदति इति ज्ञात्वा, **गताधिः आसीत्.** प्रार्थयितुम् आह **सम्प्रश्रये**ति. **प्रश्रयो** विनयः, **प्रणयः** स्नेहः. **प्रश्रिते**ति पाठे सम्यक् प्रकर्षेण यो अयम् आश्रितः, तस्य यः प्रणयः, तेन विह्वला गीः. विनयोऽपि वर्णोद्गमप्रतिबन्धकः, स्नेहोऽपि. [१]वाच्यार्थस्मरणेन ईषद् यत् स्मितं, कुलवधूत्वात्; तेन व्रीडापूर्वको यो अयम् अवलोको भावितार्थसूचकः, तेन **विकसद्धसिनानना** सती वक्ष्यमाणम् आह।।९।।

अभिप्रेतं ससाधनम् आह द्वाभ्यां **राद्धम्** इति.

देवहूतिः उवाच

राद्धं बत द्विजवृषैतदमोघयोग–मायाधिपे त्वयि विभो! तद् अवैमि भर्तः!।।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृद् अङ्गसङ्गो
भूयाद् गरीयसि गुणप्रसवः सतीनाम्।।१०।।

यद्यपि भर्त्रा भगवत्प्रसादाः इति उक्तं, तथापि इयं भगवत्वेनैव तं सेवितवतीति तदुक्तानां धर्माणां तस्मिन् स्वाभाविकत्वम् अनूद्य, तस्मिन् स्वज्ञानं प्रमाणीकरोति हे **द्विजवृष! एतद्** त्वदुक्तं, **त्वयि राद्धं** सिद्धमेव. **बत** इति हर्षे. द्विजानां मध्ये ये श्रेष्ठाः ब्रह्मविदः, तेषाम् एतत् सर्वं सिद्धम् इति ज्ञापनार्थं सम्बोधनं, कामपूरणार्थं वा. पशव्यो हि कामः. अमोघा या योगमाया, तस्याः अधिपे त्वयि सर्वं सिद्धमेव. काचिद् योगमाया प्रदर्शनार्थेऽपि भवति इति तद्व्यावृत्यर्थम् **अमोघा** उक्ता. तादृशस्यैव तथावचनं सत्यं भवति इति तथा अनुवादः. **तद् अवैमि** इति प्रमाणम्. **विभो!** इति सम्बोधनञ्च तत्साधकम्. **भर्तः!** इति सम्बोधनं स्वस्य तथाज्ञाने सामर्थ्यजननाय, भर्तुरेव धर्मेण भार्यायाः सामर्थ्यं भवति इति. विवाहे पणस्य कृतत्वात् तदतिरिक्तयाचने स्वधर्मः [२]क्षीयते इति पूर्वोक्तमेव स्मारयति **यः ते अभ्यधायि** इति. **सकृद् अङ्गसङ्गः** इति. यः त्वया पूर्वम् उक्तः "**यावत्तेजो बिभृयाद्**" (भाग.पुरा.३।२२।१९) इति, सः एकान्तः

१.'वाक्यार्थ' इति मां४.जु.अ. २.'क्षीयेत' इति मां४.अ.

सङ्गः. अमोघवीर्यश्च भवान्, अतो अर्थात् सकृदेव अङ्गसङ्गो अभ्यधायि. सच **समयः**. समयबन्धः उभयोः अनुल्लङ्घनार्थः. **सः भूयाद्** इति प्रार्थना. ततः किं स्याद्? इति आशङ्क्य आह सएव सकृद् अङ्गसङ्गः **सतीनां गुणप्रसवः**. पतिव्रतास्तु न कामुक्यः पतिव्रतमेव च व्रतं तासाम्. अतः तावदेव अपेक्षितम्. तद्गताश्च गुणाः आनन्दादयः तदैव भर्त्रे अभिव्यक्ताः भवन्ति. अग्रे च पुत्रद्वारा प्रकर्षेण सूयन्ते, तदैव च तासां जन्मसाफल्यम् इति।।१०।।

साधनम् आह **तत्र इतिकृत्यम्** इति.

तत्रेतिकृत्यम् उपशिक्ष यथोपदेशं येनैष मे कर्शितोऽतिरिरंसयात्मा।
सिद्ध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया दीनस्तदीश! भवनं सदृशं विचक्ष्व।।११।।

तत्र इतिकृत्यम् उपशिक्ष. स चेद् रसात्मकएव भवति सङ्गः, सपुरुषार्थो भवति. सकृद् भोक्तैव[१] ससामग्रीको भवेत्. रसश्च विभावानुभाव-व्यभिचारिभिः उत्पद्यते, ते सर्वे विस्तरेण उक्ताः कामशास्त्रे. तन्निकटएव ज्ञानदार्ढ्यार्थं द्रष्टव्यम् इति भावः. अतएव **यथोपदेशम्** इति उक्तम्. ''**इन्दुर्मन्दिरमिन्दिरा मृगमदः**'' (   ) इत्यादिः. उद्गतो रागो न अन्यथा निवर्तते इति आह **येन** इति. **एषः मे आत्मा रिरंसया अतिकर्शितः** क्लिष्टः. **एषः आत्मा** इति. देहो अन्तःकरणञ्च. न कामशास्त्रव्यतिरेकेण अयं रसयोग्यो भविष्यति. एतादृशोऽपि आत्मा रिरंसया क्लिष्टो येनैव सिद्ध्येत् सएव उपायः कर्तव्यः इति अर्थः. किञ्च, ते त्वया कृतो यो मनोभवः तेन धर्षितायाः. मनोभवेन निर्भर्त्सिता अहं, तत्पराभवोऽपि दूरीकर्तव्यः. अयञ्च देहः स्वाधीनः. विज्ञापनान्तरम् आह हे **ईश! सदृशं भवनं विचक्ष्व** इति।।११।।

तदा कर्दमो विचारितवान्. ''न इयं सम्बन्धमात्रम् अपेक्षते, किन्तु वैभवसहितम्. अतः तथैव कर्तव्यम्'' इति अभिप्रेत्य भगवद्दत्तयोगसामर्थ्येन तथैव कृतवान् इति आह **प्रियायाः** इति.

मैत्रेयः उवाच

प्रियायाः प्रियम् अन्विच्छन् कर्दमो योगम् आस्थितः।
विमानं कामगं क्षत्तः तर्ह्येवाऽऽविरचीकरत्।।१२।।

१.सकृद्भोक्तैव वा. ग., सकृद्भोक्तेव. ख. घ. ङ.मां४.

प्रेमविषया भार्या प्रिया, तस्याः प्रीतिं वाञ्छन् कर्दमो भगवद्दत्तं **योगम् आस्थितः**. योगबलेन **कामगं विमानम् आविरचीकरद्** आविष्कारं कृतवान्. योगे सर्वं स्थितमेव इच्छया प्रादुर्भवति. गृहात्मकमपि तत् कामगम्. **क्षत्तः** इति सम्बोधनम् अन्तःपुरवैभवसाक्षित्वाय।।१२।।

तद्विमानम् अनुवर्णयति भावनवकेन नवविधक्रीडार्थं नवभिः श्लोकैः **सर्वकामदुघम्** इति.

सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम् ।

सर्वर्द्ध्युपचयोद् अर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम् ।।१३।।

सर्वानेव कामान् दोग्धि इति **दिव्यम्** अलौकिकम्. **सर्वरत्नसमन्वितं** स्पष्टम्. सर्वाः **ऋद्धयः** सम्पत्तयः, तासाम् **उपचयः** आधिक्यं, तदेव उदर्को यस्य. तस्मिन् गृहे ऋद्धीनाम् उपभोगेन उपचयएव भवति, न अपचयः. उत्तरफलं लोके सर्वत्र अपचयः. मणिमयैः स्तम्भैः उपस्कृतम्. यथा शोभातिशयो भवति तथा रचितम्।।१३।।

दिव्योपकरणोपेतं सर्वकालसुखावहम् ।

पट्टिकाभिः पताकाभिः विचित्राभिरलङ्कृतम्।।१४।।

दिव्यानि यानि **उपकरणानि** वस्त्रपीठादीनि, तैः उपेतं, शीतादिसर्वकालेषु सुखकरम्. बहिः शोभातिशयम् आह **पट्टिकाभिः** इति. **पट्टिका** लम्बायमानपट्टवस्त्रनिर्मिताः. **पताकाः** जयपत्राङ्किताः. सर्वाएव विचित्राः. ताभिः अलङ्कृतम्।।१४।।

स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिः मञ्जुसिञ्जत्षडङ्घ्रिभिः।

दुकूलक्षौमकौशेयैः नानावस्त्रैर्विराजितम्।।१५।।

स्रग्भिः इति. **स्रग्भिः** मालाभिः. विचित्राणि **माल्यानि** पुष्पाणि यत्र. सर्वदा अम्लानत्वाय, आमोदमकरन्दसहितत्वाय च मञ्जु सिञ्जन्तः **षडङ्घ्रयो** भ्रमराः यत्र. **दुकूलक्षौमकौशेयाः** पट्टाम्बरविशेषाः, कीटजाः, तृणजाः, वल्कलजाश्च. नानाविधानि च वस्त्राणि, तैः यथायोग्यं **विराजितम्**।।१५।।

उपर्युपरि विन्यस्त–निलयेषु पृथक् पृथक्।

क्षिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनैः।।१६।।

उपर्युपरि च गृहाः उत्तरोत्तरं विरचिताः तत्र शतशः सन्ति. सर्वेष्वेव गृहेषु पृथक्-पृथक् क्लृप्तैः **कशिपुभिः** उत्तमशय्याभिः **कान्तं** रमणीयं, नतु गृहान्तरस्थिताः शय्याः पुनः अन्यत्र नेतव्याः. **पर्यङ्काः** खट्वाविशेषाः, व्यजनविशेषाः, आसनविशेषाश्च. तैः सर्वैरेव कान्तं रमणीयम्।।१६।।

कामशास्त्रानुसारेण सर्वबन्धबोधकानि चित्राणि तत्र वर्णयति

तत्र-तत्र विनिक्षिप्त-नानाशिल्पोपशोभितम्।
महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः।।१७।।

तत्र-तत्र इति. विशेषेण निक्षिप्तानि यानि नानाशिल्पानि, तैः उपशोभितम्. **तत्र-तत्र** गृहेषु महामरकतमणिभिः कृता स्थली भवति, तया च जुष्टम्. **विद्रुमाः** प्रवालाः, तैश्च वेदयो निर्मिताः भवन्ति. **वेदिः** अत्र उच्चोपवेशनभूमिः।।१७।।

द्वाःसु विद्रुमदेहल्या भातं वज्रकपाटवत्।
शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैर् अधिश्रितम्।।१८।।

द्वाःसु द्वारेषु, विद्रुमाणामेव देहली भवति, तयाऽपि **भातं** प्रकाशमानम्. वज्रमयकपाटयुक्तञ्च. **शिखरेषु** गृहाणां शिरोभागेषु इन्द्रनीलमणिविरचितेषु स्थापितैः सुवर्णकुम्भैः अधिश्रितम्. हेमकुम्भाः तम् आश्रित्यैव तिष्ठन्ति, तेषामपि ततएव शोभा।।१८।।

चक्षुष्मत्पद्मरागाग्र्यैः वज्रभित्तिषु निर्मितैः।
जुष्टं विचित्रवैतानैः सहारैर्हेमतोरणैः।।१९।।

चक्षुष्मन्तः तेजस्वन्तः पश्यन्तीव प्रतीयमानाः पद्मरागश्रेष्ठाः, वज्रमयीषु भित्तिषु निर्मिताः, तैरपि जुष्टम्. विचित्राणि **वैतानानि** चन्द्रातपाः, मुक्ताहारसहिताः, पत्राकारसुवर्णैः तोरणरूपैः सहिताः. तैरपि जुष्टम्।।१९।।

हंसपारावतव्रातैः तत्र-तत्र निकूजितम्।
कृत्रिमान् मन्यमानैः स्वान् अधिरुह्याधिरुह्य च।।२०।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

चक्षुष्मदित्यत्र. **चन्द्रातपाः** इति. लोकभाषायां 'चंदोवा' इति प्रसिद्धाः ।।१९।।

हंसादयः पक्षिविशेषाः, तेषां समूहैः तत्र–तत्र कूजितम्. चित्रपटेष्वपि ते हंसादयो विरचिताः. एते सत्याः. **कृत्रिमान्** चित्रगतान् **स्वान्** अकृत्रिमानेव मन्यमानैः कूजितम् इति पूर्वेणैव सम्बन्धः. **अधिरुह्य अधिरुह्य** इति काष्ठ–पाषाण–निर्मिताअपि हंसादयः सकृद् अधिरुह्यापि मुह्यन्ति इति. **अधिरुह्य अधिरुह्य** इति बहुवारमपि अधिरुह्य मुह्यन्ति इति शिल्पनैपुण्यम्।।२०।।

विहारस्थानविश्राम–संवेशप्राङ्गणाजिरैः।
यथोपजोषं रचितैः विस्मापनमिवात्मनः।।२१।।

विहारस्थानं क्रीडास्थानम्. **विश्रामस्थानं** बाहुयुद्धादिकं कृत्वा श्रमापनोदनार्थम् [१]उपवेशस्थानम्. **संवेशनं** सुखोपवेशनस्थानम्. **प्राङ्गणं** कोष्ठाद् बहिः अङ्गणम्. **अजिरम्** अङ्गणं, तैः **यथोपजोषं रचितैः** यथायोग्यं निर्मितैः. **आत्मनो** योगाधीशस्य कर्दमस्याऽपि **विस्मापनमिव**. यद्यपि योगमायावैभवं जानाति तथापि तादृक् कदापि न दृष्टम् इति **विस्मापनमिव** इति उक्तम्।।२१।।

अभिलषितगृहे दृष्टेऽपि स्वस्य शरीरं न तथा योग्यम् इति तस्याः अनुशयं मत्वा तस्याऽपि तथात्वाय ताम् उपदिशति इति आह **ईदृग् गृहम्** इति.

ईदृग् गृहं तत् पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा ।
सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत् कर्दमः स्वयम्।।२२।।

पूर्वोक्तरूपं गृहं न अतिप्रीतेन चेतसा पश्यन्तीं स्वयोगबलेन सर्वभूत–हृदयाभिज्ञः तूष्णीमेव स्थितां तां स्वयमेव कर्दमः अवोचत्।।२२।।

तद्वचनम् आह **निमज्ज्य** इति.

निमज्ज्याऽस्मिन् ह्रदे भीरु विमानम् इदम् आरुह ।
इदं शुक्लकृतं तीर्थम् आशिषां यापकं नृणाम् ।।२३।।

हे **भीरु!** उत्तमे, भयञ्च न कर्तव्यं, ज्ञात्वैव भीरुत्वं यतः स्नानार्थं प्रेष्यते इति. **अस्मिन् ह्रदे निमज्ज्य इदं विमानम् आरुह.** किं शीतोदके असंस्कृतायाः मज्जनेन इति आशङ्क्य आह **इदं शुक्लकृतं तीर्थम्** इति. शुक्लनारायणेन निर्मितं तीर्थं सर्वेषाम् **आशिषां** कामनानां प्रापकम्. अस्मिन् प्रविष्टे यथा तव मनोरथः, तादृशं तव शरीरं भविष्यति इति भावः. नित्यं स्नाने च महतां तथा अभ्यनुज्ञा न

१.'उपवेशन' इति मां४.

अस्ति इति न पूर्वं सिद्धिः ।।२३।।

तथैव कृतवती इति आह **सा तद्भर्तुः** इति द्वाभ्यां

सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा ।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान् ।।२४।।
अङ्गं च मलपङ्केन सञ्छन्नं शबलस्तनम् ।
आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम् ।।२५।।

सा देवहूतिः, **भर्तुः** वाक्यं समादाय, **सरजं वासो वेणीभूतान् च मूर्द्धजान् मलपङ्केन छन्नम् अङ्गं बिभ्रती सरस्वत्याः सरः आविवेश.** वाक्यग्रहणे हेतुः **भर्तुः** इति. सर्वो हि भारः तस्यैव. सम्यग् आदानं देहसिद्धौ इदमेव साधनम् इति ज्ञानपूर्वकं ग्रहणम्. **कुवलयेक्षणा** उत्पल-दलायताक्षी. अनेन क्रोधेर्ष्याखेदादयो भावाः निवारिताः. वाक्यविश्वासादेव नेत्रप्रसादः, नतु सामग्री तादृशी इति वक्तुं विपरीतां सामग्रीं वर्णयति रजःसहितं मलिनं वस्त्रम्. बाह्यं साधनम् आवश्यकम् असमीचीनम् इति सूचितम्. वेणीभूताः मूर्द्धजाः बहिरङ्गभूताः, अङ्गञ्च. प्रत्यहं जायमानं मलं जलसम्बद्धं पङ्कप्रायं जातम्, अतः तदुद्धारः कठिनः इति अर्थः. **शबलौ** विवर्णौ स्तनौ यस्य इति अङ्गविशेषणम्. उपभोग्यावयवानां सुतराम् अयोग्यत्वं सूचितम्. सरस्वती सृष्टिहेतुः, अतो अनया नूतनं सम्भविष्यति इति तत्र प्रवेशः. **शिवं** कल्याणकरं, स्नानेऽपि न अपकारं जनयति इति उपकारस्तु वाक्याद् भविष्यत्येव, अपकारस्तु न भविष्यत्येव इति अर्थः ।।२४-२५।।

ततः किम् आसीत्? तद् आह **सा अन्तःसरसि** इति.

साऽन्तःसरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः ।
सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः ।।२६।।

स्वस्य आनन्दांशो देवहूतिः, तस्याः तत्त्वम् इतः तिरोहितं योगं निमित्तीकृत्य सहस्रस्त्रीरूपेण जातम्. अतो न ताभिः काचित् क्षतिः. सरोमध्ये गृहम् एकम् अद्भुतम्; इदन्तु भगवत्कृतमेव, ऋषिणा निर्मितम् इति अवचनात्. स्वनिर्मितस्त्रीणाम् उपभोगे दोषो देवहूतिविवाहश्च व्यर्थः स्यात्. तद्गतोऽपि आनन्दः पुनः अस्यामेव सङ्क्रमिष्यति. बहिः उपचारास्तु सेत्स्यन्ति. ताः पुनः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सान्तःसरसि इत्यत्र. **तत्त्वम्** इति. देवाकारणहेतुत्वम् ।।२६।।

भगवदीयाः इति देवहूतिदेहस्थितिपर्यन्तं स्थित्वा पुनः भगवद्योगमायायामेव प्रवेक्ष्यन्ति. तस्मिन् गेहे विद्यमाना **दशशतानि कन्यकाः ददर्श.** सर्वासाम् एकवयस्त्वं भगवत्कृतमेव इति ज्ञापयितुम् आह **सर्वाः किशोरवयसः** इति. सहस्रसङ्ख्यया कामशास्त्रानुसारेण तत्रत्योत्कर्ष–प्रतिपादनार्था. लोहितोत्पले स्त्रीस्वभावे रागासक्तिः सूचिता. गन्धनिरूपणम् अन्यत्र सङ्क्रमणार्थम्।।२६।।

ततो यद् जातं तद् आह **तां दृष्ट्वा** इति.

तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः।
वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम् ।।२७।।

देवहूतिं दृष्ट्वा ताः स्त्रियः परिचर्यार्थं विश्वासार्थञ्च प्राञ्जलयो भूत्वा प्रोचुः. तासां वचनम् आह **वयम्** इति. **कर्मकरीः तुभ्यं,** त्वत्सेवार्थं वयं **कर्मकरीः** दासीः, अतएव **शाधि** आज्ञापय ते **किं करवाम** इति. अभीप्सितार्थो वक्तव्यः, शरीरसंस्कारस्तु अस्माकं स्वधर्मएव इति सः चेद् न वक्तव्यः इति भावः।।२७।।

अतः तथैव सेवां[१] कृतवत्यः इति आह **स्नानेन** इति द्वाभ्याम्.

स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम्।
दुकूले निर्मले नूत्ने ददुरस्यै च मानदाः।।२८।।
भूषणानि परार्ध्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च।
अन्नं सर्वगुणोपेतं पानं चैवामृतासवम्।।२९।।

आदौ अमूल्येन स्नानेन स्नापयित्वा मलापकर्षणं स्नानम् आदौ. सुखकरम् अङ्गमर्दादिस्नानं द्वितीयम्. कर्पूराद्यमूल्यद्रव्यैः स्नानं तृतीयम्. '**स्नान**'शब्दः क्रियावाची तद् द्रव्येष्वपि वर्तते, 'अग्निहोत्र'शब्दवत्. अतःस्नानेन स्नापयित्वा इति उक्तम्. **मनस्विनीं** मानवतीम्. मनोः पुत्रीं वा, **मानवीम्** इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्नानेन इत्यत्र. **अग्निहोत्रशब्दवद्** इति. यथा ''**यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति**''(बह्वृचब्राह्मण) इत्यादौ क्रियावाचकोऽपि 'अग्निहोत्र'शब्दो ''**यस्याग्निहोत्रम् अधिश्रितम् अमेध्यम् आपद्येत**''(तत्रैव) इति बह्वृचब्राह्मणे तद्द्रव्यवाचकः तद्वद् इति अर्थः।।२८।।

१.सर्वाः. ख. ङ.मां४.

पाठे. **च**काराद् उद्वर्तनादि सर्वे संस्काराः अन्तःपरिधानार्थम् उपरिवस्त्रार्थञ्च[२] **दुकूले. निर्मले** इति. नूतनयोः औत्पत्तिकमलसम्भवात्. पक्षान्तरव्यावृत्यर्थम् आह **नूत्ने** इति. **अस्यै च ददुः** इति. तस्याः सम्माननार्थं पुरतो बहून्येव दुकूलानि स्थापितानि, सर्वाभ्यः सखीभ्यो दत्वा परिधेहि इति. तथा सति तस्याः सम्माननं भवति. यतः एताः **मानदाः. भूषणानि** नानाविधानि च दत्तवत्यः. **पराध्यानि** अमूल्यानि. गुणतोऽपि अमूल्यानि भवन्ति इति **वरीयांसि** इति उक्तम्. अतिसुन्दराणि कान्तियुक्तानि च. **अन्नं** भोजनार्थम्. सर्वे गुणाः व्यञ्जनादयः. **पानं** च पानकादि, अमृतरूपम् आसवरूपञ्च. मादकानि हि द्रव्याणि कामशास्त्रे रसोत्पत्यर्थम् उक्तानि अनिषिद्धानि जातीफलादीनि, नतु मदिरादीनि निषिद्धानि. अन्यथा भर्त्रा सह स्मरसङ्ग्रामो न स्यात्।।२८-२९।।

दर्पणं दर्शनार्थं दत्तवत्यः. प्रमाणार्थं तद्दृष्टमेव तस्याः रूपं वर्णयति **अथे**ति चतुर्भिः, कामपृतनारूपायाः तस्याः चतुरङ्गत्वाद्.

अथाऽऽदर्शे स्वम् आत्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम्।
विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर् बहुमानितम्।।३०।।
स्नातं कृतशिरःस्नानं सर्वाभरणभूषितम्।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत् काञ्चननूपुरम्।।३१।।
श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम्।।३२।।
सुदता सुभ्रुवा श्लक्ष्ण-स्निग्धापाङ्गेन चक्षुषा।
पद्मकोशस्पृधा नीलैर् अलकैश्चोपशोभितम्।।३३।।

सर्वालङ्करणानन्तरम् **अथ** भिन्नप्रक्रमेण. स्वरुच्यनुसारेण विरचनार्थम् **अथ** इति आह. **आत्मानं** देहं, **स्वं** स्वकीयम्. सखिष्वपि आत्मभावो जातः इति तद्व्यावृत्त्यर्थं 'स्व'पदप्रयोगः. **स्रग्विणं** मालायुक्तम्. **विरजानि** अम्बराणि यस्याः. देहोऽपि विरजः. कृतं **स्वस्त्ययनं** शुश्रूषणं यस्य. प्रतिबिम्बेऽपि कन्यानां सान्निध्यात् कन्याभिः बहुमानितम्.

स्नातम्. पुनः कृतं शिरःस्नानं येन. अनेन स्त्रीणां सर्वदा न शिरः स्नानं,

२.उपरिष्टार्थम् (?) ख. ग. ङ.मां४

स्नानद्वयं च सूचितं भिन्नप्रकारेण. सर्वाभरणानि नित्यानि आवश्यकानि. **निष्कं** पदकं ग्रीवायां यस्य. **वलयिनम्** इति स्वाभाविकाभरणाद्यतिरिक्तो वलयः. कूजती शब्दायमाने काञ्चननिर्मिते नूपुरे यस्य.

श्रोण्योः अध्यस्ता या काञ्ची सुवर्णमयी बहुरत्नयुक्ता, हारश्च मुक्तानाम् अमूल्यः. **रुचकः** कुङ्कुमबिन्दुः. '**च**'कारात् सर्वाण्येव अनुक्तानि. तैः सर्वैरेव भूषितम्.

पद्मकोशस्पृधा मुखेन उपशोभितम्. **लसन्मुखम्** इति पाठेऽपि वक्रेण पद्मकोशस्पृधा लसत् सम्पूर्णमेव मुखम्. **सुदता** इति वक्रविशेषणम्. शोभनाः दन्ताः यस्मिन् इति. शोभना या भ्रूः. श्लक्ष्णः स्निग्धो अपाङ्गो यस्मिन्, तादृशचक्षुषा नीलैः अलकैश्च मुखस्थैः पार्श्ववर्तिभिः सर्वैरेव लसद् मुखं यस्य।।३०-३३।।

एवम् आत्मानं दृष्ट्वा तस्य भोग्यतां मत्वा भोक्तारं सस्मार इति आह **यदा सस्मार** इति.

यदा सस्मार ऋषभम् ऋषीणां दयितं पतिम् ।
तत्र चाऽऽस्ते सह स्त्रीभिः यत्राऽऽस्ते स प्रजापतिः।।३४।।

आत्मनः **पतिं, दयितं** परमप्रेमास्पदम्, **ऋषीणाम् ऋषभम्.** स्वधर्मेण लौकिकधर्मेण वैदिकधर्मेण च भजनीयः कर्दमो भवति इति विशेषणत्रयम्. सिद्धस्थानत्वाद् मनःसिद्धिः जाता इति आह **तत्र च आस्ते** इति. पूर्वं यत्र प्रजापतिः आस्ते तत्रैव स्त्रीभिः सह स्वयमपि आस्ते।।३४।।

एवं स्वानुभूतं वैभवं दृष्ट्वा भर्तुः माहात्म्ये परमाश्चर्यं प्राप्तवती इति आह **भर्तुः** इति.

भर्तुः पुरस्ताद् आत्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा ।
निशाम्य तद् योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत ।।३५।।

भर्तुः अग्रे स्वात्मानं स्त्रीसहस्रयुतं यदा अपश्यत्, तदा तस्य योगगतिं दृष्ट्वा साधनापरिज्ञानात् परमं संशयम् आपद्यत, निर्द्धारणे प्रमाणाभावात्. संशयकार्यम् आश्चर्यं वा आपद्यत।।३५।।

स्वमाहात्म्ये ज्ञाते पश्चात् तया सह सङ्गं कृतवान् इति आह **सः ताम्** इति.

स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीम् अपूर्ववत् ।
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीतरुचिरस्तनीम् ।।३६।।

कृतं मलस्नानं यया इति बाह्यशुद्धिः उक्ता. **ताम्** इति आन्तरी. **अपूर्ववद्** नूतनवद् **विभ्राजन्तीम्** इति नूतनरसोत्पादनार्थम् उक्तम्. एतावताऽपि अलङ्कारेण विवाहकालरूपमेव प्राप्तवती, नतु अलौकिकं किञ्चिद् जातम् इति वदन् तस्याः स्वभावसौन्दर्यं वर्णयति **आत्मनो बिभ्रतीं रूपम्** इति. सम्यग् **वीतौ** कञ्चुकादिना वेष्टितौ रुचिरौ स्तनौ यस्याः।।३६।।

स्वदत्तं वैभवम् अधिकम् आह **विद्याधरीसहस्रेण** इति.

विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम् ।
जातभावो विमानं तद् आरोहयद् अमित्रहन्।।३७।।

ताः भगवदीयाः विद्याधर्यः, **''सिद्धा विद्याधराश्चैव योगएव प्रतिष्ठिताः''** (   ) इति. **सुवाससम्** इति कामभावे उद्दीपनार्थम्. तथा वर्णनायाः फलम् आह **जातभावः** इति. जातो भावः कन्दर्पो यस्य. **तद्विमानं** ताम् **आरोहयत्**. **अमित्रहन्** इति श्रोतुः कामाभावार्थम्. अन्यकामलीलाश्रवणेन जायमानः कामः दुष्टो भवति इति अमित्रत्वम्।।३७।।

तस्य कामलीलाम् आह **तस्मिन्** इति चतुर्भिः.

तस्मिन् अलुप्तमहिमा प्रिययाऽनुरक्तो विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवान् अपीच्यः ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः।।३८।।

रागो हि महत्वनाशको भवति इति दृष्टादृष्टविभेदेन तदभावार्थम् आह **अलुप्तमहिमा** इति. स्वयमपि **विद्याधरीभिः उपचीर्णवपुः**. रञ्जकद्रव्येणैव **प्रियया अनुरक्तः**, प्रियागतरागेण प्रियात्वाद् रक्तः इति अर्थः. **उत्कचकुमुद्-गणवान्** विकसितकुमुद्गणयुक्तः चन्द्रः. उद्गताः कचाः यासां, कौ मुदं(?) याभ्यः; केशवत्यः सुखदायिन्यो याः स्त्रियः तद्गणावृतः. **अपीच्यः** स्त्रीणां प्रियः. सौन्दर्यं गुणसूचकम्. रसालम्बनत्वं स्त्रीरुच्या. तासामपि रसविकाशकत्वं तच्छास्त्राभिज्ञत्वं बोधयति. स्त्रीभिः च सेवितवपुः, तत्कार्योपयोगि-कोमलत्वापादिकाः हि ताः. तासु रागाभावार्थं तया रञ्जनम् उक्तम्. **तस्मिन्** प्रसिद्धे विमाने च बभ्राजे. राजकन्या हि वैभवम् अपेक्षते, अतः प्रथमतः

शोभातिशयो वर्णितः. सर्वलोकप्रसिद्धाश्च ते जाताः इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति **ताराभिः आवृतइव उडुपतिः नभःस्थः** इति. आकाशवद् विमानस्य विशालता च सूचिता. प्रदेशान्तरे यथा ताराः अन्याएव आवरकाः भवन्ति, तथा अत्रापि इति. यथा शय्यादिपदार्थाः तत्र-तत्र तथा स्त्रियोऽपि इति ज्ञापितम्।।३८।।

विहारम् आह **तेन** इति.

तेनाऽष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्र-द्रोणीष्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ।।३९।।

अष्ट ये लोकपालाः, तेषां विहारस्थानभूताः **कुलाचलेन्द्रस्य** मेरोः द्रोण्यः तासु रेमे इति सम्बन्धः. यथा धर्मे देशादयो अङ्गभूताः, एवं कामेऽपि. अक्षयो हि सः रसः तत्र-तत्र अभिव्यज्यते, यथा आकरेषु अर्थः. तस्य देशस्य रसोत्पादने अनुभावसान्निध्यम् आह **अनङ्गसखामारुतो** दाक्षिणात्यो वातः, कामजनको अन्यो वा. रमणे वा तस्य अत्यन्तापेक्षा. अतः तेन **सौभगासु**. सिद्धानां स्तोत्राणि च प्रोत्साहकानि, अन्यथा वैराग्यादिभी रसः उपहन्येत. **द्युधुनी** गङ्गा, तस्याः पाताः सीतादयः प्रवाहाः. पतितानां वातैः शिवः स्वनो यासु. अशुद्धे हि भौतिकानि पापानि सङ्क्रान्तानि भवन्ति, तदभावार्थम् उक्तम्. **धनदवद्** इति द्रव्यक्षत्र्यभावः. **ललना** स्त्री तत्समूहयुक्तः. परितः स्त्रीणां दर्शनम्।।३९।।

न केवलं तानि स्थानानि दृष्टानि, किन्तु तत्र रमणमपि कृतवान् इति आह

वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके ।
मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः ।।४०।।

वैश्रम्भके सुरसने इति. वैश्रम्भकादीनि दिक्पालकानां भोगोपवनानि षट् स्थानानि गणितानि [१]भगवद्दत्तानि इति ज्ञापयितुम्. सा हि रामात्वं प्राप्ता. बन्धादिकरणात् स्वयमपि तया रतः।।४०।।

एवम् अलौकिकोत्कर्षम् उक्त्वा तत्रत्यसजातीयेभ्यः उत्कर्षम् आह **भ्राजिष्णुना** इति.

भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा ।

१.भगवत्कृतानि क. घ. ङ.

वैमानिकान् अत्यशेत चरंल्लोकान् यथाऽनिलः ॥४१॥

वैमानिकान् अयम् **अत्यशेत,** सर्वप्रकारेण तान् अतिक्रम्य स्थितः. तेषां विमानानि न स्वप्रकाशभूतानि, तेषां च मर्यादा विमानस्य, नहि ते भूमौ समायान्ति, नापि 'सिद्ध'पदाद् अग्रे गच्छन्ति, इदन्तु कामगम्, अपरिमितञ्च एतत्. अतः चतुर्भिः गुणैः अत्यशेत. क्रिययाऽपि अतिक्रमम् आह **चरन् लोकान्** इति. **लोकाद्** लोकान्तरं गच्छन्, अनिलइव, तान् अत्यशेत इति अर्थः॥४१॥

एवं भोगम् उपपाद्य यतः एतावत्वं तद् आह **किं दुरापादनम्** इति.

किं दुरापादनं तेषां पुंसाम् उद्दामचेतसाम् ।
यैराश्रितस्तीर्थपदः चरणो व्यसनात्ययः॥४२॥

प्रतिनियतभोगाः यस्य कस्यापि न भवन्ति, तथा सति मर्यादाभङ्गः स्यात्. सर्वं च भवति तेन सह. तत्रापि मर्यादा. अतो अस्य कथम् एतद् जातम्? इति आशङ्क्य तद् उपपादयति **यैः आश्रितः तीर्थपदः चरणः**. ''**चरणं पवित्रं विततं पुराणम्**''(त्रि.म.ना.उप.७।३) इति श्रुत्या चरणस्य व्यापकत्वं, सनातनत्वम्, अपहतपाप्मत्वञ्च. आश्रितानामपि तथात्वसम्पादकत्वञ्च. अतः सर्वगतो भोगः चरणाश्रयेन न विरुध्यते. तारतम्यं च पापात्, तदपि अपहतपाप्मत्वाद् न भवति. पुराणत्वाच्च न तत्र कालस्य प्रतिबन्धकत्वम्. अतः स्वभावतएव सर्वे भोगाः चरणाश्रये भवन्ति. किञ्च, कामिताअपि भवन्ति. तीर्थानि कामितदानार्थे [१]क्लृप्तानि, तान्यपि चरणे सन्ति इति आह तीर्थानि पादे यस्य इति. सर्वाणि च फलानि विचित्रव्यसने संसारे भोक्तुम् अशक्यानि, व्यसनानां बाधकत्वात्. तान्यपि चरणो दूरीकरोति इति आह **व्यसनात्ययः** इति. व्यसनानाम् अत्ययो यस्माद् ''**अतिपाप्मानमरातिं तरेम**''(तैत्ति.आर.१०।११) इति वाक्यात् चरणस्य व्यसननाशकत्वं सिद्धम्. तस्य आश्रयणं च न सर्वेषां भवति, किन्तु केषाञ्चिदेव इति. तदर्थं देहान्तःकरणयोः गुणद्वयम् आह **पुंसाम्** इति स्वातन्त्र्यं, **तेषाम्** इति प्रसिद्धिः, तदुभयधर्मवत्वेन. केचनैव लोकादिभ्यः स्वतन्त्राः भवन्ति. अन्तःकरणधर्मम् आह **उद्गतं दाम** चित्ते येषाम्. बन्धकं हि दाम, अपरिमितः चरणः, नहि बद्धे परिच्छिन्ने स्थापयितुं शक्यते. अतो

१.कृतानि क. घ.

अन्तःकरणस्य देहस्याऽपि प्रतिबन्धकत्वाभावाद् उभयोपभोग्यः. तेषां न कोऽपि दुरापः. दुःखेन **आपादनं** यस्य इति परिच्छिन्नस्यैव भवन्ति।।४२।।

एवं सोपपत्तिकं भोगम् उक्त्वा उपसंहरति **प्रेक्षयित्वा** इति.

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया ।
बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत ।।४३।।

तस्याः कामपूरणे पत्नीत्वमेव साधकम्. योगबलेन न एकत्र प्रदर्शनं, किन्तु **स्वसंस्थया यावान्.** यो यत्र यावान् वर्तते, तां तत्रैव नीत्वा प्रदर्शितवान्. बहूनि आश्चर्याणि यत्र, अन्यथा न पश्येत्. तथा दर्शने सामर्थ्यं **महायोगी** इति. **स्वाश्रमः** सिद्धक्षेत्रम्।।४३।।

अन्तरिक्षे अपत्यजनने रुद्रदैवत्यो भवतीति ऋषीणाम् उत्पत्तिसिद्ध्यर्थं भूमौ आगत्य प्रजाम् उत्पादितवान् इति आह **विभज्य** इति.

विभज्य नवधाऽऽत्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम् ।
रामां निरमयन् रेमे वर्षपूगान् मुहूर्तवत् ।।४४।।

नवधा आत्मानं विभज्य, भिन्नभावेन नवरूपाणि कृत्वा, तस्याः तथा सहने सामर्थ्यं, **मानवीम्** इति. बहुधा करणे हेतुः **सुरतोत्सुकाम्** इति भिन्नभावे वैलक्षण्ये ज्ञानेऽपि तस्याः शङ्काभावाय आह **रामाम्** इति. रामायां हि लज्जा, भयञ्च न उत्पद्यते, तथाभावादेव तस्याः रामात्वम्. अतः तां नितरां **रमयन्,** स्वयञ्च **वर्षपूगान् मुहूर्तवद् रेमे.** कालस्य गणनायां हि वर्षाः भवन्ति, आनन्दानुभवाभावे च गणना. अतः सुरतान्तकालः सुखानुभवहेतुः मुहूर्तमात्रम् इति तथैव सर्वं कालं मेने।।४४।।

तस्याअपि कालज्ञानाभावम् आह **तस्मिन्** इति.

तस्मिन् विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता ।
न चाऽबुध्यत तं कालं पत्याऽपीच्येन सङ्गता।।४५।।

आश्रयधर्मादेव प्रकाशमानात् सूर्यादिगत्या कालाज्ञानम्. शय्या च निद्रादिजननाद् मोहिका. तत्रापि सा रतिकरी, अन्तःस्थितम् आनन्दं प्रकटयति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्मिन् इत्यत्र. 'विमान'शब्दार्थमात्रोपयोगिनम् आहुः **आश्रये**त्यादि.

अतो भोगकालो यावान् जातः, तञ्च न अबुध्यत. आत्मानं पूर्वावस्थाञ्च. [1]पतिश्च परमसुन्दरः, तत्कालगुणेषु अनुकूलः।।४५।।

उभयोः कालाज्ञानेऽपि स्वयं भोगकालम् आह **एवम्** इति.

एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः ।
शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक् ।।४६।।

योगानुभावेन दम्पत्योः रममाणयोः सतोः शतं शरदो व्यतीयुः. शतं वर्षाः जाताः. भोगे शरत्कालः उत्तमः इति 'शरत्'प्रयोगः. तथापि कामे न तृप्तिः, अनलत्वात् तस्य. अतः तावानपि कालो मनागेव जातः. अतिसूक्ष्मकालो **मनाक्** ।।४६।।

एवं रमणान्ते तस्यां बीजाधानं कृतवान् इति आह **तस्याम्** इति.

तस्याम् आधत्त रेतस्तां भावयन् आत्मनाऽऽत्मवित् ।
नोधा विधाय रूपं स्वं सर्वसङ्कल्पविद् विभुः।।४७।।

तामेव भावयन् इति स्त्र्यपत्यर्थसिद्ध्यर्थम् उक्तम्. नहि भावनामात्रेण तथा भवति इति आशङ्क्य आह **आत्मविद्** इति. सहि आत्मानं जानाति, अतः सर्वज्ञत्वात् तथाकरणञ्च. एतच्च स्वतएव, नतु अन्योपदेशात्. तद् आह **आत्मना** इति. स्वरूपं च नवधा विधाय. अन्यथा एकैव कन्या, एकरूपा वा स्युः. अतः **नोधा विधाय.** नवधा इत्यत्र परोक्षकथनार्थं कृतसम्प्रसारणस्य प्रयोगः. स्वमेव रूपं कृतम् इति न दूषणम्. **सर्वेषां** मरीच्यादीनां **सङ्कल्पो** भार्याप्राप्त्यर्थः, तं जानाति इति. तथा करणे हेतुः. **विभुः** इति सामर्थ्यम्।।४७।।

एवं पितृतः उत्पत्तिम् उक्त्वा मातृतः आह **अतः** इति.

अतः सा सुषुवे सद्यो देवहूतिः स्त्रियः प्रजाः ।
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धयः।।४८।।

सद्यएव सुषुवे, नतु दशमासानन्तरम्. देहनिष्पत्तिस्तु आधानकर्तुः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रकाशमानो यः आश्रयस्य विमानस्य विगतमानलक्षणो धर्मः तं प्राप्य इति अर्थः. पञ्चमी अत्र ल्यब्लोपे. **च**कारसमुच्चितम् अर्थम् आहुः **आत्मानम्** इत्यादि ।।४५।।

१.'पतिरत्र' इति मां४ पाठः.

विभुत्वात्. तत्त्वम् 'अतः'शब्देन उक्तम्. प्रकर्षेण जाताअपि स्त्रियएव सुषुवे. यतः सा देवहूतिः देवप्रकृतिकैव. ताः वर्णयति **सर्वाः ताः** इति. **चारुसर्वाङ्ग्यः** इति अङ्गवैकल्याभावः सौन्दर्य्यातिशयश्च उक्तः. जातिः स्त्रियश्च जाताः इति आह **लोहितोत्पलगन्धयः** इति. रागार्थं भोगसमयएव गन्धप्राकट्यार्थञ्च 'लोहितोत्पल'पदम्।।४८।।

एवं कृत्वा कर्दमः चलितुम् आरम्भं कृतवान्. तदा तस्याः तज्ज्ञानं जातम् इति आह **पतिम्** इति.

पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदाऽऽलक्ष्योशती सती।
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता ।।४९।।
लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याऽश्रुकलां शनैः।।५०।।

लिखन्ती इति. **प्रव्रजिष्यन्तं** सन्न्यासप्रकारेण गमने कृतनिश्चयम्. तद्गमनम् **आलक्ष्य** इङ्गितैः ज्ञात्वा, कमनीया सती, प्रतिबन्धम् अकृत्वा विज्ञापनामेव कृतवती इति आह **उवाच ललितां वाचम्** इति द्वितीयश्लोके सम्बन्धः. **विक्लवः** चित्तखेदः, स्वस्यैव तथा दोषो जातः इति. **स्मयमाना** काष्ठहास्यं कुर्वाणा. **हृदयेन** च **विशेषेण दूयता** दुःखं प्रापयता उपलक्षिता. स्वचिन्तां ख्यापयितुम् **अधोमुखी** भूत्वा **भूमिं लिखन्ती.** देहकान्तिसहितैव तथा वदति इति ज्ञापयितुं **नखमणिश्रिया पदा** इति. लेखने करणम् उक्तम्. **नखाएव मणयः,** तेषां च तथैव श्रियो यत्र. **ललितां** मनोहराम्. रोदने नहि कार्यं सेत्स्यतीति **अश्रुकलां निरुद्ध्य. शनैः** इति पूर्वभावापगमः सूचितः।।४९-५०।।

सप्तभिः तस्याः वाक्यानि आह **सर्वं तद्** इत्यादिभिः

देवहूतिः उवाच

सर्वं तद् भगवान् मह्यम् उपोवाह प्रतिश्रुतम् ।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुम् अर्हसि ।।५१।।

परलोकार्थविज्ञप्तिः विवाहः कन्यकासु च।
भोगाभावस्य कथनं सत्सङ्गश्च प्रसङ्गतः ।।१।।
फलम् आवश्यकं तस्य सर्वं व्यर्थं ततोऽन्यथा।

स्वदोषाभावकथनं कृपासिद्ध्यै निरूपितम्॥२॥

यथा पूर्वं सुरतं प्रार्थितम्, एवम् इदानीम् अभयं प्रार्थयते. सतां हि सकृदेव प्रार्थना उचिता, तथापि स्वदैन्यात् पुनः प्रार्थनम् इति ज्ञापयितुं पूर्वप्रार्थिते शेषो न अस्ति इति आह **सर्वम्** इति. यत् प्रतिश्रुतं तत् सर्वमेव भगवान् मह्यम् उपोवाह समीपे उद्वासम् आनीय दत्तम्. तथा च न दातव्यम् अवशिष्यते. **अथापि** शरणागतायाः **अभयं दातुम् अर्हसि** यथा शरणागतस्य वाक्यं प्रार्थितं क्रियते, तथा [1]शरणागतिसिद्ध्यर्थम् अभयमपि देयम्, अन्यथा प्रपन्नः पालितो न भवेद् इति. अनेन मम परलोकार्थम् उपायः कर्तव्यः इति विज्ञापितम्॥५१॥

दुहितणां च विवाहः कर्तव्यः इति आह **ब्रह्मन्** इति.

ब्रह्मन् दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः।
कश्चित् स्याद् मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम्॥५२॥

दुहितृभिः पतयो विमृग्याः स्वसमाः. **तुभ्यं** तव. दैन्यम् उक्तम् इति केचित्.

कन्यानां पतिसम्बन्धः त्वन्मनोरथसिद्धये।
तथापि संशयो भावी तस्मात् त्वं ताः प्रयच्छ हि॥१॥

प्रार्थनान्तरम् आह **त्वयि वनं प्रव्रजिते मे विशोकाय कश्चित् स्याद्** इति. [2]कन्यास्तु गमिष्यन्ति, पुत्रो देयः इति अर्थः॥५२॥

ननु एतन्मिषेण पुनः भोगं याचसे इति आशङ्क्य आह **एतावता अलम्** इति.

एतावताऽलं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो!।
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः॥५३॥

एतावतैव व्यर्थं **व्यतिक्रान्तेन कालेन अलम्.** अतः परम् अविशिष्टे काले पुरुषार्थः साधनीयः इति अभिप्रायः. गतकालस्य दोषम् आह **इन्द्रियार्थ-प्रसङ्गेन** इति. इन्द्रियार्थेषु प्रकृष्टः सङ्गो यस्मात्, तादृशेन कालेन कृत्वा **परित्यक्तः परो** भगवान् **आत्मा** येन. तादृशस्य स्वार्थनाशकस्य एतावतैव अलम्॥५३॥

तर्हि किं कर्तव्यम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **इन्द्रियार्थेषु** इति.

इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः।

१.शरणागत क. ख. ङ.मां४. २.'कन्यकास्तु' इति मां४ पाठः.

अजानन्त्या परं भावं तथाप्यऽस्त्वभयाय मे।।५४।।

साधनन्तु सत्सङ्गः, तद् मम प्रसङ्गादेव जातम्. यथा कस्यचिद् भोगार्थं भक्षिता शर्करा औषधं भवति, तथा **इन्द्रियार्थेषु** विषयभोगेषु **सज्जन्त्या** मया **त्वयि** प्रकृष्टः सङ्गः **कृतः,** तथापि सत्सङ्गो भवत्येव. यद्यपि सत्वेन ज्ञानं न वृत्तं सत्प्रकारकश्च[१] सङ्गो न भवति. तथापि वस्तुतः सत्सङ्गो भवति इति फलिष्यति इति आह **अजानन्त्या** इति. ते **परमो भावो** अतिसामर्थ्यं यद्यपि न ज्ञातम्. सेवादिषु सत्प्रकारेणाऽपि सङ्गो अस्ति, पतिव्रतात्वात्. न सेवायाः भोगोपयोगः, भोगश्च अनिषिद्धः परं माहात्म्यज्ञानमेव[२] अवशिष्यते. अज्ञानेऽपि तत् सफलम् अस्तु इति प्रार्थना **तथापि मे अभयाय अस्तु** इति।।५४।।

ननु क्रियातः फलं, नतु द्रव्यतः. सताऽपि द्रव्येण असत्कार्यकरणे असदेव फलम्, असताऽपि सत्कार्यकरणे सदेव इति. तस्मात् कुतो[१] न सत्सङ्गः? इति चेत् तत्र आह **सङ्गः** इति.

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुः असत्सु विहितो धिया।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते।।५५।।

भवेद् एतद् एवं, यदि कार्यं सदसतोः भिन्नं भवेत्. द्रव्यसामर्थ्यादेव कार्यस्य सत्वम्, अन्यथातु असत्वमेव. यतः सर्वएव **सङ्गो धिया विहितः संसृतेः हेतुः** भवति. अर्थात् तद् असत्सु भवति, अतः सङ्गो न समीचीनः स्वतः. सएव साधुषु चेत् क्रियते, तदा **निःसङ्गत्वाय कल्पते.** साधवो हि स्वसम्बन्धात् क्रियात्वमेव निवारयन्ति फले का चिन्ता? अतः सतां बलिष्ठत्वाद् न[२] क्रिया फलवती. अतो मम सत्सङ्गो अस्तु इति सिद्धम्।।५५।।

तर्हि एतादृशोऽपि किम् अपेक्ष्यते? इति आशङ्क्य आह **न इह यत्कर्म** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सङ्गः इत्यत्र. **कार्यम्** इति. क्रियारूपं कार्यम्. **सतां बलिष्ठत्वात् क्रिया फलवती** इति. अयम् अर्थः. जैमिनीये नये ''**हिरण्यमात्रेयाय ददाति**''(शाबरभाष्ये २।२।१) ''**सोमेन यजेत**''(तैत्ति.सं.३।२।२।३) इत्यादौ 'क्रिया'पदस्य अपूर्व-प्रतिपादकत्वात् क्रियैव मुख्या फलहेतुः. लोकेऽपि न्यायागतद्रव्येण द्यूताद्याचरणे राजदण्डादिदर्शनाद् अन्यायागतद्रव्येण गवादिपालने अन्नादिदाने च सत्कारादि-

---

१.कृतो ख. ग. ङ. च.मां४. २.तत्क्रिया ग. ङ.

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।

न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥५६॥

त्रिविधकर्मणएव सफलत्वं, येन कर्मणा धर्मो भवति, वैराग्यं, भक्तिः वा. यस्तु न तादृशकर्मकर्ता सः जीवन्नपि मृतएव. जीवतो मृताद् वैलक्षण्यं कर्मकरणम्. तच्च कर्म स्वार्थं, स्वाम्यर्थम्, इष्टार्थं वा चेद् भवेत् तदा सफलम्. [1]रोचनार्थं चेद् विपरीतं फलं, तैः मरणस्य आवश्यकत्वात्. अतो मृतएव इति उक्तम्॥५६॥

तादृशं च मया कृतम् इति आह **सा अहम्** इति.

साऽहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम् ।

यत् त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात्॥५७॥

तथा करणे त्वन्मायामोहितत्वमेव हेतुः. तद् आह **सा** एतादृश्यपि **अहं** विवेकवती, मत्तोऽपि अधिकस्य तव **भगवतो मायया नूनं वञ्चिता**. कार्यवशाद् अवसीयते, अन्यथा **त्वां विमुक्तिदं प्राप्य** संसारबन्धनादपि कथं **न मुमुक्षेय,** न मुक्ता जाता अस्मि. सत्वाद् मोक्षदातृत्वम्. **बन्धनं** कामादिः, **विमुक्तिः** कालाद् मुक्तिः. तस्माद् न केवलं स्वदोषाद् अहमेव जाता, किन्तु त्वया मोहिता इति त्वयैव उद्धारः कर्तव्यः इति भावः॥५७॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे त्रयोविंशाध्यायविवरणम्॥

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दर्शनात् च क्रियैव फलहेतुः यद्यपि दृश्यते, तथापि प्रस्तुतवाक्योक्तसङ्गतिक्रियायां द्रव्यादेव फलप्रतिपादनेन लोकेऽपि तथा दर्शनेन च व्यभिचाराद् न क्रियात्वेन फलवत्त्वेन नियमः किन्तु द्रव्य-क्रिययोः मध्ये यद् बलिष्ठं तत् फलवद् इति बलिष्ठत्वेन फलवत्त्वेन नियमः. एवञ्च वरकालादिदृप्तैः असुरः, शिवेन च कृतो यज्ञादिध्वंसोऽपि युज्यते. ''**तपो न तत्क**''(   ) इत्यादि भारतवाक्यमपि सङ्गच्छते इति. शेषम् अतिरोहितार्थम् ॥५५॥

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे त्रयोविंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्॥

१.चोरार्थम् ग. च.

।। चतुर्विंशाध्यायविवरणम् ।।

चतुर्विंशे तथाऽध्याये मोक्षो बुद्धिश्च वर्ण्यते।
कपिलो हि हरिर्बुद्धिः उपदेशो भजिस्तथा।
ऋणत्रयपरित्यागो मोक्षार्थं तस्य वर्ण्यते।।१।।

पूर्वाऽध्याये देवहूतेः वैराग्यं प्रार्थना च उक्ता, अन्ते च आशाभावः सूचितः. तत्र प्रथमम् आशाभावं निराकरोति इति आह **निर्वेदवादिनीम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

निर्वेदवादिनीम् एवं मनोर्दुहितरं मुनिः।
दयालुः शालिनीम् आह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन्।।१।।

निर्वेदो वैराग्यम्. विषयभोगेन निर्विण्णा सा. स्वस्य तावत्पर्यन्तमेव पतित्वम् इति सङ्केताद् मनोः एषा दुहिता इति उक्तम्. **मुनिः** इति भाव्यर्थज्ञानम्. सान्त्वने हेतुः **दयालुः** इति. **शालिनीं** विनीतां मनोहरां वा. यद्यपि देवगुह्यं न वक्तव्यं, तथापि एषा विरक्ता, सत्कुलप्रसूता, विनीता च इति गुह्यकथनम्. किञ्च, **शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन्.** शुक्लनारायणेन ''**अथाहं स्वांशकलया**'' (भगा.पुरा.३।२१।३२) इति पुत्रो भविष्यामि इति उक्तं, तदपि स्मरन्. सतामपि मोक्षसाधकत्वं भगवत्सम्बन्धजननात्।।१।।

मोक्षदस्तु भगवानेव. सः चेत् पुत्रो भविष्यति, तदा सर्वमेव कार्यं सेत्स्यति इति तां तथा बोधयन् आश्वासयति **मा खिदः** इति.

[१]**ऋषिः उवाच**

मा खिदो राजपुत्रीत्थम् आत्मानं प्रत्यनिन्दिते!।
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भम् अदूरात् सम्प्रपत्स्यते ।।२।।

इत्थं स्वजन्मवैफल्यादिवचनैः, हे **राजपुत्रि!** त्वं **मा खिदः. आत्मानं** स्वात्मानं मां वा लक्ष्यीकृत्य, कृतस्य कर्मणो नाशकत्वाभावाद्, अन्यथा अन्ते वैराग्यं न स्यात्. तद् आह हे **अनिन्दिते** इति. अनिन्दितत्वस्य निदर्शनम् आह

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ चतुर्विंशाध्यायं विवरिषवः पूर्ववदेव सङ्गतिं बोधयितुम् अर्थं सङ्गृह्य आहुः सार्द्धेन **चतुर्विंशे**त्यादि. स्पष्टम्.

भगवान् ते गर्भम् अदूरात् सम्प्रपत्स्यते इति. **अक्षरः** इति ज्ञानरूपः, अन्तर्याम्यधिकरूपश्च. **अदूराद्** इति मद्गमनात् पूर्वमेव. **गर्भम्** इति पुत्रो भविष्यति. यदि स्वच्छन्दक्रीडया काऽपि उपहतिः भवेत्, तदा भगवान् पुत्रत्वेन न आविर्भवेत्. आविर्भावावश्यकत्वं च भगवद्वाक्याद् निश्चितम् इति भावः ।।२।।

तर्हि साधनं न कर्तव्यम् इति आशङ्क्य आह **धृतव्रता** इति.

धृतव्रताऽसि भद्रं ते दमेन नियमेन च ।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज ।।३।।

साधनानि सिद्धे भगवति प्रवर्तन्ते. यदा भगवान् स्वयमेव आगमिष्यामि इति मन्यते, तदा साधानानि कृतानि भगवन्तं बोधयन्ति, प्राप्नुवन्ति, वशीकुर्वन्ति, उत्पादयन्ति. यथा लोके स्वभावतो भोक्तारम् अतिथिनिमन्त्रणादिना वशीकृत्य भोजयन्ति, नतु अभोक्तारम् उपायशतैरपि. यतो भगवान् स्वयं समागन्ता, अतः साधानानि कर्तव्यानि. तत्र कानिचिद् देहशुद्ध्यर्थम् आदौ कर्तव्यानि तानि तव न कर्तव्यानि इति आह **धृतव्रता असि** इति. पातिव्रत्यव्रतं धृतमेव त्वया वर्तते. अत:परं त्वयि गते गमिष्यति इति चेत् तत्र आह **भद्रं ते** इति. ते भद्रम् अस्तु. अस्मद्वाक्यादेव व्रताकरणेऽपि व्रतिनइव तव फलं भविष्यति इति आशीः. सिद्धे व्रते भगवत्प्रसादार्थं पञ्च साधनानि कर्तव्यानि इति आह. **दमः** इन्द्रियनिग्रहः कर्तव्यः. **नियमो** भगवदीयैरेव धर्मैः व्यवहर्तव्यम् इति. नियमाः स्नानादयो वा देहस्य; तदा **च**कारेण प्रथमाः ग्राह्याः. **तपः** प्रसिद्धं कृच्छ्रादिरूपम्. **द्रविणानि** द्रव्याणि सुवर्णादीनि भगवदर्थं कर्तव्यानि इति एकं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

धृतव्रतेत्यत्र. **सिद्धे** इति. प्रसन्नेऽपि साधनावश्यकत्वं व्युत्पादयन्ति **यदे**त्यादि **शतैरपि** इत्यन्तेन. 'द्रविण'पदस्य दाने अन्वये पूर्वोक्तो अर्थो भज्यते इति पक्षान्तरम् आहुः **दानमे**व इति. पञ्चमम् इति अर्थः. ननु 'द्रविण'पदस्य दानेन अन्वये को दोषो येन एवं व्याख्यायते? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. 'द्रविण'पदस्य दानविशेषणत्वे मूलस्थबहुत्वस्य अवान्तरविशेषपरता वक्तव्या तदापि तयोः द्रविण-दानयोरेव मुख्यतया ताभ्यामेव तल्लाभे बाधकाभावाद् द्विवचनापत्त्या आहुः, **वचनं व्यर्थं स्याद्** इति अर्थः. श्रीभागवतस्य गीताविस्तरत्वाद् गीतानुसारेण

साधनम्. द्रविण-**दानं** च अन्यद्, दानमेव वा. अन्यथा अवान्तरबहुत्वे बहुवचनं व्यर्थं स्यात्, "**प्रयतात्मनः**" (भग.गीता९।२६) इति वाक्यात्. दमो नियतः. व्रतानां हरितोषजनकत्वाद् आविर्भावे तेऽपि प्रयोजकाः. "**यज्ञो दानं तपश्चैव**"(भग.गीता १८।५) इति. भगवदुक्तशास्त्रार्थकरणे भगवान् परितुष्यति इति तपःप्रभृतीनां ग्रहणम्. 'द्रविण'-पदेन च यज्ञाः [१]भगवन्मखरूपाः उक्ताः. श्रद्धा अत्र सर्वाङ्गम्. ननु सिद्धे किमिति एतावन्ति साधानानि? तत्र आह **ईश्वरम्** इति. सः न येन केनापि नियम्यः, अतो असिद्धवदेव साधनानि कर्तव्यानि इति अर्थः।।३।।

ततः किं भविष्यति? इति आशङ्क्य आह **सः त्वया** इति.

स त्वयाऽऽराधितः शुक्लो वितन्वन् मामकं यशः ।
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिम् औदर्यो ब्रह्मभावनः ।।४।।

मया आराधितोऽपि त्वया चेद् एवम् आराधितः. सहि **शुक्लः,** निर्दोषपूर्णगुणविग्रहो **मामकं यशो वितन्वन्,** लोके कर्दमस्य पुत्रो जातः इति कीर्तिं वितन्वन्, **ते हृदयग्रन्थिं** भेत्स्यति[२]. अदोषार्थे, आवश्यकार्थे, विश्वासार्थे च आह **औदर्यः** इति. उदरे भवः औदर्यः. ननु तस्य मत्पुत्रस्य कथं मद् अज्ञानदूरीकरणसामर्थ्यं? तत्र आह **ब्रह्मभावनः** इति. ब्रह्म भावयति अनुभावयति स्वस्मिन् अन्यस्मिन् च इति. अतः त्वय्यपि ब्रह्म आविर्भाव्य **हृदयग्रन्थिं छेत्ता.** एवम् आश्वासनम् उक्तवान्।।४।।

भर्तृवाक्यात् तथैव कृतवती इति आह **देवहूत्यपि** इति.

मैत्रेयः उवाच

देवहूत्यपि सन्देशं गौरवेण प्रजापतेः ।
सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थम् अभजद् गुरुम् ।।५।।

मध्ये कर्दमोऽपि ध्यानारूढः इति ज्ञातव्यम्. **देवहूत्यपि प्रजापतेः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

दमादीनां पञ्चानाम् आवश्यकत्वं साधयन्ति **प्रयते**त्यादिना. **ते** इति. नियमाः इति अर्थः।।३।।

१.'भगवन्मखक्रियारूपाः' इति मां४. २.'छेत्स्यति' इति मां४.

सन्देशम् अत्यादरेण **सम्यक् श्रद्धाय,** तद्वाक्ये विश्वासं कृत्वा, तमेव **पुरुषं** शुक्लनारायणरूपं **कूटस्थम्** अन्तर्यामिणम् अविकृतं वा, ज्ञानमार्गेऽपि भगवत्त्वेन सेव्यं, **गुरुम् अभजत्.** उक्तेनैव प्रकारेण इति ज्ञातव्यम्।।५।।

तदा भगवान् आविर्भूतः इति आह **तस्याम्** इति.

तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यम् आपन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ।।६।।

बहुकालं तया भजने क्रियमाणे **तस्यां भगवान् जज्ञे** आविर्भूतः. तस्यां वा बहुकालं स्थित्वा भगवान् बहिः आविर्भूतः इति आद्यएव अर्थः. को अयम् आविर्भूतः? इति अंशव्यावृत्यर्थं **भगवान् मधुसूदनः** इति उक्तम्. यो हि योगनिद्रानिमीलिताक्षः सः मधुसूदनः, सएव अयम् इति. पुत्रप्रकारेण च आविर्भविष्यति इति आह **कार्दमं वीर्यम् आपन्नः** इति. ते नहि गुरुणा भाव्यम्, अतो मर्यादारक्षार्थं प्रथमं कर्दमवीर्ये आविर्भूतः पश्चाद् आविर्भविष्यति. नच एवं सति प्राकृतत्वं शङ्कनीयम् इति आह **अग्निरिव दारुणि** इति. काष्ठं गोमयपिण्डं वा प्राप्य आविर्भवन्, उच्चावचत्वं, वृद्धिक्षयौ च [१]प्राप्नुवन् न अग्निः प्राकृतो भवति, जायते वा किन्तु आविर्भावएव. तत्रैव स्थितः तत्रैव आविर्भवति इति ज्ञापयितुं 'दारुणि' इति उक्तम्।।६।।

भगवदवतारो जातः इति ज्ञापनार्थं तदभिज्ञानानि आह **अवादयन्** इत्यादिभिः. भगवतः समागमनम् एकं, देवानां वाद्यादिवादनानि च बहूनि; तानि आह द्वयेन

अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः।
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा।।७।।

व्योम्नि घनाघनाः निबिडमेघाः, **वादित्राणि** मेघरूपाण्येव, **अवादयन्. गन्धर्वाश्च गायन्ति** स्म. **अप्सरसश्च नृत्यन्ति स्म.** उत्सवे यथा अन्यत्र अन्यप्रेरिता न तथा इति आह **मुदा** इति।।७।।

पुष्पवृष्टिश्च जाता इति आह **पेतुः** इति.

पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैर् अपवर्जिताः।

---

१. प्राप्नुवन् अग्निः. क. ख. घ. ङ.मां४

प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च ।।८।।

अन्यकृतव्यावृत्यर्थं **दिव्याः** इति. **खेचरैः** देवैः, द्रष्टुकामैः आगतैः **अपवर्जिताः** त्यक्ताः. वृष्टिकरणे प्रेम्णा विकलाअपि ते इति सूचितम्. **दिशः प्रसेदुः, अम्भांसि** च, प्राणिनां **मनांसि च.** त्रितयप्रसादो अलौकिकः आधिदैविकरूपः, वादित्रादीनि आधिभौतिकानि।।८।।

ब्रह्मणः समागमनम् आधिदैविकम्. तद् आह **तत्कर्दमाश्रमपदम्** इति त्रिभिः.

तत् कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम् ।
स्वयम्भूः साकमृषिभिः मरीच्यादिभिर् अभ्ययात्।।९।।

तद् बिन्दुसरोरूपं कर्दमस्य आश्रमपदम्. **सरस्वत्या परिश्रितम्** इति ब्रह्मणो निःशङ्कागमने हेतुः. तस्य अलौकिकं ज्ञानम् अस्ति इति ज्ञापयितुं **स्वयम्भूः** इति उक्तम्. **ऋषिभिः** सनकादिभिः मरीच्यादिभिश्च सह **अभ्ययात्**।।९।।

न केवलं कर्दमदर्शनार्थं, किन्तु भगवान् आविर्भूतः इति ज्ञात्वा इति आह **भगवन्तम्** इति.

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्वेनांऽशेन शत्रुहन् ।
तत्त्वसङ्ख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वान् अजः स्वराट्।।१०।।

भगवान् स्वयं परब्रह्मभूतएव. सत्वेन स्वांशेन सत्वं गृहीत्वा, ज्ञानकलया, **तत्त्वानां सङ्ख्यानं** साङ्ख्यशास्त्रं, तस्य **विज्ञप्त्यै** ज्ञापनार्थम् **अज**एव स्वयं जातः इति **विद्वान्.** यतो अयं **स्वराट्** स्वस्मिन्नेव राजते।।१०।।

आगत्य प्रथमं कर्दमं सभाजितवान् इति आह **सभाजयन्** इति.

सभाजयन् विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम् ।
प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमं चेदम् अभ्यधात् ।।११।।

यावत् तेन कृतं, तत् सर्वं **विशुद्धेन चेतसा सभाजयन्,** साध्वेव कृतम् इति अङ्गीकुर्वन्, **चिकीर्षितं** प्रव्रज्यादिकं च सभाजयन्. **प्रहृष्यमाणैः असुभिः** इन्द्रियैः, प्राणैरेव वा उत्फुल्लैः, वक्ष्यमाणं कर्दमं प्रति **अभ्यधात्**।।११।।

तेन हि पूर्वं ऋणत्रयापाकरणं कृतम्. तत्र पितृ ऋणे ब्रह्मा पिता, तद्

अभीष्टं कर्तव्यं ; तत् कृतम् इति आह **त्वया** इति.

ब्रह्मा उवाच

त्वया मेऽपचितिस्तात! कल्पिता निर्व्यलीकतः।

यन् मे सञ्जगृहे वाक्यं भवान् मानद! मानयन् ।।१२।।

जाताः मम बहवः पुत्राः, त्वयैव मे परम् **अपचितिः** प्रत्युपकारलक्षणपूजा कृता. तत्रापि **निर्व्यलीकतः**. भगवति प्रसन्ने, शास्त्रार्थे च ज्ञाते, उत्कटे च कामे असति, यो मद्वाक्यानुरोधेन विपरीतइव अपकर्षमपि सोढ्वा, महता कष्टेन आज्ञां कृतवान्. तदेव आह **यद् मे सञ्जगृहे वाक्यम्.** एतदेव सम्यग् ग्रहणम्, अन्तःकरणपूर्वकं ग्रहणाद् **मानयन्. मानद!** इति सम्बोधनं वैपरीत्येऽपि ब्रह्मणा महान् उपकारः कृतः इति हृदये सम्माननम्. वाक्यकरणं, स्वस्मिन् रागाभावे सति करणं, तस्मिन् दोषान् अनारोप्य करणं, तदुपकारित्वेन अकरणं, सोपकारत्वेन करणं च इति. एवं पञ्च अङ्गीकरणं सर्वोत्कृष्टम्।।१२।।

एतावदेव करणम् इति आह **एतावती**ति.

एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः ।

बाढम् इत्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः ।।१३।।

पितरि पुत्रकैः एतावत्येव शुश्रूषा कर्तव्या. कायिकसेवायाः सा अनुरोधाद् लौकिकी. अतः पितृत्वेन गुरुत्वेन च यत् करणं तद् अलौकिकमेव कर्तव्यम्. तद् वाक्यमेव. मनस्तु तत्रैव एतस्य इति निश्चीयते, पूर्वरूपत्वात्. **पुत्रकैः** इति बहुवचनं सर्वैः सम्भूय वा कर्तव्यं प्रत्येकाशक्तौ इति ज्ञापितम्. **गुरोः वचो बाढम् इति अनुमन्येत. गौरवेण** इति स्वकृतार्थता. **बाढम्** इति मत्सराभावः. **अनुमननं** तथैव करणम्. **गुरोः** इति तस्मिन् दोषाभावः, पश्चादेव वचनात् स्वस्मिन् रागाभावश्च. प्रजाः सम्यक् सृष्टाः इति तात्पर्यम्।।१३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एतावत्येव इत्यत्र. किं तद् अलौकिकम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तद्वाक्यमेव** इति. उक्तमेव कर्त्तव्यम् इति अर्थः. ननु वाक्येऽपि कश्चिद् अनुरोधः सम्भाव्यते इति मनएव कर्त्तव्यम् इति वाच्यम् इति चेत्, तत्र आहुः **मनस्तु** इत्यादि. तथाच, तद् अत्र वाक्यकरणेनैव सिद्धम् इति अर्थः।।१३।।

तस्य विनियोगम् आह **इमाः दुहितरः** इति.

इमा दुहितरः सभ्य! तव वत्स! सुमध्यमाः ।

सर्गम् एतं प्रभावैः स्वैः बृंहयिष्यन्त्यनेकधा ।।१४।।

सभ्य इति. तस्य स्वतो रागाभावो द्योतितः. **वत्स!** इति आदरे. **सुमध्यमाः** इति सौन्दर्येण गुणाः उक्ताः. अतएव **स्वैरेव प्रभावैः,** स्वस्मिन् भर्तृग्रहणधर्मैः, **एतं सर्गम् अनेकधा बृंहयिष्यन्ति.** अतः कन्याभिरेव जगत् पूर्यते इति न अतःपरं किञ्चित् कर्तव्यम्।।१४।।

अतः तदर्थम् ऋषिभ्यः प्रयच्छ इति आह **अतः त्वम्** इति.

अतस्त्वम् ऋषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि ।

आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि ।।१५।।

ऋषिमुख्येभ्यो मरीच्यादिभ्यः. **यथाशीलं यथारुचि** इति भगवत्कृतसम्बन्धं स्वाभाविकं च सम्बन्धम् अनतिक्रम्य. **अद्य** इति विशिष्टः कालः. यद्यपि भगवत्कृतत्वात् सहजत्वाच्च सम्बन्धस्य न त्वत्कृतिः अपेक्ष्यते, तथापि स्वयं दानेन भुवि यशो विस्तारय।।१५।।

एवम् अग्रिमाज्ञां दत्वा कपिलं भगवान् अयम् इति ज्ञापयति

वेदाहम् आद्यं पुरुषम् अवतीर्णं स्वमायया ।

भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुनिम् ।।१६।।

वेद अहम् इति. **अहं वेद** इति प्रमाणम्. आद्यः पुरुषो भगवान्, स्वमायया स्वेच्छापूरिकया, लोकानाम् अन्यथात्वं ज्ञापयन्त्या, तादृश्या प्राणिनां निधिरूपं देहं बिभर्ति. **कपिलः** इति लोके प्रसिद्धः. अनेन पुत्रगताः सर्वे गुणाः उक्ताः. **मुनिम्** इति तस्मिन् तव न किञ्चित् कर्तव्यम् इति सूचितम्।।१६।।

स्वस्वरूपम् उक्त्वा कार्यम् आह **ज्ञाने**ति.

ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणाम् उद्धरन् जटाः ।

हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः।।१७।।

सहि ज्ञानं, विज्ञानं, योगञ्च प्रकटयिष्यति. **ज्ञानं** साङ्ख्यं, **विज्ञानं** ससाधनम् अनुभवः, **योगो** अष्टाङ्गः. यानि कर्माणि आधिभौतिकानि तानि साङ्ख्येन उन्मूलितानि भवन्ति; यानि आध्यात्मिकानि तानि अनुभवेन, यानि

आधिदैविकानि तानि योगेन इति त्रिभिः कृत्वा कर्मणां परस्परमिश्रणेन याः जटाः, ताः **उद्धरन्** ऊद्ध्र्वम् उत्पाटयन्. भविष्यति इति अर्थात्. त्रितयप्रवर्त्तकत्वाय लक्षणानि आह **हिरण्यकेशः** इति. सुवर्णवर्णाः केशाः साङ्ख्यसिद्धिहेतवः. पद्मसदृशे ईक्षणे यस्य. अनुभवलक्षणम् एतत्. पद्ममुद्रा पदाम्बुजे यस्य. एतद् योगलक्षणम्।।१७।।

एवं कर्दमम् उक्त्वा देवहूतिम् आश्वासयति **एषः मानवि** इति.

एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः ।
अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्वा गां विचरिष्यति ।।१८।।

मनोः पुत्री! इति सम्बोधनात् स्ववंशे भगवदाविर्भावो न दोषाय. **कैटभार्दनः** इति मूलपुरुषः उक्तः. क्रियापरो मधुसूदनः, ज्ञानपरः कैटभार्दनः इति उभयोः प्रतिबन्धकयोः नाशात्. अतएव अविद्याकृतं संशयग्रन्थिं, सर्वशास्त्रार्थ-श्रवणेऽपि हृदये संशयापादकं मोहग्रन्थिं, **छित्वा** स्वयमपि लोके तत्प्रचारं कुर्वन्, **गां विचरिष्यति** ।।१८।।

किञ्च. अयं च महान् भविष्यति परमार्थतः, लौकिकालौकिक-प्रसिद्धिभ्यां च महान् भविष्यति. तत्र परमार्थोत्कर्षम् आह **अयं सिद्धगणाधीशः** इति.

अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैरभिष्टुतः ।
लोके 'कपिल' इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्द्धनः ।।१९।।

सिद्धाः योगादिना; तेषां नियामको यः, परमार्थतएव सिद्धो भवति. **साङ्ख्याचार्याः** ये साङ्ख्यस्य प्रवर्तकाः, **तैः अभिष्टुतः** इति अलौकिकोत्कर्षः. **लोके च 'कपिलः' इति आख्यां गमिष्यति**. एवंविधोऽपि **ते कीर्तिवर्द्धनो** भविष्यति, देवहूत्याः पुत्रः कपिलः इति।।१९।।

एवम् आश्वासनं कृत्वा अग्रिमकार्यसिद्ध्यर्थं ततो गतः इति आह **तौ आश्वास्य** इति.

मैत्रेयः उवाच

तावाश्वास्य जगत्स्रष्टा कुमारैः सहनारदः ।
हंसो हंसेन यानेन त्रिधाम परमं ययौ ।।२०।।

ननु अल्पे कार्ये कथं स्वयम् आगतो गतश्च इति? तत्र आह **जगत्स्रष्टा** इति. यस्मिन् कार्ये क्रियमाणे जगत्सृष्टेः अभिवृद्धिः भवति, तदेव कर्तव्यम्, अतो गमनं, कार्यान्तरार्थञ्च आगमनम् इति. **कुमारैः** सनकादिभिः सह, **सहनारदश्च.** एतेषां विवाहे उपयोगाभावात्. **हंसः** इति क्षीरनीर-विवेककर्ता. अतो अयं मरीच्यादीन् स्थापयित्वा, अन्यांश्च गृहीत्वा [१]गतः. हंसएव यानं, तेन; प्रसङ्गाद् अन्यत्र गमनाभावः. **त्रिधाम** त्रयाणां लोकानां धाम तेजोरूपं, गुणानां वा साम्यस्थानम्. ब्रह्मणो बहूनि स्थानानि सन्ति इति तद्व्यावृत्यर्थं **परमम्** इति सत्यलोकं **ययौ**।।२०।।

गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः ।
यथोदितं स्वदुहितः प्रादाद् विश्वसृजां ततः ।।२१।।

गते इति. ततः **शतधृतौ** ब्रह्मणि गते, ब्रह्मणा प्रेरितः, यथा ब्रह्मणा उदितं, तथा [२]सादृश्यरुची विचार्य, विश्वसृजां मध्ये एकैकस्मै एकैकां प्रादात्. ब्रह्मणो गाम्भीर्यकथनाय शतधृतिप्रयोगः शतं धृतयो यस्य इति।।२१।।

विवाहान् आह **मरीचये** इति सार्द्धाभ्यां

मरीचये कलां प्रादाद् अनसूयाम् अथाऽत्रये ।
श्रद्धाम् अङ्गिरसेऽयच्छत् पुलस्त्याय हविर्भुवम् ।।२२।।
पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम् ।
ख्यातिं च भृगवेऽयच्छद् वसिष्ठायाऽप्यरुन्धतीम् ।।२३।।
अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते ।
विप्रर्षभान् कृतोद्वाहान् सदारान् समलालयत् ।।२४।।

हविर्भूः इति कन्या. **गतिः** इति नाम. **युक्तां** यथायोग्याम्, अन्यथा पुलह-पुलस्त्यौ राक्षसप्रकृतिकौ. **क्रिया** इति नाम. क्रतोः दक्षिणायाएव तुल्यत्वेऽपि सत्यक्रियायाअपि तुल्यत्वम् इति, **सतीं क्रियाम्** इति उक्तम्. **अथर्वा** वेदाभिमानी देवः, अथर्वाङ्गिरसां ब्रह्मप्रतिपादकत्वात्, तद्भार्या शान्तिः. सोऽपि ब्रह्मपुत्रएव इति ज्ञातव्यम्. ननु अस्य निवृत्तिपरत्वात् किं भार्यया कर्तव्यम् इति आशङ्क्य आह **यया यज्ञो वितन्यते** इति. यथा ब्रह्मप्रतिपादकत्वं तथा

---

१. समागतः क. च. २. सादृश्यं तु क. घ. सादृश्यं रुचिम्. ग.मां४.

यज्ञोपयोगित्वमपि. तथा सति **यया** शान्त्या यज्ञविस्तारः क्रियते सा इयम् इति अर्थः. तेभ्यः कन्याः दत्वा भूषणादिभिः उपलालयद् इति आह **विप्रर्षभान्** इति. ते ब्राह्मणाः स्व-स्वमतानुसारेण विवाहं कृतवन्तः. अतः स्वतन्त्रविवाहे सामर्थ्यं **विप्रर्षभान्** इति. स्वकन्याअपि तेषु स्त्रीभावमेव प्राप्ताः इति सदारान् सस्त्रीकान् सम्यग् अलालयत्।।२२-२४।।

ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम् ।
प्रातिष्ठन् नन्दिम् आपन्नाः स्वं स्वम् आश्रममण्डलम् ।।२५।।

ततः इति. **ततः ते** सर्वएव मन्त्रद्रष्टारः, अलौकिकं ज्ञात्वा, तासु सृष्टिं चिकीर्षवः, **कृतदाराः** तासु कन्यासु कृतं दारत्वं यैः इति. धर्म-धर्मिणोः अभेदात् कृतदाराः इति उक्तम्. **तं** श्वशुरं, **निमन्त्र्य** गच्छामि इति उक्त्वा, **नन्दिं** परमां मुदम् आपन्नाः, ततएव प्रत्येकं विभक्ताः, **स्वं स्वम् आश्रममण्डलं** प्रति **प्रातिष्ठन्**।।२५।।

एवम् ऐहिकं सर्वं समाप्य तस्य मुक्तिम् आह यावद् अध्यायपरिसमाप्ति **स चावतीर्णम्** इत्यादिना.

आज्ञां भगवतो लब्ध्वा तस्यैवाज्ञानुसारतः।
यदा सर्वं परित्यज्य विचरेत् स हि मुच्यते ।।१।।

भगवन्तं ज्ञात्वा, स्तुत्वा, पश्चात् प्रार्थनीयम् इति नियमाद् आदौ ज्ञानम् इति वक्तुं तस्य पुत्रे प्रतिपत्तिम् आह **सच अवतीर्णम्** इति.

स चाऽवतीर्णं त्रियुगम् आज्ञाय विबुधर्षभम् ।
विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत ।।२६।।

त्रियुगो धर्मो यज्ञात्मको भगवान्. यथा सृष्टौ क्रियात्मा, वराहः तथा ज्ञानात्मकः कपिलः इति; अन्यथा सृष्टिः अनन्ता स्याद्, भगवल्लीलात्वात्. **विबुधर्षभं** देवोत्तमं विष्णुम्. सैव हि परमा देवता इति वैदिके मार्गे देवतैव सर्वोत्तमा. ब्रह्माऽपि देवतैव, तथा आत्मा. अतो विबुधश्रेष्ठत्वम् उक्तम्. प्रतिवासिषु ऋषिषु परिज्ञानाभावार्थं भार्यायाश्च दुःस्वाभावार्थं, **विवक्ते** एकान्ते, **उपसङ्गम्य** निकटे गत्वा, पादौ स्पृष्ट्वा, **प्रणम्य,** भगवान् इति निश्चित्य, सम्यक् स्तोत्ररूपं वाक्यम् अभाषत।।२६।।

अहो इति.*

अहो पापच्यमानानां निरये स्वैर् अमङ्गलैः।
कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः॥२७॥

स्वगृहे भगवदवतारो न स्वधर्मसाध्यः, तादृशधर्माभावात्. किन्तु सर्वदेवानां प्रसादसाध्यः, यतः ते भगवदवयवाः. प्रसादेऽपि नो [1]अस्माकं धर्मो अस्ति, किन्तु बहुकालदुःखानुभावे[2] दीनत्वे सति दयया प्रसादः. शास्त्रेतु देवतानां न दयया प्रसादः, किन्तु कर्मणैव इति विपरीतदर्शनाद् **अहो** इति आश्चर्यम्. **स्वैः अमङ्गलैः** पापैः अनन्यभोग्यैः, अत्यन्तं पच्यमानानां महता **कालेन देवताः प्रसीदन्ति नूनं,** सात्विकस्वभावत्वात्. अस्य च निस्तारोपायाज्ञानात् प्रसादः आवश्यकः॥२७॥

ननु किम् एतद् दुर्लभं यतः प्रसादफलत्वेन वर्ण्यते. तत्र आह **बहुजन्मे**ति.

बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत् पदम्॥२८॥

बहुभिरेव जन्मभिः साधितो योगः पक्वश्चेद् भवति, तदा चित्तं निर्मलं भवति. तदा भगवति दिदृक्षा जायते, नतु दर्शनम्. एवं दुर्लभदर्शनश्चेद् गृहे अवतरति, तदा किं भाग्यं वर्णनीयम्! योगेन यः समाधिः, नतु चिन्तनादिना. **शून्यागारेषु** इति प्रव्रज्या, तद्धर्मनिरतत्वं, निर्भयं च उक्तम्. **यत् पदं** हृदये स्फुरितम्॥२८॥

तर्हि न अयं सः भविष्यति इति आशङ्क्य आह **सएव** इति.

स एव भगवान् अद्य हेलनं वगणय्य[3] नः।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः॥२९॥

सएव अयं भगवान्. ब्रह्मवाक्यात्, स्वानुभवात्, भगवद्वाक्याच्च अवसीयते. ननु पुरुषोत्तमः कथम् अपमाननां सोढ्वा ग्राम्येषु अवतरिष्यति? नहि बाधितम् अर्थं वेदोऽपि बोधयति. सहि सर्वतो मानपात्रम्, अतः आह **अद्य नो हेलनम् अवगणय्य.** इतःपूर्वमेव मर्यादा स्थिता, अद्यैव एवं जातम्. अतएव

---

*'कर्दम उवाच' इति मां४. १.'नास्माकम्' इति मां४. २.'...भवे' इति मां४. ३.न गणय्य. पा.मां४.

ग्राम्याणां गृहेषु जातः. कस्यचित् पुत्रः, [१]कस्यचिद् भ्राता, श्यालको, मातुलः इति बहुधा सम्बन्धोत्पत्तेः **गृहेषु** इति बहुवचनम्. अद्य तथा करणे हेतुः **यः स्वानां पक्षपोषणः** इति. पूर्वं भगवान् सर्वत्र समः, इदानीं भक्तिमार्गम् उत्पाद्य विषमो जातः इति **स्वानां** भक्तानां **पक्षस्य पोषणं** यस्मात्।।२९।।

किञ्च, यथा वेदाः प्रमाणं तथैव भगवद्वाक्यम् इति ''**अथाहं स्वांशकलया**''(भाग.पुरा.३।२१।३२) इति वाक्याद् अवतीर्णः इति आह **स्वीयं वाक्यम्** इति.

स्वीयं वाक्यम् ऋतं कर्तुम् अवतीर्णोऽसि मे गृहे ।
चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ।।३०।।

अवतीर्णस्तु लोके ज्ञानप्रचारणार्थं, **भक्तानां** मानञ्च वर्द्धयितुं काष्ठवृक्षादिकं परित्यज्य **मे गृहे अवतीर्णो असि,** नतु स्वभाग्येन वा, कारणान्तरेण वा इति।।३०।।

ननु तथापि हीनभावः कथं भगवतः उपपद्यते? तत्र उपपत्तिम् आह **तान्येव** इति.

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः।।३१।।

पुरुषोत्तमस्य हीनभावो न उचितः. नच अयं हीनभावः, उभयविधानि भगवतो रूपाणि उचितानि यानि सर्ववेदप्रसिद्धानि आनन्दमयानि, यानि च भक्तानां रोचन्ते. एतावताऽपि भगवान् [२]अरूपएव. तान्येव आनन्दमयानि रूपाणि हे **भगवन्! ते अभिरूपाणि,** योग्यानि, यानि च भक्तानां रोचन्ते. नराकृतीनि तानि च भगवतो अभिरूपाणि.यथा पूर्वं यानि रूपाणि कृतवान् तानि भगवतो वेद आह. यानि पश्चाद् भक्तानुरोधेन कृतवान् तान्यपि अनुरूपाण्येव, सामग्र्याः तुल्यत्वात्. अवचनन्तु इदानीन्तनत्वात्. एतावत्वं निषेधश्च न अस्त्येव. अन्यथाभानन्तु बुद्धिदोषाद् अन्येषां, भक्तानान्तु तदानन्दरूपमेव, अन्यथा रुचिः न स्यात्।।३१।।

एवं भगवदवतारं समर्थयित्वा तं नमस्यति **तम्** इति.

तं सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाऽद्धा सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।

१.'कस्यचिद् श्यालको' इति मां४. २. अरूप्येव ग. ङ.

ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोध–वीर्यश्रियां पूर्तम् अहं प्रपद्ये ।।३२।।

तम् अहं प्रपद्ये फलद्वयसाधकम्. तत्र मोक्षसाधकत्वम् आह **सूरिभिः तत्त्वबुभुत्सया** तत्त्वज्ञानेच्छया तत्त्वज्ञानार्थं सदा अभिवादनयोग्यं पादपीठं यस्य. ज्ञानेन मोक्षः, तद्गुरुणा, सोऽपि सेवितो ज्ञानं प्रयच्छति. अतो अभिवादार्हणम् अभिवादयोग्यं भवत्येव चरणपीठम्. ऐहिकं च तस्मादेव सिद्ध्यति इति आह **ऐश्वर्ये**ति. ऐश्वर्यादयः षड्गुणाः, तेषां पूर्तं; तैः पूर्णम् इति अर्थः. विद्यमानमेव हि कश्चित् प्रयच्छति, नतु अत्यन्तं दाताऽपि अविद्यमानम्. अतो भगवानेव ऐहिकार्थमपि सेव्यः।।३२।।

भगवतः फलरूपत्वं फलसाधकत्वञ्च उपपाद्य सर्वरूपत्वम् उपपादयति ब्रह्मत्वाय **परम्** इति.

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्याऽनुगतप्रपञ्चं स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये।।३३।।

सर्वरूपं कपिलं प्रपद्ये. तानि रूपाणि गणयति **परम्** अक्षरं, **प्रधानं** प्रकृतिः, **पुरुषः** तदधिष्ठाता, **महान्** मुख्यः पुत्रः, **कालो** गुणक्षोभकः, **कविः** महतो अभिमानी, मूलब्रह्मा, सूत्रात्मको वा; **त्रिवृद्** अहङ्कारः, **लोकपालाः** सर्वएव देवाः. एवं कारणरूपत्वम् उक्त्वा कार्यरूपत्वम् आह **आत्मानुभूत्या** इति. अनुगतः स्वस्मिन् लीनः, स्थितः, उत्पन्नो वा प्रपञ्चो यस्य. ज्ञानशक्त्याऽपि उत्पत्तिपक्षे उत्पत्तिः, अन्यथातु प्रलयः. ततश्च प्रपञ्चरूपो निष्प्रपञ्चरूपश्च कपिलः उक्तो भवति. तथात्वे सामर्थ्यं **स्वच्छन्दशक्तिम्** इति. स्वेच्छावशवर्तिनी तस्य शक्तिः।।३३।।

एवं स्तुत्वा नमस्कृत्य विज्ञापनम् आह **आ स्म आभिपृच्छे** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

परं प्रधानम् इत्यत्र. ज्ञानशक्त्यापि **उत्पत्तिपक्षे उत्पत्तिः** इति. अयं च पक्षः श्रौतः "**यस्य ज्ञानमयं तपः**"(मुण्डकोप.१।९) इति "**स तपो अतप्यत. स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत**"(तैत्ति.उप.२।६) इति वाक्याभ्याम् अवसीयते. तथाच अस्मिन् पक्षे 'अनुगत'पदेन **उत्पत्तिः** ग्राह्या, **अन्यथातु** साङ्ख्यपक्षेतु **प्रलयो** ग्राह्यः इति अर्थः।।३३।।

आ स्माऽऽभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां त्वयाऽवतीर्णार्ण उताऽऽप्तकामः।
परिव्रजत् पदवीम् आस्थितोऽहं चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन् विशोकः।।३४।।

प्रजानां पतिं त्वाम् आभिपृच्छे स्म. **आ** प्रश्नः, गन्तुः गमने सम्मति-सूचकः. **स्म** इति प्रसिद्धे. पुत्राज्ञया भगवदाज्ञया च गन्तव्यम् इति. 'अभि'शब्दः सर्वप्रकारवाची, गमने सर्वे प्रकाराश्च वक्तव्याः इति. प्रजापतित्वम् अनुशासनवत्, स्वस्य [१]तथाअधिकारात्. वेदाधिकारे हि "**त्वं यज्ञः**" (बृहदा.उप. १।५।१७) इत्यादि. तदपि आह वचनेनैव **त्वया अवतीर्णार्ण** इति. त्वया कृत्वा अवतीर्णानि उत्तारितानि स्वयमेव गतानि ऋणानि यस्य. किञ्च, **उत आप्तकामोऽपि** त्वयैव अहं जातः. पुत्रो भगवान् आत्मा इति पुत्रकामनाऽपि आत्मकामनैव जाता. अतः स्वाधिकारं त्वयि समर्प्य, ऋणत्रयापाकरणं कृत्वा, पूर्णकामो भूत्वा ब्रह्मविद् अहं, **परिव्रजत्पदवीं** सन्न्यासपदवीम्, इदानीम् आस्थितः. परमहंसो भूत्वा देहपातपर्यन्तं ब्रह्मविदो जीवतः **कृत्यं त्वां** पुराणपुरुषोत्तमं हृदये युञ्जन् हृदये ध्यायन् **चरिष्ये**. देहस्य प्रतिपत्तिः एषा, यतः शोकाद् उत्तीर्णः. गतशोकत्वाच्च न अन्यत् कर्तव्यम्. एतेन ज्ञाने जातेऽपि शोकः चेत् सर्वथा न निवृत्तः, तदा सम्यग् ज्ञानं न जातम् इति अध्यवसेयम् इति उक्तम्।।३४।।

एवम् आज्ञायां प्रार्थ्यमानायां भगवान् स्वावतारप्रयोजनम् अयं विशेषाकारेण न जानाति इति तं वदन् आज्ञां प्रयच्छति **मया** इति षड्भिः

[२]श्रीभगवान् उवाच

मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्य लौकिके।
अथाऽजनि मया तुभ्यं यदवोचम् ऋतं मुने।।३५।।

मयि परमो विश्वासः कर्तव्यः इति वक्तुं स्ववाक्यस्य सत्यत्वम्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आ स्म इत्यत्र. **प्रजापतित्वम्** इत्यादि. यथा ब्रह्मानुशासनेन स्वस्य प्रजापतित्वं, तथा ब्रह्मप्रार्थनेन भगवतोऽपि इति सम्भावनया तथाकथनं स्वस्य प्रजापत्यधिकारहेतुकम् इति अर्थः।।३४।।

१. वेदाधिकारात् इति अधिकम् क. घ. २. कपिल उवाच घ.मां४

उपपादयति अग्रे फलावश्यकत्वविश्वासाय. हे **सत्य!** सत्यरूप. **लौकिके मया प्रोक्तमेव** लोकस्य **प्रमाणं,** यतो अहमेव जगत्कर्ता, पोषकश्च, मद्वाक्यमेव च वेदश्च. सत्ये अलौकिके लौकिके च इति वा. सत्यरूपे लौकिके वा. अनेन आसुरान् प्रति न प्रमाणम् इति उक्तम्. अतः स्ववाक्यप्रामाण्यसिद्ध्यर्थम् **अथ** भिन्नप्रक्रमेण लौकिकजडजीव-व्यतिरिक्तस्य ममाऽपि जन्म कृतम्. तद् आह **मया अजनि** इति. पूर्वप्रतिज्ञाम् आह **तुभ्यं यद् अवोचम्** इति. ''**अथाहं स्वांशकलया**''(तत्रैव) इति. **तुभ्यं** त्वदर्थे. तद् **ऋतमेव. मुने** इति सम्बोधनम् उभयपरिज्ञानार्थम्।।३५।।

प्रयोजनमपि पूर्वोक्तमेव इति तद् आह द्वाभ्यां **एतद् मे** इति.

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्।
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायाऽऽत्मदर्शने ।।३६।।

मे एतद् जन्म दुराशयाद् मुमुक्षूणाम् अर्थे. आशयः सङ्घातात्मा, सः चेद् दुष्टः, तदा आत्मानं नाशयति. अतः एवं भावाद् उत्क्रमिष्यतः प्राणिनः उद्धारार्थं तत्त्वानां सङ्ख्यानं कर्तव्यम्. साक्षादपि हि दृश्यमानाः अत्यन्तासङ्कीर्णाः स्थाण्वादयो वक्रकोटरादिभिः पुरुषादिभ्यो विविच्यन्ते, नतु अन्यथा; किं पुनः अतीन्द्रियाः मिथो मिश्रीभूताः कालाकाशादयः. अतएव तेषां तत्त्वानां प्रसङ्ख्यानं कर्तव्यम् उद्देश-लक्षणाभ्याम्. तस्याऽपि प्रयोजनम् **आत्मदर्शने.** निमित्ते सप्तमी. आत्मज्ञानार्थं तत्त्वानामपि सङ्ख्यानं कर्तव्यम्, अन्यथा सङ्घाते पतितः आत्मा न तेभ्यो विवेकम् अर्हति. नच अद्वयात्मज्ञानप्रतिपादकश्रुतिविरोधः,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एतन्मे इत्यत्र. साङ्ख्यस्य भेदप्रतिपादकत्वात् श्रुतिविरोधम् आशङ्क्य परिहरति **नच** इत्यादि. **विद्यमाने हि** इति **हिः** हेतौ, **नही**ति **हिः** निश्चये. अनुपयोगे हेतुः **उद्देश्ये**त्यादि. ''**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**''(छान्दो.उप.६।८।७) इति श्रुतौ 'इदम्' इति परिदृश्यमानरूपेण 'सर्वम्' इति जगत्वेन च न उद्देश्यता, प्रत्यक्षविरोधात्, किन्तु, '**तत्सत्यम्**' इति उक्त्वा सत्यत्वेन रूपेण उद्देश्यता सद्रूपता च साङ्ख्येन प्रपञ्चस्य प्रतिपाद्यते इति तद्द्वारा तथात्वं, तथाच उद्देश्यसमर्पण-द्वारोपयोगाद् न श्रुतिविरोधः इति अर्थः. साङ्ख्यान्तरमतम् उक्त्वा तस्यापि अविरोधं

विद्यमाने हि भेदव्यवहारे साङ्ख्यप्रवृत्तिः. नहि स्वभावतो यादृशं जगद् अनिर्द्धारितम् आत्मज्ञाने उपयुज्यते, [1]उद्देश्यापरिज्ञानद्वारा आत्मज्ञानार्थम् इति तत्त्वविदः. इतरभिन्नतया आत्मज्ञानार्थम् इति अन्ये. तेषान्तु स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां परलोकेप्सूनां श्रुतिश्रवणाभावाद् वेदविरोधो न आशङ्कनीयः. तेषां सङ्घातजनित-दोषरूपाहङ्काराभावएव फलम्. अतः तादृशधर्मोपचित-कालान्तरोत्पन्न-ब्राह्मणदेहे पुनः श्रुत्यनुसारेण आत्मविचारो भविष्यति इति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. अतएव प्रसङ्ख्यानम् आत्मदर्शने सम्मतम्. नहि आत्मविदः साङ्ख्ये विप्रतिपद्यन्ते।।३६।।

ननु इदं प्रसङ्ख्यानम् आधुनिकं चेत्, कृतम् अनेन. अथ परम्परागतं कृतम् अवतारेण इति आशङ्क्य आह **एषः** इति.

एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा ।
तं प्रवर्तयितुं देहम् इमं विद्धि मया भृतम् ।।३७।।

अयम् अनादिसिद्धएव आत्ममार्गः. भूयसा कालेन क्षीयमाणो नष्टः. पश्चाद् **अव्यक्तो** लोके क्वाऽपि अप्रकटः. पुराणानां कृशरतया निरूपकत्वाद् न व्यक्तिः. सर्वथा अव्यक्तौ तज्ज्ञातणां स्मृतिसंस्कारनाशाद् नाशः. तं पुनः प्रवर्तयितुं सर्वेषाम् उद्धारार्थम् इमं देहं मया भृतं विद्धि।।३७।।

ततः सर्वएव अनेन मार्गेण मुच्यन्ते इति देवहूतिप्रभृतीनामपि मुक्तिः भविष्यति इति इतरचिन्तां परित्यज्य भवान् मुक्तो भवतु इति आह **गच्छ** इति.

गच्छ कामं मयाऽऽदिष्टो मयि सन्न्यस्तकर्मणा ।
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युम् अमृतत्वाय मां भज ।।३८।।

मया आदिष्टः आज्ञप्तो **गच्छ**. इतो गत्वा सर्वदा परिभ्रमणं कर्तव्यम्. ततः कर्तव्यम् आह **मयि सन्न्यस्तकर्मणा सुदुर्जयं मृत्युं जित्वा अमृतत्वाय** परमानन्दप्राप्तये **मां भज.** कर्माणि बहुविधानि. मृत्युजये साधनत्वेन निरूपितानि बहून्यपि कर्माणि. सर्वकर्माणि भगवति समर्पणीयानि इति एके. भगवद्भजन-

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

व्युत्पादयन्ति **तत्त्वे**त्यादि. **तेषान्तु** इत्यादि. तथाच अधिकारिभेदाद् अविरोधः इति अर्थः. **सम्मतम्** इति. श्वेताश्वतरादिश्रुतिसम्मतम् ।।३६।।

---

१. 'उद्देश्यपरिज्ञानत्. अतः उद्देश्यपरिज्ञानद्वारा'' इति मां४.

विरोधीनि तदर्थं त्यक्तव्यानि इति अपरे. तत्र प्रथमेन मयि समर्पितेन कर्मणा सुदुर्जयमपि मृत्युं जयति तदा बाधकस्य मृत्योः अभावात् परमानन्दप्राप्त्यर्थं पश्चाद् मद् भजनं कर्तव्यम्. परिभ्रमणं सर्वकर्मसमर्पणम् आदौ कर्तव्यम्. तस्मिन् कृते देहपरिणामः पलितता क्षुत्पिपासे चेद् न भविष्यन्ति तदा पश्चाद् भजनं कर्तव्यं, स्वस्थकार्यत्वाद् भजनस्य. पलिताद्यभावश्च मृत्युजयबोधकः।।३८।।

भयन्तु द्वैतकार्यं, शोकश्च सङ्घातकार्यं, तद् उभयं ततो निवर्तिष्यते इति आह **माम् आत्मानम्** इति.

माम् आत्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम् ।
आत्मन्येवाऽऽत्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयम् ऋच्छति।।३९।।

साङ्ख्ये आत्मैव चिद्रूपो 'भगवच्'छब्दवाच्यः. तम् आत्मनैव सङ्घाताद् निवृत्तः आत्मा भजति. आत्मनैव भजनं मुख्यम्. यथा शरीरेण लोके, द्रव्यादिना च गौणं; तथा आत्मना मुख्यं, देहेन्द्रियादिभिः गौणम् इति तस्य उपास्यत्वाय [१]गुणान् आह **स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम्** इति. तत् स्वप्रकाशं सर्वभूतान्तःकरणे, विद्यमानञ्च, अतः प्राप्त्यर्थं, परिज्ञानार्थं वा तत्र यत्नो न कर्तव्यः. सङ्घाताद् विवेके भाव्यमाने स्फुरितः स्वात्मा व्यापकं च तम् आत्मानं स्फुटं करोति. यथा बहिःस्थितो वह्निः काष्ठे सम्बद्धः, काष्ठान्तर्गतवह्निमपि मथनादिव्यतिरेकेणैव शीघ्रं प्रकाशयति, ऐक्यं च प्राप्नोति; तथा अत्राऽपि अनुसन्धेयम्. तदा सर्वम् आत्मैव इति भयं शोकश्च निवर्तते. उद्देश्येतु अपरिज्ञाते तस्य इदन्त्वं सुतरामेव अज्ञातं भवति. संसर्गे वह्नावेव काष्ठस्थितोऽपि वह्निः तिष्ठति, काष्ठस्य उपभुक्तत्वात्, तेनैव च प्रकाशितः तद् आह **आत्मन्येव आत्मना** इति. एवं दृष्टएव पुनः सङ्घातपातशङ्काभावाद् विशोको भवति. अभयोपपत्तिः उक्ता स्वयमेव सर्वो भवति इति।।३९।।

एवं तम् अनुशास्य मात्रे कर्तव्यम् आह **मात्रे च** इति.

मात्रे चाऽऽध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

माम् इत्यत्र. **उद्देश्ये** इति. 'माम्' इत्यनेन पदेन उक्ते उद्देश्ये इति अर्थः. **संसर्गे** इति. बाह्यवह्निसंसर्गे इति अर्थः।।३९।।

---

१. 'गुणावाह' इति मां४.

वितरिष्ये यया चाऽसौ भयं चातितरिष्यति ।।४०।।

एषातु आधिदैविकी विद्या उक्ता, मात्रे पुनः आध्यात्मिकीं विद्याम्. [1]तत्र विवेकेन स्वात्मदर्शनमेव. अतएव सर्वकर्मणां शमनीम्. सा तस्याः साधनेन यद्यपि न भविष्यति, तथापि अहमेव वितरिष्ये, वितरणगुणेनैव दास्यामि. **यया** विद्यया, मत्कृपया च अञ्जसा सामस्त्येन भयम् अतितरिष्यति. **च**कारात् शोकम्. अतितरणं पुनः सङ्घातप्रत्यापत्यभावः।।४०।।

एवं स्वगृहीतदेहद्वयस्य सात्मनः प्रतिपत्तिं श्रुत्वा स्वरूपप्राप्तिपर्यन्तं कृतवान् इति आह **एवम्** इति सप्तभिः.

आदौ ततो निर्गमनं व्रतानि च बहिस्तथा।

आन्तरं मनसा ध्यानं दोषाभावस्तथान्तरः ।।१।।

ततो गुणाश्च तत्रैव ततो ज्ञानोदयस्तथा।

ततः फलस्य सम्प्राप्तिः प्राप्ते ज्ञाने त्वियं क्रिया ।।२।।

आदौ ततो निर्गमनम् आह **एवम्** इति.

मैत्रेयः उवाच

एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः।

दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह ।।४१।।

तेन कपिलेन पूर्वोक्तप्रकारेण उदितः. तथा स्वयं चेद् न कुर्याद् अन्योऽपि न करिष्यति इति स्वयं **प्रजापतिः** पुत्रं **प्रदक्षिणीकृत्य,** तद्वाक्यात् प्रीतो **वनमेव जगाम. ह** इति आश्चर्यम्. भगवन्तं विहाय वनं गतः इति वाक्यात् च गतः।।४१।।

गतस्य व्रतानि आह **व्रतम्** इति.

व्रतं स आस्थितो मौनम् आत्मैकशरणो मुनिः।

निःसङ्गो व्यचरत् क्षोणीम् अनग्निर् अनिकेतनः।।४२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवम् इत्यत्र. **प्राप्ते ज्ञानेतु इयं क्रिया** इति. अयं सप्तानां समुदायार्थो ज्ञेयः।।४१।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे चतुर्विंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

---

१. 'अत्र' इति मां४.

मौनं वाग्व्यापार–परित्यागः, तद्व्रतत्वेन गृहीतम् आदेहपर्यन्तम्. अनेन नामप्रपञ्चः परित्यक्तो भवति. रूपप्रपञ्चपरित्यागमपि आह **आत्मैकशरणः** इति. आत्मैव एकं शरणं यस्य "**अयम् आत्मा ब्रह्म**"(बृहदा.उप.२।५।१९) इति. **मुनिः** इति वासनामय–प्रपञ्चनिवृतिः. एवं स्वकर्तृकप्रपञ्चपरित्यागम् उक्त्वा; अन्यकृतस्याऽपि सम्बन्धाभावम् आह **निःसङ्गः** इति. निर्गतः सङ्गो यस्मात्. **परिभ्रमः** स्वधर्मः. **अनग्निः** पाकादिरहितः. **अनिकेतनो** गृहादिरहितश्च. अग्नि–गृह–सम्बन्ध–राहित्यं यथा भवति तथा व्यचरत्. न अग्निस्पृष्टं भक्षयति, न क्वापि गृहं प्रविशति इति अर्थः।।४२।।

आन्तरम् आह

मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्–तत् सदसतः परम् ।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्याऽनुभाविते ।।४३।।

वैदिको अयम् उपनिषत्प्रकारेण आवृत्तचक्षुः भूत्वा मनो ब्रह्मणि नियम्य, अहङ्कारादिरहितः सन् भक्तिं प्राप्य, ज्ञानञ्च, भागवतीं गतिं प्राप्तः इति पञ्चमेन सम्बन्धः. तद् ब्रह्मप्रपञ्चातीतम् उभयरूपं परिज्ञाय, माहात्म्यार्थम् एकं परिज्ञाय, अपरस्मिन् मनो निवेश्य. तच्च ब्रह्म कार्य–कारणातीतमपि गुणानाम् अवभासो यत्र इति. कारणगुणप्रवर्तकं, सदाद्यंशश्च गुणान् उत्पादकम् इति. तत्र मनसः स्थापने उपायम् आह **एकभक्त्या अनुभाविते** इति. अनन्यया भक्त्या प्रेम्णैव तत्र मनः स्थिरं भवति. भक्त्या च तत्र अनुभावो जनितः इति न निःसङ्गत्वादयो ब्रह्मधर्माः बाधकाः।।४३।।

मनश्चेत् संसक्तं ब्रह्मणि, देहादौ अहङ्कारः स्वतएव निवृत्तो भवति इति आह **निरहङ्कृतिः** इति.

निरहङ्कृतिर् निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक् ।
प्रत्यक् प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः।।४४।।

अहङ्कारस्य वृत्तिद्वयम् 'अहं' 'मम' इति. तद् उभयमपि न अस्ति इति आह **निरहङ्कृतिः निर्ममश्च** इति. **च**कारात् आकूत्यादिष्वपि तदध्यासाभावः. तदनन्तरम् ऊर्म्यभावोऽपि जातः इति आह **निर्द्वन्द्वः** इति. यद् एकस्मिन् आगते अपरम् आगच्छति तद् द्वन्द्वं. यथा लौकिकसुखानन्तरं दुःखम् आवश्यकम् इति,

यथा क्षुत्-पिपासे, जरा-मृत्यू, शोक-मोहौ इत्यादीनि द्वन्द्वानि. तदा विषयेषु वैषम्यग्रहणे प्रयोजनाभावात् सर्वत्र **समदृक्** समं ब्रह्म पश्यति. आत्मानम् आत्मनि वा पश्यति इति **स्वदृक्.** तदा तस्य बहिर्मुखतया आत्मस्फूर्तिः न जाता इति आह **प्रत्यग्** इति. सः स्वयम् अन्तर्मुखतयैव स्फुरति इति अर्थः. बुद्ध्या हि विक्षिप्तया बहिर्मुखो भवति, तदपि न अस्ति इति आह **प्रशान्तधीः** इति. बहिः तादृशस्य ज्ञापकं दृष्टान्तेन आह **प्रशान्तोर्मिरिव उदधिः** इति. प्रशान्ताः ऊर्मयो यस्य. यथा निस्तरङ्गः समुद्रः चाञ्चल्यरहितः।।४४।।

एवं सर्वदोषरहितस्य भक्तिः जाता इति आह **वासुदेवे** इति.

वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि ।
परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ।।४५।।

अन्तःकरणे शुद्धसत्वात्मके आविर्भूते **भगवति** षड्गुणसम्पन्ने ज्ञानशक्तियुक्ते ज्ञानसहितो भगवान् परमहंसैः ज्ञेयः इति **सर्वज्ञे** इति उक्तम्. सच स्वस्य स्वरूपमेव इति आह **प्रत्यगात्मनि** इति. प्रत्यक्त्वमात्रे भगवानेव तथा स्फूर्तियुक्तोऽपि भवेद्, अतः **आत्मनि** इति. **परेण** माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहेन. **भक्तिभावेन** मानसभजनक्रियया सह परमादरेण तस्मिन् लब्धात्मा जातः, तत्र आत्मभावं प्राप्तः. बहिःनिवर्तकानि बन्धनानि ततो निवृत्तानि इति आह **मुक्तबन्धनः** इति।।४५।।

तदा तस्य जातस्य ज्ञानस्य स्वरूपम् आह **आत्मानम्** इति.

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तम् अवस्थितम् ।
अपश्यत् सर्वभूतानि भगवत्यपि चाऽऽत्मनि ।।४६।।

भगवानेव स्वात्मा, सः सर्वेषु भूतेषु समवस्थितः. एवं सर्वत्र स्वात्मानं भगवद्रूपं दृष्टवान्. सर्वाणि च भूतानि भगवद्रूपे आत्मनि *वा अपश्यत्. जगतः आधाराधेयभूतं स्वात्मरूपं भगवन्तं साक्षात् कृतवान् इति अर्थः।।४६।।

एवं जाते पूर्णज्ञाने फलम् आह **इच्छाद्वेषे**ति.

इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ।।४७।।

---

*च. क. ख.मां४

चित्तं तदैव ब्रह्मरसस्पृष्टं लौकिकाद् निवर्तते यदा इच्छा, द्वेषश्च विषयेभ्यो अपगच्छति, सर्वत्र च चित्तं वैषम्यं न गृह्णाति. चित्तदोषादेव विषये वैषम्यं स्फुरति, अन्यथा एकस्मिन्नेव[1] विषये क्रमाद् रागद्वेषौ न भवेताम्. ब्रह्मरसस्पृष्टं सर्वत्र ब्रह्मस्थितमिति सममेव गृह्णाति. अनेन ब्रह्मभावः तस्य उक्तः. ततो मुख्यां भक्तिम् आह **भगवद्भक्तियुक्तेन** इति. ''**यावान् यश्चास्मि यादृशः**''(भाग.पुरा.११।११।३३) इति ज्ञानसहिता प्रेमलक्षणा भक्तिः उत्पन्ना. 'भगवच्छ'ब्दात् च विषयपरिज्ञानलक्षणं ज्ञानम् आयाति. ततो भगवत्सम्बन्धिनीं गतिं प्राप्तवान्, यया गत्या भगवान् गच्छति. भगवति वा गतिः, भगवद्भावं सायुज्यं वा प्राप्तवान् इति अर्थः।।४७।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे चतुर्विंशाऽध्यायविवरणम् ।।

१. अपि. ग. च.

।। पञ्चविंशाध्यायविवरणम् ।।

उक्तश्चतुर्भिरध्यायैः सप्रसङ्गो हरेर्भवः।

ज्ञानरूपं चरित्रं तु नवभिः [1]स्वस्य वर्ण्यते ।।१।।

प्रकाराः सगुणाः सर्वे नवाऽध्यायास्ततोऽत्र हि।

नवभावं गता साऽपि तदन्ते त्वभवो भवेत् ।।२।।

भगवद्रूपनिष्पत्तौ भक्तिर्भूतानि सर्वथा।

मात्रास्तत्वानि सर्वाणि भुङ्क्ते सर्वं यतो हरिः।।३।।

आत्मा तस्येन्द्रियं प्रोक्तं येन सर्वं स पश्यति।

योग एव हरेर्बुद्धिः तस्मात् सर्वं प्रकाशते ।।४।।

पञ्चविंशे तथाऽध्याये भक्तियोगो निरूप्यते।

वैतृष्ण्यं तस्य चाऽङ्गं हि इतरज्ञानमेव च ।।५।।

परमं साधनं भक्तिः यथा भवति मुक्तये।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ पञ्चविंशाध्यायं विवरिषवः ''**करोति कर्माणि कृतावतारः**'' (भाग. पुरा.३।५।५) इति विदुरप्रश्नानुसारिणं कञ्चिद् विशेषम् आहुः **उक्तः** इत्यादि. तेन यावन्तः उक्ताः पदार्थाः ते सर्वे ''**श्रुतस्य पुंसाम्**''(भाग.पुरा.३।१३।४) इत्यादि-प्रश्नानुरोधेन उक्ताः इति प्रासङ्गिकत्वे पर्यवस्यन्ति, तथैव वक्ष्यमाणाअपि इति अर्थः. एतेनैव पूर्वोत्तरप्रकरणयोः हेतुहेतुमद्भावोऽपि समर्थितो ज्ञेयः, एतन्मुक्तेः पुं-प्रयुक्तत्वाद् इति. एवं संवादस्य प्रकरणयोश्च सङ्गतिं प्रदर्श्य स्कन्धार्थविचारेण आद्यानां चतुर्णाम् अध्यायानां तात्पर्यम् आहुः **भगवद्रूपे**त्यादि द्वाभ्याम्. **सर्वथा** इति सर्वप्रकारेण उपयुक्तत्वात्. एवञ्च भगवदर्थसृष्टिस्थानां भूतादीनाम् एताभ्यां लक्षणमेव कृतं ज्ञेयम् ।।१-४।।

एवं प्रकरणद्वयस्यापि अर्थं निरूप्य प्रस्तुताध्यायार्थं सप्रपञ्चम् आहुः **पञ्चविंशे**त्यादि. **तस्य** इति भक्तियोस्य. **अङ्गम्** इति फलोपकार्यङ्गम्. **इतरज्ञानम्** इति विविक्तात्मज्ञानम्. तथाच अङ्गद्वयवती भक्तिः भवदर्थभूताधिदैविक-संस्काररूपा अत्र निरूप्यते इति अर्थः. विभागान्तरे एतस्य धर्माध्यायत्वम् इति तद्बोधनाय आहुः **परमम्** इत्यादि.

१.'तस्य' इति मां४. २.'तथा' इति मां४.

[1]यथाशास्त्रस्य कथनं सन्तो भक्तेश्च साधका: ।।६।।
वंश एव मनोः पृष्टः तेन ज्ञानं न वर्णयेत् ।
अतः शौनकसम्प्रश्नः चरित्रत्वं च बुध्यते ।।७।।

पूर्वाध्याये कपिलोत्पत्तिः निरूपिता, तस्य चरित्रं ज्ञानरूपं न निरूपितमिति शौनकः तत् पृच्छति **कपिलः** इति त्रिभिः

शौनकः उवाच

कपिलस्तत्त्वसङ्ख्याता भगवान् स्वाऽऽत्ममायया ।
जात स्वयम् अजः साक्षाद् आत्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ।।१।।

कपिलः इति.

चरित्रकथनप्रश्नः तत्राऽतृप्तिस्तथात्मनः ।
सामान्यतोऽप्यतृप्तिश्च प्रकृतौ साधिका मता ।।१।।

प्रथमं चरित्रं पृच्छति. **तत्त्वसङ्ख्याता** तत्त्वसङ्ख्यानकर्ता. तत्त्वानां सन्दिग्धत्वाद् न अन्यो वक्तुम् इह अर्हति इति **भगवान्.** ज्ञानस्य स्वगुणत्वात् स्वावतारव्यतिरेकेण न प्रकटं भवति इति, **स्वात्ममायया** सर्वभवनसामर्थ्येन, कपिलरूपेण **जातः** आविर्भूतः साक्षात्. [2]**स्वयम् अजो**ऽपि सन्, स्वसजातीयत्वेन अपरिज्ञाने लोको न मन्यते इति नृणाम् **आत्मप्रज्ञप्तये** आत्मनः सम्यग् ज्ञानाय, स्वयं मनुष्यरूपेण जातः इति अर्थः. अनेन तेन जीवानाम् आत्मज्ञानार्थं किञ्चित् कृतवान् इति निश्चितं, तद् वक्तव्यम् इति अर्थः ।।१।।

उक्तम् उपपत्या साधयति **नहि अस्य** इति.

न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम् ।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः ।।२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यथाशास्त्रस्य कथनम् इति. शास्त्रम् अनतिक्रान्तस्य प्रकारस्य कथनम्. तथाहि इदं तस्य प्रकारस्य धर्मत्वज्ञापकम् इति अर्थः. सतां निरूपणन्तु गुरूपयोगाद् उभयसाधारणम् इति आहुः **सन्तः** इत्यादि. **चाद्** धर्मस्यापि. शेषं स्फुटम्.

कपिलः इत्यत्र. न मन्यते इति अजत्वं, स्वराट्त्वञ्च न मन्यते. **अनेन तेन** इति. अनया उक्त्या तेन आविर्भावेण ।।१।।

---

१. 'तथा' इति मां४. २. स्वयमेव ख. घ. च

पुंसां वर्ष्मणः श्रेष्ठस्य, **सर्वयोगिनां वरिम्णो** [१]वरणीयस्य, **विश्रुतौ** कीर्तौ निरन्तरं श्रूयमाणायामपि. श्रुतावेव देवः प्रकाशते, श्रुतेन दीव्यति इति वा; कीर्तिप्रियस्य, कीर्तिगम्यस्य वा. **मे असवः** प्राणाः भूरि न तृप्यन्ति. अतः सामान्यतो वर्णितमपि विशेषाकारेण वर्णनीयम् इति भावः।।२।।

सामान्यतः सर्वमेव भगवच्चरित्रं पृच्छति **यद्** इति.

यद्-यद्विधत्ते भगवान् स्वच्छन्दात्माऽऽत्ममायया ।

तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय ।।३।।

स्वानां भक्तानां **छन्द** इच्छा, तदनुसारी **आत्मा** यस्य. चरित्रकरणेऽपि स्वात्ममायाकरणम्. **यद्-यद्** इति ज्ञानक्रियादिविशेषो न अपेक्षितः. **तानि** सर्वाण्येव सर्वथा कीर्तनीयानीति कथने तव आवश्यकानि. **श्रद्दधानस्य** इति श्रवणे मम आवश्यकानि. मच्छ्रद्धाऽपि तव कथने हेतुः।।३।।

यथा शौनकः पृच्छति तथैव विदुरः पृष्टवान् इति वदन् मैत्रेयद्वारैव एतत् चरित्रं कथयति **द्वैपायनसखः** इति.

सूतः उवाच

द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा ।

प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः ।।४।।

आन्वीक्षिक्यां विदुरेण **प्रचोदितो मैत्रेयो विदुरं प्रति आह** इति सम्बन्धः. विदुरप्रश्ने अवश्यकथनार्थं मैत्रेये धर्मत्रयम् आह पितृमित्रत्वाद्, जगन्मित्रत्वाद्, भगवत्वाच्च. विदुरो हि द्वैपायनपुत्रः, प्राणी, भक्तश्च इति. **आन्वीक्षिकी** आत्मविद्या, मननरूपा विद्या इति एके।।४।।

मैत्रेयो देवहूति-कपिलयोः संवादं वक्तुं [२]कर्दमगमनानन्तरं कपिलः तत्रैव स्थितः इति आह **पितरि** इति.

मैत्रेयः उवाच

पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया ।

तस्मिन् बिन्दुसरेऽवात्सीद् भगवान् कपिलः किल ।।५।।

महतां गृहे स्थितिः पित्रोः अर्थ इति ज्ञापयितुं, **पितरि अरण्यं प्रस्थिते**

१.'वरेण्यस्य' इति मां४. २.समागमनानन्तरम्. क.

सति **मातुः प्रियचिकीर्षया तस्मिन्नेव बिन्दुसरे अवात्सीत्.** बिन्दुः सरसि यस्मिन् इति 'डच्'समासान्तः. वासमेव कृतवान्, जिज्ञासानन्तरमेव वक्तव्यम् इति. क्षुधितायैव हि अन्नदानम्. भाव्यर्थज्ञानार्थं **भगवान्** इति. **कपिलः** इति तदर्थमेव अवतारः सूचितः. **किल** इति भगवतः सापेक्षतया क्वचिदपि स्थितिः अयुक्ता इति. **किल** इति प्रसिद्ध्या स्वदोषो निवारितः।।५।।

तम् आसीनम् अकर्माणं तत्त्वग्रामाग्रदर्शनम् ।
स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः।।६।।

तदा देवहूतिः भर्तरि निर्गते उत्कटशोकापगमानन्तरं **तं पुत्रम् आसीनम्** आह इति सम्बन्धः. प्रसिद्धिः ज्ञानोपदेशसमर्थने. **आसीनम्** इति अव्यग्रत्वाय. **अकर्माणम्** इति तपोयोगादिरूपे कस्मिन्नपि कर्मणि अप्रवृत्तम्, अन्यथा तादृशे प्रश्नो न युक्तः. प्रश्ने योग्यं रूपम् आह तत्त्वग्रामस्य अग्रं पर्यवसानं तस्य दर्शनं यस्य. **स्वसुतम्** इति विश्वासो निर्भयत्वं, दोषाभावश्च उक्तः. भर्त्रा यद्यपि उक्तं, तथापि आश्वासनार्थमपि तद् भवति इति ब्रह्मोक्तमेव प्रमाणीकरोति **धातुः संस्मरती वचः** इति. सहि विधाता सर्वेषां पितृस्थानीयः इति न तत्र कश्चिद् हेतुः सम्भवति "**एष मानवि ते गर्भम्**"(भाग.पुरा.३।२४।१८) इति वचः।।६।।

तस्याः प्रार्थनां वक्तुं स्वस्य प्रश्नकर्तृत्वं तस्य च उत्तरदानार्थमेव अवतीर्णत्वं समर्थयन्ती भगवन्तं स्तौति त्रिभिः. तत्र प्रथमं स्वस्य वैराग्यम् आह **निर्विण्णा** इति.

देवहूतिः उवाच

निर्विण्णा नितरां भूमन् असदिन्द्रियतर्पणात् ।
येन सम्भाव्यमानेन प्रविष्टाऽन्धं तमः प्रभो ।।७।।

भूमन् इति सर्वसामर्थ्यं सूचितम्. **असदिन्द्रियतर्पणाद् अहं निर्विण्णा.** इन्द्रियाणि स्वार्थं न उपयुज्यन्ते. सर्वात्मको भगवान् इति यदि भगवद्बुद्ध्याऽपि पोष्यन्ते, तदाऽपि एते स्वगुणं कुर्वन्त्येव, असत्वात्. सत्स्वेव भगवद्भजनम् इति हि सिद्धान्तः. अतएव असत्सु अपरिचितभगवच्चरणसेवां न कुर्याद्, अनभिव्यक्ते भगवति आश्रयधर्माणां बलिष्ठत्वात्. अतः आह **असदिन्द्रिय–तर्पणाद् निर्विण्णा.** निर्वेदे कारणम् इन्द्रियकृतम् अपराधम् आह **येन** इति. येन

इन्द्रियतर्पणेन निरन्तरं **सम्भाव्यमानेन.** सम्भावना आदरपूर्वकं तत्पूरणम्. असतां कार्यं पोषकनाशनम् इति **अन्धं तमो** महामोहं **प्रविष्टा. प्रभो** इति क्रोशनं, यथा अन्यैः पीडितः प्रभोः स्थाने आक्रोशनं करोति।।७।।

त्वन्तु एतदर्थमेव अवतीर्णः इति आह **तस्य** इति.

तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम् ।
यत् चक्षुर्जन्मनाम् अन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ।।८।।

इन्द्रियादिभिः कृतस्य अन्धस्य तमसः, देशतः कालतश्च अपरिच्छिन्नस्य, अलौकिकसामर्थ्येन यत् चक्षुः तस्य पारं गच्छति इति तदेव भवान्. बहूनां **जन्मनाम्** अन्ते **मे** मया लब्धम्. तत्रापि करणं त्वदनुग्रहएव ।।८।।

किञ्च, साक्षाद् भगवान् भवान् इति आह **यः आद्यः** इति.

य आद्यो भगवान् पुंसाम् ईश्वरो वै भवान् किल ।
लोकस्य तमसोऽन्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ।।९।।

आद्यः पुरुषः. सर्वेषां ब्रह्मादीनां पुंसां त्वमेव आद्यः, कारणम्. कारणमेव च ब्रह्म. कालादिव्यावृत्यर्थम् आह **भगवान्** इति. केवलजनकत्वे ब्रह्मत्वं न सेत्स्यति इति नियामकत्वमपि आह **पुंसाम् ईश्वरो वै भवान्** इति. **किल** इति प्रमाणम्. किञ्च, पालनार्थं भवान् अवतीर्णश्च. यतः **तमसो अन्धस्य** लोकस्य **चक्षू**रूपः **सूर्य**रूपश्च भवान् **उदितः**. तमसः सकाशाद् अन्धस्य चक्षुः प्रकाशकः, सूर्यो भवान् इति वा. ममापि भवान् चक्षुः, लोकानां चक्षुः इति अपौनरुक्त्यम्. आत्मानं प्रति चक्षुष्ट्वं, सर्वान् प्रति सूर्यत्वम् इति वा ।।९।।

एवं भगवन्तं स्तुत्वा विज्ञापनाम् आह **अथ** इति.

अथ मे देव सम्मोहम् अपाक्रष्टुं त्वम् अर्हसि ।
योऽवग्रहोऽहं–ममेतीत्येतस्मिन् योजितस्त्वया ।।१०।।

हे **देव!** मोहनाशक, **मे मोहम् अपाक्रष्टुं त्वम् अर्हसि.** तवैव च अत्र सामर्थ्यम्. यतः त्वयैव **अहं मम इति** अस्मिन् शरीरे, **अवग्रहः** आग्रहो योजितः. अतः त्वयैव दूरीकर्तव्यः।।१०।।

ननु सर्वेष्वेव मया युज्यते, नतु दूरीक्रियते इति चेत् तत्र आह

तं त्वा गताऽहं शरणं शरण्यं स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।

जिज्ञासयाऽहं प्रकृतेः पूरुषस्य नमामि सद्धर्मभृतां वरिष्ठम् ।।११।।

तं त्वा गता अहम् इति. शरणागतस्यतु दूरीक्रियते. **तं** मोहदूरीकरणसमर्थं **त्वां** दैवात् प्राप्तम्. अतो अहं शरणं गता. शरणार्हश्च भवान्.

यथा विद्यासु या विद्या यस्य तत्रैव सा भवेत् ।
शरणागतधर्मोऽपि शरण्ये सोऽपि कश्चन ।
स्वस्वामी हरिरेवैकः शरण्य इति तद्वचः ।।१।।

किञ्च, स्वभावतोऽपि भगवान् स्वभृत्यानां संसारं दूरीकरोति, शरणागताश्च भृत्यतुल्याः. अतः शरणागतौ संसारदूरीकरणं स्वयमेव करिष्यति इति आह **स्वभृत्यसंसारतरोः**, कल्पाद् आरभ्य मोक्षपर्यन्तम् अनुवर्तमानस्य, अनादिसान्तस्य वा, कर्मकालनियतान्तरहितस्य **कुठारं** छेदकम्. तस्मिन् संसारे भगवान् चेत् प्रविशेत् तदा सः नश्येद्; यथा कुठारे प्रविष्टे. सहि भक्तानामेव संसारं प्रविशति न अन्यस्य पतिपुत्रादिरूपेण. अतः **स्वभृत्ये**ति उक्तम्. ते हि भरणीयाः. कालः, कर्म वा तान् न बिभर्ति, अतः संसारप्रवेशो अद्भुतकर्मत्वात् च छेदकः सम्पद्यते. **तरोः** इति एकवचनं सर्वेषां भक्तानां भगवदीयत्वेन भावाद्वैतादिधर्मवत्वाद् एकएव संसारः इति सूचितम्. यद्यपि स्वप्रयत्न-व्यतिरेकेणैव स्वयमेव करिष्यति अन्तःप्रविष्टः, प्रवेशनप्रयत्नश्च न अयं, तथापि औत्कण्ठ्यात् सर्वतत्त्वपरिज्ञानार्थं यत्नः क्रियते इति आह **नमामि** इति. **प्रकृतेः पूरुषस्य** च ज्ञानेच्छया गुरुत्वेन त्वां नमामि. मातुरपि नमस्कारः उपाधिभेदाद् न दोषाय. यथा देहः ततः उत्पन्नः पुष्टो वा, तथा ज्ञानं गतिः वा यस्माद् उत्पद्यते, सः सेवकः, पुत्रो अन्यो वा नमस्करणीयएव भिन्नोपाधित्वाद् इति. प्रकृति-पुरुषविवेको हि सर्वथा कर्तव्यः, पुरुषएव सेव्यो न प्रकृतिः इति ज्ञानार्थम्. गुरोः लक्षणम् आह **सद्धर्मभृतां वरिष्ठम्** इति. सद्धर्माः ब्रह्मधर्माः शमादयः, तान् ये बिभ्रति, नतु केवलं कदाचित् कुर्वन्ति येषु शमादयो नियताः इति अर्थः. तेषां श्रेष्ठः. तएव गुरवो भवितुम् अर्हन्ति, किं पुनः तेषां गुरुः।।११।।

एवं युक्तिपूर्वकं मातृवचनं श्रुत्वा पृष्टमात्रस्वरूपे कथिते ज्ञातुं न शक्यते इति सर्वमेव शास्त्रार्थम् आह इति आह **इती**ति.

मैत्रेयः उवाच

इति स्वमातुर्निरवद्यम् ईप्सितं निशम्य पुंसाम् अपवर्गवर्द्धनम् ।

धियाऽभिनन्द्याऽऽत्मवतां सतां गतिः बभाष ईषत् स्मितशोभिताननः॥१२॥

स्वमातृत्वाद् गुरुत्वेन तद्वचः आदरणीयम्. निरवद्यं च तस्य ईप्सितं, संसारातीतविषयत्वात्. यदर्थम् अवतीर्णः, तद् द्वयमपि एकरूपमेव जातम् इति सन्तोषादपि कथनं बोधयति **पुंसाम् अपवर्गवर्द्धनम्** इति. यदि एकः साधनेन मुच्यते, तदा अन्योऽपि तं दृष्ट्वा साधने प्रवर्तते इति अपवर्गं वर्द्धयति इति. मुखेन अभिनन्दने कृते स्त्रीत्वात् कदाचिद् अभिमानम् अवलम्बेत. अतो धिया अभिनन्द्य प्रष्टुः धर्मविचारेण कथनं निरूप्य स्वधर्मविचारेणाऽपि निरूपणम् आवश्यकम् इति आह **आत्मवतां सतां गतिः** इति. आत्मवन्तः सकृष्णाः, तस्यैव बहिः ज्ञापकं जितेन्द्रियत्वम्. सन्तः तद्धर्मवन्तः. भगवद्धर्मधर्मिवतां पूर्णसाधनानां यो गतिः प्राप्यः. तेन फलरूपो अयं, तत्साधने सिद्धे प्राप्ये इति स्वरूपदानौपयिकं साधनम् अवश्यं वक्ष्यति इति उक्तम्. ईषत् स्मितेन शोभितम् आननं यस्य इति सन्तोषो ज्ञापितः. प्रसन्नोक्तमेव हि फलाय इति मन्दहासस्याऽपि मन्दत्वम् अल्पमोहकत्वं, यतः पुत्रत्वं स्थापयति॥१२॥

साङ्ख्ये परित्यागो नित्यः इति तद् अनुक्त्वा अङ्गत्वेन च तद् वक्ष्यामि इति विचार्य, योगानुसारेणैव शास्त्रार्थम् आह **योगः** इत्यादि पञ्चदशभिः.

योगः प्रशंसारूपेण प्रमाणेनाऽपि वर्ण्यते।
चित्तालम्बनरूपो हि योगस्तत्र प्रतिष्ठितः॥१॥

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

योगः इत्यत्र. पञ्चदशानां तात्पर्यं सार्धसप्तभिः आहुः **योगः प्रशंसे**त्यादि. **रूपेण** इति लक्षणेन. **वर्ण्यते** इति द्वाभ्यां वर्ण्यते. ननु साङ्ख्यप्रवर्तनार्थम् अवतीर्णो भगवान् योगं किमिति उपदिशति? इति आकाङ्क्षायां सप्तपञ्चचतुर्भिः तात्पर्यम् आहुः **चित्ते**त्यादि. इदम् अर्धं चतुर्थस्य उत्तरार्धेन युज्यते. तथाच अयम् अर्थः. **हि** यतो हेतोः, **तत्र** देवहूत्यां, **चित्तालम्बनरूपो योगः प्रतिष्ठितः "अथ मे देव-सम्मोहम्"**(भाग.पुरा.३।२५।१०) इत्यादि पद्यद्वयोक्त्या प्रतिष्ठां प्राप्तो अधिकारवशतः स्थिरो अस्ति, **अतः चित्तं पुरस्कृत्य**(का.५), तदधिकारं विचार्य, **हरिः स्वयं योगम् आह** (का.५) इति.

ननु अस्तु एवं, तथापि योगानां बहूनां विद्यमानत्वाद् आध्यात्मिक-

१. योगप्रशंसारूपेण. ख. ग. ङ.

अन्तरात्मा स्वयं चित्तम् इन्द्रियाणि तथा तनुः ।
वेदे साङ्ख्ये च योगे च शैवे वैष्णव एव च ।।२।।
मूलरूपाणि शास्त्राणां नियमार्थं निरूपणात् ।
आत्मशेषो ह्यहङ्कारः स साङ्ख्ये विनिरूप्यते ।।३।।
एकीकृत्य मनश्चित्तं योगो ह्यत्र प्रवर्त्तते ।
ज्ञानक्रियारूपभेदात् शाास्त्रार्थे ज्ञानमुख्यता ।।४।।
अतश्चित्तं पुरस्कृत्य योगम् आह हरिः स्वयम् ।
चित्तस्य रूपभेदश्च यच्च रूपम् इहोचितम् ।।५।।
तादृशस्य फलं चाऽपि साधनानि बहूनि च ।
तत्राऽप्येकस्य निर्धारः तस्य साधनमेव च ।।६।।
तस्याऽपि विषयः प्रोक्तः चतुर्भिः षोडशात्मकः ।
तस्य साधनतारूपं तथात्वं मोक्षसाधने ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

योगोपदेशे किं बीजम् ? इति आकाङ्क्षायां स्वावतारप्रयोजनमेव बीजम् इति आशयेन उद्देश्यांशं वक्तुं प्रथमतः उपदेशेन विज्ञेयानां सर्वमोक्षशास्त्रसम्मतं गणम् आहुः **अन्तरात्मे**त्यादि. **अन्तः आत्मा** अहङ्कारः, **स्वयं** जीवः, **मूलरूपाणि** बोध्यानि रूपाणि. बोध्यत्वे हेतुः **शास्त्राणाम्** इत्यादि. यतः पञ्चानामपि शास्त्राणां स्वस्वरीत्या एतन्नियमनार्थं निरूपणाद् एतज्ज्ञानस्य आवश्यकत्वेन एतानि बोध्यानि इति अर्थः. प्रकृते मुख्यतया नियम्यम् आहुः **आत्मशेषः** इत्यादि. **हि** यतो हेतोः **आत्मशेषबाधक**त्वेन आत्मार्थो अहङ्कारो यः, **सः साङ्ख्ये** विशेषेण नियम्यतया निरूपितः, साङ्ख्ययोगौ च फलतो अभिन्नौ, अतो **मनः चित्तञ्च एकीकृत्य अत्र** उपदेशे, **हि** निश्चयेन, **योगः** प्रकर्षेण वर्तते. तत्रापि हेतुः **ज्ञानक्रियारूपभेदात्.** ज्ञानरूपं क्रियारूपञ्च भेदं प्राप्य स्थिते **शास्त्रार्थे** ज्ञानस्य यतो मुख्यता इति ।।४।।

तथाच ज्ञाने सति अहङ्कारनिग्रहः, तच्च चित्तनिग्रहाधीनं, सच योगाद्, अतः अध्यात्मयोगोपदेश इति फलितार्थः. एवं योगोपदेशतात्पर्यं निरूप्य पद्यानि विभजन्तो द्वयोः अर्थस्य पूर्वम् उक्तत्वात् त्रयोदशानाम् अधुना आहुः **चित्तस्य** इत्यादिभिः. **एकस्य** इति. भक्तिरूपसाधनस्य. **तस्य साधनम्** इति. भक्तेः सङ्गरूपं साधनम्. **तस्य** इति सङ्गस्य. **साधनतारूपम्** इति साधनताप्रकारः. **तथात्वम्** इति

बलिष्ठात्तु फलं सिध्येत् तस्माद् इति विनिर्णयः।।७।।

आदौ योगप्रशंसाम् आह द्वाभ्याम्. तत्र प्रथमं स्वरूपेण उत्कर्षम् आह **योगः** इति.

श्रीभगवान् उवाच

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ।।१३।।

योगो हि बहुविधः. भगवत्साक्षात्कारे यः उपयुज्यते सः आधिदैविकः, आत्मसाक्षात्कारे[1] आध्यात्मिकः. आधिभौतिकः त्रिविधः अणिमादिसाधकः, शरीरसाधकः, प्राणसाधकश्च. आद्यस्तु शास्त्रान्तराङ्गं, द्वितीयो अत्र मुख्यः. तम् आह **आध्यात्मिकः** इति. अतः **पुंसां निःश्रेयसाय मतः**. ये स्वरूपं प्रकृतितो भिन्नं ज्ञातवन्तः, ते लब्धविषयाः आध्यात्मिकयोगे अधिकारिणः, सः योगः तेषां फलं साधयति. अतः तेषां निःश्रेयसाय **मतः** सम्मतः. आध्यात्मिकयोगस्य तथात्वे हेतुम् आह **अत्यन्तोपरतिः** इति. **यत्र** योगे **दुःखस्य सुखस्य** च अत्यन्तम् उपरतिः निवृत्तसजातीयस्य पुनः अनुत्पादः. **च**कारात् उभयत्र साधनानाम्. आत्मातिरिक्त-सर्वनिवृत्तिः यत्र इति अर्थः।।१३।।

योगान्तरेभ्यो व्यावृत्य तमेव ते अभिधास्यामि इति आह **तम् इमम्** इति.

तम् इमं ते प्रवक्ष्यामि यम् अवोचं पुराऽनघे ।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगम् उर्वङ्गनैपुणम् ।।१४।।

अस्य अनादित्वम् आह **यम् अवोचम्** इति. **अनघे** इति [2]निष्पापानामेव अयं फलति इति ज्ञापयितुम्. ऋषीणामेव अत्र विश्वासो भवति इति 'ऋषि'ग्रहणम्. **श्रोतुकामानाम्** इति. तेषामपि अपेक्षितम्. उरुभिः अङ्गैः निपुणता यत्र, तदेव स्थिरो भवति।।१४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यत्नात्मना उपयोगित्वम्. एवं कारिकाभिः अर्थं सङ्गृह्य व्याकुर्वते **आदौ** इत्यादि. **शास्त्रान्तराङ्गम्** इति. भक्तिज्ञानशास्त्राङ्गम्. **लब्धविषयाः** इति. लब्धो योगस्य विषयो यैः ते तथा इति अर्थः।।१३।।

१.स्वात्म ग. २.निष्पापतायाम्. ङ.

ननु भगवदिच्छया ज्ञानाद् वा संसारः, तत्र योगेन किमिति आशङ्क्य "**चित्ताधीनः संसारः**" इति शास्त्रार्थं निरूपयति. "**योगः चित्तवृत्तिनिरोधः**" (पात.योगसू.१।२) इति हि योगलक्षणम्. यदि संसारः चित्तमूलकएव स्यात्, तदा योगः उपपद्येत, न अन्यथा इति चित्तं बन्धमोक्षहेतुत्वेन निरूपयति **चेतः** इति.

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ।।१५।।

खलु इति सर्वलोकप्रसिद्धम् अनुभवं प्रमाणयति. **अस्य** एकस्यैव बन्धाय मुक्तये च स्वस्यैव चेतो मतम्. तत्र रूपभेदम्[१] आह **गुणेषु सक्तं बन्धाय** इति. **गुणेषु** विषयेषु **आसक्तं** रतं वा **बन्धाय, पुंसि** भगवति आसक्तं, रतं वा मुक्तये भवति. स्वभावतः एकरूपमपि करणं स्वधर्मविषयभेदाद् बन्ध–मोक्षौ साधयति.

चित्तस्वभाव आसक्तिः यस्त्यक्तुं नैव शक्यते ।
स्नेहो रतिरिति प्रोक्तः संस्काराच्छास्त्रतश्च सः ।।१।।१५।।

लोके विषयो अनुभवसिद्धः इति तम् असाधयित्वा आत्मनि शुद्धेः अत्यर्थम् अनुभवं साधयति **अहं ममे**ति त्रिभिः. यादृशं मनः आत्मानं गृह्णाति. तादृशत्वसिद्ध्यर्थं साधनानि आह **अहम्** इति.

अहं–ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।
वीतं यदा मनः शुद्धम् अदुःखम् असुखं समम् ।।१६।।

निर्मलमेव मनः आत्मानं गृह्णाति. मलानि च मनसः कामलोभादीनि, तानि च देहादौ अहं–मम अभिमानात्. तैः यदा वीतं भवति इति साधनानाम् आवृत्तिः[२] सूचिता. तानि च साधनानि अग्रे वक्ष्यति "**लिङ्गं व्यपोहेत् कुशलोऽहम् आख्यम्**" (भाग.पुरा.५।५।१३) इति फलम्. "**हंसे गुरौ**"(भाग.पुरा.५।५।१०)

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

चेतः इत्यत्र. **स्वधर्मविषयभेदाद्** इति. स्वस्य चित्तस्य धर्मौ रत्यासक्ती, तयोः विषयभेदाद् इति अर्थः. ननु लोके आसक्ति-रत्योः ऐक्यार्थ्याद् अत्र पृथग् उल्लेखस्य किं प्रयोजनम्? इति आकाङ्क्षायां तदर्थं तयोः स्वरूपभेदम् आहुः **चित्ते**त्यादि कारिकायाम् ।।१५।।

१.रूपभेदकम्. घ. ङ. २.अनुवृत्तिः. क. २.इतोऽग्रे प्रसन्न इत्यप्यस्ति क. घ.

इत्यादिसाधनानि, ‘‘**असङ्कल्पाद् जयेत् कामम्**’’(भाग.पुरा.७।१५।२२) इत्याद्युपायाश्च वक्ष्यन्ते. तैः उपायैः यदा मलानि नश्यन्ति, तदा तैः वीतं मनः शुद्धं भवति. शुद्धस्य अभिज्ञानम् **अदुःखम् असुखम्** इति. तस्मिन् मनसि[२] वैषयिके सुखदुःखेन न स्फुरतः. तदेव कथं भवति? इति आशङ्क्य आह **समम्** इति. यदा विषयगतं वैषम्यं न गृह्णाति सर्वत्र ब्रह्मभावनया, तदा समं मनो भवति. ततएव सुखदुःखे न गृह्णाति ।।१६।।

तादृशेन मनसा आत्मानं पश्यति इति आह **तदा पुरुषः** इति.

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।

निरन्तरं स्वयंज्योतिः अणिमानम् अखण्डितम् ।।१७।।

विविक्तात्मसाक्षात्कारः तदैव भवति, अन्यदा सङ्घाते प्रविष्ट आत्मा प्रतीयते. केवलं सङ्घाताद्[१] विनिर्मुक्तम्. स्वभावो अत्र ‘प्रकृति’शब्देन उच्यते. प्राकृतेषु प्रसक्तः आत्मा प्रकृतिस्वभावो भवति तस्य यदा नियन्ता भवेत् स्वभावजयो भवेद् इति अर्थः. अन्यथा पूर्वमेव केवलत्वं निरूपितं पुनरुक्तं स्यात्. नियामकत्वे च प्रकृतिपरत्वं स्यात्. भगवता सह निरन्तरं जीवब्रह्मविभागशून्यं, नाऽपि सायुज्येन किन्तु ब्रह्मभावेन इति आह **स्वयं ज्योतिः** इति. स्वयमेव स्वप्रकाशो जातो अस्ति. **अणिमानम्** अतिसूक्ष्मम्[२]. प्रतीतौ अहङ्कारादीनां सहस्फुरणाभावात् सूक्ष्मम् उच्यते; यथा विरलत्वेन आकाशं, नतु अणु-परिमाणमपि. सर्वत्र देव-तिर्यङ्-मनुष्यादीनाम् आत्मभूतं केनापि अंशेन न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तदा पुरुष इत्यत्र. **स्वभावः** इत्यादि. **प्रकृतेः परम्** इत्यत्र आत्मनो यः स्वभावः सः ‘प्रकृति’शब्देन उच्यते इति अर्थः. सः को वा? इति आकाङ्क्षायां तम् आहुः **प्राकृतेषु** इत्यादि. तथाच **प्रकृतेः परम्** इत्यस्य जितपूर्वस्वभावम् इति अर्थो बोध्यः इति भावः. ननु प्रकृतेः परम् इत्यस्य प्रकृतेः भिन्नम् इति अर्थोक्तौ को दोषः येन एवं व्याख्यायते? इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. तर्हि प्रकृतिनियामकम् इत्येव अर्थो अस्तु इति चेत्, तत्र आहुः **नियामकत्वे** इत्यादि. **प्रकृतिपरत्वम्** इति नियमनार्थं तदपेक्षत्वम्. तथा सति ‘उदासीन’पदविरोधः स्याद्, अतः पूर्वोक्तएव अर्थो निश्चेयः इति अर्थः।।१७।।

१.सङ्घात्. घ. ङ. २.इति सूक्ष्मप्रतीतौ. क. घ. ङ.

खण्डितं सर्वात्मकम् आत्मानं पश्यति।।१७।।

एतादृशात्मस्वरूपसाक्षात्कारे मनसो न शुद्धत्वमात्रं प्रयोजकं, किन्तु [1]कारणत्रयमपि इति आह **ज्ञानवैराग्ये**ति.

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चाऽऽत्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्।।१८।।

ज्ञानवैराग्ये भक्तेः अङ्गभूते, ते च फलोपकार्यङ्गे; नतु भक्तिजनके. भक्तिरपि योगरूपा साधनत्वेन निरन्तरं क्रियमाणा. **च**कारात् भक्तिसाधनैः अन्यैरपि युक्तेन. **आत्मना** मनसा, आत्मैक्यं प्राप्तेन, विषयाभिलाषया ततो न निर्गतेन, आत्मानं परिपश्यति. जाते ज्ञाने प्रकृतिप्रेरणसामर्थ्यं भवति, तदा महाभोगः उपपद्यते. अतः [2]प्रकृतिपूर्वकत्वं सम्भवति. तन्निषेधार्थम् आह **उदासीनम्** इति. प्रकृतेस्तु न किञ्चिद् बलम् इति आह **हतौजसं प्रकृतिं च पश्यति.** वासनामात्रेण प्रकृतिः तिष्ठति इति अर्थः।।१८।।

एवम् आत्मज्ञानं सपरिकरम् उपपाद्य तत्र रतिः आसक्तिः वा चित्तस्य चेद् भवति, तदा तन्मनो मुक्तये भवति इति उक्तम्. इदं परम्परया साक्षात् च बहुसाधनसाध्यम् इति एकमेव साधनं सर्वसाधनरूपं, सर्वफलसाधकञ्च सौकर्यार्थं निरूपयति **न युज्यमानया** इति.

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये।।१९।।

भगवति युज्यमानया भक्त्या सदृशः पन्थाः न अस्ति. सिद्धान्तान्तरत्वाद् भगवन्मार्गेण सह विरोधः. पूर्वं योगाभ्यासपराणां ब्रह्मभावार्थं साधनप्रेप्सूनां भक्तिरेव साधनम्. **अखिलात्मनि** इति चिद्रूपे नारायणे सर्वात्मकत्वे ज्ञाते पश्चाद् भक्तिः कर्तव्या इति केचित्. सर्वत्र भगवतो भक्तिः कर्तव्या इति अपरे. स्पर्द्धासूयादिव्यावृत्यर्थं तथा ज्ञात्वा कर्तव्यम्. भगवान् अत्र ब्रह्मैव, सत्वमूर्तिः वा. **ब्रह्मसिद्धिः** ब्रह्मप्राप्तिः।।१९।।

तस्याः भक्तेः कारणम् आह **प्रसङ्गम्** इति.

प्रसङ्गम् अजरं पाशम् आत्मनः कवयो विदुः।

१.'कारणत्रयम् अस्ति' इति मां४. २. 'प्रकृतिप्रवर्कत्वम्' इति मां४.

स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारम् अपावृतम् ।।२०।।

नहि इयं भक्तिः त्यागे भवति, किन्तु चित्तवत् सङ्गो यदा विषयभेदेन भिद्यते तदा भक्तिं जनयति. तस्य चित्ततुल्यताम् आह **प्रसङ्गम्** इति. **अजरं** जरारहितम्. **पाशं** बन्धकं, नतु देहादेः, किन्तु **आत्मनो विदुः**. प्रकृष्टः सङ्गो यस्मिन् कस्मिंश्चित्. **कवयो विदुः** इति प्रमाणम्. **सएव प्रसङ्गः साधुषु चेत् कृतः**, तदा **मोक्षद्वारम् अपावृतं** भवति. यथा भगवति स्नेहो [1]मुक्तये, तथा सत्सङ्गो मोक्षद्वारम्. यथा ज्ञानादिषु सहजः सङ्गादिः कपाटरूपः, तदुद्घाटने ज्ञानादिभिः मोक्षो भवति; न एवं सत्सङ्गे सहजः कश्चन संसर्गदोषो अस्ति. तद् आह **अपावृतम्** इति ।।२०।।

सतां लक्षणानि आह **तितिक्षवः** इति.

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ।।२१।।

सन्तः षोडशधर्मा वै धर्मास्ते त्रिविधा मताः ।
भौतिकादिविभेदेन एकस्तु सहजः स्मृतः ।।१।।
उपयोगी तथा चैको भौतिकास्त्रय एव हि ।
आध्यात्मिकास्तु चत्वारः सप्त चैवाधिदैविकाः ।।२।।
पञ्चधा चेद् गुणा न स्युः सर्वेषां सिद्धयो न हि ।
भौतिकानाम् अभावे तु लौकिकास्ते न संशयः ।।३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रसङ्गम् इत्यत्र. **तस्य चित्ततुल्यताम्** इति. तस्य सङ्गस्य प्रतियोगिभेदेन बन्धमोक्षसाधकतारूपां तुल्यताम् ।।२०।।

तितिक्षवः इत्यत्र. गुणानां भौतिकादिभेदे त्रयो वा नव वा भवन्ति, नतु षोडशेति आशङ्कायां विभजन्ते **एकः** इत्यादि. एकः सर्वसङ्गविवर्जितत्वरूपस्तु सहजः स्मृतः. धर्मोक्तौ पश्चात् स्मृत्वा उक्तः. तथा सहजः एको अन्यः सङ्गदोष-हरत्वरूपः. **उपयोगी** प्रकृतेः सङ्गदोषनिरसन उपयुक्तः. सोऽपि पश्चात् स्मृतः इति अर्थः. तर्हि भौतिकादीनां त्रिविधानां किमर्थं कथनम्? इत्यतः तेषां प्रयोजनं सार्धेन आहुः **ते** इति. वक्ष्यमाणधर्मैः साधुत्वेन भासमानाः. **तदनन्तरैः** आध्यात्मिकैः.

---

१. युक्त एव. घ. ङ.

अलौकिका हि ते सेव्या निर्दुष्टास्तदनन्तरैः ।
सप्तभिस्ते महात्मानः तदभावे न तैः फलम् ।।४।।

आदौ भौतिकान् त्रीन् गुणान् आह सर्वेषां प्राणिनाम् अपराधं सहन्ते इति. **तितिक्षवः**. तेषु कृतापराधेष्वपि करुणावन्तो भवन्ति, तद्दुःखदूरीकरणाय यत्नं कुर्वन्ति. किञ्च, तेषाम् अन्येषां च सुहृदो मित्राणि, सर्वदा हितम् आचरन्ति भावयन्ति च. लोके मित्र-देवता-गावश्च[१] सुहृदो भवन्ति, नहि ते सर्वेषां दुःखाभावार्थं यतन्ते. लौकिकाश्च दयालवो हेत्वर्थाः वा कारुणिकाः भवन्ति, निवृत्तेतु दुःखे न तेषां हितं भावयन्ति. मातापितरौ बालेषु **तितिक्षवो** भवन्ति, नतु ते कारुणिकाः, न वा सर्वसुहृदः. तस्मात् त्रितयधर्मयुक्ताः अलौकिकाएव. तादृशेषु दोषाभावम् आह **अजातशत्रवः** इति. गुणाः त्रयो विपरीतरूपाः सन्तो दोषाः, ते काम-क्रोध-लोभात्मकाः भवन्ति. तत्र क्रोधो बहुविधः प्रकटाप्रकट-धर्मादि-विभेदेन. स्वक्रोधः स्वरूपेण, साधनरूपेण वा परक्रोधे निमित्तत्वम् आपद्यते[२], तदा सः शत्रुः भवति. तस्याऽपि च धर्मः स्वस्य क्रोधहेतुः भवेत्, तदा अन्योन्यं शत्रवो भवन्ति. ते च पश्चाद् रागादिजनकधर्मैः बाधिताः चेद् निवर्तन्ते. येषान्तु शत्रवो न उत्पन्नाएव, जन्मान्तरीयाणाम् अपगतदोषाणां[३] न उत्पत्तिः, अस्मिंस्तु जन्मनि अनिष्पत्तिः. अनेन पूर्वम् अनेकजन्मस्वपि निवृत्तक्रोधाः ते इति उक्तम्. राजसो दोषः कामादिः, सोऽपि न अस्ति इति आह **शान्ताः** इति. लयविक्षेपरहिताः चेतसो अवस्था शान्तिः, तया सह अभेदं स्वभावतः प्राप्ताः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तथाच अजातशत्रुत्वादयः चत्वारो धर्माः सख्यत्वप्रयोजकाः. **तदभावे न** इत्यत्र पदच्छेदः, **न** इति भिन्नं पदम्. अतः सर्वेऽपि अवश्यवक्तव्यत्वाद् उक्ताः इति अर्थः.

'सर्वदेहिनाम्' इति पदं प्रतियोगिबोधकत्वेन त्रिष्वपि 'तितिक्ष्वादि'पदेषु अन्वेति इति आशयेन तेषाम् अलौकिकत्वाय व्युत्पादयन्ति **लोके** इत्यादि. **गुणाः** इति. अजातशत्रुत्वादयः. **ते च** इति. क्रोधाश्च. एवं लौकिकीं व्यवस्थाम् उक्त्वा 'अजातशत्रु'पदं व्याकुर्वते **येषाम्** इत्यादि. ननु शत्रूणां कथम् अजननम् इत्यतो व्युत्पादयन्ति **जन्मे**त्यादि, क्रोधस्य निरयद्वारत्वेन तद्वतां बहुकालं निरये वासात् पूर्वजन्मीयानां न उत्पत्तिः अतः तथा इति अर्थः.

१.मित्रः क. ग. घ. ङ. च. २.निमित्तान्तरम् क. निमित्तम् ख. घ. ङ. ३.अगतदोषाणाम् क.

शान्ताः. एतदपि बहुजन्मसाधनैरेव भवति. एवम् अन्तःकरण–जीवयोः दोषाभावो निरूपितः. दैहिकं दोषाभावम् आह **साधवः** इति. **साधवः** सदाचाराः. सएव सन् आचारः, यः आत्मानं परञ्च न खेदयति. आत्मातु अन्तःकरणजीवात्मकः. शारीरस्तु वेदमयः, परोऽपि तथा. सर्वथा वा येषाम् आचारेण न कोऽपि कस्यापि अपकारः सः सदाचारो भवति. तेनाऽपि धर्मेण देहस्वभावतः ऐक्यं प्राप्ताः साधवः. तादृशएव धर्मो येषाम् अलङ्करणे हेतुः भवति. लोके तेनैव प्रतिष्ठा भवति. अनेन सर्वोऽपि परिकरः तेषां साधुरूपो भवति।।२१।।

एवं सर्वदोषपरिहारम् उक्त्वा तेषां सर्वपुरुषार्थसाधकत्वसिद्ध्यर्थं स्वस्मिन् आधिदैविकान् गुणान् आह **मयि** इति.

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणः त्यक्तस्वजनबान्धवाः ।।२२।।

भक्तिः अग्रे वक्तव्या, सर्वेन्द्रियाणां मनसा सह अहमहमिकतया भगवत्कार्यपरत्वम् इति. इन्द्रियाणि च निर्दुष्टानि, सगुणानि च इति. न विद्यते अन्यस्मिन् यो भावः. 'भावो'नाम अन्तःकरणधर्मो अभिप्रायापरनामा सर्वत्र हेतुः. सः भक्तिजनकोऽपि भवति, भावान्तरेणाऽपि भक्तिं जनयति. तत्फलविषयकमेव भवति. भावान्तरसहितो वा. सहि देवतान्तरविषयः, पदार्थान्तरविषयः,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अन्तःकरण-जीवयोः इत्यत्र जीवलिङ्गभूतो अहङ्कारो 'जीव'पदेन बोध्यः. अखेदनक्रियाकर्मभूतयोः आत्मपरयोः स्वरूपं विवृण्वन्ति **आत्मे**त्यादि. ननु शारीरः केवल 'एकात्म'पदेन उच्यते इति कथम् एवं व्याख्यायते? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **शारीरस्तु वेदमयः** इति. तथाच वैदिकप्रक्रियायां तथैव, पौराणिकप्रक्रियायान्तु ''**एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडश विस्तृतम्, एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते**''(भाग.पुरा.४।२९।७४) इति चतुर्थस्कन्धवाक्यात् तथैव इत्यतः एवं व्याख्यायते इति अर्थः. इदमेव 'पर'पदेपि अतिदिशन्ति **परोऽपि तथा** इति।।२१।

मयि इत्यत्र. भक्ति-भावयोः कार्य-कारणभावेन भेदबोधनाद् उभयोः स्वरूपं यद् अत्र विवक्षितं तद् आहुः **भक्तिः** इत्यादि. **भावो नाम** इत्यादि च. भावस्य अनन्यत्वं विवृण्वन्ति **भावान्तरेण** इत्यादि. **तद्** इति. भावान्तरम्. तथाच, फलोपेक्षाशून्यो भावो अनन्यः इति अर्थः. 'अन्य'शब्दस्य सजातीयग्राहकत्वाद् 'अनन्य'पदेन

मार्गान्तरविषयो वा. तत्सहभावो अत्र निषिध्यते, फलभावश्च. अतएव मार्गान्तरेण न चाल्यते इति **दृढा**. यस्यां भक्तौ प्रमाणादि चतुर्द्धाऽपि बाधा न अस्ति सा दृढा. तदर्थमेव पूर्वसिद्धपदार्थानां त्यागः कर्तव्यः, ते च वेदलोकात्मकाः. तद् आह **मत्कृते** भगवत्कार्यार्थमेव **त्यक्तानि** विहतानि **कर्माणि** यैः. निरन्तर-भगवत्स्मरणे, सेवायाञ्च सर्वाण्येव कर्माणि बाधकानि, ज्ञानपूर्वकं सेवमानानाम् अनन्यभावप्रतिबन्धकानि च. **मत्कृते** इति न आलस्यादिना तत्परित्यागः. लौकिकाः स्त्री-पुत्रादयः **स्वजनाः, बान्धवा**स्तु अन्ये सजातीयाः. ते उभये त्यक्तव्याः. तेषामपि सत्वेतु न स्वजनबन्धुत्वम्. परित्यागलक्षणम् एकमपि साधनं लौकिक-वैदिकभेदेन द्विधा परिगणितम्. लौकिकानां परित्यागाऽसामर्थ्यबोधनार्थं वा।।२२।।

एवं रूपासक्तौ त्रयो गुणाः उक्ताः नाम्नि त्रयम् आह **मदाश्रयाः** इति.

मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान् मद्गतचेतसः ।।२३।।

भगवद्गतचित्तेन ये श्रुता भगवद्गुणाः ।
ये वा सङ्कीर्तिता नित्यं यावत् ते रसतां ययुः ।
तावत् त्यक्तैस्तदीयैश्च बाधा भवति सर्वथा ।।१।।
विविधा अपि ते तापाः सोढव्यास्तापसत्वतः ।
बलात् कृत्वा तपस्यन्ते ततः प्राप्ताः स्वतो वराः ।।२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सजातीयसंवलननिषेधएव युक्तो न फलनिषेधः इति अरुच्या पक्षान्तराणि आहुः **भावान्तरे**त्यादि. **फलभावः च** इति. भक्तेः उच्यते इति शेषः. सत्त्वेतु न **स्वजन-बन्धुत्वम्** इति. पूर्वोक्तरीतिकभक्त्या साधुत्वेतु न तथात्वं किन्तु अत्यक्तव्यत्वम् इति अर्थः।।२२।।

मदाश्रयाः इत्यत्र. कारिकासु. ननु भगवत्कथाश्रवणादिकर्तणां पूर्वोक्त-धर्मवैशिष्ट्यात् तापासम्भवेन तत्कृत-तापाभावोक्तिः अनुपपन्ना इति आशङ्क्य तत्र उपपत्तिम् अन्यच्च किञ्चन आहुः **भगवद**ित्यादि. **तावद्** इति रसत्वभवनात् पूर्वम्. **सोढव्याः** इति. तथाच सोढव्यत्वाद् न तपन्ति इति अर्थः. अन्यद् आहुः **तापसत्वतो बलात् कृत्वा तपस्यन्ते** इति. **कृत्वा** इति. त्यागं कृत्वा. ततोऽपि अन्यद् आहुः **ततः**

भजनापेक्षया ते वै भगवत्प्रीतिहेतवः ।

दुःखेषु भगवांश्चाऽपि नित्यं साक्षात्क्रियेत वै ।

देहादिविषयान् त्यक्त्वा चित्तं तद्गतमेव यत् ।।३।।

याः कथाः भगवन्तमेव आश्रित्य वर्तन्ते, नतु प्रसङ्गाद् भगवद्विषयाः. **मृष्टाः** उज्ज्वलाः [1]निर्दोषपूर्णरूपाः. भाववर्णनेन वा भक्तैः उज्ज्वलीकृताः ।।२३।

एवं तेषां लक्षणानि उक्त्वा तादृशेषु साधुत्वं विधत्ते **ते** इति.

त एते साधवः साध्वि! सर्वसङ्गविवर्जिताः ।

सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ।।२४।।

ननु केऽपि स्वभावतः साधवः, तेऽपि भगवन्निकटे वर्तन्ते इति **एते** इति उक्तम्. तएव प्रसिद्धाः एते. विश्वासार्थं **साध्वि!** इति सम्बोधनम्. ननु तादृशाः चेत् सन्ति बहवः कथं जगद् अमुक्तं तिष्ठति? इति आशङ्क्य आह **सर्वसङ्ग–विवर्जिताः** इति. लौकिकास्तु स्वतो न तान् जानन्ति, तेतु सर्वापेक्षारहिताः इति न केनापि प्रकारेण कस्यचित् [2]संशयो अपेक्षितः. अतः तेषां योगाऽभावादेव न मुच्यन्ते, किं तेषां निरूपणेन? इति आशङ्क्य आह **सङ्गः तेषु** इति. तेषु सङ्गः ते प्रार्थ्यः. सङ्गः त्यक्तव्यो भवति, सः त्वया न शक्यः इति सङ्गजनितदोषनिवर्तकं, सङ्गत्यागजनितगुणजनकञ्च किञ्चिद् अपेक्ष्यते, अन्यथासङ्गत्यागस्य कारणता न स्यात्. शास्त्रान्तरेऽपि सङ्गत्यागानुकल्पत्वेन सत्सङ्गो निरूपितः पूर्वोक्तोभय–साधकाः तेऽपि तव अशक्यसङ्गाः इति तेषां सङ्गप्रार्थनैव कर्तव्या. प्रार्थनाऽपि तावत् करिष्यति इति तद्धर्माणां तथात्वं वक्तुं सङ्गदोषदूरीकरणं तेषां सहजो धर्मः इति आह **सङ्गदोषहराः** इति. सङ्गस्य हि कामजनकत्वं, सङ्गेन हि कामादिदोषाः जन्यन्ते, तान् च दोषान् सन्तो दूरीकुर्वन्ति. तद् आह **हि** इति. तथा सामर्थ्यं तेषाम् आह **ते** इति. ते हि भगवदीयाः प्रसिद्धाः ।।२४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यादि. **स्वतः** इति. विप्रयोगस्वभावात्. तेषु गुणम् आहुः **दुःखेषु** इत्यादि ।।२३।।

ते एते इत्यत्र. **शास्त्रान्तरे** इति. ब्रह्मवैवर्ते मदालसोपाख्याने **''सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते, स एव सत्सु कर्त्तव्यः सङ्गः सङ्गस्य भेषजम्''** (ब्रह्मवै.पुरा.) इति ।।२४।।

---

१. '...पूर्णगुणरूपाः' इति मां४. २.'कस्यचित् सङ्गो' इति मां४.

एवं भक्तिसाधकत्वेन[1] सन्तो निरूपिताः, कथं तेषां साधकत्वम्? इति आशङ्क्य तं प्रकारम् आह **सतां प्रसङ्गाद्** इति.

सतां प्रसङ्गाद् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिर् अनुक्रमिष्यति ।।२५।।
भक्त्या पुमान् जातविराग ऐन्द्रियाद् दृष्टश्रुताद् मद्रचनाऽनुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ।।२६।।

सतां सम्बन्धी यः प्रकृष्टः सङ्गः, तस्माद् हेतोः मम वीर्यज्ञापिकाः कथाः भवन्ति. तासां प्रीतिपूर्वकसेवया क्रमेण श्रद्धा, रतिः, भक्तिश्च भवति. भक्त्या च वैराग्यम्. ततोऽपि निरन्तरं स्मृतिः. ततो योगप्रवृत्तिः. एवं परित्यागज्ञानवैराग्य-योगभक्तिभिः विद्याङ्गभूताभिः भगवत्स्वरूपप्राप्तिः इति ससाधनं फलम्. साधनसाधिकाऽपि भक्तिः निरूप्यते इति न विरोधः. **सताम्** इति बहुवचनं सत्वे प्रमाणम्. सतां सद्भिरेव सङ्गो भवति. द्वितीयः सन् तदैव युज्यते, यदि प्रथमः सन् भवति. तेषां प्रकृष्टः सङ्गः सजातीयएव भवति. एकमतनिविष्टानाम् एकस्वभावानां वा. 'प्रसङ्ग'पदेन च एतत् सूचयति तेषाम् अन्योन्यं प्रकृष्टः सङ्गः, अन्यस्य प्रासङ्गिकः इति. संसारिणामपि तेषां प्रसङ्गात् कथान्तरेषु वक्तव्यत्वेन उपस्थितादपि भगवत्कथा भवन्ति इति च ज्ञापितम्. यद्यपि भगवत्कथाः सर्वत्र भवन्ति, तथापि न ताः भगवत्पराक्रमप्रतिपादिकाः, तेषां मुखाद् भगवतः सामर्थ्यं लौकिकं निर्गतं भवति. सतामेवतु प्रसङ्गाद् भगवत्पराक्रमप्रतिपादिकाः भवन्ति. तैरेव वीर्याणि ज्ञायन्ते. स्वाभाविककथानां निरन्तरं श्रवणात् तत्संस्काराभिनिविष्टं हृदयं, श्रोत्रञ्च जातं[2] न भगवत्कथां गृह्णाति. नहि हिमालयस्थिताः प्राणिनः आतपं ग्रहीतुं शक्नुवन्ति. ते च पुनः देशान्तरं गताः, यथा आतपप्रेप्सवो भवन्ति,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सताम् इत्यत्र. **आभासे. आह** इति. त्रिभिः पद्यैः आह. अग्रिमश्लोकस्य अर्थं वदन्ति **भक्त्या च वैराग्यम्** इत्यादि. तृतीयस्य आहुः **एवम्** इत्यादि. ननु पूर्वं सत्प्रसङ्गकथाश्रवणादिना जातायाः भक्तेः भगवदवरोधरूपं फलं प्रत्येव करणत्वं युक्तम्. नतु प्रथमोक्तं वैराग्यं प्रत्यपि इति आशङ्क्य समादधते **साधने**त्यादि. तथाच भक्तेः असहायशूरत्वज्ञापनाय तथोक्तिः इति तस्याः जघन्यकोटिप्रवेशाभावाद् न

१. 'साधनत्वेन' इति मां४. २.ज्ञानम् क. घ. ङ.

तद्देशस्वभावापन्नाः तद्देशस्थद्रव्यैः; तथा भगवत्कथाअपि हृत्-कर्णयोः पूर्वस्वभावोपमर्दनेन रसोत्पादिकाः भवन्ति इति अर्थः. प्रथमतः श्रुताः हृदये रसम् उत्पादयन्ति, पुनः-पुनः श्रुताः कर्णयोः. यथा[१] कामाभिनिविष्टस्य चक्षुः कामिन्यां रसाविष्टं सद् बलाद् निवर्त्यमानमपि न निवर्तते, किन्तु दिदृक्षैव निरन्तरं भवति. तथा कथाएव बलादपि भावयति. शुश्रूषाऽपि निरन्तरम् उत्पद्यते इति अर्थः. अतः तासां प्रीत्या श्रवणं भवति. आवृत्या प्रीतिः उत्पद्यते. तदा लोकाद् निवृत्तं मनो अपहतपापं सन्मार्गे निविशते. तदा आशु सर्वलोकनिवृत्तिरूपे आत्मनि, मोक्षाख्ये भगवति वा, तन्मार्गे वा, प्रथमम् आस्तिक्यबुद्धिः भवति. ततो रतिः स्नेहो भवति ''सर्वथा एतत् प्राप्तव्यम्'' इति. ततो वक्ष्यमाणा भक्तिः भवति इति अर्थः.

विषयाः त्यक्ताअपि वासनया हृदि स्थिताः रागापगमएव गच्छन्ति. सच भगवति स्नेहेन सञ्जातया सेवया, फलरूपं प्राप्तया, इतर-रसविस्मारिकया निवर्तते. तदा जातविरागो भवति. **ऐन्द्रियाद्** इति विरागे हेतुः. न ते विषयाः आत्मपर्यवसिताः. ऐन्द्रियत्वे प्रमाणमपि वदन् विषयाणां भेदम् आह **दृष्टश्रुताद्** इति. **दृष्टाः** राज्यादयः, **श्रुताः** स्वर्गादयः. तस्याः भक्तेः अनुवृत्यर्थं साधनम् आह **मद्रचनानुचिन्तया** इति. भगवत्कर्तृका या **रचना** कृतिः. 'रचना'शब्देन अलौकिकं निर्माणम् उच्यते. तेन अलौकिकभगवच्चरित्रश्रवणेन भक्तिः तिष्ठति. तदा चित्तस्य ग्रहणे यत्नो भवति. चित्तं हि चञ्चलस्वभावं न स्वतो अवतिष्ठते, प्रयोजकं च उपेक्षायां न गृहीतं भवति. अतो **यत्तः**[२] सावधानः सन्, चित्तस्य ग्रहणार्थं योगयुक्तो भवति, योगस्य चित्तवृत्तिनिरोधरूपत्वात्. योगेन चित्तनिरोधः कर्तव्यः इति निश्चितार्थो भवति इति अर्थः. तदा **ऋजुभिरेव योगमार्गैः** हठक्लेशादिरहितैः भगवद्ध्यानरूपैः, अचिन्तनदशायां प्राणायामादि-रूपैः वा. अतो भक्तौ सिद्धायाम् इतरत् सुलभम् इति भक्तिरेव[३] पञ्चमी विद्या मोक्षे [४]अन्तरतमा।।२५-२६।।

एवं ससाधनं शास्त्रार्थम् उक्त्वा साधनपरम्परां निरूपयन् फल-कीर्तनेन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भक्तिशास्त्रविरोधः इति अर्थः।।२५।।

भक्त्या पुमान् इति श्लोकं व्याकुर्वन्ति **विषयाः त्यक्ताअपि** इत्यादि।।२६।।

१.अन्यथा क. घ. ङ. २.अतोऽत्र क. घ. ङ. ३.भक्त्यैव ग. ४.अन्तरङ्गा क. घ. ङ.

उपसंहरति **असेवया** इति.

असेवयाऽयं प्रकृतेर्गुणानां ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानम् इहाऽवरुन्धे ।।२७।।

अयं पूर्वोक्तो अधिकारी. **मां प्रत्यगात्मानम् इहै**व देहे जन्मनि, ब्रह्माण्डभेदनादिकम् अकृत्वा, **अवरुन्धे ;** सद्यो मुक्तिं प्राप्नोति इति अर्थः. तस्य प्रथमं प्रकृतेः गुणानाम् असेवा, प्राकृतविषयाणां बन्धकानाम् असकृद् अनुभवाभावः. ततो विषयाभिनिवेशाभावे अन्तर्मुखं चित्तम् आत्मानं गृह्णाति तदा ज्ञानं भवति, आत्मकामश्च. तदा विषयगतो रागो निवर्तते. तेन च पुनः ज्ञानम् उल्लसितं भवति. त्रयम् एतद् एकम्. योगः स्वतन्त्रः चाञ्चल्यनिवृत्तिहेतुः. मयि अर्पिता च भक्तिः विषयवशीकर्त्री. विषयेभ्यः आत्मानं विमुच्य, भक्त्या च भगवन्तं वशीकृत्य, लक्ष्यमिव स्थापयित्वा, तत्र सर्वमेव प्रकारं ज्ञात्वा, जीवं च सङ्घाताद् लक्ष्य-प्रापणयोग्यञ्च ज्ञात्वा, योगारूढं विधाय, लक्ष्ये योजनं युक्तमेव. अतो विषयभेदात् पञ्चानाम् उपयोगः. **माम्** इति प्राप्यरूपो अहमेव. तवतु सिद्धः इति शास्त्रार्थज्ञापनमात्रं क्रियते इति बोधितम्. बहिः प्रवेशशङ्कां वारयितुम् आह **प्रत्यगात्मानम्** इति. प्रत्यग् अन्तर्मुखतया परिस्फुरन्. नाऽपि स्वात्मनो भिन्नम्।।२७।।

पूर्वम् अत्र भक्तिः भजनमात्रम् उक्तं, न विशेषतः इति विशेषतो भक्तिं पृच्छति **काचिद्** इति.

देवहूतिः उवाच

काचित् त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा ।
यया पदं ते निर्वाणम् अञ्जसैवाऽश्नवा अहम् ।।२८।।

'श्रद्धा' आराध्यत्वेन ज्ञानं, सेवा, माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेहश्च. तेषु त्वयि युक्तः को 'भक्ति'शब्दार्थः? इति प्रश्नः. यद्यपि क्रमात् चत्वारोऽपि युक्ताः, तथापि यः साक्षात् त्वां विषयीकरोति सा वक्तव्या इति सप्तम्या सूचितम्. भक्तियोगोऽपि बहुविधः इति जीवाधिकारम् अपुरस्कृत्य[१] त्वद् योग्या[२] का? इति प्रश्नः. **उचिता** इति अविहिता भक्तिः व्यावर्तिता. **कीदृशी** सगुणा

१.पुरस्कृत्य. ग. २.त्वद्योग्या वा ख. ग.

अगुणा वा? तत्रापि मम योग्या कीदृशी? इति आह **मम गोचरा** इति. 'गोचर'शब्दो विशेष्यनिघ्नोऽपि भवति. त्वयैव सर्वे मार्गाः प्रवर्तिताः. भवांश्च सर्वरूपः, अतः सर्वएव भक्तिमार्गाः यद्यपि त्वयि युज्यन्ते, तथापि यया भक्त्या निर्वाणरूपं ते पदम् **अञ्जसा** अनायासेनैव **अहम् अश्नवै.** 'अश्नवानि' इति वा पाठः. दैवगत्या सर्वेऽपि मार्गाः कदाचित् सुगमाः भवन्ति. तद् व्यावृत्यर्थम् आह **एव** इति. **निर्वाणाख्यं पदं** व्यापिवैकुण्ठं, तत्र या भक्तिः सर्वाधिकारशून्यमपि पुरुषं नयति. गतश्च तल्लोके आनन्दाऽनुभवसमर्थो भवति, [१]तत्रत्यैः तादृशी वक्तव्या इति अर्थः।।२८।।

योगं च पृच्छति **यो योगः** इति.

यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः।

कीदृशः कति चाऽङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम्।।२९।।

भगवल्लक्षणलक्ष्ये आत्मनो योजनार्थं यो बाणरूपो योगः सोऽपि वक्तव्यः. भगवान् सर्वत्र नयेद् इति अत्र भक्तिः हेतुः. स्वतो गमने सामर्थ्यहेतुः योगः. **त्वया उदितः** इति **"योगेन माम् अवरुन्धे"**(   ) इत्यत्र. तस्य स्वरूपम् अङ्गानि च वक्तव्यानि, शास्त्रे नानाविधानां निरूपणात्. स्वतन्त्रतया योगस्य कारणत्वाभावाद्, भक्तेश्च पृष्टत्वात्, किं योगेन? इति आशङ्क्य आह **यतः तत्त्वावबोधनम्** इति. ज्ञानसाधनं योगः. अनेन चत्वारो अर्थाः पृष्टाः [क]भक्तिः, [ख]योगः, [ग]स्वरूपतः तदङ्गानि, [घ]फलसाधकत्वेन तदङ्गं साङ्ख्यं ज्ञानञ्च. योगो योगाङ्गानि च एकम्, अन्यानि त्रीणि।।२९।।

एतत् सर्वं वक्तव्यम् इति निरूप्य उपसंहरति आवश्यकत्वाय **तद् एतद् मे** इति.

तदेतद् मे विजानीहि यथाऽहं मन्धधीर्हरेः।

सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात्।।३०।।

[३]शास्त्रप्रसिद्धम् अनुभवारूढपर्यन्तं वक्तव्यम्. **विजानीहि** ज्ञापय. ज्ञापने प्रयत्नाधिक्यार्थं स्वस्य निकृष्टाधिकारम् आह **मन्दधीः अहम्. हरेः सुखं** स्वरूपं सर्वैरेव दुर्बोधं, **भवदनुग्रहाद्** बुद्ध्येय[४], हरेः सम्बन्धि वा पूर्वोक्तं, सुखं यथा

१. 'तत्रत्य इव'. ख.मां४, 'तत्रत्यैव' ग. ३.'शास्त्रे' इति मां४. ४.बुद्धयेयम्. मां४.

भवति तथा बुद्ध्येय[1] नापि वचनमात्रेण बुद्ध्यते, किन्तु अनुग्रहादेवेति तथा उक्तम्।।३०।।

यद्यपि मात्रा गूढतया निर्दिष्टं चतुष्टयं, तथापि ज्ञात्वा तद् निरूपयति इति आह **विदित्वा** इति.

मैत्रेयः उवाच

विदित्वाऽर्थं कपिलो मातुरित्थं जातस्नेहो यत्र तन्वाऽभिजातः ।
तत्त्वाम्नायं यत् प्रवदन्ति साङ्ख्यं प्रावोचद् वै भक्तिवितानयोगम् ।।३१।।

योगो भक्तिः क्रियारूपा ज्ञानं साङ्ख्यं च वेदनम् ।
तेषां यत्रोपयोगः स्यात् तदग्रे वक्ष्यते स्फुटम्।।१।।

चतुर्णां यत् प्रयोजनं सो अर्थः.

विवेचनं तु सङ्घातात् साङ्ख्यकार्यं प्रचक्षते ।
विविक्तस्य तु विज्ञानं ज्ञानकार्यं निरूपितम् ।
भक्त्या प्रसन्ने तु हरौ तं योगेनैव योजयेत् ।।२।।

एतज्ज्ञाने सामर्थ्यं **कपिलः** इति. **मातुः** इति कथनावश्यकत्वम्. **जातस्नेहः** इति गुप्तकथने हेतुः. **यत्र** मातरि, **तन्वा** कपिलदेहेन अभिजातः. अधिकस्नेहे हेतुः. यद् वक्ष्यति तत् परिगणयति. **तत्त्वाम्नायं** तत्त्वानाम् **आम्नाय** [2]आवृत्तिः यत्र. उद्देश-लक्षणभेदेन, कारणत्वेन कार्ये च अनुप्रवेशेन, बहुधा आम्नातं तस्य लोके 'साङ्ख्यम्' इति प्रसिद्धिः. **वदन्ति** इति प्रमाणम्. भक्तिवितानो योगश्च. **प्रावोचद्** इति ज्ञानं प्रार्थः।।३१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विदित्वा इत्यत्र. **क्रियारूपा** इति. सेवारूपा. **तद्** इति. साध्यं रूपं भक्तेः स्वरूपम्. मूलस्थम् 'अर्थ'पदं व्याकुर्वन्ति **चतुर्णाम्** इत्यादि. तत्प्रयोजनं किम्? इति आकाङ्क्षायां विवृण्वन्ति सार्द्धेन **विवेचनम्** इत्यादि. **तम्** इति. आत्मानं च. तथाच, चतुर्णाम् एतानि चत्वारि प्रयोजनानि इति अर्थः. **उद्देश-लक्षण-भेदेन** इति. परीक्षायाः मूले अनुक्तत्वाद् उभयोरेव ग्रहणम्.

भक्तिवितानो योगश्च इति. तेन भक्तिवितानसहितो योगो भक्तिवितानः इति मूलार्थो बोधितः. **ज्ञानं प्रार्थः** इति. तेन ज्ञानं यथा स्यात् तथा अवोचद् इति

१.बुद्धयेयम् इति मां४. २.वृत्तिः ग.

तत्र भक्तिं लक्षयति **देवानाम्** इति द्वयेन

श्रीभगवान् उवाच

देवानां गुणलिङ्गानाम् आनुश्रविककर्मणाम् ।
सत्व एवैक–मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ।।३२।।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णम् अनलो यथा ।।३३।।

तस्य च परिकरः सर्वोऽपि अग्रे वक्ष्यते एकादशभिः. एकमनसः पुरुषस्य सर्वेन्द्रियाणां सत्वमूर्तौ भगवति या स्वाभाविकी वृत्तिः सा भक्तिः इति. इन्द्रियाणि हि द्विविधानि स्वभावतः ''**द्वया ह प्राजापत्याः**''(बृहदा.उप.१।३।१) इत्यत्र निरूपितानि. एकानि देवरूपाणि, एकानि असुररूपाणि. यानि अलौकिकं वेदोक्तमेव कर्म ज्ञानं वा जनयन्ति तानि देवरूपाणि. यानि लौकिकं कर्मादि जनयन्ति तानि आसुराणि. तेषाम् अन्योन्यं स्पर्द्धा. तत्र बलिष्ठानि आसुराणि. तैः देवरूपाणि न स्वकार्ये प्रवर्तितुं शक्नुवन्ति. तानि चेद् आसन्योपासनादिना आसङ्गा(?)दिदोषाद् निवृत्तानि स्वस्य देवभावं[१] प्राप्नुवन्ति, तदा कार्यतोऽपि देवरूपाणि भवन्ति. तत्र ऋषीणां बहुजन्माभ्यासाद् इन्द्रादिदेवानाञ्च देवरूपाण्येव इन्द्रियाणि भवन्ति. ये वा दैव्यां सम्पदि जाताः तेषामपि देवरूपाणि भवन्ति, आसुराण्यपि भवन्ति. एकस्मिन्नेव[२] गोलके उभयमपि तिष्ठति. यानि निषिद्धाद् विचिकित्सन्ते, यथा अमेध्यं दृष्ट्वा तथा कामिन्यामपि दृष्टायाम्. यानि पुनः निषिद्धे लौकिके च रज्यन्ते तानि बलाद् विहिते प्रवर्तमानान्यपि न परितुष्टानि भवन्ति इति आसुराणि. तत्र भक्तिः देवैरेव भवति, न आसुरैः इति 'देव'पदेन करणानि निर्मितानि. तेषां परिज्ञानार्थं लक्षणम् आह **गुणलिङ्गानाम्** इति. गुणाः रूपादयः, तैः लिङ्ग्यन्ते, गुणाः लिङ्गानि येषाम् इति. देवरूपाणाम् इन्द्रियाणाम् एतद् लक्षणं, तानि लय–विक्षेपशून्यानि. ततो विक्षेपाभावाद् न कार्येषु प्रवृत्या

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मूलार्थः. तेन चतुरोऽपि अर्थान् अवोचद् इति अर्थो भवति ।।३१।।

देवानाम् इत्यत्र. **आसङ्गा(?)दिदोषाद्** इति. लौकिकात्यक्तादिदोषात्. **विचिकित्सन्ते** इति. ग्लानिं प्राप्नुवन्ति. तानि देवरूपाणि इति शेषः ।।३२।।

१.देवस्वभावम्. ख. घ. ङ.मां४ २.अपि. ख. ङ.

स्पष्टम् उपलभ्यन्ते, नापि लयाभावाद् मूढानि पदार्थमपि न गृह्णन्ति इत्यपि किन्तु रूपमात्रं चक्षुः गृह्णाति पश्यति इति कृत्वा चक्षुः अस्ति इति ज्ञायते. एवम् अन्यानि तादृशानि कथं भवन्ति? इति आकाङ्क्षायाम् आह **आनुश्रविक-कर्मणाम्** इति. गुरोः उच्चारणानन्तरं श्रूयते इति अनुश्रवो वेदः, तेन प्रोक्तानि कर्माणि आनुश्रविकाणि; तान्येव कर्माणि येषाम्. लोके दर्शनादिमात्रं, कार्याणितु वैदिकान्येव तेषाम्. दैवाद् येषाम् एतादृशानि इन्द्रियाणि भवन्ति, तेषां भक्तिः भवति इति उक्तम्. किञ्च, तान्यपि कर्मयोगज्ञानादिबहुरूपे वैदिके कर्मणि प्रवर्तमानानि पूर्ववासनया अभ्यासाद् भवन्ति. तेषामपि यदि फलावस्था भवति, तदा सत्वएव शुद्धसत्वरूपे भगवत्स्वरूपे प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति. **सत्वे** इति साङ्ख्यमतानुसारेण उक्तम्. वस्तुतस्तु गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिः इति भगवच्छास्त्रम्. ''**मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्**''(भाग.पुरा.११।२५।२४) ''**हरिर्हि निर्गुणः साक्षाद्**''(भाग.पुरा.१०।८८।५) इत्यादिवाक्यैः सर्वा भगवतः सामग्री निर्गुणा[१]. एवकारो राजस-तामस-व्युदासार्थः. **एकमनसः** इति. एकमेव मनो यस्य. मनोऽपि द्विविधं, दैवासुरविभेदेन. तत्र आसुरं सङ्कल्प-विकल्पात्मकं नानाभावापन्नं गुणैश्च क्षोभम् एति. दैवन्तु एकस्वभावापन्नं मननात्मकमेव. इन्द्रियाणितु उभयविधान्येव भवन्तु नाम. कार्यमेव आसुराणां बाध्यते. मनसातु द्वितीयेन न भाव्यमेव. तथा सति इन्द्रियाणां पूर्वोक्ता वृत्तिः न स्यात्. अतः एकम् एकस्वभावापन्नं मनो यस्य, तस्यैव भक्तिः. अन्येषान्तु यथाकथञ्चित् क्रियमाणा भगवति खण्डशो वृत्तिः अक्षयत्वाद् बहुभिः जन्मभिः पुष्टिं गता, अन्तिमजन्मनि भक्तिरूपं वृत्तिं जनयिष्यतीति न काऽपि अनुपपत्तिः. **वृत्तिः** तन्निष्ठता, नतु ग्रहणमात्रम्. साऽपि वृत्तिः औत्पत्तिकी; यथा प्रह्लादस्य, अन्येषां वा भक्तानाम्. एतावद्दूरे[२] न अस्मिन् जन्मनि साधनसाध्यता, किन्तु पूर्वजन्मवशादेव एवं भूतो भवति. अग्रे विशेषं वक्तुं शब्दम् आह. जन्मान्तरेण व्यवधानात् पूर्वजन्मवृत्तिः 'यच्छ'ब्देन परामृश्यते.

फलरूपे जन्मनि सा **अनिमित्ता** भवति, स्वतन्त्रा, भगवन्निमित्ता वा.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अग्रिमं श्लोकं व्याकुर्वन्ति **फलरूपे जन्मनि** इत्यादि.

१.निर्गुणैव ग. २.एतदेव. क. घ. ङ.

भगवतः सकाशात् फलानि निमित्तानि. या अनिमित्ता सा भक्तिः भवति इति उत्तरेण सम्बन्धः. किञ्च, सा चेद् भागवती भवति, साक्षाद् भगवन्तं विषयीकरोति, भगवद्भावं वा षड्गुणरूपताम् आपद्यते. पूर्वं सत्वरूपे देवे विष्णौ वृत्तिः, सैव जन्मान्तरे भागवती भवति इति वा. पञ्चाग्निविद्यायां ज्ञानौपयिकदेहसिद्धिः निरूपिता. तस्मिन् देहे ज्ञाने जाते मुक्तिः भवति इति तस्य च ब्रह्मविदो जीवतो, म्रियमाणस्य, गच्छतः, सङ्गतस्य च व्यापाराः निरूपिताः. सद्योमुक्तावपि सायुज्यं निरूपितम्. तद् वस्तुतो भक्तानामेव भवति इति सिद्धान्तः प्रकारान्तरेण प्राप्य अभिव्यक्त्यभावात्. तथापि **मुक्तेः** सायुज्यादपि इयं भक्तिः गरिष्ठा इति आह **सिद्धेः गरीयसी** इति. सिद्धिः पूर्वोक्ता. गरीयस्त्वं निरूपयति **जरयति** इति. या **कोशं** लिङ्गशरीरं जीर्णं करोति. बीजात्मकम् इति अन्ये. यद्यपि सिद्धावपि कोशजीर्णता वर्तते, तथापि **आशु जरयति**. अनायासार्थं दृष्टान्तः **निगीर्णम् अनलो यथा** इति. नहि भुक्तकवलस्य परिपाकार्थम् औदर्याद् अग्नेः अन्यत् साधनं विधीयते, औषधादिकमपि अग्निमेव बोधयति. एतया मे पदं प्राप्यते इति भावः ।।३२-३३।।

तादृशभक्तानां ज्ञानिनामिव अग्रिमकृत्यम् आह प्रकारद्वयेन. तत्र प्रथमम् आह त्रिभिः **नैकात्मताम्** इत्यादिभिः.

जीवतां साधनावस्था फलरूपा तथा परा ।
सायुज्यं च तृतीयं स्याद् अतो नोक्रान्तिप्रापणे ।।१।।

तत्र प्रथमं भक्तानां साधनावस्थाम् आह **न एकात्मताम्** इति.

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिद् मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्ज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ।।३४।।

इयं हि फलरूपा भक्तिः ज्ञातव्या. ते भक्ताः यावद् जीवन्ति च तावत्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

न एकात्मताम् इत्यत्र. **प्रकारद्वयेन** इति. ऐहिक-पारलौकिक-भोगप्रकारभेदेन. स्पृहाभावबोधक-श्लोकत्रयतात्पर्यं कारिकया वदन्तः तादृशां सद्योमुक्तौ प्रकारभेदे हेतुत्वं स्पृहाभावस्य आहुः **जीवताम्** इत्यादि. **अतः** इत्यादि. यस्माद् एतादृशं तेषाम् अवस्थात्रयम् अतः तदिन्द्रियाणां देहाद् उत्क्रान्तिदेवतात्व-प्रापणञ्च न उक्तम् इति अर्थः ।।३४।।

फलरूपां भक्तिं कुर्वन्ति इति अर्थः. फलरूपता तदैव भवति यदा भजनाद् रसो अभिव्यक्तो भवति बहुधा. तस्याः अभिव्यक्तेः निदर्शनं, भगवतः **एकात्मतां** सायुज्यरूपं फलं **न स्पृहयन्ति,** प्रार्थना दूरे. ते भक्तेषु विरलाः प्रसङ्गाद् निरूप्यन्ते. **केचिद्** इति दुर्लभाः. तेषां काय-वाङ्-मनोवृत्तिः स्वभावतएव भगवति भवति इति आह **मत्पादे**त्यादिना. मम पादसेवायामेव अभिरतिः मनोवृत्तिः येषाम्. सर्वतो गत्वा भगवत्कार्यं कर्तव्यम् इति पद्भ्यां सेवा इति अर्थः. अन्यत्तु सुखं गमनानन्तरसाध्यम्. इयं मनोवृत्तिः निरूपिता. कायिकीम् आह **मदीहाः** इति. मत्सम्बन्धिन्येव[१] ईहा चेष्टा येषाम्. तेषां वाचनिकीम् आह **अन्योन्यतः** इति. सर्वे **भागवताः** एकरूपाः भगवदीयाः **प्रसज्ज्य** आसक्तिं कृत्वा, **मम** भगवतः, पौरुषाणि सभाजयन्ते.

अन्योन्यमुक्तान्यति[२] पौरुषाणि सम्मानयन्ति प्रकट सुहृष्टाः।
स्वकार्य-निर्धार-विचारहेतौ प्रमाणमेतद् गणयन्ति नाऽन्यत्॥३४॥

तेषां फलावस्थाम् आह **पश्यन्ति** इति.

पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस-प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥३५॥

ते मे रूपाणि पश्यन्ति निरन्तरं भगवत्साक्षात्कारो भवति. यथा मित्रैः सह क्रीडन्ति प्रथमतः पश्यन्ति. [३]भगवतो रूपाणि वर्णयति **रुचिराणि अवतंसानि** कर्णाभरणानि येषाम्. अनेन वृन्दावनादौ भगवत्साक्षात्कारो भवति इति उक्तम्. प्रसन्नानि वक्त्राणि, अरुणानि लोचनानि येषाम् इति राममिव नृसिंहमिव पश्यति इति अर्थः. तेषाम् इष्टोत्पादनार्थं राजसभावम् इष्टानां स्थित्यर्थञ्च सात्विकभावं प्रकटयन्ति इति वा. **रूपाणि** इति परमोपासकानाम् एकं रूपं कदाचित् साक्षात्कृतं भवति, तेषान्तु बहूनि. तानि च दिव्यानि, लौकिकबुद्ध्या न गृहीतानि.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पश्यन्ति इत्यत्र. ननु अवतीर्णस्य भगवतः सर्वेषां दर्शनविषयत्वेन अतिप्रसङ्गात् कथं दिव्यत्वम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **तानि** इत्यादि. यानि दिव्यानि तान्येव भक्तार्थं भूमौ प्रकटानि, इति हेतोः दर्शनस्य भक्तार्थत्वे सति

---

१. 'मम सम्बन्धिन्येव' इति मां४. २. अपि. ख. ३.भगवत्वाय. ख. ग.मां४.

अलौकिकभावं वा प्रकटयन्ति, तान् प्रत्येव प्रकटानि इति. तथा सति न अतिप्रसक्तिः. तेषाम् अन्यदीयव्यावृत्यर्थं निदर्शनान्तरम् आह **वरप्रदानि** इति. नहि अन्येन वरं दातुं शक्यते. प्रसन्नाद् रूपाद् एतेषां वैलक्षण्यम् आह **साकं वाचम्** इति. जीवन्तएव एते एतस्मिन्नेव लोके भगवता सह स्पृहणीयां वाचं वदन्ति, यथा मित्रैः सह इष्टालापाः क्रियन्ते।।३५।।

ततः तेषां सायुज्यम् आह **तैः** इति.

तैर्दर्शनीयावयवैर् उदार-विलास-हासेक्षित-वामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिर् अनिच्छतो मे गतिम् अण्वीं प्रयुङ्क्ते।।३६।।

तैः पूर्वोक्तरूपैः अनुभवसमयएव आनन्दजनकैः. दर्शनीयाः अवयवाः येषाम्. उदारो विलासः, हासपूर्वकम् ईक्षितं, **वामं** मनोहरं **सूक्तं** वाक्यं च येषाम्. तैः हृतान्तःकरणानां वशीकृतेन्द्रियाणाञ्च सा पूर्वोक्ता भक्तिः, ताम् **अनिच्छतोऽपि अण्वीं गतिं** सायुज्यं प्रापयति. भक्तस्य चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं चतूरूपत्वं च साध्यते. तत्र दर्शनीयाः अवयवाः कामपूरकाः, उदारो विलासो अर्थजनकः, हासपूर्वकम् ईक्षितं धर्मजनकं, वामसूक्तानि मोक्षजनकानि. कामो हि विषयसौन्दर्येण अन्तःशक्त्या च सिद्ध्यति, अतो **दर्शनीये**ति विशेषणं बहिः अलौकिकसौन्दर्यार्थम्. विलासो हि अर्थस्य नानाप्रकारत्वाय. उदारत्वं तस्य सर्वोपकारकत्वाय. भगवतो हि लीला सर्वेषां सर्वपुरुषार्थदायिनी इति भगवत्वम्. हासो देहादौ अध्यासजनकः, अन्यथा निरन्तरं धर्मो न सिद्ध्येत्. हासपूर्वकं च ज्ञानं धर्मजनकमेव. सूक्तं हितकारि, अविद्यानाशकम्. वामं परमानन्ददायकम् इति. सूक्ष्मा हि गतिः एकरूपानन्दस्वरूपा, रूपाणि च अनन्तानन्दरूपाणि, अतएव अनिच्छा, अतएव अन्तःकरणेन्द्रियाणाञ्च तैः आकर्षणं, सर्वेन्द्रियसुखरूपत्वात्. सः भगवान् स्वगृहं गच्छन् तानपि नयति. तेतु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति. भक्तिस्तु फलावश्यम्भाविनी कालादीनाम् अगम्यम् अतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मकं फलं प्रयच्छति।।३६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तदर्थसर्वगोचरीभावाद् दिव्यत्वस्य व्यभिचाररूपा अतिप्रसक्तिः न इति अर्थः. **अन्यदीयव्यावृत्यर्थम्** इति. परार्थत्व-लौकिकत्व-व्यावृत्यर्थम्. **रूपाद्** इति ल्यब्लोपे पञ्चमी. **वैलक्षण्यम्** इति. अन्येभ्यो दर्शनकर्तृभ्यः आधिक्यम् ।।३५।।

एवं सायुज्यरूपं फलम् उक्त्वा सालोक्यादिरूपं फलम् आह **अथो** इति.

अथो विभूतिं मम मायाविनस्ताम् ऐश्वर्यम् अष्टाङ्गम् अनुप्रविष्टाम् ।
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते नु लोके ।।३७।।

सा चेद् भक्तिः मध्यमा भवेत्, ततो अयं भिन्नप्रक्रमः. **अथो मम मायाविनो विभूतिं** पुत्रधनादिरूपां स्वर्गादिरूपाञ्च. न तत्र भोग्यम् अस्ति इति **मायाविनः** इति उक्तम्. सर्वस्याऽपि विषयस्य भगवदीयानां भगवदधीनत्वाय षष्ठी. **ताम्** इति अलौकिकीं, सर्वलोकप्रसिद्धां वा. **ऐश्वर्यम्** अणिमादि. अष्टाङ्गानि यस्य इति सर्वैश्वर्यप्राप्तिः. भगवद्भजनम् अनु, भगवन्तम् अनु वा, **प्रविष्टां श्रियं** सर्वामेव सम्पत्तिं मोक्षपर्यन्ताम्. **भागवतीं** च भगवत्कृतसम्पत्तिं च. **वा** इति अनादरे. सर्वमेव वा अस्पृहयन्ति **भद्रां** मोक्षसम्पत्तिमपि. मध्यमा भक्तिः फलम् अवश्यं प्रयच्छति इति, यदि अन्यत्र तेषां भोगो न रोचते तदा वैकुण्ठएव तेभ्यो भोगं **प्रयच्छति** इति आह **परस्य मे ते अश्नुवते नु लोके** इति. **परस्य** कालाद् अक्षराच्च. **लोके** व्यापिवैकुण्ठे. सर्वमेव ऐश्वर्यादिकम् अश्नुवते इति अर्थः।।३७

ननु लोकानां कालभयस्य विद्यमानत्वात् ''**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**''(भग.गीता९।२१) इति स्वस्थानत्यागात्, किं वैकुण्ठलोके विषयाऽनुभावेन? इति आशङ्क्य आह **न कर्हिचिद्** इति.

न कर्हिचिद् मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषाम् अहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवम् इष्टम् ।।३८।।

हे **शान्तरूपे** मातः. शान्तं रूपं यस्य इति सर्वदोषविवर्जिते वैकुण्ठे वा. अहमेव परो येषां ते **न नङ्क्ष्यन्ति**. क्षीणपुण्याः नश्यन्ति पतन्ति वा. **न वा हेतिः** कालचक्रं तान् **लेढि,** कालोऽपि तान् न भक्षयति. तत्र हेतुः **येषाम् अहम्** इति. कालस्य यत्र विषयः तत्र प्रवर्तते. तस्य अष्टौ विषयाः [१]विषयाः, [२]देहः, [३]पुत्राः, [४]मित्राणि, [५]गुरवः, [६]सम्बन्धिनः, [७]इष्टदेवता, [८]कामश्च इति. तस्मिन् लोके न एते सन्ति किन्तु एतेषां कार्यम् अहमेव करोमि. अतएव तेषाम् अहमेव अष्टविधः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ इत्यत्र. **अ स्पृहयन्ति** इति. ''**अमानोनाः प्रतिषेधे**''(   ) इति प्रतिषेधार्थकम्. 'अ'पदम् असमस्तमेव बोध्यम् ।।३७।।

नहि कालो मां विषयीकरोति. तेषां मद् अन्यः कोऽपि न अस्ति देहादिः. **प्रियो** हि विषयो भवति. वैकुण्ठस्तु मद्रूपइति तत्र अहमेव विषयः. सारूप्यस्य च प्राप्तत्वाद् देहोऽपि अहमेव. देहेन विषयेषु भुज्यमानेषु प्रकृतिः सूयते इति सुताः भवन्ति. तत्र[+] विषयभोगेनाऽपि अहमेव भवामि, पुत्रस्नेहः तत्रत्यैः मय्येव क्रियते. तत्र बाह्योऽपि सखा अहमेव, तत्रत्यानां पुरुषाणां मद्रूपत्वात्. एते चत्वारः ऐहिकाः. पारलौकिकाः चत्वारः. तत्र गुरुः उपदेष्टा वैकुण्ठेतु अहमेव. गुरोः उपदेशानन्तरं ये तत्र हितार्थं यतन्ते, ते बान्धवाः सुहृदः, सुहृत्कार्यन्तु तत्रत्यैरेव[*] क्रियते इति. **दैवं** देवता, पूज्यः, फलदाने सः प्रयोजकः. फलं च इष्टम्. अतः तेषां नाशाभावः उचितएव।।३८।।

ततोऽपि प्रथमा भक्तिं सफलां निरूपयति **इमं लोकम्** इति.

इमं लोकं तथैवाऽमुम् आत्मानम् उभयायिनम्।
आत्मानम् अनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः।।३९।।
विसृज्य सर्वान् अन्यांश्च माम् एवं विश्वतोमुखम्।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान् मृत्योरतिपारये।।४०।।

ये पूर्वोक्ताधिकाररहिताः तादृशशरीरादिरहिताश्च, केवलं पुण्य-परिपाकवशाद् एवं भूताः, वक्ष्यमाणप्रकारेण उपासते, तेषां भक्त्यभावाद् अहं तान् मृत्योः अतिपारये इति द्वयोः सम्बन्धः. साङ्ख्यसिद्धान्तत्वात् परित्यागो अत्र मुख्यः. मुख्ये सिद्धान्तेतु इह लोकादिषु अपेक्षाभावएव हेतुः. त्याज्यान् गणयति. इह लोकः त्याज्यः चतुर्द्धा प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलभेदेन. ऐहिकानां प्रमाणानि न प्रमाणानि; यद् एषां प्रमेयं, विषयाः ज्ञेयाः ग्राह्याः वा, ते न ग्राह्याः, यद् एषां फलसाधनं, यद्वा फलं, तद् उभयमपि न तेषाम्. यस्तु एवं करोति. सः इमं लोकं त्यजति. तथैव अमुं चतुर्धा लोकं त्यजति. उभयलोककामी लौकिको वैदिकश्च उभयस्वभावापन्नः आत्मा देहादिचतुर्विधः. सर्वत्र त्यागः औदासीन्यम्. **आत्मानं**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इमम् इत्यत्र. **देहादिचतुर्विधः** इति. देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यास-भेदभिन्नः।।३९।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे पञ्चविंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

+.ततोऽत्र क. घ. *.तैः घ. क.

देहादिकम् अनु ये पुत्रादयः, **च**काराद् गृहपरिच्छदादयश्च. **इह** इति सर्वमेव ममतास्पदाः प्रत्यक्षतएव उपलभ्यन्ते इति सूचितम्. **रायो** धनानि **पशवो** गवादयः.

एतान् **विसृज्य**. **अन्यान् च** अनुक्तान् प्रतिष्ठादीन् धर्मान्. **सर्वान्** इति. सर्वत्र विशेषणम्. **च**काराद् अभिमानादि. ननु सर्वत्यागे सर्वैः क्रियमाणानाम् उपकाराणाम् अपेक्षितत्वात् कथं निस्तारो भविष्यति? इति आह **माम् एवं विश्वतोमुखम्** इति. अहं हि सर्वात्मा, मदर्थे यावत् त्यजन्ति तेषाम् अर्थे तावद्रूपो भवामि इति. एवं रूपं मां ये भजन्ति. **विश्वतोमुखम्** इति. नूतनया भगवतो न किञ्चित् कर्त्तव्यम् अस्ति इति सूचितम्. तत्र भजने साधनं भक्तिरेव. तत्र अनन्यता अपेक्ष्यते. परलोकार्थं, भगवत्कृपार्थम्, अन्यार्थं, भक्तिव्यतिरेकेण भगवद्व्यतिरेकेण वा, येषाम् अन्यद् न अस्ति. मृत्योः अतिपारणं पुनः तस्य आत्मनो मृत्युग्रस्तदेहसम्बन्धाभावः. न मुक्तिः नापि मृत्युः इति सनकादयइव तिष्ठन्ति. एवं भेदत्रयं निरूपितं, सायुज्यं, वैकुण्ठः, जीवन्मुक्तिश्च इति ।।३९-४०।।

मार्गान्तरेणाऽपि एतद् भविष्यति इति आशङ्क्य निराकरोति **न अन्यत्र** इति.

नाऽन्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात् ।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते ।।४१।।
भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति विष्णुर्नाऽन्येन केनचित् ।
स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम् ।।१।।

मद् मत्तो अन्यस्मात्, **तीव्रं** संसारात्मकं **भयं न निवर्तते**. संसारनिवृत्तिः ज्ञानादिना, ते च 'भग'शब्दवाच्याः* भगवत्येव भवन्ति. तद् आह **भगवतः** इति. किञ्च. संसारो जायते प्रकृति-पुरुषाभ्यां, तयोः यो नियामकः, तस्मादेव निवर्तते इति युक्तम्. किञ्च **आत्मनः सर्वभूतानाम्** इति. आत्मैव तादृशम् उपकारं करोति, नहि अन्यो अन्यस्मै उपकरोति स्वार्थव्यतिरेकेण. अतो ज्ञानादिरूपत्वाद् निवर्तकरूपत्वं, प्रकृत्यादिनिवारकत्वात् पुनः संसाराजननम्, आत्मत्वाद् अवश्यं हितकारित्वं च भगवतएव इति अन्यस्माद् भयं न निवर्तते इति युक्तम्. **तीव्रम्** इति शीघ्रम् आगन्तृ, निकटस्थितादेव नियामकाद् निवर्तते इति. निकटस्थितत्वम्

*भगवद्ध्यातव्य. क.

आत्मत्वात् सिद्धम्।।४१।।

नियामकत्वं साधयति **मद्भयाद्** इति.

मद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निः मृत्युश्चरति मद्भयात् ।।४२।।

"**भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः, भीषास्माद् अग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः**" (तैत्ति.उप.२।८) इति श्रुत्यर्थम् आह. **मद् भयादेव अयं वातो वाति,** अन्यथा तस्य गमने प्रयोजनाभावात् सर्वत्र सर्वदा न वायात्. **सूर्योऽपि मद् भयादेव तपति**. श्रुतौ 'उदेति' इति उक्तं; तत्र 'उदय'शब्देन तपनमेव उच्यते. अन्यथा ज्योतिश्चक्रगत्याऽपि उदयो भवति इति व्यर्थं भयं स्यात्. अग्नीन्द्रयोः क्रिया न उक्ता इति स्वयम् आह **वर्षति इन्द्रः** इति. अन्यथा स्वगृहस्थं जलम् इन्द्रः कथं व्ययीकुर्यात्? **दहति अग्निः** इति. सर्वानेव अशुचिपदार्थान् असम्मतानपि कथं दहेत्. मृत्युरपि दयालुः मद् भयादेव चरति, मारयितुं यतते. वाय्वाद्युपासनया मृत्युः दूरीकर्तव्यः इति मतम् अपास्तम्. अन्येन निवार्यमाणोऽपि मृत्युः न निवर्तते इत्यपि सूचितम्।।४२।।

एवम् इतरनिषेधेन स्वसिद्धान्तं निरूप्य तत्र पूर्वाचारं प्रमाणयति **ज्ञाने**ति.

ज्ञान–वैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ।।४३।।

ज्ञान–वैराग्ये भक्तेः सहकारिणी. योगो अधिकारिविशेषणम्. भक्तिरेव करणम्. **क्षेमाय** मोक्षाय, स्वरूपसंरक्षार्थं वा, मे **पादमूलं** पादपीठम् अक्षरं प्रविशन्ति. न विद्यते कुतश्चिद् भयं यस्मात्. प्रवेशे हेतुः।।४३।।

एवं सर्वं शास्त्रार्थं निरूप्य स्पष्टपरिज्ञानार्थं कर्तव्यम् अनुवदन् उपसंहरति **एतावानेव** इति.

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ।।४४।।

पुंसां परलोकार्थं यतताम् अस्मिन् लोके **एतावानेव निःश्रेयसोदयः.** निःश्रेयसस्य उदयो यस्मात्. मोक्षहेतुः एतावानेव. पूर्वं मनोमूलकः संसारः उक्तः, मोक्षेऽपि तदेव निमित्तम् उक्तम् इति तच्चेद् भगवति स्थिरीभवति, तदा कृतार्थता

इति, तत्स्थिरीकरणार्थं भक्तिरेव इति आह **तीव्रेण** इति. शीघ्रं फलसाधकेन भक्तियोगेन सर्वप्रतिबन्धकरहितेन मनश्चेद् मयि अर्पितं सत् स्थिरं भवेत्. एतावानेव निःश्रेयसोदयः. केनाऽपि प्रकारेण भगवति स्थिरं मनः परमपुरुषार्थ-साधकम् इति योगसिद्धान्तः. तत्र भक्तिरेव स्थिरीकरणहेतुः इति स्वसिद्धान्तानुसारेणाऽपि भक्तिः निरूपिता. भागवताऽनुसारेणाऽपि. तस्माद् भक्तिः सर्ववादिसम्मता इति सैव कर्तव्या इति सिद्धम्।।४४।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे पञ्चविंशाध्यायविवरणम्।।

१.भगवच्छब्द क. घ. ङ. २.एतादशन् ख. ग.

।। षड्विंशाध्यायविवरणम् ।।

आत्मानात्मविवेकाय षड्विंशे साङ्ख्यम् उच्यते ।

तत्त्वानां लक्षणान्यत्र निरुक्तिश्चेयम् अत्र च* ।।१।।

जीवब्रह्मविभागार्थं प्रक्रियाद्वितयं स्मृतम् ।

संसारे मूलभावे च पुरुषः प्रकृतिर्मता ।।२।।

पूर्वाध्याये उत्तमभक्त्या हृदयप्रविलापनम् उक्त्वा, अन्यासां च फलं निरूप्य, ताः सत्सङ्गादेव भवन्ति इति देवहूतेः तद् असम्भवात् शास्त्रार्थ-परिज्ञानार्थमेव तन्निरूपितम् इति मत्वा साङ्ख्यं तदर्थमेव कथयितुम् आह **अथ** इति.

श्रीभगवान् उवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् ।

यद् विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।।१।।

अथ इति अपराधीनत्वाय भिन्नः प्रक्रमः. साङ्ख्यं **ते** तुभ्यमेव अभिधास्यामि. साङ्ख्यस्वरूपम् आह **तत्त्वानां लक्षणं पृथग्** इति. यथा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ षड्विंशाध्यायं विवरिषवः सङ्गतेः पूर्वम् उक्तत्वात् ताम् अनुक्त्वा भगवद्विचारितम् अर्थाख्यं द्वितीयपुरुषार्थं स्फुटीकर्तुम् एषः सर्वोऽपि विचारः इति ज्ञापनाय प्रयोजनमेव मुख्यतया आहुः **आत्मे**त्यादि. तथाच आत्मानात्मविवेको भगवद्विचारितो अर्थः. सो अत्र मैत्रेयोक्तौ अध्यायार्थः. तदर्थम् अत्र तत्त्वानां लक्षणानि निरुक्तिः उद्देशश्च क्रियते इति शेषः. **च** पुनः अत्र जीवब्रह्मविभागार्थं **प्रक्रियाद्वितयं** बन्धमोक्षरूपं कपिलाचार्यैः स्मृत्वा उक्तम्. यदि इदं द्वयं न स्यात् तदा विभागो न ज्ञायेत. तद् आहुः **संसार** इत्यादि. **मूलभावे** पूर्वरूपापत्तौ **पुरुषो** मतः इति अन्वयः. तथाच पूर्वाध्याये भक्तेः उक्तत्वाद् अत्र तदङ्गत्वेन भक्त्यनधिकारे च, फलार्थं तदनुकल्पत्वेन अत्र साङ्ख्यम् उच्यते इति तद्विचारे अङ्गाङ्गिभावो वा एककार्यत्वं वा सङ्गतिः इति अर्थः. शास्त्रार्थविचारेतु भगवद्योग्यतत्त्वानाम् अत्र निरूपणाद् मा(?)त्राध्यायत्वम् इति न कोऽपि कुत्रापि संशयः इति सर्वं सुस्थम्.

---

*या. घ. ङ.

अन्योन्यसंश्लेषो न भवति तथा तत्त्वानि लक्षणीयानि. लक्षणैरेव इतरभेदपरिज्ञानम् इति अवोचाम. अतः तत्त्वानां लक्षणं पृथक्-पृथक् प्रवक्ष्यामि. ननु अन्तःस्थित-संसारस्य बहिःस्थितैः तत्त्वादिपदार्थैः ज्ञातैरपि किं स्यात्? तत्र आह **यद् विदित्वा** इति. पृथक्-पृथग् लक्षणं विदित्वा स्वयं पुरुषः, **प्राकृतैः गुणैः** आध्यात्मिकतत्त्वैः विमुच्यते. सङ्घाते विद्यमानः तत्तल्लक्षणैः तं-तं पृथक्कृत्य केवलो भवितुं शक्नोति ।।१।।

एतद् आत्मानात्मविवेचनं यदर्थं तच्च ज्ञानं तुभ्यं कथयिष्यामि इति आह **ज्ञानम्** इति.

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्याऽऽत्मदर्शनम् ।
यद् आहुर्वर्णये तत् ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ।।२।।

यद् ज्ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्य मोक्षं साधयति, तत् ते वर्णयिष्यामि इति सम्बन्धः. ननु आत्माज्ञानात् संसारः इति आत्मज्ञानमेव वक्तव्यं किम् अन्येन ज्ञानेन? इति आशङ्क्य आह **आत्मदर्शनं यद् आहुः** इति. आत्मनो दर्शनं यस्माद्, आत्मसाक्षात्कारहेतुः, साक्षात्कारएव वा. तत्स्वरूपतः कारणतश्च **ते** तुभ्यं वर्णये. एतदपि भक्तिवद् हृदयप्रविलापकम् इति आह **हृदयग्रन्थिभेदनम्** इति. हृदये चिदचितोः ग्रथनं यस्मात् सः हृदयग्रन्थिः, मोहः, कोशो वा. तस्य भेदनं यस्माद् इति. साङ्ख्येन सहितं ज्ञानं स्वतन्त्रं साधनम् इति उक्तम्।।२।।

तत्र प्रथमं पुरुषस्य लक्षणम् आह

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिः विश्वं येन समन्वितम् ।।३।।

यस्मिन् ज्ञाते इतरभिन्नतया ज्ञानम् इति तल्लक्षणं यत्रैव न भविष्यति, तदेव दूरीकर्तुं शक्यते इति मुख्यतया आत्मलक्षणम्. पुरुषो लक्ष्यः, आत्मा इति लक्षणम्. यो अयम् अहं प्रत्ययवेद्यः, देहेन्द्रियान्तःकरणानि लोकाः ममतास्पदाः,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ इत्यत्र. **आध्यात्मिकतत्त्वैः** इति. शरीरस्थैः वासनामयैश्च ।।१।।

ज्ञानम् इत्यत्र. **कोशः** इति. लिङ्गशरीरम् ।।२।।

अनादिः इत्यत्र. आत्मत्वस्य पुरुषलक्षणत्वं व्युत्पादयन्ति **देहे**त्यादि. अत्र आत्मा ''**अहम् आत्मा गुडाकेश**''(भग.गीता १०।२०) इति वाक्योक्तौ विभूतिरूपो

यागादिसाध्याः परलोकाश्च. सो(स्वो)पकारि सर्वमेव अतति व्याप्नोति इति आत्मा, 'अस्मत्'प्रत्ययवेद्यः, सएव पुरुषः इति. तस्य देहाद्युत्पत्या जीवभावापन्नस्य उत्पत्तिः भविष्यति इति तद् व्यावृत्यर्थम् आह **अनादिः** इति. जनन–समागमाविर्भावभेदेन भिन्ना कापि उत्पत्तिः यस्य न अस्ति सो अनादिः. तस्य उत्पत्यभावे हेतुम् आह **निर्गुणः** इति. निर्गताः गुणाः यस्मात्. सर्वोत्पादकाः गुणाः, ते चेत् ततएव उत्पन्नाः, कः तस्य उत्पत्तिं साधयिष्यति. सुतरामेव निवृत्तिपक्षे गुणसम्बन्धरहितः इति अर्थः. स्वस्य गुणहेतुत्वे, स्वतो वा गुणसम्बन्धाभावे, प्रकृतेरेव वा गुणाः आत्मन्यादिमत्वं साधयिष्यति इति आशङ्क्य आह **प्रकृतेः परः** इति. नहि प्रकृतिनियन्ता प्राकृतैः गुणैः सम्बध्यते, प्रकृतेः अन्यः प्रकृतिसम्बन्धरहितो वा. तत्र प्रमाणम् आह **प्रत्यग्धामा** इति. **प्रत्यग्** अन्तर्मुखतया **धाम** स्फूर्तिः यस्य. 'अहं'वित्तिवेद्यः इति अर्थः. ननु अहङ्कारोऽपि तादृशो भवति इति चेत्, तत्र आह **स्वयं ज्योतिः** इति. स्वयमेव ज्योतिः प्रकाशरूपम्. अनेन प्रमाणान्तरं तत्र न अस्ति, न अपेक्ष्यते इत्यपि उक्तम्. अहङ्कारस्तु स्वप्रकाशो न भवति, तद् उत्तराध्याये वक्ष्यते. आत्मनो असाधारणं धर्मान्तरम् आह **विश्वं येन समन्वितम्** इति. येन आत्मना सर्वमेव विश्वं समन्वितम्. तत्त्वानाम् अन्योन्यव्यभिचारित्वात्, स्वभावकालकर्मणां नानात्वाद्, एकेन सर्वजगतः सम्यक् सम्बन्धः आत्मनैव भवति, न अन्यस्य* इति. सम्यग् अन्वयश्च तद्गतगुणदोषसम्बन्धाभावेन समन्वितम् इत्येव संसर्गः. अत्र पुरुषस्य 'आत्मा' इत्येव लक्षणम्, आत्मनः सङ्घातव्यावृत्यर्थम् अन्यानि लक्षणानि. 'अनादि'पदेन देहो व्यावर्तितः; 'निर्गुण'पदेन प्राकृताः सर्वे, प्रकृतेः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ज्ञेयः. **आविर्भावभेदेन** इत्यत्र 'आविर्भाव'पदेन बहिःप्राकट्यं ज्ञेयम्. **नानात्वाद्** इति. अनेकविधत्वात्. **समन्वितम् इत्येव संसर्गः** इति. एवंप्रकारकः संसर्गः 'समन्वित'शब्दार्थः. मूले परीक्षायाः अनुक्तत्वाद् अत्र परीक्षन्ते. **'अनादि'-पदेन** इत्यादि. **प्राकृताः** इति. महदादयः. अस्मदादिदेहापेक्षया अनादित्वस्य तेषु सत्वात् तद्व्यावृत्यर्थं 'निर्गुण'पदम् इति अर्थः. 'निर्गुण'पदे गुणजनकत्वरूपार्थादरे प्रकृतौ अतिव्याप्तिः इति तद्व्युदासाय आहुः **प्रकृतेः** इत्यादि.

*अन्येन. ङ.

नियामकत्वेन प्रकृतिः व्यावर्तिता, प्रत्यग्धामत्वेन कालो व्यावर्तितः. एवं चत्वारि पदानि एकं लक्षणं लौकिकम्. **स्वयं ज्योतिः** इति अलौकिकं लक्षणम्. ज्ञाने साक्षाद् उपयोगिलक्षणं **विश्वं येन समन्वितम्** इति. एवम् आत्मनः त्रीणि लक्षणानि. प्रत्यग्धामत्वं देहात्मविवेकात् पूर्वं देहेऽपि भवति इति प्रत्यग्धामेति न देहव्युदासः. तथा प्रकृतेः परे कालादयश्च न व्यावर्तिताः भवन्ति, शास्त्रसहकृतबुद्धेरपि स्वभावनियामकत्वदर्शनात्।।३।।

तस्य आत्मरूपस्य पुरुषस्य वस्तुतो निर्लेपत्वात् प्रकृतिनियामकत्वाच्च जीवत्वं सहजं न भवति इति वक्तुं जीवोपाधिम् आह **सः एषः** इति.

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।

यदृच्छयैवोपगताम् अभ्यपद्यत लीलया ।।४।।

सएव लक्षितः कारणत्वेन उक्तः पुरुषः, **एषः** आत्मा अहं प्रत्ययवेद्यः. तस्य कथम् एवं विपर्ययः? इति आशङ्क्य प्रकृतिः आत्मव्यतिरिक्ता साङ्ख्यैकदेशिनो मते पुरुषवद् नित्या, भगवदीयसाङ्ख्येतु भगवतः शक्तिः. साङ्ख्यशास्त्रन्तु न भगवन्तं विषयीकरोति, तत्प्रवर्तकत्वात्, तन्नियामकत्वाच्च.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ननु प्रथमलक्षणे पदचतुष्टयस्य किं प्रयोजनम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **प्रत्यगि**त्यादि. तथाच, केवलम् अनादित्वं **काले**, गुणजनकत्वं च **प्रकृतौ** उभयमपि **प्रकृतौ** इति ताभ्यां तद्व्युदासाद् एताभ्यां च एतदव्युदासात् समुदितम् उपात्तम् इति अर्थः. अत्र एतद् बोध्यम्. 'प्रकृतेः परः प्रत्यग्धामा' इति पदद्वयकथने विशेषणदलेन काल-बुद्धि-प्रकृत्यादीनां विशेषणदलेन देहस्य च व्युदासाद् 'अनादि-निर्गुण'पदे यद्यपि न अत्यावश्यके, तथापि अनादित्वस्य अविकारित्वे निर्गुणत्वस्य च अनञ्जन उपयोगस्य अग्रिमाध्यायारम्भे उपपादयिष्यमाणत्वाद् अत्र तत्स्वरूपकथनमात्रपरे. किञ्च अत्र प्रत्यग्धामत्वस्य देहे अतिव्याप्तिबोधनेन 'मम आत्मा'इत्यादि पराक्प्रत्ययोऽपि विवेकाभावकृतएवेति न तेन आत्मनः प्रत्यग्धामत्वक्षतिः इत्यपि ज्ञापितम् इति च ।।३।।

सः एषः इत्यत्र. **जीवोपाधिम्** इति जीवत्वप्रयोजकं धर्मम्. **कारणत्वेन** इति. गुणजनकत्वेन. **इति आशङ्क्य** इति. अस्याम् आशङ्कायाम्.

अक्षराद् अर्वागेव तच्छास्त्रप्रवृत्तेः, पञ्चधा भगवान् अनादिः इति. [१]पुरुषोत्तमो [२]अक्षरं [३]कालः [४]प्रकृति-[५]पुरुषौ इति. इदं मतम् आश्रित्य यत्र साङ्ख्य-सिद्धान्तप्रवृत्तिः, नतु प्राकृतम्, तत्र पुरुषस्यैव प्रकृतिनियमनावस्थां* परित्यज्य प्रकृत्यधीनावस्थया जीवत्वं तद् उच्यते **प्रकृतिम्** इति. **सूक्ष्मा** दुर्ज्ञेया कोमलाङ्गी. **एषः** इत्यनेन कामोऽपि अस्य प्रथमं भगवदिच्छया सञ्जातः इति ज्ञातव्यम्, अन्यथा तस्याम् आसक्तिः न स्यात्. "**काममयएव अयं पुरुषः**" (बृहदा.उप. ४।४।५) इति श्रुतेश्च. अतः कामवशात् तां भगवच्छक्तिरूपां प्रकृतिं, देवस्य सम्बन्धिनीं, मोहिकां बन्धनहेतुभूतगुणमयीम् आदौ. **विभुः** समर्थः तां भोक्तुम्. **यदृच्छया** इति. सापि भगवत्प्रेरणया स्वयमेव भोग्यत्वेन समागता भोक्तुम्. प्रभोः सा लीला उचितेति **ताम् अभ्यपद्यत.** उपभोक्तुं तया सह ऐक्यं प्राप्तवान् इति अर्थः।।४।।

तया उपभुज्यमानस्य अवस्थाम् आह **गुणैः** इति.

गुणैर्विचित्रां सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ।।५।।

सा हि गुणैः कृत्वा नित्यनूतना विचित्रा भवति वशीकर्तुम्. **सरूपाः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अन्वयस्तु **इदं मतम् आश्रित्य** इत्यनेन बोध्यः. **साङ्ख्यैकदेशिनः** इति. अनीश्वरादि-साङ्ख्यवादिनः. **तत्प्रवर्तकत्वाद्** इति भगवतः साङ्ख्यमत-प्रवर्तकत्वात्. तथाच, यदि विषयीकुर्यात् तदा ब्रह्मवादाद् न व्यतिरिच्येत. तथा सति तस्य अस्य च फलभेदो न स्याद् अतो भगवतः एतत्प्रवर्तकत्वात् तथा इति अर्थः. किञ्च अत्र प्रकृत्यधीनत्वं संसारार्थं पुरुषस्य अत्र वाच्यं, तदपि भगवतः प्रकृति-नियामकत्वाद् अनुपपन्नम्. तद् आहुः **तन्नियामकत्वाद्** इति. साङ्ख्यान्तराद् विशेषं बोधयितुम् अत्रत्यां शास्त्रमर्यादाम् आहुः **पञ्चधा** इति. कालादित्रयस्य अनादित्वम् अत्र स्पष्टम्. पुरुषोत्तमाक्षरयोस्तु गीतायां सिद्धम् अत्र अनुमंस्यते, प्रकृतेः शक्तित्वं च अनुमंस्यते **दैवी**त्यनेन. अतः **इदं** मतम् अन्यतो भिन्नं, तद् आहुः **नतु प्राकृतम्** इति. **तत्र** इति. प्रस्तुतसाङ्ख्ये ।।४।।

---

*नियता क. घ. ङ.

प्रजाः सृजतीम् इति. पुरुषान्तरङ्गभूतान् अंशान् स्वसदृशान् करोति इति अंशद्वारा पुरुषे स्वरूपापादनम्. अतएव सर्वेष्वेव अंशेषु तद्भावापन्नेषु सत्सु स्वयमपि तद्भावापन्नो जातः इति आह **विलोक्य मुमुहे** इति. ननु अस्य भगवद्रूपत्वेन नित्यसिद्ध–ज्ञानशक्तिमत्वात् कथं तस्याः दर्शने मोहः? तत्र आह **ज्ञानगूहया** इति. ज्ञानं हि गूहते आच्छादयति. **सद्यः** इति विचारास्फुरणम्. **सः** इति विभुरपि, **इह** अस्यां प्रविष्टः. मोहः स्वरूपविस्मृतिः।।५।।

मोहानन्तरं पूर्णो जीवभावो जातः इति आह **एवम्** इति.

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैर् आत्मनि मन्यते ।।६।।

परा स्वतो भिन्ना या प्रकृतिः, तस्याः अभिध्यानेन, तामेव आत्मत्वेन मन्यते इति. आत्मत्वेन ज्ञानम् अभिध्यानम्. सा हि सर्वं करोति, क्रियाशक्तिः तदीया इति. पुरुषस्यतु ज्ञानशक्तिरेव, सा मोहेन कृशरीभूता. प्रकृतेः कर्तृत्वम् आत्मनि मन्यते, यतो अयं **पुमान्.** लोकेऽपि पुरुषः स्त्रीकृतम् आत्मकृतमेव मन्यते. सा हि गुणैः कृत्वा कर्माणि करोति. तत्फलमुखं कर्तृत्वम् आत्मनि मन्यते इति अर्थः।।६।।

आत्मनि कर्तृत्वाभिमानएव संसारमूलम् इति आह **तद् अस्य** इति.

तद् अस्य संसृतिर् बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ।।७।।

तत् कर्तृत्वमेव **अस्य** जीवस्य **संसृतिः** संसरणम्. ततः कर्मभिः बन्धः, प्रकृतिपारतन्त्र्यञ्च. तदपि कर्तृत्वाभिमानकृतमेव, नतु केवलं प्रकृतिकृतम्. तत् सर्वं तस्य स्वाभाविकं न भवति इति वक्तुम् आत्मनो विशेषणानि चत्वारि. सहि चिदानन्दरूपः* भगवदंशरूपत्वाद् ऐश्वर्यादियुक्तश्च. दोषाभावार्थम् **अकर्तुः** इति. **ईशस्य** इति भगवत्सम्बन्धात्. **साक्षिणः** इति चिद्रूपत्वात्. **निर्वृतात्मनः** इति आनन्दरूपत्वात्. अकर्तुः संसारः, ईशस्य बन्धः, साक्षिणः पारतन्त्र्यं, निर्वृतात्मनः त्रितयम्. **च**काराद् उक्तं दुःखित्वं वा।।७।।

ननु ज्ञानेच्छाप्रयत्नानाम् एकाश्रयत्वाद्, उपादानगोचरापरोक्षज्ञानवतएव

*सच्चिदानन्दः क. ङ.

कर्तृत्वात् कथम् अन्यगतं कर्तृत्वम्? इति आशङ्क्य आह **कार्ये**ति.

कार्य–कारण–कर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ।।८।।

यद्यपि कर्तृत्व–भोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यं प्रतीयते, तद् उभयोः मिलितत्वात् कस्य किमिति निश्चेतुं न शक्यते, भगवतितु सर्वमूलभूते कर्तृत्वं भोक्तृत्वं सहजमेव, तथापि कर्तृत्वं प्रकृतिगतं भोक्तृत्वं पुरुषगतमेव. तत्र वृद्धाः प्रमाणम्. कर्तृत्वस्य प्रकृतिधर्मत्वे हेतुः **कार्य–कारणकर्तृत्वे** इति. कार्यम् अधिभूतं देहः, कारणानि इन्द्रियाणि आध्यात्मिकानि, कर्ता अन्तःकरणम् आधिदैविकम्. चिद्रूपस्य पुरुषस्य त्रिविधजडभावापत्तौ प्रकृतिरेव कारणम्. नहि निष्कारणम् अन्यो अन्यद् भवति. भगवदिच्छा कारणत्वेन कल्प्येत यदि त्रिविधाः धर्माः प्राकृताः न स्युः. प्राकृतत्वे स्वरूपापत्तौ स्वयमेव हेतुः अस्तु किं विशेषकल्पनया? भोगस्तु सुखदुःखसाक्षात्कारात्मकः. तत्र ''**सत्वात् सञ्जायते ज्ञानम्**'' (भग.गीता १४।१७) इति ज्ञानमपि प्रकृतिगतं कल्प्येत यदि पुरुषो ज्ञानरूपो न स्यात्. अतः पुरुषसम्बन्धादेव प्राकृतमपि ज्ञानम् इति आह **भोक्तृत्वे** इति. सुखदुःखानां भोक्तृत्वे पुरुषमेव कारणं विदुः, ज्ञानरूपत्वात्. ''**सत्वात् सञ्जायते**''(तत्रैव) इतितु सत्वोपाधौ पुरुषस्य ज्ञानम् उदेति इति उच्यते, नतु ज्ञानं प्रकृतेः स्वरूपं धर्मो वा. नतु प्रथमतः कर्तृत्वं, तत् प्रकृत्यध्यासेन. प्रकृतिविशिष्टश्चेत् पुनः प्रकृतौ अध्यस्यते तदा भोक्तृत्वम्. तथा सति न ज्ञायते किं गतं भोक्तृत्वम् इति. ''**स्वकृतं भुङ्क्ते**''* (   ) इति वाक्यात् च

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कार्यकारणेत्यत्र. **अन्यगतम्** इति. प्रकृतिगतम्. **तथापि** इति. ''**तयोरेकतरो ह्यर्थः**''(भाग.पुरा.११।२४।४) इति विभागात्. ननु प्रकृतविरोधे कथम् एवम् उपगन्तुं शक्यते? इति आकाङ्क्षायां **विदुः** इति मूलस्य अर्थम् आहुः **तत्र वृद्धाः प्रमाणम्** इति. तथाच, सृष्ट्युत्तरं प्रकृति-पुरुषयोः अविवेकेन कर्तृत्व-भोक्तृत्वयोः साङ्कर्यं, ततः पूर्वन्तु विवेकएव इति ऐतिह्याद् अङ्गीक्रियते इति अर्थः. ननु ऐतिह्यस्य प्रत्यक्षविरोधाद् उपेक्ष्यत्वमेव कुतो न उच्यते? इत्यतः आहुः

* भुङ्क्ते हि स्वकृतं कर्म सर्वत्रापि च भारते, शुभाशुभं च यत्किञ्चित् स्वकर्मफलभुक्पुमान्'' (ब्रह्मवै.पुरा.प्रकृति.खं.३७।१६)

प्रकृतिगतमेव युक्तम् इति आशङ्क्य आह **प्रकृतेः परम्** इति. नहि भोग्यापत्तौ भोक्तृत्वं भवति. अतो भोगदशायां प्रकृतिनियन्तैव भवति. नहि स्वात्मनो भोगो भवति, अन्यं प्रत्येव रसत्वात्. एवं कर्त्री व्यामोहिका प्रकृतिः, भोक्ता भोगदशायां प्रकृतिनियामकः, कर्तृत्वे प्रकृतिमुग्धो देहादिभावापत्तौ च पुरुषः इति उभयोः लक्षणम् उक्तं भवति।।८।।

तत्र देवहूतिः आशङ्कते **प्रकृतेः** इति.

देवहूतिः उवाच

प्रकृतेः पुरुषस्याऽपि लक्षणं पुरुषोत्तम ।

ब्रूहि कारणयोर् अस्य सदसच्च यदात्मकम् ।।९।।

देहभावे निष्पन्ने पश्चात् कर्तृत्वं, देहएवतु कथं निष्पद्येत[१] ?

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

कर्तृत्वस्य इत्यादि. **स्वयमेव** इति. प्रकृतिरेव. तथाच लोके अशरीरस्य कर्तृत्वादर्शने कर्तृत्वस्य सङ्घातनिष्ठत्व-निश्चयाद् ऐतिह्यस्य उपेक्ष्यत्वं न उच्यते इति अर्थः. तर्हि युक्तितौल्येन भोक्तृत्वमपि तस्यामेव कल्प्यम् इति चेत् तत्र आहुः **भोगः** इत्यादि. ननु तर्हि समानप्रकरणीय-गीतावाक्यविरोधः इत्यतः आहुः **सत्वाद्** इत्यादि. अन्यथा भगवानेव ‘‘**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**’’(भग.गीता १३।२०) इति न वदेत्. यत् पुनः श्रुतौ ‘‘**ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मनएव**’’(बृहदा.उप.१।५।३) इत्यनेन मनोधर्मत्वम् उच्यते, तत्तु सिद्धान्तभेदात्. नच परमार्थतो विरोधः, साङ्ख्यविषयस्य अर्वाचीनत्वात्. अतो न दोषः. **भोग्यापत्तौ** इति. भोग्यरूपत्वापत्तौ. **देहादिभावापत्तौ च** इति. प्रकृतिमुग्धः इति शेषः ।।८।।

प्रकृतेः इत्यत्र. **तत्र** इत्यादि. ‘‘**कार्यकारणकर्तृत्वे**’’(भाग.पुरा.३।२६।८) इति श्लोकोक्ते कर्तृत्वे आशङ्क्यते इति अर्थः. यद्यपि अत्र आक्षेपबोधकं पदं मूले स्फुटं न अस्ति, तथापि **कारणयोः अस्य** इति द्विवचनेन पुरुषे कारणत्वारोपात् सा बोध्यते इति ज्ञेयम्. तदेव विवृण्वन्ति **देहभावे** इत्यादिना. **कथं निष्पद्येत** इति. देहापत्तेः पूर्वं पुरुषस्य अकर्तृत्वात् प्रकृतेस्तु जडत्वाद् उभयोः तदजनकत्वे कर्तृत्वाभिमानापादकः पुरुषदेहो हेत्वभावाद् निष्पत्तुं न अर्हति इति भावः

१.निष्पद्यते. क. ङ.

नानात्वात् च जीवानां स्वतःकरणे जगदानन्त्यं, हिताद्यकरणम्, असम्बद्धकरणञ्च आपद्येत. अतः एतद्[२] उक्तं कर्तृत्वं भोक्तृत्वञ्च प्रकृति–पुरुषांशयोरेव, नतु मूलभूतप्रकृति–पुरुषयोः. अतः तयोः लक्षणप्रश्नः. उभयोरपि भगवद्रूपत्वाद् न सम्बन्धो विचारणीयः. **पुरुषोत्तम** इति तस्मादपि भगवन्तं परम् आह परिज्ञानार्थम्. **अस्य** जगतः **कारणभूतयोः**. उपादानभूतावपि तावेव इति आह **सदसत् च यदात्मकम्** इति. कार्यं, कारणं, मोक्षहेतुः बन्धहेतुः वा; अलीकं, सद् वा; सर्वमेव **यदात्मकं** मूलभूतप्रकृतिपुरुषात्मकम्. अतः तयोः ज्ञाने सर्वं ज्ञातं भवति इति आशयः. पुरुषस्तु एकएव. ''**पुरुषेश्वरयोः अत्र न वैलक्षण्यम् अण्वपि**'' इति, ''**तदन्यकल्पना अपार्था**'' इत्यतो जीवेश्वरौ अवस्थाभेदेनैव भिन्नौ, नतु स्वतः इति. यदेव पुरुषलक्षणं तदेव लक्षणं प्रकृतेरपि. सैव यदि भवेद्, अवस्थाभेदो न स्यात्. सा हि व्यामोहिकैव. भेदेतु यदा ताम् अभिमन्यते तदा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रश्नबीजम्. यदि च तादृशो जीवेन प्रकृतिम् अनपेक्ष्यैव क्रियते इति विभाव्यते, तदातु दूषणत्रयम् इति आहुः **नानात्वाद्** इत्यादिना. तथाच, जीवैः स्वार्थं करणे जगदानन्त्यं, मूलपुरुषेण तदर्थं करणे अग्रिमं दोषद्वयम्. **असम्बद्धकरणम्** इति सर्वदा प्रकृतिसम्बन्धं विनैव करणम्. **अतः** इत्यादि. एवं दोषत्रयापातात्. एवं पराभिध्यानेन उक्तं मूलपुरुषे कथमपि न युज्यते, अतो न तस्य जीवापत्तिः शक्यवचना. अतो जगत्कारणयोः एतद्भिन्नं लक्षणं वाच्यम् इति प्रश्नः इति अर्थः. ननु लक्षणवत् तयोः सम्बन्धोऽपि कुतो न पृष्टः? इत्यतः आहुः **उभयोः** इत्यादि. अतो न पृष्टः इति अर्थः. एवं प्रश्नग्रन्थतात्पर्यम् उक्त्वा साङ्ख्यान्तराद् विवेक्तुम् उत्तरग्रन्थस्य प्रणालीम् आहुः **पुरुष** इत्यादि. साङ्ख्यान्तरे पुरुषाः बहवः, ''**पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः**'' (साङ्ख्यसू. ६।४५) इति प्रवचनसूत्रात्. अन्यत्र च, पुरुषेभ्यः ईश्वरो अन्यः, तेषां मोक्षसाधकस्य ज्ञानस्य स्वतो अघटमानत्वेन ज्ञानदातुः अवश्यम् अपेक्षणात्. तद् उभयमपि अत्र न विवक्षितम् इति आशयेन एकादशोक्तम् एकं मतम् अत्र आहुः **पुरुषे**त्यादि. **लक्षणम्** इति. जीवेश्वरयोः स्वरूपलक्षणम्. तर्हि कथम् अवस्थाभेदः? इत्यतः आहुः **प्रकृतेः** इत्यादि. **सैव** इति. पूर्वोक्तैव. **भेदेतु** इति. अतिरेकेतु.

२.एव तदुक्तम् घ. ङ.

जीवावस्थां प्राप्नोति. यदातु मूलभूतां प्रकृतिं तदा स्वरूपस्थितएव जगत्कारणं भवति; प्रदेशभेदेन वा. ते उभे पुरुषसङ्गते. यथा आकाशे क्वचिद् ग्रहादि, क्वचिद् न इति. अतः तस्यापि मोहकप्रकृतिव्युदासे कारणतुल्यतैव भवति. परं मूलभूतप्रकृतिसम्बन्धाभावाद् न कर्तृत्वम्. उभयोः सम्बन्धो यथैव उपपद्यते, तादृशएव पुरुषः इति मन्तव्यम्. उभयोः दृष्टत्वाद् जीवानां पृथक्त्वे श्रुतिस्मृतिविरोधः आपद्येत. प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे शास्त्रविरोधः, अनिर्मोक्षः, एकमुक्तौ च सर्वमुक्तिः, अविश्वासश्च स्यात्. अतः उभयं यतएव उपपद्यते तथा मूलपुरुषः प्रकृतिः द्वयं गृह्णाति इति मन्तव्यम् ।।९।।

मूलभूतां प्रकृतिं लक्षयति **यत् तद्** इति.

श्रीभगवान् उवाच

यत् तत् त्रिगुणम् अव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुर् अविशेषं विशेषवत् ।।१०।।

यत् पूर्वम् उक्तं तदेव एतादृशगुणविशिष्टं मूलप्रकृतिः भवति. यत् त्रिगुणं, सा प्रकृतिः, सत्व-रजस्-तमोगुणाः यस्य मूलभूताः. यथा सच्चिदानन्दं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उभे इति. मूलप्रकृति-व्यामोहकप्रकृती. **तस्यापि** इति. जीवभावापन्नस्य प्रदेशस्यापि. **कारणतुल्यता** इति. मूलपुरुषतुल्यता. **उभयोः दृष्टत्वाद्** इति अवस्थाद्वयस्यापि दृष्टत्वात्. ननु जीवानां मूलपुरुषाद् भेदएव कुतो न आद्रियते? तत्र आहुः **जीवानाम्** इत्यादि. **श्रुति-स्मृतिविरोधः** इति. "**स वा एष महान् अज आत्मा**"(बृहदा.उप.४।४।२५) "**यस्यात्मा शरीरम्**"(बृहदा.उप.३।७।२२) इति श्रुतीनाम्, "**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**" (भग.गीता १०।२०) इत्यादिस्मृतीनां विरोधः. तर्हि मोक्षार्थं सौकर्याद् मायावादएव कुतो न आद्रियेत? इत्यतः आहुः **प्रपञ्चस्य** इत्यादि. **शास्त्रविरोधः** इति. सत्कार्यवादप्रतिपादनम् अत्र क्रियते, तद्विरोधः. शेषं स्फुटम्. एवम् अत्र **पुरुषस्तु एकएव** इत्यारभ्य आ**मन्तव्यम्** इत्यन्तेन शास्त्रप्रणाली निरूपिता ।।९।।

यत् तद् इत्यत्र. **पूर्वम् उक्तम्** इति. "**स एष प्रकृतिं सूक्ष्माम्**" (भाग.पुरा.३।२६।४) इत्यादिपद्यद्वयेन उक्तम्. **यथे**त्यादि. तथाच ऐश्वर्य-

ब्रह्म, क्रियाज्ञानानन्दाः धर्माअपि भवन्ति. तथा सच्चिदानन्दरूपं प्रधानम्, उद्गतास्तु अंशतो गुणाअपि भवन्ति. **अव्यक्तं** न केनापि प्रकारेण अभिव्यक्तं, कार्यमेव तस्य अभिव्यक्तं, न स्वयम् इति. **नित्यं** सदा एकरूपम्. **सदसदात्मकं** कार्य–कारणरूपम्. **प्रधानं** मुख्यम्. **प्रकृतिम्** इति लक्ष्यम्. **प्राहुः** इति प्रमाणम्. ब्रह्मवद् अविशेषम्. विशेषाः सर्वे गुणकृताः तस्याएव अतो **विशेषवत्. प्रधानम्** इति लक्षणम् एकमेव. प्रधानम् इति मुख्यं भगवता जगत्कारणत्वेन निर्मितं, तद्रूपं वा. तस्य जगत्कर्तृत्वनिर्वाहार्थं भगवतइव षड्गुणान् आह त्रिगुणादिषट्पदैः. त्रिविधा हि सृष्टिः अन्यथा न भवेद्, यथा भगवतः ऐश्वर्यम्, अन्यथा समानेऽपि कर्मणि उच्चनीचगतयो न स्युः. मूलधर्माः एते सच्चिदानन्दाभासाः भगवतः उत्पन्नायां प्रतिष्ठिताः. एवं सत्येव मुख्यं भवति. यद्यपि एकैकमेव लक्षणं तथापि भगवत्वाय षड् उच्यन्ते. **अव्यक्तम्** इति द्वितीयम्. तस्य हि एवं सामर्थ्यं न केनापि अभिव्यक्तं भवति, अन्यथा कालादिना अभिव्यक्तौ अनित्यतायां पुनः सृष्टिः न स्यात्. सदा एकरूपम् इति कीर्तिः तस्य. यद् जीवप्रकृतिव्युदासार्थम् इति केचिद् आहुः तद् उत्तराध्यायेन विरुद्ध्यते; नित्यत्वाद् उभयोः इति. **सदसदात्मकम्** इति श्रीः तस्य एषा शोभा यत् सर्वात्मकम् इति. **अविशेषम्** इति ज्ञानहेतुः अन्यथा संसारिणो मुक्ताः न स्युः तस्य सर्वकारणत्वात्. **विशेषवद्** इति सर्वे विशेषाः तदीयाः, न तस्य किञ्चिद् आश्चर्यकरम् इति वैराग्यहेतुः।।१०।।

प्रधानं लक्षयित्वा प्राधानिकं निर्दिशति **पञ्चभिः** इति.

पञ्चभिः पञ्चभिर् ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा ।
एतत् चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः।।११।।

प्राधानिकं गणं चतुर्विंशतिकं प्राहुः. चतुर्विंशतिभेदभिन्नम्. चतुर्विंशतीनां समुदायः प्राधानिको गणः. **विदुः** इति प्रमाणम्. चतुर्विंशति–सङ्ख्यासिद्धिः यैः, तानि आह गणशः **पञ्चभिः पञ्चभिः ब्रह्म** इति परिज्ञानार्थम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्थानापन्नम् अत्र त्रिगुणत्वम् इति अर्थः. **सच्चिदानन्दाभासाः** इति. ‘‘प्रजायेय’’ इति इच्छया तेभ्यो जघन्यभावापन्नाः इति अर्थः. श्रीधरमतम् आहुः **यदि**त्यादि. तत्र अस्वरसम् आहुः **तदि**त्यादि. **उभयोः** इति. जीवप्रकृति-मूलप्रकृत्योः ।।१०।।

एतत् चतुर्विंशतिभेदभिन्नं जगद् ब्रह्मैव. **चतुर्भिः दशभिः** इति. चतुर्णां प्रवर्तकत्वात् प्रथमं निर्देशः. साङ्ख्यशास्त्रत्वात् सङ्ख्ययैव पूर्तिः।।११।।

तानि नामतो निर्दिशति **महाभूतानि** इति.

महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्-मरुद् नभः ।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ।।१२।।

प्रथमं पञ्चसङ्ख्यापूरकाणि महाभूतानि. **एव**कारेण दिगादीनाम् आकाशादिषु अन्तर्भावः सूचितः. तानि गणयति **भूः** इत्यादि. **अग्निः** तेजः, अग्निरेव वा. सौरादीनि तेजांसि अग्नौ अन्तर्भवन्ति इति एके. भगवत्तेजः इति अपरे. **मरुद्** वायुः. **नभः** आकाशम्. **तन्मात्राणि** शब्दादीनि. **तावन्ति** पञ्चैव. स्वराः सर्वे शब्दमध्ये. **गन्धादीनि** गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दाः. **मे मतानि** इति अस्मत्सिद्धान्ते गन्धादीनां तन्मात्रत्वम्, अन्येषां मते गन्धादयो गुणाः भूतेभ्यः उत्पद्यन्ते भूतसमवेताः इति।।१२।।

दशसङ्ख्यां पूरयति **इन्द्रियाणि** इति.

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्-दृग्-रसन-नासिका ।
वाक्-करौ चरणौ मेढ्रं पायुर् दशम उच्यते ।।१३।।

ज्ञानेन्द्रियाणि प्रथमं गणयति. **श्रोत्रं** शब्दग्राहकम्. **त्वक्** त्वगिन्द्रियम्. **दृग्** दृष्टिः चक्षुः इति यावत्. रसनेन्द्रियं, घ्राणेन्द्रियञ्च इति. वागादीनि कर्मेन्द्रियाणि. **मेढ्रं** गुह्यम्।।१३।।

चतुष्टयं गणयति **मनो बुद्धिः** इति.

मनो बुद्धिर् अहङ्कारः चित्तम् इत्यन्तरात्मकम् ।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ।।१४।।

ननु पर्यायाः एते इति आशङ्क्य आह **अन्तरात्मकम्** इति. एकमेव

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

महाभूतानि इत्यत्र. **आकाशादिषु** इति. 'अयमा'दिशब्दो "**दिक्काला-वाकाशादिभ्यः**"(साङ्ख्यसू.२।१२) इति प्रवचनसाङ्ख्यसूत्रसूचनार्थः. **सौरादीनि** इत्यादिना उक्तं मतद्वयं न श्रीधरीयं, तत्र एतस्य अव्याख्याततत्वाद्, अतो अन्येषाम् इति बोध्यम्. **स्वराः** इति. उदात्तादयो निषादादयश्च ।।१२।।

अन्तरात्मकम् अन्तःकरणं मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्द्धा लक्ष्यते. एकस्य अनेकधा लक्षणे हेतुः **लक्षणरूपया वृत्त्या भेदो लक्ष्यते** इति. वृत्तिभेदाद् भेदः, वृत्तिः च लक्षणरूपा. व्यावर्तकं हि लक्षणं, सामान्यवृत्तेः भेदकत्वाभावात्।।१४।।

ननु अयं चतुर्विंशति-भेदभिन्नो गणितः, *अपरश्च गणनीयः इति आशङ्क्य आह **एतावानेव** इति.

एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह ।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः।।१५।।

सगुणस्य ब्रह्मणः एतावत्येव सङ्ख्या. शास्त्रे एतावानेव वा सङ्ख्यातः. **सगुणस्य ब्रह्मणः सन्निवेशः.** सम्यग् निवेशो नाम असम्भावितान्यप्रवेशे स्वधर्मवत्तया निरूपणम्. ननु अस्ति कालो अधिकः तत्र आह **यः कालः प्रोक्तः,** सः **पञ्चविंशकः.** प्राकृतएव इति अर्थः, प्रकृतेः प्रथमो भावः कालः, अन्यानि चतुर्विंशतिः इति ।।१५।।

एवम् एकदेशिमतेन कालं निरूप्य पुनः एकदेशमतेन निरूपयति **प्रभावम्** इति.

प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालम् एके यतो भयम् ।
अहङ्कार-विमूढस्य कर्तुः प्रकृतिम् ईयुषः।।१६।।

केचित् पौरुषं प्रभावं कालं प्राहुः. पुरुषस्य धर्मः कश्चित्, सामर्थ्यविशेषो वा. तथात्वे हेतुः **यतो भयम्** इति. यस्मात् कालाद् लोके भयं भवति. कस्य भयम्? इति आशङ्क्य आह **अहम्** इति. अहङ्कारेण यो **विमूढो** वञ्चितः, आत्मानमेव अहङ्कारं मन्यते. अहङ्कारविमूढत्वे हेतुः **कर्तुः** इति. यः कर्मादि-कर्ता, सो अहङ्कारविमूढो भवति. कर्मकर्तृत्वेऽपि हेतुः **प्रकृतिम् ईयुषः** इति. यस्तु प्रकृत्या सह ऐक्यं प्राप्य कर्माणि करोति, पश्चाद् अहङ्कारेण मूढो भवति, तस्य कालाद् भयं भवति इति अर्थः।।१६।।

स्वमते कालं लक्षयति **प्रकृतेः** इति.

प्रकृतेर् गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि! ।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ।।१७।।

---
*अतः परश्च क. ङ.

गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः. प्रकृतेः सम्बन्धिनो ये गुणाः सत्वादयः, तेषां साम्यं गुणक्षोभात् पूर्वावस्था. सच क्षोभात् पूर्वं निर्विशेषः. **मानवि!** इति सम्बोधनं महतः उत्पन्ना अलौकिकं जानाति इति. एतादृशस्य यतः चेष्टा, सः कालः. कालादेव गुणानां क्षोभः. सः कालो भगवानेव, रूप-पञ्चक-मध्ये गणनात्. ननु भगवतः 'कालः' इति संज्ञा कुतः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **इति उपलक्षितः** इति. कलयति आकलयति इति. सर्वो हि प्राणी येन रूपेण कृत्वा सर्वम् आकलयति, मृत्युभीतएव हि सर्वम् आकलयति. अतः 'कालः' इति **भगवानेव उपलक्षितः** उपलक्षणविधया बोधितः. नहि कालः इति साक्षाद् भगवन्नाम, किन्तु प्राणिनां बोधनहेतुत्वेन निरूपितः इति।।१७।।

एवं कालं भगवद्रूपत्वेन उक्त्वा तस्य उपलक्षणतां निरूपयति **अन्तःपुरुषरूपेण** इति.

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवान् आत्ममायया ।।१८।।

एकएव भगवान् सर्वप्राणिनाम् अन्तःपुरुषरूपेण वर्तते, बहिः कालरूपेण, अन्यथा भगवतो व्याप्तिः न स्यात्. बहिर्मुखान् कालरूपेण भक्षयति, अन्तर्मुखान् पुरुषेण* आप्याययति(?) इति. अतएव **सत्त्वानां** सर्वेषां भगवान् स्वमायया सर्वभवनसामर्थ्येन उभयविधो भूत्वा, **समन्वेति** सम्यग् अन्वयं प्राप्नोति. बहिःकाले लयं प्राप्नोति, अन्तःपुरुषे इति. कालो भयजनकः, अभयरूपश्च पुरुषः इति विशेषः।।१८।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अन्तः इत्यत्र. **बहिः काल** इत्यादि. इदमेव प्रमेयं ''**वीर्याणि तस्याखिल-देहभाजाम्**'' (भाग.पुरा.१०।१।७) इत्यनेन दशमस्कन्धे राज्ञा अनूदितं ज्ञेयम्. किञ्च प्रकृतेः ''**ब्रूहि कारणयोरस्य**''(भाग.पुरा.३।२६।९) इत्यनेन जगत्कारणतया यत् पुरुषः पृष्टः, तस्य कारणताबोधकरूपम् उत्तरम् इदमेव पद्यम्. ''**विश्वं येन समन्वितम्**'' (भाग.पुरा.३।२६।३) इति ज्ञानोपयोगिलक्षणस्य पूर्वम् उक्तत्वेऽपि पुनर्लक्षणप्रश्नेन तदनवबोधम् अवगत्य अत्र समन्वयोपपादनाद् इति ।।१८।।

---

*. 'पुरुषरूपेण' इति मां४..

एवम् उद्देशेन तत्त्वानि निरूप्य उत्पत्तिपूर्वकं लक्षणानि आह **दैवाद्** इति.

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्यं साऽसूत महत्तत्वं हिरणमयम् ।।१९।।

प्रथमतः चित्तस्य उत्पत्तिम् उक्त्वा तस्य आधिदैविकादिभेदान् निरूपयता[१] लक्षणानि उच्यन्ते. आदौ उत्पत्तिः, ततः आध्यात्मिकस्य लक्षणं, ततः आधिदैविकस्य, ततः आधिभौतिकस्य इति. एवम् एकः पदार्थः चतुर्भिः उच्यते. तत्र प्रथमं महत्तत्वस्य उत्पत्तिम् आह **दैवात्** कालात्, क्षुभिताः धर्माः यस्याः सा पुरुषस्य योनिः क्षेत्रं, तस्यां **परः पुमान्** प्रथमपुरुषो **वीर्यम् आधत्त,** यथा स्वभार्यायां पुरुषः. तस्य इन्द्रियाणि भगवतइव आनन्दमयानि, रेतस्तु सच्चिदंशः. चिदंशएव इति एके, सदंशस्तु प्रकृतेः सकाशात् सम्बध्यते. ततः सा प्रकृतिः **महत्तत्वम् असूत**. तस्य शरीरं **हिरणमयं,** यथा सूर्यान्तर्गतस्य नारायणस्य. आनन्दस[२]तोः ऐक्ये हिरण्यरूपता[३] भवति।।१९।।

आध्यत्मिकं लक्षयति **विश्वम्** इति.

विश्वम् आत्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः ।
स्वतेजसाऽपिबत् तीव्रम् आत्मप्रस्वापनं तमः ।।२०।।

स हि महान् सर्वजगत्प्रसवहेतुः, विश्वाधारत्वं तस्य लक्षणम्. ब्रह्माण्डस्यापि अंशतो भवतीति **कूटस्थः** इति उक्तम्. प्रकृतिव्युदासार्थम् **जगदङ्कुरम्** इति. यथा वृक्षस्य प्रथमावस्था अङ्कुरः तथा जगतः. स हि विश्वम् आत्मगतं व्यनक्ति. तत् किं कुर्वन्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **स्वतेजसा आत्मप्रस्वापनं तमः पिबन्** इति. येन तमसा पूर्वं महत्तत्त्वं **प्रस्वापितं** लयं प्रापितम् आसीत्, तन्मूलभूतं तमः महत्तत्त्वेन पीयते, अन्यथा जगत् केनापि प्रकारेण न अभिव्यक्तं स्यात्. अस्य महत्तत्त्वस्य माहात्म्यत्रयम् उक्तं : जगत्प्रकाशकत्वेन, जगज्जनकत्वेन, अतिसमर्थतमोनाशकत्वेन च. त्रीण्यपि एतानि लक्षणानि कारणगुणत्रयसूचकानि सात्त्विक-राजस-तामसानि क्रमेणैव ।।२०।।

आधिदैविकं लक्षयति **यत् तद्** इति.

१.निरूपयन्. ख. ग. ग. ङ.मां४ २.आनन्दवनोः ख.; 'आनन्दतनो'मां४. ३.हिरण्मयरूपता. ख.

यत्–तत् सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् ।
यदाहुर् वासुदेवाख्यं चित्तं तद् महदात्मकम् ।।२१।।

तस्य आधिदैविकं रूपं **वासुदेवः** इति. वासुदेवाविर्भावस्थानत्वात्. वसुदेवे आविर्भवति इति वासुदेवः. विशुद्धं सत्त्वं वसुदेवः, तदेव अस्य आधिदैविकं रूपं यत् सर्वोपास्यत्वेन प्रसिद्धम्. तदेव एतत्. सत्त्वं गुणो यस्य. सत्त्वस्यापि सत्त्वं, तस्य रूपत्रयम् आह सच्चिदानन्दत्वाय. तत्र सद्रूपताम् आह **स्वच्छम्*** अतिनिर्मलं, **शान्तं** चिद्रूपं, ज्ञानमेव हि शान्तरूपं, **भगवतः** पुरुषोत्तमस्य **पदम्** आनन्दरूपम्. एवं सच्चिदानन्दरूपं सत्त्वस्य सत्त्वम्. **तत् चित्तं,** सर्वेषु प्राणिषु चेतनारूपेण स्थितम्. तस्य उपासनार्थं नामान्तरम् आह **यद् आहुः वासुदेवाख्यम्** इति. 'वासुदेवःइ इति आख्या यस्य. वासुदेवशरीररूपत्वाद्, वासुदेवाधारत्वाद् वा यस्माद् इति विग्रहः. **आहुः** इति प्रमाणम्. ननु चित्तस्य तादृशस्य उत्पत्तिः न उक्ता इति आशङ्क्य आह **तद् महदात्मकम्** इति. महत्तत्वरूपमेव चित्तं, तेन महदुत्पत्त्यैव तस्य उत्पत्तिः उक्ता इति अर्थः।।२१।।

आधिभौतिकं लक्षयति **स्वच्छत्वम्** इति.

स्वच्छत्वम् अविकारित्वं शान्तत्वम् इति चेतसः ।
वृत्तिभिर् लक्षणं प्रोक्तं यथाऽपां प्रकृतिः परा ।।२२।।

स्वच्छत्वं निर्मलत्वम्, **अविकारित्वं** सर्वविकारराहित्यं, **शान्तत्वं** ज्ञानरूपत्वम्. बुद्धि–मनो–ऽहङ्कार–व्युदासार्थं त्रीणि विशेषणानि. बुद्धिः ज्ञानरूपाऽपि विषयाकारा इति न स्वच्छा, चित्तन्तु निर्विषयं केवलात्मावबोधरूपम् इति स्वच्छम्. मनस्तु विकारात्मकं स्पष्टमेव. शान्तत्वं न अहङ्कारस्य, सात्विकाहङ्कारस्य तथात्वेऽपि पदार्थस्य एकत्वात्,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यत् तद् इत्यत्र. **यस्माद् इति विग्रहः** इति. 'वासुदेव' इति आख्या यस्माद् इति विग्रहः इति अर्थः ।।२१।।

स्वच्छत्वम् इत्यत्र. स्वाभाविक-स्वच्छाविकारि-शान्तवृत्तिकत्वं चित्तत्वम् इति चित्तस्य लक्षणं सिध्यति ।।२२।।

---

*इति क. घ.

शान्तघोरविमूढात् केवलशान्तत्वं व्यावर्ततएव. अतएव चेतसो वृत्तिभिः लक्षणं प्रोक्तं, न एताः वृत्तयो अहङ्कारादेः भवन्ति. ननु चित्तमपि बुद्ध्यादिभिः विषयग्रहणे कलुषितं जायते, अन्यथा तन्निरोधे यत्नो न कर्तव्यः स्यात्. अतः आह **यथा अपाम्** इति. यद्यपि फेनतरङ्गादयोपि अपां भवन्ति, तथापि न तासां सहजस्वभावो अयं, किन्तु वाय्वादिकृतं, स्वभावतो निर्मलमेव. अतएव परा प्रकृतिः अपां स्वच्छैव. लक्षणन्तु अकृत्रिमम्, औपाधिकास्तु कृत्रिमाः. नहि कदाचिदपि पृथिवी निर्मला भवति, वायुः वा विकाररहितो भवति, तेजो* वा शान्तं भवति. अतः तत्सम्बन्धे अपां तत्-तद्भावापत्तिः।।२२।।

अहङ्कारस्य उत्पत्तिपूर्वकं पूर्ववद् लक्षणानि आह **महत्तत्वाद्** इति चतुर्भिः.

महत्तत्वाद् विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यसम्भवात् ।
क्रियाशक्तिर् अहङ्कारः त्रिविधः समपद्यत ।।२३।।

विकुर्वाणात् कार्योन्मुखात्. कालेन हि गुणक्षोभे विकृतं सत् कार्यम् उत्पादयति. न केवलं विकारमात्रेण किन्तु अन्तःभगवच्छक्तिरपि सार्वजनिका अपेक्ष्यते. तद् आह **भगवद्वीर्यसम्भवाद्** इति. भगवद्वीर्यस्य सम्भवो यस्मिन्. नहि जले मथ्यमाने तत्र अविद्यमानं घृतम् उत्पद्यते किन्तु दुग्धे दध्नि वा. अनेनैव वैनाशिकप्रक्रिया निराकृता, अन्यथा सर्वस्मादेव सर्वं जायेत.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

महत्तत्वाद् इत्यत्र. पूर्वं महत्तत्त्वस्य उत्पत्तिकथनएव भगवद्वीर्यसम्भवत्वस्य ज्ञातत्वेऽपि पुनः तदनुवादस्य यत् प्रयोजनं तद् आहुः **न केवलम्** इत्यादि. तथाच भगवद्वीर्यस्य तत्र विद्यमानत्वादेव सर्वं सच्चिदानन्दात्मकं कार्यं ततः उत्पद्यते इति अर्थः. भगवद्वीर्यसम्भवत्वकथनस्य प्रयोजनान्तरम् आहुः **अनेन** इत्यादि. कथं निराकृता? इति आकाङ्क्षायां बाधक-तर्कोक्तिमुखेन तत्प्रकारम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. अयम् अर्थः. वैनाशिकप्रक्रिया हि आकस्मिकप्रक्रियैकदेशः. आकस्मिकत्वन्तु चतुर्धा विकल्पोदयनाचार्यैः दूषितम्. **'हेतुभूति निषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च, स्वभावववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः''** (न्यायकुसु.१।५) इति. अनुपाख्यविधिः नाम अलीकादेव सर्वं जायते इति विधिः. वैनाशिकाः बाह्याः तेषाम् इयं प्रक्रिया,

* रजः क. घ. ङ

स्वभावस्य नियामकत्वेतु स्वभावस्याऽपि तथात्वे प्रमाणं वक्तव्यम्. अचेतनाः हि सर्वे नियन्तुं शक्याः, ईश्वरएव केवलम् अनियम्यः. शास्त्रतः स्वभावस्य अन्यथाभावोऽपि न उपपद्येत. पटादौ तन्त्वादिसामग्री, चिन्तामण्यादयश्च

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विनाशरूपाद् अभावाद् असतएव सर्वं जायते इति. **दूषणन्**तु अभावस्य अलीकस्य च सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वस्मात् सर्वोत्पत्तिः. दृश्यते हि तन्तुभ्यः पटस्य, मृदो घटस्य, निम्बबीजाद् निम्बस्य इति नियतावधिकत्वम्. अतो भगवद्वीर्यसम्भवत्व-कथनेन नियतावधिकत्व-बोधनात् सा निराकृता इति अर्थः. ननु एवं वादान्तरं निराकृतं भवति, नतु स्वभाववादः. अयःकान्तसन्निधौ लोहस्य परिभ्रमणे मणिस्वभावस्येव नियामकत्वदर्शनात्. अवधिनियमाभावेतु सर्वम् आकर्षयेत्. एवम् एकत्र स्वभावस्य विधिनियामकत्वे दृष्टे अन्यत्रापि तत्तत्स्वभावएव अवधिनियामको अस्तु. तथा सति न सर्वस्मात् सर्वोत्पत्तिः इति किमर्थं भगवद्वीर्यस्य तत्र स्थितिकथनम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **स्वभावस्य** इत्यादि. यद्यपि प्रदर्शितोदाहरणे प्रत्यक्षं मानं, तथापि न तेन स्वभावस्य अवधिनियामकत्वं सर्वत्र निश्चेतुं शक्यम्. सर्वदा कुसुमरहितत्वेन निश्चितस्वभावेषु अश्वत्थेक्षुकाण्डादिषु देशराजादिभङ्गे कर्षुकदारिद्र्यादौ च (भावि) भाविन्यौत्पत्तिक-कुसुमदर्शनेन व्यभिचारात्. यदि च तत्र जीवादृष्टं वा, कालो वा, अन्यद् वा सहकारित्वेन इष्यते, तदातु हेतुवादापाताद् भग्नएव स्वभाववादइति तस्य अवधिनियामकत्वे प्रमाणम् अन्यद् वक्तव्यम्. तत्र हेतुः **अचेतनाः हि** इत्यादि. अचेतनत्वेन नियम्यत्वेन व्याप्तेः स्वभावस्यापि नियम्यत्वेन नियामकस्य आवश्यकत्वाद् इति. किं बहुना, अचेतनम् अधिष्ठाय चेतनाअपि नियम्यतां यान्ति इति किं वक्तव्यं तेषु. तद् आहुः **ईश्वरएव** इत्यादि. तथाच उक्तप्रत्यक्षानुमानाभ्यां न स्वभाववादनिर्वाहः इति अर्थः. ननु इयं व्याप्तिः न सार्वत्रिकी, हीरके पृथिवीत्व-लोहलेख्यत्वयोरिव क्वचिद् व्यभिचारस्य सम्भाव्यमानत्वाद् इत्यतो दूषणान्तरम् आहुः **शास्त्रतः** इत्यादि. वन्ध्यावकेशि-प्रभृतिषु पुत्रफलराहित्यं पूर्वं स्वभावतो दृश्यते, ततः पुत्रेष्टितरुशान्त्यादिरूपे कर्मणि कृते पुत्रफलानि च दृश्यन्ते. यदि सा व्याप्तिः न स्यात् तदा शास्त्रतः सो अन्यथाभावो युक्तिबाधितः स्याद् इति अर्थः. सार्वजनीनत्वाय दूषणान्तरम् आहुः **पटादौ** इत्यादि.

कारणत्वेन कल्प्यमानाः व्यभिचारिणः स्युः. अतो भगवच्छक्तिः एकैव सर्वभवनरूपा, प्रतिनियता समुदाये, प्रत्येकं वा, यत्रैव अवतिष्ठते भगवन्नियमात् ततएव उत्पाद्यते इति युक्तं भगवानेव तथा आविर्भवतीति न वैनाशिकगन्धोऽपि. श्रुतिरपि संवादिनी अत्र अन्यत्र श्रुतिविरोधश्च, तस्माद् युक्तम् उक्तं **भगवद्वीर्यसम्भवाद्** इति. ज्ञानप्रधानाद् महत्तत्वात् क्रियाशक्तिः अहङ्कारः उत्पन्नः. सच त्रिविधः. उत्पत्यैव तथैव समपद्यत. क्रिया हि भेदिका कारणभूतं गुणत्रयं कार्ये भिन्नतयैव उत्पादितवती।।२३।।

आध्यात्मिकस्वरूपमिव तान् भेदान् गणयति **वैकारिकः** इति.

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

स्पष्टम्. ननु मा अस्तु स्वभाववादः, तथापि तत्र-तत्र तत्तत्प्रागभावस्य सत्वात् सएव स्वभावस्य अवधेश्च नियामको भविष्यति इति अर्धवैनाशिकमतमेव आदरणीयम् इति चेद् न, कारणावस्थातिरिक्तस्य प्रागभावस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. कार्यभविष्यत्ता-ज्ञानेन अनुभूयमानस्य तस्य कारणावस्थातो अतिरेके मानाभावात्. इदं यथा तथा निबन्धे व्युत्पादितम् इति न अत्र विस्तरः. कारणत्वं च वस्तुतो भगवतएव इति सर्वत्र तच्छक्त्यैव कार्यसिद्धिः. तदेतद् अभिसन्धाय आहुः **अतः** इत्यादि. एवम् अङ्गीकारस्य गुणम् आहुः **श्रुतिरपि** इत्यादि. सातु श्वेताश्वतरोपनिषदि पठ्यते. ‘‘**ब्रह्मवादिनो वदन्ति. किं कारणं ब्रह्म, कुतः स्म जाता जीवाम, केन क्व च सम्प्रतिष्ठः, अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्**’’(श्वेताश्वतरोप.१।१) इति ऋचा प्रश्नम् उक्त्वा व्यवस्थानिर्णयं च प्रतिज्ञाय अग्रे पठ्यते. ‘‘**कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यं, संयोग एषां नत्वात्मभावाद् आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः**’’(तत्रैव.१।२) इति. अस्यान्तु ऋचि काल-स्वभावादृष्टाकस्मिक-परमाणुप्रकृतिपुरुषवादान् **चिन्त्यम्** इत्यनेन दूष्यतया उक्त्वा सर्वसंयोगेन कार्योत्पत्तिवादमपि अग्रे अर्धर्चेन पठ्यते ‘‘**ते ध्यानयोगे तु ता अपश्यन् देवात्मकशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्**’’ (तत्रैव.१।३) इति. तथाच एतद्विरोधाद् वादान्तराणि न आद्रियन्ते इति अर्थः. फलितम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **तथैव** इति. त्रिप्रकारकएव. तत्र हेतुम् आहुः **क्रिये**त्यादि. **क्रिये**ति. उत्पादिका क्रिया ।।२३।।

मनसश्चैन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ।।२४।।

वैकारिकः सात्विकः. **तैजसो** राजसः तामसश्च. आध्यात्मिके गुणाएव सधर्मा लक्षणानि. यतः त्रिविधाद् मनसः इन्द्रियाणां भूतानाञ्च सम्भवः. **महताम्** इति तन्मात्राणाम्. महतामपि कार्यजननमपि लक्षणम्. मनःप्रभृतिकार्यजनक–सत्वादिगुणवत्वं वा लक्षणम् अव्यभिचारात्।।२४।।

आधिदैविकं लक्षयति **सहस्त्रशिरसम्** इति.

सहस्त्रशिरसं साक्षाद् यम् अनन्तं प्रचक्षते ।
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रिय–मनोमयम्।।२५।।

यथा पूर्वं वासुदेवः तथा अत्र सङ्कर्षणः. स्वभावतो अयं तामसः प्रलयकर्ता च. अहङ्कारेण उत्पादितं नाशकमेव. तस्य अनेकधा उत्पत्तिज्ञापनार्थं देवतायाम् अनन्तानि शिरांसि निरूप्यन्ते **सहस्त्रशिरसम्** इति. सुखभेदाः वा, ‘‘**सहस्त्रसम्मितः स्वर्गो लोकः**’’( ) इति श्रुतेः. अतएव अहङ्कारेण कालनिरूपित–कर्माणि सफलानि अनन्तानि. ‘अनन्त’शब्दः काले, सङ्कर्षणे, शेषे च प्रवर्तते. **प्रचक्षते** इति प्रमाणम्. सात्त्वता यं सङ्कर्षणाख्यं प्रचक्षते इति सम्बन्धः. सा काचिद् अन्या देवता भविष्यति इति आशङ्क्य आह **पुरुषम्** इति. पुरुषएव सङ्कर्षणः, न मूलभूतः कालः. तस्य त्रिविधाहङ्कार–ाधिष्ठातृत्वाय रूपत्रयम् आह **भूतेन्द्रिय–मनोमयम्** इति. तत्र विद्यमानानि भूतेन्द्रियमनांसि कार्ये* आविर्भवन्ति. ‘मयट्’प्रत्ययः प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते. प्राचुर्ये च अयम्।।२५।।

आधिभौतिकं लक्षयति **कर्तृत्वम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वैकारिकः इत्यत्र. **सधर्मा** इत्यादि. उत्पादकत्वधर्मसहिताः. **यतः** इत्यादि. तथाच, कार्यानुगतमेव लक्षणम् इति अर्थः ।।२४।।

सहस्त्रेत्यत्र. **उत्पादितम्** इति कालाग्निरुद्ररूपम्. तथा तज्जनकत्वमपि तल्लक्षणमपि अत्र ‘सङ्कर्षण’पदेन सूच्यते इति अर्थः. **सुखभेदा वा** इति. तेन तादृशस्वर्गजनकत्वमपि तल्लक्षणम् इति सूचितम् ।।२५।।

---

*. कार्य. क. ङ., कार्यम्. घ.

कर्तृत्वं कारणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् ।
शान्त–घोर–विमूढत्वम् इति वा स्याद् अहङ्कृतेः।।२६।।

कर्तृत्वं प्राणिषु विद्यमानाहङ्कारस्य सात्त्विकस्य लक्षणं, कारणत्वं राजसस्य, कार्यत्वं तामसस्य. एतद् धर्मपुरःसरं लक्षणम्. धर्मिपुरःसरम् आह **शान्त–घोर–विमूढत्वम्** इति. शान्तत्वं सात्विकस्य स्वरूपलक्षणम्, अतएव अहङ्कारेण शान्तिः अप्रयोजिका. **घोरत्वं** राजसस्य, **विमूढत्वं** तामसस्य. निरहङ्कारस्य न एते भावाः उत्पद्यन्ते. अतएव भगवत्परः त्रितयविलक्षणो भवति. **वा** इति विकल्पार्थः. **अहङ्कृतेः** अहङ्कारस्य. भौतिकस्य दुर्बलत्वात् स्त्रीत्वम्।।२६।।

मनसः उत्पत्तिम् आह **वैकारिकाद्** इति.

वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनस्तत्त्वम् अजायत ।
यत् सङ्कल्प–विकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः।।२७।।

अर्द्धेन उत्पत्तिः आध्यात्मिकलक्षणञ्च अर्द्धेन. चरणत्रयेण आधिदैविकलक्षणं, चरणञ्च अन्यत्. **वैकारिकात्** सात्विकाद्, **विकुर्वाणात्** कालकृतगुणक्षोभयुक्तात्. **भगवद्वीर्यसम्भवाद्** इति सर्वत्र अनुसन्धेयम्. सात्त्विकस्य विकारो न भविष्यति इति आशङ्क्य पुनः उक्तं **विकुर्वाणाद्** इति. मनसो दुष्टत्वम् अन्नमयत्वं वा आशङ्क्य तन्निराकरणार्थं 'तत्त्व'पदप्रयोगः **मनः तत्त्वम् अजायत** इति. तस्याऽपि आध्यात्मिकस्य कार्यस्वरूपलक्षणे आह **यत् सङ्कल्प–विकल्पाभ्याम्** इति. सङ्कल्पविकल्परूपत्वं स्वरूपलक्षणं, कामजनकत्वं कार्यलक्षणम् इति।।२७।।

आधिदैविकं लक्षयति **यद् विदुः** इति.

यद् विदुर् ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणाम् अधीश्वरम् ।
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ।।२८।।

अनिरुद्धः पालकः तस्य देवः. यतो न केनापि निरुद्धः सएव पालको भवति. **यद्** यस्माद् **हृषीकाणाम्** इन्द्रियाणाम् **अधीश्वरम् अनिरुद्धाख्यं विदुः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वैकारिकाद् इत्यत्र. **अन्यद्** इति. भौतिकलक्षणम् ।।२७।।

इति सम्बन्धः. इन्द्रियनियामकत्वं तस्य लक्षणम्. बलिष्ठत्वं प्रभुत्वञ्च प्रतीकारकरणार्थम् आधिदैविकलक्षणम्. तत्र प्रतीकारार्थं भगवदुपासनैव कर्तव्या इति **शारदेन्दीवरश्यामम्** इति उक्तम्. इन्दीवरं रात्रिविकासि, शरच्च सर्वदोषविवर्जिता, श्यामश्च गुणः शृङ्गारात्मको भवति. तेन स्नेहेन सर्वकालेषु सर्वदोषाभावेन भगवत्सेवायां मनोदोषाः निवर्तन्ते इति उक्तम्. भौतिकं लक्षयति **योगिभिः शनैः संराध्यं** वशीकरणयोग्यं मनः. देवतातु न शनकैः आराध्या, दीर्घकालादर–नैरन्तर्याणां सर्वत्र भजनहेतुत्वेन निरूपणात् ।।२८।।

बुद्धेः उत्पत्तिम् आह **तैजसात्तु** इति.

तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्वम् अभूत् सति ।
द्रव्यस्फुरणाविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रहः।।२९।।

'**तु**'शब्दः सात्त्विकोत्पत्तिपक्षं व्यावर्तयति. **विकुर्वाणाद्** राजसाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत्. **सति** इति सम्बोधनं तैजसत्वेऽपि सद्बुद्धिरेव उत्पद्यते इति निरूपणार्थम्. **सति** विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धिः उत्पद्यते इति. अतएव अस्याः आधिदैविकं रूपं न निरूप्यते. आध्यात्मिकं लक्षयति **द्रव्यस्फुरण–विज्ञानम्** इति. यथा इन्द्रियप्रेरकत्वं मनसः तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः. बुद्ध्यैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च. अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञान–क्रिययोः तारतम्यम्. एतत् कार्यानुसारि लक्षणम्. **द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्** इति स्वरूपलक्षणम्. द्रव्यस्य घटादेः स्फुरणे सति शब्देन, संस्कारेण, आलोकेन वा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तैजसाद् इत्यत्र. **अतएव.** सत्संसर्गादिव. तथाच, सत्संसर्गएव तस्याः आधिदैविकं स्वरूपलक्षणम् इति अर्थः. **पश्यन्ति** इति. इदन्तु ज्ञानसामान्यार्थकम्. **अतएव** इति. बुद्ध्यधीनत्वादेव. **द्रव्यस्य** इत्यादि. अत्र 'द्रव्य'पदं गुणानामपि उपलक्षकं, भूतसूक्ष्मत्वेन तेषामपि द्रव्यत्वात्, कार्योत्पत्यनन्तरं तन्तूनाम् [१]अवयववत् तेषां गुणत्वस्यापि अविरुद्धत्वाच्च. स्फुरणं च सन्मात्रावगाहि निर्विकल्पकम्. तथाच निर्विकल्पकोत्तरभावित्वे सति शब्दादिजन्यं द्रव्यादिविषयकं विशिष्टज्ञानं बुद्धिः इति स्वरूपं फलति. अत्र पूर्वं शब्दस्य उल्लेखात् प्राथमिकमपि यद् विशिष्टज्ञानं तदपि

१.अवयवत्वात्.

यद् विशिष्टज्ञानम्. यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात्. स्वतःस्फुरणं योगजधर्मादिभिरपि भवति, अतो द्रव्यस्फुरणएव विज्ञानं बुद्धेः लक्षणम्।।२९।।

आधिभौतिकं विभागनिरूपणेनैव लक्षयति **संशयः** इति.

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च ।

स्वाप इत्युच्यते बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथक् ।।३०।।

द्रव्यस्फुरणतारतम्याद् बुद्धिः नानाविधा. संस्कार-तेजसोः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

शब्दोपहितस्यैव विषयस्य प्रकाशकम् इति ज्ञाप्यते. संस्कारस्यतु उद्बुद्धस्य सहकारित्वम् आलोकस्यतु आवरण(?)जनकत्वेन सहकारित्वम् इति च ज्ञाप्यते. नच विशिष्टज्ञानत्वेन विशेषणज्ञानत्वे(न) कार्यकारणभावात् तावतैव तन्निर्वाहे शब्दोपहितभानाङ्गीकारस्य गुरुत्वं शक्यं, शब्दोपधानम् अन्तरेण उक्तकार्यकारणस्य तदनिर्वाहकत्वाद्, विशेषणनिर्विकल्पकोत्तरमपि जायमाने(नम?)विशिष्टज्ञाने शब्दविशिष्टस्यैव विषयस्य स्फूर्तेः अनुभवसाक्षिकत्वात्, तदस्फूर्तौ निर्विकल्पकाद् अविशेषात्. किञ्च, विशिष्टज्ञानविशेषणयोः यः कार्यकारणभावः सः ''अयं घटः इति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानपूर्वकं, विशिष्टज्ञानत्वाद्, दण्डी पुरुषः इति ज्ञानवद्'' इति प्रयोगेण अनुमेयः. तत्र साध्यतावच्छेदककोटौ प्रविष्टस्य विशेषणस्य यदि घटत्वादिना प्रतिनियतरूपेण प्रवेशः तदा हेतोः व्याप्यत्वासिद्धिः. यदि च हेतुतावच्छेदक-साध्यतावच्छेदकयोः उभयोरपि तथा प्रवेशः तदा हेतोः असाधारणत्वम्. यदि च सामान्यरूपेणैव प्रवेशः तदा निर्वचनम् अन्तरेण ज्ञानविषयत्वस्यैव अशक्यवचनत्वमिति सर्वथा निर्वाहाभावः. निर्वचनेतु शब्दस्यैव आश्रयः इति सविकल्प-ज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति शब्दस्य सहकारित्वमेव श्लाघीय इति दिक्. अत्र संस्कारोक्तिः मतान्तरत्वेन वा, ज्ञानसूक्ष्मावस्थारूपं संस्कारम् आदाय वा, ज्ञेया. निर्विकल्पके योगिप्रत्यक्षे अत्र अतिव्याप्तिवारणाय पदानां कृत्यम् आहुः **यस्माद्** इत्यादि ।।२९।।

संशयः इत्यत्र. एकस्याएव बुद्धेः कथं नानावृत्तिकत्वम्? इति अपेक्षायाम् आहुः **द्रव्ये**त्यादि. तारतम्यहेतून् स्फुटीकुर्वन्तएव संशयं लक्षयन्ति **संस्कार-तेजसोः** इत्यादि. उपलक्षणम् एतत्. तेन विरुद्धयोः संस्कारयोः तेजसोः शब्दयोः इत्यादि

तुल्यप्रकाशकत्वे विशेषास्फूर्तौ समः संशयः, अल्पविशेषस्फूर्तौ उत्कटकोटिकः. **विपर्यासः,** संस्कारप्राबल्यात् तेजः तदनुगुणमेव धर्मं प्रकाशयति. **अथ** इति एकस्फुरण-नियामकत्वाय[1]. विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः. क्रिया-ज्ञानयोश्च भिन्नविषयत्वम्. अनेन अन्यख्यातिरेव सिद्धान्तः इति उक्तम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

बोध्यम्. अतो मानसोऽपि संशयः सङ्गच्छते. **समः** इति अनेकविषयपक्षपाती. समूहालम्बनवारणाविशेषास्फूर्तौ इति भ्रमवारणाय **समः** इति. अयञ्च द्विविधः. साधारणधर्मजन्मा, विप्रतिपत्तिजन्मा च इति. तत्र आद्यः ''स्थाणुः वा पुरुषो वा स्थाणुः न वा'' इत्यादिरूपः. द्वितीयस्तु जगत् सद् असद् वा इत्यादिरूपः. **नैयायिका**स्तु ''असाधारणधर्मदर्शनजन्मा तृतीयः, गन्धवती भूः नित्या अनित्या वा इत्याकारकः'' इति आहुः. तद् न, असाधारणधर्मस्य संशयाजनकत्वात्. पृथिव्यनित्यतायाः प्रत्यक्षादिसिद्धतया पृथिवीत्वादिहेतुकानुमानेन परमाणुष्वपि अनित्यतायाः शक्यसाधनत्वात्. अतः पुराणादिषु भूतानाम् अनित्यतास्मरणात्, कणादादिदर्शनेषु परमाणुनित्यतास्मरणाच्च शास्त्रीयविप्रतिपत्यैव अयं संशयः. परमाणुरूपा भूः नित्या न वा इति द्वितीयएव अस्यापि प्रवेशाद् इति प्रकृतम् अनुसरामः. **उत्कटकोटिके** अल्पविशेषस्फूर्तावपि विषयान्तरपक्षपातस्य सत्वेन समत्वस्य अनपायाद् न अव्याप्तिः इति बोध्यम्. **अथे**त्यादि. संशयातिरिक्ते वृत्तिचतुष्टयेऽपि एकस्यैव स्फुरणं, नतु कोटिद्वयस्य इति नियमाय भिन्नः प्रक्रमः इति अर्थः. विपर्यासं लक्षयन्ति **विपर्यासः** इत्यादि. 'भिन्न'पदस्य सापेक्षवृत्तिकत्वाद् भेदप्रतियोगिनं स्फुटीकुर्वन्ति **क्रिये**त्यादि. तथाच इन्द्रियसम्प्रयोगजनक-क्रियाविषयाद् भिन्नो यो अर्थः तद् एकविषयक-प्रतिपत्तिरूपो यो वृत्तिविशेषः, सः **विपर्यासः** इति अर्थः. नच स्वापे अतिव्याप्तिः शङ्क्या, तत्र क्रियायाअपि अभिमानमात्रत्वेन सम्प्रयोगस्य अभावाद् इत्यादि. अत्र **ख्यातिं** निर्धारयन्ति **अनेन** इत्यादि. विपर्यासस्य बुद्धिवृत्तिविशेषत्वकथनेन तथा इति अर्थः.

ननु चाकचक्याद्युद्बुद्धसंस्कारसहकृतेन दोषोपहतेन्द्रियेण सम्प्रयुक्ता शुक्तिरेव रजतात्मना गृह्यते इति सम्प्रयुक्तस्य अन्यथाभानाद् अन्यथाख्यातिरेव

१.अथेत्यनेक. ङ. अथानेक. घ.

अन्यथात्वे यथार्थत्वं स्यात्. ''रजतम् अहं जानामि'' इत्येव अनुभवः, नतु

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नैयायिकोक्ता कुतो न अङ्गीक्रियते? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथात्वे** इत्यादि. अत्र इदं विचार्यम्. कस्य अन्यथात्वं, विशिष्टस्य वा, विशेषणस्य वा, विशेष्यस्य वा. तथा किञ्च अन्यथात्वं परिणामो वा, तादात्म्यं वा, ज्ञानस्वरूपस्यैव अन्यथात्वं वा इति. तत्र आद्ये दुग्धस्य दधिरूपेणैव संयुक्तस्य शुक्त्यादे रजताकारेण परिणामरूपे लोहादीनां स्पर्शमणिस्पर्शेन सुवर्णात्मकत्वात् तादात्म्यरूपे अन्यथात्वे दधिवत्, सुवर्णवद् वा यथार्थत्वं स्यात्. अर्थानतिक्रमात् शुक्तौ रजतमेव स्यात्. तज्ज्ञानस्वरूपस्य वा यथार्थत्वं स्यात्. तथा सति भ्रमएव उच्छिद्येत इति अर्थः. एवं विशेषणस्य अन्यथात्वपक्षेऽपि परिणामरूपत्वे शुक्तित्वस्य द्रव्यत्वापत्तिः जातित्वहानिश्च इति अधिकं दूषणद्वयम्. तादात्म्यपक्षे तादात्म्यकारणानिर्वाच्यता च अधिका. एवं विशेष्यस्य अन्यथात्वपक्षेऽपि दग्धपट-न्यायेन यथार्थत्वापत्तिरेव दूषणम्. एवं षट्स्वपि पक्षेषु इदं दूषणम् अनुस्यूतं ज्ञेयम्. अथ अन्यत्र सतो अत्र अलब्धसत्ताकत्वेऽपि प्रकारीभावो अन्यथात्वम् इति उच्यते. तथा सति तेन शुक्तित्वादितिरस्कारासम्भवः, व्यधिकरणत्वाद् अतिप्रसङ्गाच्च. अथ +स्मृत्युप-नयोत्तरं लब्धसत्ताकत्वे सति इति विशेषणाद् न दोषः इति चेत्, तर्हि पुरुषभेदेन तत्र युगपद् भ्रमप्रमानुपपत्तिः, अन्यतरेण अन्यतरतिरस्कारात्. अतिरस्कारेतु उभयोः उभयशबलज्ञानापत्तिः, दण्डकुण्डलवान् इतिवत्. अथ 'इदं रजतम्' इत्यत्र रजताभिन्नः पुरोवर्तीति प्रतीत्या रजतभेदाभावएव प्रकारीभूय भासते. सच व्यापकः इति न कोऽपि दोषः इति यदि विभाव्यते, तदापि रजतभेदाभावस्य अभाव-प्रतियोगिकाभावतया अभावप्रतियोग्यात्मकत्वेन, प्रतियोगिमात्रनिष्ठत्वेन वा अन्यत्र प्रकारीभवितुम् अनर्हत्वात् तादृशाभावस्य व्यापकत्वे मानाभावाद् इति. प्रतियोगिनो रजतभेदस्य व्यापकत्वे तदभावस्यैव असम्भवात्. अव्यापकत्वेऽपि प्रतियोगि-मात्रव्यावृत्तत्वेन तदितरत्वसत्वात् प्रतियोग्यभावयोः सहानवस्थानविरोधस्य दुर्वारत्वात्. ग्रहिलतया सहस्थितिकल्पनपक्षेऽपि तत्र तस्य सत्तालाभकल्पनं तेन च रजतभेदाभिभवकल्पनम्. कालान्तरे च (भेदा(दे)नाभेदाभिभवादिकल्पनं)

+ 'स्मृतोपनयोत्तरम्'.

''रजतत्वेन जानामि'' इति. बुद्धेः तत्त्वरूपत्वाद् न आत्मख्यातिः. संस्कार-शब्दयोः पदार्थमात्रापेक्षितत्वाद् न देशकालादिवैशिष्ट्यं नियामकम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भेदा(दे)नाभेदादिकल्पनम् इति कल्पना-चतुष्टयगौरवस्य दुष्परिहारत्वात् प्रमाणविरहाच्च न इदम् अतिरम्यम्. ननु मा अस्तु विषयस्य अन्यथात्वं, तथापि रजताकारग्रस्तं ज्ञानं शुक्तिम् आलम्बते इत्याकारके ज्ञानस्य अन्यथात्वपक्षे किं बाधकम्? इति *चेत्. तत्र आहुः **रजतम्** इत्यादि. तथा सति शुक्त्या स्वाकारसमर्पणे एवम् अनुव्यवसायो न स्यात्. असमर्पणेतु शुक्त्यालम्बनएव प्रमाणविरहो विरुद्धानुव्यवसायाद् इति अर्थः. अथ रजतज्ञानं स्वप्रयुक्तव्यवहारविषयां शुक्तिं करोतीति इदमेव आलम्बकत्वम् इति चेद्, न. यत्र रजतज्ञानोत्तरं सद्यएव बाधः, विषयान्तरज्ञानं वा, तदा शुक्तेः तत्प्रयुक्तव्यवहाराविषयत्वाद् ज्ञानस्य तदनालम्बकत्वे रजताकारग्रस्तस्यापि तस्य प्रमात्वापत्तेः. नच इष्टापत्तिः. सङ्घातात्मज्ञानस्यापि प्रमात्वापत्तेः. आत्मनः सङ्घातात्मज्ञानप्रयुक्त-व्यवहाराविषयत्वात् सङ्घातात्मज्ञानस्य तदनालम्बकत्वेन सङ्घातात्माकार-ग्रस्ततानपायात्. नच इदानीं तस्यापि अस्तु प्रामाण्यम् इति वाच्यम्. तथा सति समर्थप्रवृत्तेः पूर्वं सर्वत्रैव अप्रामाण्याग्रहेण उक्ततुल्यत्वाद् भ्रमोच्छेदापत्तेः. यदपि सौरालोकतदभावाभ्यां कमलविकास-मुकुलीभावाविव दोष-तदभावाभ्यां रजतशुक्तिभावौ समर्थितौ, तदपि मतं प्रतिनियत-समकालिक-विरुद्धप्रतीत्योः दर्शनादेव ग्रन्थान्तरे परास्तम् इति अन्यथाख्यातिवादएव असाधुः इति दिक्.

ननु ख्यायमानस्य बुद्धिवृत्तिरूपत्वाङ्गीकारे आत्मख्यातिवादापत्तिः इत्यतः आहुः **बुद्धेः** इत्यादि. विज्ञानवादी हि बाह्यार्थम् अमन्वानो बुद्धिरूपम् आत्मानञ्च मन्वानो जायमानबुद्धिरूपमपि आत्मानमेव मन्यते. तत्र बुद्धेः आत्मरूपत्वे ''घटो अहम्'' इत्यादिप्रत्ययापात इत्यादिरूपम् अन्यत्र बहुधा दूषणं, तद् अत्र न प्रपञ्च्यते, किन्तु तत्त्वरूपत्वेन उच्यते. तथा सति तत्र ख्यायमानस्य रजतस्य बुद्धिरूपत्वेऽपि आत्मरूपत्वाभावाद् न आत्मख्यातिवादापत्तिः इति अर्थः. ननु रजतस्य बुद्धिरूपत्वाङ्गीकारे तस्याः बुद्धेः पूर्वम् उत्पत्तिः स्थितिश्च अवश्यं वाच्या. तत्र

---

* 'केचित्'.

''रजतम् अनुभवामि'' इति अनुव्यवसायाद् न प्रमुष्टतत्तारूपा स्मृतिः. एकज्ञानतुल्यत्वात् च न ज्ञानद्वयम्. संस्कारप्राबल्याद् न अनिर्वचनीयरजतापेक्षा.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पूर्वोत्पन्नायां रजतप्रमारूपायां बुद्धौ विषयीभूतस्य देशकालादिविशिष्टस्य रजतस्य भानाद् अधुनापि देशकालादिविशिष्टमेव तद्भासेत, नतु केवलम्. तस्य अविषयत्वे नियामकाभावाद् इति आशङ्कायां वादि-प्रतिवादिनोः अत्र समानः समाधिः इति बोधयन्तः समादधते **संस्कारे**त्यादि. अयम् अर्थः. स्मृत्युपनीतं रजतत्वं तत्र भासते इति वदता त्वयापि स्मृतेः पूर्वं देशकालादिविशिष्टस्यैव रजतस्य अनुभवो अभ्युपेयः, तथा सति तव मतेऽपि तावत्तद्विशिष्टस्यैव स्मृत्याद्यापत्तौ तत्परिहाराय भवतापि तादृश्याद्यु(?)द्बुद्धः संस्कारो यत् पदार्थविषयकः उत्पन्नः तत् पदार्थविषयकामेव स्मृतिं जनयति, नतु देशकालादिवैशिष्ट्यम् अपेक्षते इत्येव वाच्यम्. तथा सति ''**यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः, नैकः पर्यनुयोज्यः स्यात् तादृगर्थविचारणे**'' इति अभियुक्तोक्तेः परिहारसाम्याद् न वयं पर्यनुयोज्याः इति अर्थः. अत्र 'शब्द'ग्रहणं श्रुतपदार्थप्रत्यभिज्ञावत् श्रुतपदार्थविषयकभ्रमस्यापि सङ्ग्रहार्थं ज्ञातव्यम्. ननु मा अस्तु नैयायिकप्रतिपन्ना अन्यथाख्यातिः तथापि रजतादिज्ञानस्य प्रकृते संस्कारेणैव सम्भवात् तं विना अभावात् च तज्ज्ञानं स्मृतिरूपमेव मन्तव्यम्. स्मृत्यनुभवभेदेन ज्ञानस्य द्वैराश्यात्. नच तत्तायाअपि स्फुरणापत्तिः. स्मृतित्वेऽपि कर्तृगतदोषेण तत्प्रमोषात्. दोषाभावेतु रजतसादृश्यस्यैव स्फूर्तिः, शुक्तिस्फूर्तिरिव वा स्यात्. दोषाश्च क्वचिद् रागादयः, क्वचित् प्रबलालोकादिना विवेकासामर्थ्यं, क्वचिद् अन्यचित्तता इत्येवमादयः, ननु(तु) गताः तथा-तथा दर्शनाद् उन्नेयाः. अतो भाट्टप्रतिपन्न-प्रमुष्टतत्ताक-स्मृतिरूपेण अख्यातिवादेन निर्वाहे अन्यख्यात्यङ्गीकरणं न उचितम् इत्यतः आहुः **रजतम्** इत्यादि. तथाच अनुव्यवसायविरोधात् तन्मतमपि असङ्गतम् इति अर्थः. ननु मा अस्तु भाट्टमतं, तथापि ग्रहणस्मरणात्मकं ज्ञानद्वयं तत्र प्राभाकरप्रतिपन्नम् अङ्गीकार्यं, स्मृति-प्रमाणभेदेन ज्ञानस्य द्वैराश्यात्. नच अनुव्यवसायद्वयापत्तिः, स्मरणाभिमानस्य प्रमुषितत्वेन तदभावात्. अतः अगृहीतासंसर्गक-ज्ञानद्वयाङ्गीकारे न कोऽपि दोषः इति चेत्, तत्र आहुः **एके**त्यादि. तथाच यदि अगृहीतासंसर्गकं ज्ञानद्वयं तत्र स्याद्,

एकज्ञानतुल्यता न स्यात्. यदि सा न स्यात् तदा व्यवसायानुव्यवसाययोः न उपलभ्येत इति तर्केण तन्मूलभूत-व्यवसायानुव्यवसायाभ्यां च एकज्ञानतुल्यता-निश्चयाद् न ज्ञानपक्षोऽपि युक्तः इति अर्थः. किञ्च, ज्ञानद्वैराश्याग्रहेण अत्र ज्ञानद्वयाङ्गीकारे सर्वत्र विशिष्टज्ञानस्यैव उच्छेदापत्तिः. ''घटो अयम्'' इत्यादिप्रमायामपि गृहीतसंसर्गक-ज्ञानद्वयाङ्गीकारे बाधकाभावाद्, द्वैराश्ये मूलस्य चिन्त्यत्वाच्च. ननु मा अस्तु अख्यातिः, अनिर्वचनीयख्यातिरेव अङ्गीकार्या. अन्यथा रजतभानाभावापत्तिः. नच रजतारम्भकावयवानां शुक्तौ अभावेन आरम्भानुपपत्या अनिर्वाच्यमपि रजतं कथं स्वीकर्तुं शक्यम्? इति वाच्यम्. विषयचैतन्यनिष्ठाविद्ययैव तदारम्भोपपत्तेः. तथाहि प्रथमं तावद् दोषसहितेन इन्द्रियेण पुरोवर्तिद्रव्यसंयोगाद् इदमाकारा चाकचक्याकारा च अन्तःकरणवृत्तिः उत्पाद्यते. तस्यां च वृत्तौ इदम(व)च्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते. तच्चैतन्यं च सुषिरद्वारनिर्गत-कुल्याप्रवाह-प्र(?)वत् केदारस्थवृत्तचतुष्कोणा-द्याकारकभूभागभरित-महासारसलिलवद् जाता या चक्षुर्द्वारनिर्गतावयवसंयुक्त-घटाद्याकारक-तैजसान्तःकरणवृत्तिः तस्याम् उक्तरीत्या निर्गमनेन प्रमातृवृत्तिविषय-चैतन्याभिन्नं भवति. तच्च साविद्यम् इति विषयचैतन्यनिष्ठा या अविद्या सा कारणदोषेण सादृश्योद्बोधितसंस्कारेण च सहकृता रजताकारेण तद्ग्राहकवृत्याकारेण च इति द्वेधा विवर्तते, परिणमति वा. एवम् आरब्धं तच्च आविद्यकं रजतम् अविद्याधिष्ठाने विषयावच्छिन्नचैतन्ये वर्तते, स्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्या-धिष्ठानाश्रितत्वनियमात्. एवं विषयचैतन्ये अध्यस्तमपि रजतं चैतन्यैक्यात् साक्षिणि अध्यस्तम् इति तदेकग्राह्यम् इत्येवं मिथ्याज्ञानोपपत्तौ कृतम् अन्यख्यात्या इति आशङ्कायाम् आहुः **संस्कारे**त्यादि. तथाच संस्कारेण स्मृतिवत् संस्कारप्राबल्येन भ्रमस्यापि उपपत्तौ अर्थाध्यासस्य अप्रयोजकत्वाद् गुरुत्वाच्च अनिर्वचनीय-रजताङ्गीकारो व्यर्थएव इति अर्थः. नच संस्कारस्य बहिःपदार्थोपस्थापकत्वम् अप्रयोजकम् इति शङ्क्यम्. स्वप्ने त्वयापि तन्मात्रेणैव य(?)पमपदार्थोप-स्थित्यङ्गीकारात्. नच तत्स्मरणमेव इति वाच्यं, तथानुव्यवसायाभावात्, श्रुतिविरोधाच्च. नच दोषं विनैव एकेनैव संस्कारेण कथं स्मृति-भ्रमयोः उपपत्तिः? इति शङ्क्यम्. उष्णस्पर्शाप्राबल्य-प्राबल्याभ्यां

अतएव न असत्ख्यातिः. तस्माद् अन्यख्यातिरेव सर्वजनीना. **निश्चयो** यथार्थाऽनुभवः. अर्थो हि ज्ञानस्य अर्द्धम् अङ्गम्, अतएव स्मृतिः न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

शीतनिवृत्ति-त्वग्दाहयोरिव संस्कार-ाप्राबल्यप्राबल्याभ्यां स्मृति-भ्रमयोरपि सुखेन उपपत्तेः. अतएव नैयायिकानाम् एकेनै(व?) स्नेहेन प्रकर्षाप्रकर्ष-वैशिष्ट्याद् वह्निनाशोद्दीपनयोः अङ्गीकारोऽपि युज्यते. नच एवं दोषानभ्युपगमे पीतभ्रम-जनक-संस्कारोद्बोधकस्य शङ्खे अभावात् 'पीतः शङ्खः' इति भानानुपपत्तिः इति वाच्यं, बहिःकरणे कामलवद् अन्तःकरणे संस्कारप्राबल्यस्यैव तत्त्वात्. एतादृशभ्रमेषु बहिःकरणदोषाङ्गीकारस्तु घटपटादिप्रमोत्पत्या प्रत्यक्षविरुद्धत्वाद् गुरुत्वाच्च जघन्यएव. निर्गमेन चैतन्यतया भेदाङ्गीकारोऽपि व्यापकजीववादम् अणुजीववादञ्च विरुद्धाद्धीति न इतरविद्वदाभाजनं भवति इति दिक्. 'प्राबल्य'पदेन च अनुभवसामग्र्या अत्र न प्रतिबन्धकत्वम् इत्यपि ज्ञापितम्. संस्कारसापेक्षत्वादेव असत्ख्यातिरपि अपास्ता इति आशयेन आहुः **अतएव** इत्यादि. फलितं वदन्तो लोकप्रतीतिमपि तत्र प्रमाणयन्ति **तस्माद्** इत्यादि. **सर्वजनीने**ति हेतुगर्भं विशेषणम्. तथाच, तस्मात् ख्यात्यन्तराणाम् अनुपपन्नत्वाद् अन्यख्यातेश्च सर्वजनीनत्वाद् इयमेव मन्तव्या इति अर्थः. सर्वजनीनत्वं च **किमिति शुक्तिम् अग्रहीष्ठाः** इति प्रश्ने मया शुक्तिः न ज्ञाता अन्यदेव ताम् इति आपामरपण्डितम् उत्तरणाद् विशेषोल्लेखेऽपि अन्यत्वानपायात् च अवसेयम्. **निश्चयं** लक्षयन्ति **यथार्थानुभवः** इति. याथार्थ्यञ्च अर्थानतिलङ्घित्वम्. तेन संशय-विपर्यास-स्मृति-स्वापानां निरासः. 'अनुभव'पदं च ज्ञानार्थकं, तेन घटादेः आप्तवाक्यस्य च निरासः. ननु स्मृतेरपि यथार्थज्ञानरूपत्वाद् अतिव्याप्तिः तदवस्थैव इत्यतः आहुः **अर्थो हि** इत्यादि. जन्यज्ञानस्य अर्थसापेक्षत्वाद् अर्थो ज्ञानस्य अर्द्धम् अङ्गम्. **अतएव,** अङ्गहीनत्वादेव. तथाच, यथा सर्वाकारेण विद्यमानोऽपि देहः क्रियां कुर्वन्नपि शिरोबाधात् कबन्धएव, तथा स्मृतिः ज्ञानरूपापि प्रवृत्यादिकार्यं जनयन्त्यपि अर्थाभावाद् न निश्चयरूपा इति 'यथार्थ'पदादेव अ(ति)व्याप्तिपरिहारः इति अर्थः. यद्यपि स्मृतिभिन्नज्ञानत्वस्य अनुभवत्व-स्वीकारेऽपि स्मृतिवारणं सम्भवति, तथापि स्मृतिनिश्चयजन्य-क्रियाफलयोः तारतम्यबोधनाय एवं वारणं कृतम् इति हृदयं ज्ञेयम्.

निश्चयात्मिका, अर्थाभावात्. अनुमितिरपि सम्बन्धिव्यवधानेन[२] अर्थजनितैव.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ननु वह्न्यादिरूपस्य अर्थस्य पुरोवर्तित्वाभावाद् अङ्गविकलतया अनुमितौ इदं लक्षणं न व्याप्नोति इत्यतः आहुः **अनुमितिः** इत्यादि. **सम्बन्धि**धर्मो धूमादिरूपः, सएव **व्यवधानं** द्वारं, तेन कृत्वा **अर्थजनितैव.** यतो धूमादिः स्वमूलावच्छिन्नएव वह्न्यादिरूपम् अर्थं गमयति, नतु विच्छिन्नः. मूलं च तस्य धूमवत् काष्ठादि, तत्र बहिःसन्निहितोऽपि धूमकाष्ठादिव्यवहितत्वाद् न प्रत्यक्षजनकः, किन्तु, धूमादि-व्यवहितोऽपि तद्द्वारा सएव अनुमितिं जनयति इति निश्चयरूपानुमिति(ते)रपि अर्थजनितत्वाद् न अव्याप्तिः इति अर्थः. यत्र चेद् लोकलिङ्गवह्न्यनुमितिसत्ता लोकएव अविच्छिन्नो द्वारं, यथा उद्बाहुचलदङ्गुलिः पुरुषानुमितौ. यत्र च अतीतो धूमः पुरुषेन (न दृष्ट) दृष्टेः तत्रतु न तेन तस्य अनुमितिः. यत्र च पूर्वं दृष्टः ततो धूमो नष्टः, तदनन्तरं च वह्न्याकाङ्क्षाकृतानुमित्सा, तत्रापि ध्वंसाधिकरणदर्शनाभावे न अनुमितिः. वह्न्यर्थप्रवृत्तिस्तु सन्देहादेव आदानसन्देहे धनार्थि-याचकप्रवृत्तिवत्. सन्देहः च व्याप्तिस्मरणादपि. धूमध्वंसाधिकरणदर्शनेतु वह्निसाक्षात्कारो वा पूर्ववत् सन्देहो वा विलक्षणोच्छूनभस्मादिना वा अनुमितिः, नतु धूमध्वंसेन, तस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात्, शक्यत्वेऽपि ध्वंसे व्यञ्जकस्यैव अनुमापकत्वम् उचितम्, आवश्य-कत्वाद् लाघवाच्च; नतु धूमध्वंसस्य, उक्तवैपरीत्यात्. अनागतधूमेऽपि प्रागभाव-व्यञ्जकस्यैव अनुमापकत्वम्, उक्तयुक्तेः. तत्-तद्व्यञ्जकयोश्च वह्न्यसम्बन्धित्वात् तत्रापि नार्थजनितत्वहानिः. ध्वंसाद्यधिकरणं च अत्र न योग्यावयवाः, धूमात्मक-त्वात्. नापि अयोग्याः, अनुपयोगात्, किन्तु दरदग्धेन्धनादिरेव इति, सएव व्यञ्जकः इति दिक्. यत्र च धूलिपटले धूमभ्रमः तेन या वह्न्यनुमितिः, सातु भ्रमत्वाद् लक्षबहिर्भूतैव इति न तत्र अव्याप्तिः दोषाय. कादाचित्का वह्निप्राप्तिस्तु न तस्य प्रमात्वनिर्वाहाय अलं, काकतालीयत्वात्. एवञ्च पक्षधर्मतया परामृष्य(श्य)माण-लिङ्गस्यैव व्याप्तिज्ञानाहित-संस्कारोद्बोधकत्वाद् इन्द्रियानुग्राहकत्वं, नतु लिङ्गपरामर्ष(श)स्य इत्याद्यपि ज्ञेयम्.

ननु केवलेन्द्रियाजन्यायाः उपमितेः कथं निश्चयत्वम्? इत्यतः प्रसङ्गाद्

२.व्यवधानार्थ क. घ., व्यवधानार्थम्. ङ.

सादृश्यं रूपादिवत् पदार्थो धर्मरूपः, निरूपकभेदसहिष्णुः तद्धर्मः, तद्धर्म-सजातीयो वा. सः लक्षणत्वेन ज्ञातो[3] द्रव्यस्फुरणेन स्फुरितः संस्कारेण शब्दाभिव्यक्तौ वाक्यप्रामाण्याद् अध्यवसीयते ''गवयो अयम्'' इति. चक्षुः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उपमितिं सपरिकरां विचारयन्तः सादृश्यस्य अनुग्राहकत्वात् प्रथमतः तल्लक्षयन्ति **सादृश्यम्** इत्यादि. अत्र निरूपकभेदसहिष्णू रूपादिवद् निरूप्यधर्मरूपः पदार्थः सादृश्यम् इत्यादिपदार्थान्तरत्वाभ्युपगमे लक्षणम्. तदनभ्युपगमेतु निरूपकधर्मसजातीयो निरूप्यधर्मः सादृश्यम् इति द्वितीयं लक्षणम्. साजात्यकथनेनैव निरूप्यभेदसिद्धौ न विशेषणान्तराकाङ्क्षा. एकेनापि सदृशबुद्धिसिद्धेः 'भूयः'पदमपि अनतिप्रयोजनम्. नच श्यामत्वमात्रसाधर्म्येण मातङ्ग-मशकयोरपि सादृश्य(त्व?)प्रतीत्यापत्तिः इति वाच्यम्. श्यामत्व-शरीरित्व-जङ्गमत्वादीनां मातङ्ग-गतधर्माणां मशके विद्यमानत्वेन 'भूयः' पदादानेऽपि तुल्यत्वात्. नच ते तद्गतधर्माः न इति न दोषः इति समञ्जसम्. तत्समवेतानाम् अन्यत्र असम्भवेन 'तद्गत'पदस्य साजात्यपरतायाएव औचित्यात्. भूयस्त्वस्य अपर्यवसानेतु अनवस्थापत्तिः अनिवार्यैव. नच उक्तदूषणानुद्धारः शङ्क्यः, विरोधिधर्मग्रह-प्राबल्येनैव उद्धारसम्भवात्. अतएव सदृशयोः यमलयोः गुल्मयोः वा पूर्वं सादृश्यप्रत्य(?)दृष्टे चतूवरत्व-कुसुमवर्णादौ वैसादृश्यनिश्चयः इति युज्यते. अतो नैयायिकलक्षणं न अतिरम्यम्. *''**सर्वं गङ्गासमं तोयं सर्वे व्याससमा द्विजाः**'' (पद्मपुरा.१।५०।२२९) इत्यादौ तोयत्वादिना एकेनापि धर्मेण साम्याभिलाषात् च, घनश्याम-स्वर्णगौर्यादि-प्रयोगदर्शनाच्च उक्तमेव लक्षणं युक्तम् इति दिक्.

सादृश्यं लक्षयित्वा उपमित्युत्पत्तिप्रकारम् आहुः **सः** इत्यादि. सः उक्तविधो धर्मो लक्षणत्वेन ज्ञातः, दृष्टगवयपुरुषस्य ''**गोसदृशो गवयः**'' इति वाक्याद् अवगतः, द्रव्यस्य गवयस्य स्फुरणेन चाक्षुषेण स्फुरितः चक्षुषा अवगतः संस्कारेण **शब्दाभिव्यक्तौ** उक्तविधवाक्यस्मृतिगोचरतया अभिव्यक्तौ **वाक्यप्रामाण्याद्,** दृष्टसंवादनिश्चितात् प्रामाण्याद् अध्यवसीयते; ''गवयो अयम्'' इति सञ्ज्ञा-संज्ञिपरिच्छेदः क्रियते इति अर्थः. **अयम्** इति जात्यभिप्रायेण उक्तम्. ननु उपमितौ सादृश्यवाक्यचक्षुषां कारणत्वेन प्रतीयमानत्वात् कस्य प्रमाणत्वम्? इति अपेक्षायाम् आहुः **चक्षुः** इत्यादि. तथाच इन्द्रियस्यैव प्रमाणत्वम् इति अर्थः.

३.ज्ञायते क. घ. ङ. * ''सर्वं भूमिसमं दानं सर्वे व्याससमा द्विजाः, सर्वं गङ्गासमं तोयं राहुग्रस्ते निशाकरे''

सहकारिवाक्यं, वाक्यसहकृतं सादृश्यं वा. अनुग्राहकाणां न प्रमाणान्तरत्वं, शब्दोऽपि निश्चयएव, धर्मसादृश्यातिरिक्त–संस्कारजनकत्वात्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ननु अतिदेशवाक्यार्थज्ञानस्यैव प्रमाणत्वं कुतो न स्वीक्रियते? इति आकाङ्क्षायां प्रतिबन्दीमिव आहुः **अनुग्राहकाणाम्** इत्यादि. अनुपलब्धाविव अत्रापि सहकारित्वेनैव निर्वाहे तेषां प्रमाणान्तरत्वकल्पनायाः अन्याय्यत्वाद् इति अर्थः. एवं सादृश्यद्वारेण उपमितेरपि अर्थजनितत्वाद् न अर्थातिलङ्घित्वम् इति हृदयम्. ननु भव(त्वेवं)तु अभैषं, तथापि शाब्दस्य कथं निश्चयरूपत्वं साधनीयं, सम्बन्धिनः तत्र कस्यापि अभावेन व्यवहितस्यापि अर्थसम्बन्धस्य तत्र अशक्यवचनत्वात्, साक्षाद् अर्थस्य च तत्र अभावाद्? इति आकाङ्क्षायां तस्य तथात्वं साधयन्ति **शब्दोऽपि** इत्यादि. तत्र हेतुः **धर्मे**त्यादि. शब्दस्य इति शेषः. तथाच, धर्मो धूमादिः सम्बन्धी, सादृश्यं पूर्वोक्तलक्षणको धर्मविशेषः, तदुभयातिरिक्तो यः संस्कारः, शब्दस्य तज्जनकत्वात्. अयम् अर्थः. शब्दार्थयोः नित्यसम्बन्धस्य पूर्वतन्त्रसिद्धत्वाद् अर्थस्य सहजसम्बन्धी यः, तद्वाचकः शब्दः तेन शक्तिग्रहोत्तरं श्रवणे तदर्थविषयकः कश्चित् संस्कारः पदवाक्यार्थबोधानुकूलो जन्यते. तथाच, यथा अनुमितिः व्याप्यधर्मद्वारा परम्परया अर्थजनितत्वाद् अर्थानतिलङ्घित्वेन निश्चयरूपा. यथा च उपमितिः वाक्यावगत–सादृश्यद्वारा अर्थजनितत्वाद् अर्थानतिलङ्घित्वेन निश्चयरूपा तथा शब्दोऽपि श्रोतृगृहीतेन शब्देन पदार्थोपस्थापन–सहजसम्बन्धिनः शब्दस्यापि संस्काराद् उपस्थितेः तद्वाक्यार्थजनितत्वाद् अर्थानतिलङ्घित्वेन निश्चयरूपः इति. नच चक्षुरादिना घटाद्युपस्थितिः यत्र शाब्दप्रयोजिका, तत्र शब्देन तद्विषयकसंस्काराजनने तादृशशाब्दस्य अनिश्चयत्वम् इति वाच्यम्. “**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते, अनुविद्धम् इव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते**” (वाक्यपदी.ब्रह्मका. ११४) इति आनुभाविकोक्तेः तत्र अनुपस्थितौ शब्दस्य अस्फुरणेन अदोषात्. अतएव वैयाकरणाः शब्दस्य प्रातिपदिकार्थताम् अङ्गीकुर्वन्ति, अन्यथा ‘विष्णुम् उच्चारय’ इत्यादौ अर्थस्य उच्चारणगोचरत्वायोग्यतया शाब्दबोधासङ्गतेः. नच तत्र लक्षणया निर्वाहः, निरूढलक्षणया विप्रतिपन्नत्वेन शक्त्यनतिरेकात्. “**जबगडदशम्**” (माहेश्वरसू.) उच्चारय इत्यादौ शक्याग्रहेण शक्यसम्बन्धरूपायाः लक्षणायाः अशक्यग्रहत्वात् च, अज्ञातायाः वृत्तेः अनुपयोगाच्च. ‘गङ्गाम् उच्चारय’ इत्यादिरूपे भाषाशब्दानुकरणे तेषां साधुतासम्प्रतिपत्तेः तेषां तत्र शक्त्यभावेन परनये लक्षणायाः

शब्देन च द्रव्यस्फुरणात् चक्षुषो अपेक्षाभावात् प्रमाणान्तरम्. त्रीण्येव प्रमाणानि :

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

असम्भवात् च इति वदन्ति. तदपि युज्यते.

प्रकृतम् अनुसरामः. ननु शब्दस्य तादृशसंस्कारजनकत्वेऽपि ''द्रव्यस्फुरण-विज्ञानम्'' इति बुद्धेः स्वरूपलक्षणादत्तद्र(व्य)स्य असान्निध्याद् द्रव्यस्फुरणाभावे जातस्य शाब्दस्य बुद्धिवृत्तौ अप्रवेशात् कथं निश्चयरूपत्वं? क्लृप्तप्रमाण-जन्यत्वाभावाच्च कथं प्रमात्वम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **शब्देन च** इत्यादि. तथाच शब्देनैव द्रव्यस्फुरणविज्ञानयोः उभयोरपि उत्पादनाद् न स्वरूपलक्षणविरोधः, शब्दरूपप्रमाणजन्यत्वात् च न अप्रमात्वमपि इति अर्थः.

ननु शास्त्रकृता प्रमाणगणनायाः अकृतत्वात् कथं शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **त्रीणि** इत्यादि. प्रवचनसूत्रे ''**प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि**'' (पात.योगसू.१।७) इति कथनाद् अत्रापि शब्दस्य प्रमाणत्वेन अङ्गीकारे न किञ्चिद् बाधकत्वम्. नच एवं सति अनुमानस्यापि अतिरेकः शङ्क्यः. ज्ञानलक्षणायाः प्रत्यासत्तेः स्वीकारे चक्षुषा धूमदर्शने 'एकसम्बन्धिनो अपरसम्बन्धिस्मारकत्वात्' स्मृत्युपनीतस्य वह्नेः चक्षुषा मनसा वा, 'सुरभिचन्दनम्' इत्यत्र सौरभ्यस्येव भानसम्भवात्. तस्यैव भानस्य अनुमितित्वस्वीकारे लाघवेन अनुमानस्य प्रमाणान्तरतायाः अप्रयोजकत्वाद् इति. ननु तथापि प्रमाणानां त्रित्वम् अनुपपन्नं, मनसोऽपि इन्द्रियत्वाद् इति चेद्, न; अत्र शास्त्रे तस्य इन्द्रियत्वेन अनभिप्रेतत्वात्. तस्य सात्विकाहङ्कारजन्यत्वेन इन्द्रियाणां च राजसाहङ्कारजन्यत्वेन कारणभेदात्. श्रुतावपि ''**एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**'' (मुण्डकोप. २।१।३) इति, ''**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः**''(कठोप.१।३।१०) इति पृथग् निर्देशाद् इन्द्रियत्वेन अनिर्देशाच्च, तत्रापि एवमेव अभिप्रायाद् इति. गीतायामपि ''**इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः**''(भग.गीता ३।४२) इति श्रुतिवदेव निर्देशात्. नच ''**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि**'' (तत्रैव १५।७) इत्यस्य विरोधः, एतस्य सङ्ख्या-पूरणमात्राभिप्रायत्वात्. ''**यजमान-पञ्चमाम् इडां भक्षयति**'' इतिवत्. एवम् ''**इन्द्रियाणि दशैकं च**''(तत्रैव १३।५) इत्यपि मनसो मुख्यत्वाभिप्रायम्, अन्यथा एकादशेन्द्रियाणि इत्येव वदेद्, ''**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि**''(तत्रैव१०।२२) इत्यत्र मनोग्रहणम् इन्द्रियप्रेरक-त्वाभिप्रायमेव. तत्त्वेन्द्रियत्व-सामान्यस्य तत्र सत्ताज्ञापनाभिप्रायम्. ''**वादः प्रवदताम् अहम्**'' (तत्रैव१०।३२) ''**नीतिरस्मि**

इन्द्रियाणि, शब्दः, मनश्च इति; चक्षुः, श्रोत्रं, मनो वा. स्पर्शादीनाम् अन्यशेषत्वम्. मनस्तु योगजधर्मसहितमेव प्रमाणम्, अन्यत्रतु अप्रमाणम्. अतएव स्मृतिः अप्रमाणम्. सङ्घातात्मज्ञानञ्च अप्रमाणं, विपर्ययरूपत्वात्. **स्मृतिः** स्वतन्त्रा, **बुद्धिः** संस्कारजनिका, **स्वापः** स्वप्नरूपः, भिन्नसृष्टिविषयत्वाद् न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

जिगीषताम्''(तत्रैव१०।३८) ''**भूतानाम् अस्मि चेतना**'' (तत्रैव १०।२२) इत्यादौ तत्-तत्सामान्यस्य तत्र-तत्र वक्तुम् अशक्यत्वाद् इति. तस्मात् सङ्ख्या सूपपन्नैव इति दिक्. ननु तथापि अत्र कार्य-करणत्वेन्द्रियेष्वेव करणत्वव्यवहाराद् बुद्धि-मनःप्रभृतिषु अन्तःकरणत्व-व्यवहाराद् ज्ञानकरणत्वमपि तेष्वेव उचितम्. न शब्दे, इति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **चक्षुः श्रोत्रं मनो वा** इति. तथाच शब्दोऽपि अनुग्राहकएव इति न एवमपि विरोधः इति अर्थः. प्रथमपक्षस्तु तत्र-तत्र प्राहुः इति शास्त्रकारेण निर्दिष्टत्वात् तदनुसारीति न कोपि शङ्कालेशः.

ननु अस्मिन् पक्षे इन्द्रियान्तरस्य का गतिः? इति अपेक्षायाम् आहुः **स्पर्शादीनाम्** इत्यादि. त्वग्-घ्राण-रसनानाम् अल्पदेशे संयोगेन अल्पग्राहकत्वाद् बहुग्राहकचक्षुः-श्रोत्र-मनःशेषत्वम् इति तेषाम् एतेषु अन्तर्भावः इति अर्थः. अतएव ऊनत्रिंशे वक्ष्यते. ''**तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः, तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्तेभ्यः शब्दविदो वराः**'' (भाग.पुरा. ३।२९।२९), ''**रूपभेदविदः तस्माद्**'' (भाग.पुरा.३।२९।३०) इति पूर्व-पूर्ववेत्तणाम् उत्तरोत्तरेभ्यो जघन्यत्वम् इति.

प्रकृतम् अनुसरामः. ननु संस्कारद्वारकस्य शाब्दस्य निश्चयत्वे संस्कारद्वारा मनोजन्यया स्मृत्या किम् अपराद्धम्? इत्यतः आहुः **मनः** इत्यादि. तथाच शास्त्रकृता तस्य सङ्कल्प-विकल्पात्म-स्वरूपकथनाद् अग्रे च योगिसंराध्यत्वकथनाद् अशुद्ध-शुद्धभेदेन द्वैविध्यं तस्य बोध्यते. श्रुतावपि तथा. अतो अशुद्धमनोजन्यत्वात् स्मृति(र)प्रमाणम् इति अर्थः. एवं निश्चयं परीक्ष्य क्रमप्राप्तां स्मृतिं लक्षयन्ति **स्मृतिः** इत्यादि. **संस्कारजनिका** इति. संस्काराद् जनिः यस्याः सा तथा. तथाच, अप्रबलसंस्कारद्वारा मनोमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः इति अर्थः. अप्रबल इत्यनेन भ्रमनिरासः. 'मात्र'पदेन अनुमिति-शाब्दादिनिरासः. स्वापं लक्षयन्ति **स्वापः** इत्यादि. संस्कारजन्यत्वेन स्मृतौ भिन्नार्थप्रतिपादकत्वेन विपर्यासे समत्वेन संशये च स्वप्नविशेषस्य अन्तर्भावम् आशङ्क्य तन्निवृत्यर्थम् आहुः **भिन्ने**त्यादि.

पूर्वोक्तेषु अन्तर्भावः. सुषुप्तिस्तु न बुद्धिः, मौढ्यत्वे(?) न परं बुद्ध्यवस्था. आत्मनः स्फुरणन्तु स्वतः, स्वप्नभेदएव वा, निद्रानिमित्तत्वात्. एवं **पञ्चधा बुद्धेः वृत्तितो लक्षणं पृथग्** ज्ञेयम् इति अर्थः. अनेन उभयम् एकं ज्ञानम्[४] इति पक्षाः निवारिताः. अतः इदम् अंशेऽपि ''इदं रजतम्'' इति ज्ञानम् अप्रमाणं, नहि ज्ञाने

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ननु सुषुप्तिरपि प्रवृत्तिः इति कथं पञ्चैव? इत्यतः आहुः **सुषुप्तिः** इत्यादि. **स्वतः** इति आत्ममहिम्ना. अतो न तया बुद्ध्याधिक्यम् इति अर्थः. ननु अवस्थात्वेऽपि ''**गुणतो वृद्धिवृत्तयः**''(भाग.पुरा.११।१३।२७) इत्यादौ सुषुप्तावपि वृत्तित्वव्यवहाराद् आधिक्यं न अपैति इत्यतः आहुः **स्वप्ने**त्यादि. एवञ्च निद्राजन्यत्वे सति भिन्नसृष्टिविषयकज्ञानत्वं स्वापत्वम्. तथात्वे सति ज्ञानत्वं सुषुप्तित्वम् इति तयोः लक्षणम्. तथाच विशिष्टज्ञानत्वाभावाद् न तस्यां विशिष्याग्रहः इति आशयेन उपसंहरन्ति **एवम्** इत्यादि. पञ्चधानिर्देशप्रयोजनम् आहुः **अनेन** इत्यादि. **उभयम्** इति. स्मृति-प्रमाणभेदेन स्मृत्यनुभवभेदेन वा. **एकम्** इति कासार-सलि(लन्या)लाभ्यायेन. फलितम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अतः** इति. वृत्तिगणनया भ्रमस्यापि वृत्यन्तरत्वेन निश्चयात्. तथाच संस्कारप्राबल्येन बहिः जायमानेऽपि विपर्यासे अनुभवसामग्रीदौर्बल्याद् इदमंशोऽपि विपर्यस्तएव भासते, नतु पुरोवर्तीति तथा इति अर्थः. अंशतः तत्र प्रमात्वाङ्गीकारे बाधकम् आहुः **नही**त्यादि. ननु संस्कारसंप्रयो-(गो)भयजन्यायाः प्रत्यभिज्ञायाः स्मृतौ निश्चये च अनन्तर्भावाद् भिन्नार्थप्रतिपादकत्वाभावेन विपर्यासेऽपि अनिवेशाद् भिन्नसृष्ट्यविषयत्वेन स्वापे समत्वाभावेन संशये च अनिवेशाद् वृत्यन्तरत्वे कथं पञ्चैव? इत्यतः आहुः **सो अयम्** इत्यादि. तत्र हेतुः **अभ्यासे**त्यादि. अभ्यासः आवृत्तिः; तज्जन्यं यद् ज्ञानं दृढप्रतीतिरूपं, तदभ्यासज्ञानम्. तत्र यथा पूर्वानुभवजन्यः संस्कारः सहकारी, तथा प्रत्यभिज्ञायां स्मृतिरपि विशेषणतावच्छेदक-प्रकारक-निश्चयत्वेन अवश्यापेक्षणीयत्वात् सम्प्रयोगसहकारिणी यथानुग्राहकान्तरप्रवेशेऽपि य(था)र्थानुभवत्वानपायाद् अभ्यासज्ञानं निश्चयरूपं तथा प्रत्यभिज्ञापि इति अर्थः. यद्यपि अत्र अनुमित्यादिरपि दृष्टान्तीकर्तुं शक्यते, तथाभ्यासज्ञाने दृष्टान्तेन प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारजन्यत्वपक्षेऽपि स्मृतिलक्षणं न अतिव्याप्नोति इति सूच्यते. प्रत्यभिज्ञायाः अभ्यासज्ञानस्य च अनुग्राहकत्वेन संस्कारजन्यत्वात् स्मृतेस्तु संस्कारत्वेन संस्कारजन्यत्वाद् इति. एवं

४.जानामि इति. क. घ.

अंशो अस्ति. ''सो अयं देवदत्तः'' इति अनुभवएव, अभ्यासज्ञाने पूर्वज्ञानसंस्कारवत् पूर्वस्मृतिरपि चक्षुषः सहकारिणी. भ्रम-प्रमा-समूहावलम्बनम् ''एकदेशविकृतम् अनन्यवद् भवति'' इति न्यायेन भ्रमाधिक्ये विपर्ययएव, प्रमाधिक्ये निश्चयः, समानरूपत्वेतु सम्भावनावान्[५] संशयः. सम्भावनादीनां संशयान्तःपातित्वम् अप्रमाणमेव. तत् सिद्धार्थवाक्येतु प्रत्यक्षसहकारित्वात्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सति संस्कारत्वेन 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इति तल्लक्षणं पर्यवसन्नं ज्ञेयम्. वृत्याधिक्यपरिहारप्रसङ्गाद् भ्रम-प्रमा-समूहालम्बनस्यापि निवेशम् आहुः **भ्रमे**त्यादि. भ्रमाधिक्योदाहरणन्तु 'दशशकलेषु नव राङ्गा एको राजतस्तज्ज्ञानं च दश राजता' इत्याकारकं ज्ञेयम्. एवं प्रमाधिक्ये विपरीतं च ज्ञेयम्. तथाच, यत्र शाखावच्छेदेन वृक्षे कपिसंयोगो मूलावच्छेदेन च कपिसंयोगप्रत्ययः, तत्रापि पूर्वोक्त-न्यायात् प्रमारूपतैव. एवञ्च दारुदन्तादिनिर्मितमूर्तौ चित्रादौ च या तुरङ्गादिप्रतीतिः, सापि प्रमाधिक्याद् निश्चयरूपैव, नतु आभ्यो अधिका तथैव नटेऽपि या सामाजिकानां रामादिप्रतीतिः सा अनुकार्यराहित्येऽपि यथाशास्त्र-वेषक्रियानुकृति-निमित्तकत्वात्, सामाजिक-रसोद्बोधकत्वाच्च प्रमाधिका इति प्रमारूपैव. एतेनैव देवताप्रतीतिरपि व्याख्याता ज्ञेया. तत्र(यत्र)तु 'इमे रङ्गरजते' इति साम्यं तत्र पूर्वोक्तन्यायस्य तूष्णीकत्वाद् भ्रम-प्रमान्यतररूपता न वक्तुं शक्या इति तत्र आधिक्यं दुष्परिहरम् इत्यतः आहुः **समाने**त्यादि. सम्भावना च उत्कटकोटिकः संशयः इति प्रसिद्धमेव, अतो अभाव-कोट्यस्फूर्तावपि न संशयत्वहानिः इति अर्थः. **सम्भावनादीनाम्** इत्यत्र 'आदि'पदं तर्कज्ञानसङ्ग्रा(ग्र?)हार्थम्. नच अनिष्टप्रसञ्जनरूपस्य तर्कस्य कथं सम्भावनान्तः-पातित्वम् इति शङ्क्यम्. सम्भावनार्थकलिङ्घटिते तर्कवाक्यप्रयोगेण सम्भावनात्वनिश्चयात्, ''स्वोत्प्रेक्षिता युक्तिः तर्कः'' इति लक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च. **तद्** इति. सम्भावनादिकम् इति अर्थः. एवं बुद्धिवृतीः विचार्य ऐन्द्रियके ज्ञाने प्रत्यक्षत्वस्य स्फुटत्वात् शाब्दे सन्दिग्धत्वात् प्रथमतो यादृश-शब्दस्य यादृश-प्रमाजनकत्वं, तद् विचारयन्तः सिद्धार्थस्थले आहुः **सिद्धार्थे**त्यादि. **सत्यपि घटे** यत्र पूर्वं घटो न दृष्टः, ततः केनापि अयं घटः इति उक्ते उपलभ्यते, तत्र वाक्यस्य प्रामाण्यादि-परीक्षक-वाक्यवत् चक्षुरादिसहकारित्वाद् उभाभ्याम् एको घटसाक्षात्कार एव जन्यते, नतु शाब्दम् इति तथा इति अर्थः. वाक्यलक्षणं, वाक्यस्य आकाङ्क्षादि-

५.सम्भावना च. क. सम्भावनावत् ख. सम्भावना घ.

प्रत्यक्षहेतुत्वमेव. साध्यार्थेतु लौकिके वाक्यार्थे. बुद्धिकल्पितः इति प्रमाणाभावेन अप्रामाण्येऽपि प्रमेयबलात् प्रमाणमेव. लोके वाक्यार्थो न अपूर्वः वक्तृज्ञानविषय-विषयित्वात्, तद्बोधनसमर्थ-पदसमूहस्यैव प्रयोगात्. पदेभ्यः पदसमूहो भिन्नः, सएव वाक्यार्थे करणम्; अन्यथा पदे वृत्तिद्वयम् आपद्येत.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विरहेऽपि बोधकत्वं, लौकिक-वैदिकयोः प्रकारभेदादिकं च सर्वनिर्णये नामप्रपञ्च-निरूपणे प्रभुभिः प्रपञ्चितम् अतः ततो अवधेयम्.

साध्यार्थवाक्ये विशेषणम् आहुः **साध्यार्थे** इत्यादि. लौकिके 'घटम् आनय' इत्यादिवाक्ये वाक्यार्थः प्रयोज्यकर्तृक-घटानयनादिक्रियारूपः प्रयोज(ज्य)बुद्धि-कल्पितः इति वाक्यश्रवणसमये तस्य अर्थस्य अभावात् प्रमाणरूपज्ञानानुदयः, किन्तु ज्ञानमात्रस्य उदयः इति प्रमाणाभावेन ज्ञानजनकवाक्यस्य अप्रामाण्येऽपि **प्रमेयबलात्** प्रयोज्यकर्तृकानयन-क्रियादिरूपरूपस्य प्रमेयस्य बलात् प्रमाणमेव वाक्याद् जातं शाब्दं समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् प्रमाणरूपमेव इति अर्थः. एतेन एतादृशे स्थले परतः प्रामाण्यम् इति स्फुटीकृतं ज्ञेयम्.

ननु लोकेऽपि संसर्गरूपस्य वाक्यार्थस्य अपूर्वत्वात् प्रमाणबलादेव प्रामाण्यं कुतो न स्वीक्रियते? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **लोके** इत्यादि. वैदिकवाक्यार्थेतु यथा अपूर्वत्वं, तद् ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये ''**शब्द इति चेन्नातः प्रभवाद्**''(ब्रह्मसू.१।३।२८) इति सूत्रे प्रपञ्चितमिति ततो अवधेयम्. नच लौकिकवाक्ये अनधिगतार्थगन्तृत्वाभावेन प्रमाणलक्षणव्याप्तिः शङ्कनीया. तस्य लक्ष्यकोटौ अभावेन फलतः प्रामाण्यस्य साधने दोषाभावात् च इति. शब्दस्य बोधकत्वे शास्त्रान्तराद् अत्र अन्यमपि विशेषम् आहुः **पदेभ्यः** इत्यादि. पदेभ्यो अवयवेभ्यः पदसमूहो अवयवी भिन्नः पटवत्; कार्यरूपं शब्दान्तरं नतु समूहवत् पदाभिन्नः इति अर्थः. इदमपि सर्वनिर्णयाद् अवधेयम्.

ननु एवं नवीनं कुतः स्वीक्रियते? इत्यतः आहुः **अन्यथा** इत्यादि. अन्यथा भेदानङ्गीकारे करणत्वानङ्गीकारे च वृत्तिद्वयं, पदार्थज्ञानजनिका, वाक्यार्थज्ञानजनिका च इति अनुभावकवृत्तिद्वयम्, अतो न स्वीक्रियते इति अर्थः. तर्हि पदार्थकरणपक्षः आद्रियताम् इत्यतः आहुः **पदार्थे**त्यादि. शाब्दो न स्यात्. तथा सति शब्दस्य प्रमाणकरणतैव भज्येत इति अर्थः.

ननु सिद्धार्थवाक्यस्य प्रत्यक्षहेतुत्वम् यद् उक्तं तद् न सार्वत्रिकं, ''काश्यां गौः अस्ति'' इत्यादिवाक्येन प्रत्यक्षाजननात्. एवं सति तज्जन्यस्य शाब्दस्य कुत्र निवेशः?

पदार्थकरणपक्षेतु वाक्यार्थः शाब्दो न स्यात्. सम्भावितं सर्वमेव अप्रमाणम् इति अग्रे वक्ष्यते।।३०।।

एवम् अन्तःकरणचतुष्टयोत्पत्तिम् उक्त्वा इन्द्रियोत्पत्तिम् आह **तैजसानि** इति.

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रिया-ज्ञान-विभागशः ।
प्राणस्य हि क्रियाशक्तिः बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता।।३१।।

ज्ञानकरणकानि क्रियाकरणकानि च उभयविधान्यपि राजसान्येव, नतु ज्ञानकरणकानि सात्त्विकानि, क्रियाकरणकानि तामसानि वा. ज्ञान-क्रियान्यतर-करणम् इन्द्रियम् इति करणम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियम् इति वा. तत्त्वानि दशाऽपि भिन्नानि इति न एकं लक्षणं निर्दिष्टम्. उभयेषां राजसत्वे हेतुम् आह **प्राणस्य हि** इति. क्रियायां प्राणो मूलं, ज्ञाने बुद्धिः. उभयं राजसम् इति अर्थाद् उक्तं भवति. 'प्राणो' नाम आसन्यः महत्तत्वभेदः, भगवद्रूपो वा. राजसाहङ्कारेतु तस्य अवतारः इति न तत्त्वतः, नाऽपि उत्पत्तिः निरूपिता. मतान्तरसिद्धानां वैदिकानां वा प्राणानाम् अत्र ग्रहणम्, इन्द्रियाणाम् आध्यात्मिकरूपो वा प्राणः. +बुद्धी राजसी इति तदनुगृहीतानि सर्वाणि राजसानि. प्राणस्तु क्रियाप्रधानः इति राजसत्वम्. प्राणोऽपि सर्वेन्द्रियानुग्राहकः क्रियाजनिका शक्तिः. विज्ञानरूपा शक्तिः वा यस्याः, तस्याः बुद्धेः भावो वक्ष्यति अग्रे. इन्द्रियाणां लक्षणानि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यतः आहुः **सम्भावितम्** इत्यादि. सम्भावितम् इति प्रमेयम्. तथाच उक्तविधवाक्यस्य सम्भावितविषयकत्वात् तज्जन्यं ज्ञानं सम्भावनारूपम् इति संशये तस्य निवेशः इति अर्थः. 'अप्रमाण'पदन्तु 'प्रमाण'शब्दस्य नानार्थत्वाभिप्रायेण उक्तम्. 'प्रमाण'शब्दो अबाधितज्ञाने वर्तते, बाधयोग्यव्यतिरिक्ते वा. तत्सम्बन्धी यः प्रमाता प्रमाकरणं प्रमाविषयो वा, तत् सर्वं प्रमाणाम् उच्यते. केचित्तु 'प्रमाण'शब्दं नानार्थम् आहुः इति द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्याम् उक्तत्वाद् इति ।।३०।।

तैजसानि इत्यत्र. **भिन्नानि** इति. पदार्थविभाजकोपाधिरूपाणि इति अर्थः. **तत्त्वतः** इति. तत्त्वतो राजसो न. राजसे अवताराद् राजसः इति अर्थः. अतिप्रसङ्ग-सम्भावनया पक्षान्तरम् आहुः **मतान्तरे**त्यादि. अत्रापि प्रमाणविरहम् आशङ्क्य पक्षान्तरम् आहुः **इन्द्रियाणाम्** इत्यादि ।।३१।।

+ 'बुद्धिः' इति मां४.

भिन्नानि।।३१।।

भूतानां सृष्टिम् आह **तामसाद्** इति.

तामसात् च विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यचोदितात् ।

शब्दमात्रम् अभूत् तस्माद् +नभः श्रोत्रं तु शब्दगम् ।।३२।।

तामसाहङ्कारात् पूर्ववद् विकुर्वाणात् तामसत्वादेव भगवद्वीर्येण प्रेर्यते, नतु भगवद्वीर्यसत्तामात्रम्. प्रथमतः **शब्दमात्रम् अभूत्, तस्मात् पश्चाद् नभः**. शब्दे प्रमाणम् आह ***श्रोत्रम्** इति श्रोत्रस्य गम्यम्. श्रोत्रसमधिगम्यः शब्दः. शब्दधर्मा-अपि शब्दएव इति लक्षणं न अतिप्रसक्तम्. श्रोत्रं गच्छति इति वा. शब्दाधाराणां न स्वतन्त्रतया गतिः इति तद्व्यावृत्तिः।।३२।।

शब्दस्य लक्षणानि आह **अर्थाश्रयत्वम्** इति.

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टृलिङ्गत्वमेव च ।

तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ।।३३।।

अर्थो हि शब्दम् आश्रित्य तिष्ठति. अर्थस्य घट-पटादेः रूपत्रयम्. तत्र यद् आधिदैविकं रूपं, तत् शब्दनिष्ठं, शब्दैकसमधिगम्यं, शब्देन नित्यसम्बद्धम्. आधिभौतिकन्तु प्रकटरूपं; तस्य न शब्दाश्रयत्वं, किन्तु पृथिव्याद्याश्रितमेव. आध्यात्मिकन्तु ज्ञानेच्छा-प्रयत्नाश्रितम्. त्रितयम् अभेदेन सर्वत्र लक्ष्यते. शब्दस्य अर्थाश्रयत्वं लक्षणं, नतु आकाशस्य. लक्षणान्तरम् आह **द्रष्टृलिङ्गत्वमेव च** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तामसाद् इत्यत्र. **श्रोत्रम्** इति शब्दमात्रं श्रोत्रगम्यम्. तदेव आहुः **श्रोत्रे**त्यादि. धर्म-धर्मिणोः तादात्म्यम् अङ्गीकृत्य आहुः **शब्दधर्मा** इत्यादि ।।३२।।

अर्थेत्यत्र. **नित्यसम्बद्धम्** इति. जैमिनीये ''**औत्पत्तिक**'' (मीमांसासू. १।१।५) सूत्रे, वैयासके च ''**अतःप्रभव**''(ब्रह्मसू.१।३।२८) सूत्रे तथासाधितत्वात् तथा इति अर्थः. **ज्ञाने**त्यादि पश्यन्त्याख्यायाम् अवस्थायाम् अर्थस्य ज्ञानादिष्वेव भानात् तेषां कर्तृतानिर्वाहकत्वात् तेषु तदभावे भौतिकनिष्पत्तिरेव न स्यादिति तथा इति अर्थः. **त्रितयम्** इति. आधिदैविकादिरूपम्. **द्रष्टृलिङ्गत्वम्** इति. द्रष्टृलिङ्गताज्ञापकत्वम्. तद् उपपादयन्ति **द्रष्टे**त्यादि. **अर्थानां** भौतिकानाम्.

+''नभः पश्चात्तु शब्दगम्'' इति मां४. *'श्रोत्रगमिति' मां४.

द्रष्टा हि अर्थानाम् आध्यात्मिकन्तु अर्थं सम्बन्धित्वेन ज्ञापयति. यथा भित्तिव्यवहितो गजं दृष्ट्वा ''गजो अयम्'' इति वदति, तदा अन्तःस्थितवाक्य-प्रयोक्ता गजदर्शनवान् इति लक्ष्यते. *स्वराद् वा ''देवदत्तो अयम्'' इति धर्मतो लक्षणम्. **च**कारात् दृश्य-ज्ञापकत्वञ्च. भौतिकमपि घटादिकं बोधयति इति अर्थः. लक्षणान्तरम् आह **तन्मात्रत्वं च नभसः** इति. नभसः तन्मात्रत्वं सूक्ष्मरूपत्वं शब्दस्य लक्षणम्. सूक्ष्मावस्था शब्दः, स्थूलावस्था नभः इति. केचिद् अन्यथा मन्यन्ते इति स्वोक्ते प्रमाणम् आह **कवयो विदुः** इति।।३३।।

आकाशं लक्षयति **भूतानाम्** इति.

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च ।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ।।३४।।

भूतानां प्राणिनां, **छिद्रदातृत्वं** बहिर् अन्तःस्वरूपत्वं, प्राणेन्द्रियान्तः-करणाधारत्वञ्च इति नभसो लक्षणत्रयम्. **छिद्रम्** अवकाशः, बहिः अन्तःव्यवहारः आकाशविषयएव. पृथिव्यादेः आवरणरूपस्य न बहिः अन्तःव्यवहारविषयत्वं, परिच्छेदकत्वं परम्. प्रदेशोऽपि न व्यवहारहेतुः तुल्यत्वात्. विवरे च व्यवहारः, अतः आकाशस्यैव. **च**कारात् पृथिव्यादि-सर्वाधारत्वञ्च लक्षणम्. लक्षणान्तरम् आह **प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सम्बन्धित्वेन. स्वज्ञानेच्छाद्याश्रि(त)त्वेन. तस्य उदाहरणं **यथे**त्यादि. नामसृष्टेः भिन्नत्वं हृदिकृत्य पक्षान्तरम् आहुः **स्वराद् वा** इति. अस्मिन् पक्षे दृशिः ज्ञानसामान्यार्थकः, तच्च ज्ञानं स्वनिष्ठम् इति पूर्वस्माद् विशेषः. अत्र मूलस्थलक्षणचतुष्टये श्रोत्रगम्यत्वं सामान्यलक्षणं, द्वितीयन्तु वर्णादीनां, तृतीयन्तु पर्यायेण द्वयोः, तुरीयन्तु ध्वनेः. एषु प्रथमं तृतीयञ्च व्यवहारोपयोगि ।।३३।।

भूतानाम् इत्यत्र. **परिच्छेदकत्वम्** इति भागद्वयविभाजकत्वम्. प्रदेशे अतिव्याप्तिम् आशङ्क्य परिहरन्ति **प्रदेशः** इत्यादि. आन्तरो देशो बाह्यो देशः इत्याद्यभिलापात् तादृशव्यवहारहेतुः प्रदेशोपि अन्तर्बहिः व्यवहारविषयो न इति अर्थः. तत्र हेतुः **तुल्यत्वाद्** इति. भित्यादिवत् प्रदेशस्यापि भागद्वयविभाजकत्वस्य तुल्यत्वाद् इति अर्थः. अत्र मध्यमं लक्षणं व्यवहारोपयोगि ।।३४।।

प्राणानाम्, इन्द्रियाणाम्, अन्तःकरणस्य च **धिष्ण्यम्** आधारभूतं स्थानम्. 'धिष्ण्य'शब्देन वैदिकत्वं तस्य स्थानस्य द्योतितम्. **नभसो वृत्तिलक्षणम्** इति. नभो हि त्रिधा वर्तते : स्वस्य आधिभौतिकं रूपं स्वयं प्रयच्छतीति आधिदैविकत्वं, बहिः अन्तःव्यवहाराश्रयम्[1] इति आध्यात्मिकत्वं, देहान्तः-स्थितपदार्थाश्रयत्वेन आधिभौतिकत्वम्।।३४।।

स्पर्श-वाय्वोः उत्पत्यादिकम् आह **नभसः** इति.

नभसः शब्दतन्मात्रात् कालगत्या विकुर्वतः ।
स्पर्शोऽभवत् ततो वायुः त्वक् स्पर्शस्य च सङ्ग्रहः।।३५।।

शब्दतन्मात्रादिकं न विशेषणं किन्तु स्थूलात् सूक्ष्मादपि नभसः स्थूलं सूक्ष्मं कार्यं च भवति इति ज्ञापनार्थम्. **कालगत्या विकुर्वतः** इति कालप्रेरणया जातगुणक्षोभाद् इति उभयोः विशेषणम्. प्रथमं स्पर्शतन्मात्रा अभवत्. ततो वायुः. **त्वग्** इन्द्रियम्. स्पर्शस्य सम्यग् [2]ग्रहो यस्मात्. त्वगेव सङ्ग्रहः. **च**काराद् [3]वायोरपि, नतु श्रोत्रवत् शब्दमात्रग्राहकम्।।३५।।

स्पर्शभेदाएव प्रत्यक्षसिद्धाः स्पर्शलक्षणानीति तान् गणयति **मृदुत्वम्** इति.

मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यम् उष्णत्वमेव च ।
एतत् स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ।।३६।।

स्पर्शः चतुर्विधः : **मृदुत्वं** कार्पासादौ, **कठिनत्वं** पाषाणादौ, **शैत्यं** शीतलता, **उष्णत्वं** च इति. एतच्चतुर्विधकारणरूपमेव कार्ये एकैकम् अभिव्यक्तम्. **उष्णत्वं** तेजसि; **शीतत्वं** जले; पक्वपृथिव्यां **कठिनत्वम्,** अपक्वे **मृदुत्वम्** इति. **एतत् स्पर्शस्य स्पर्शत्वम्** इति. **स्पर्शो** नाम स्पृश्यते इति व्युत्पत्या, स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यत्वे वा वायावपि स्यात्. व्याकरणादौ कादयोऽपि स्पर्शाः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नभसः इत्यत्र. स्पर्शसद्भावे प्रमाणम् आहुः **त्वगित्यादि. वायोः** इति. वायुसम्बन्धिनः स्पर्शस्य. अनेन वायुः स्पार्शनप्रत्यक्षः शास्त्रकारस्य अभिमतः इति ज्ञापितम् ।।३५।।

---

१. '..राश्रयत्वम्' इति मां४. २. 'संग्रहो' इति मां४ ३.द्वयोरपि. क. घ.

संयोगोऽपि स्पर्शः इति लोकः. *एतद् एकमपि अस्माकं विवक्षितं न भवति, किन्तु यदेव अस्माभिः उक्तं मृदुत्वादिकं तदेव स्पर्शस्य स्पर्शत्वम्. लक्षणान्तरम् आह **तन्मात्रत्वं नभस्वतः** इति. नभस्वतो वायोः तन्मात्रत्वं सूक्ष्मरूपत्वम्।।३६।।

वायोः लक्षणम् आह **चालनम्** इति.

चालनं व्यूहनं प्राप्तिः नेतृत्वं द्रव्य–शब्दयोः ।
सर्वेन्द्रियाणाम् आत्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ।।३७।।

वायोः कर्मलक्षणम्. तत् कर्म पञ्चविधम् इति पञ्चलक्षणानि. **चालनं** शाखादेः **व्यूहनं** पतिततृणादेः वात्ययैव मेलनं, **प्राप्तिः** गन्धस्य, घ्राणप्रापणं, **द्रव्य–शब्दयोः नेतृत्वं** देशान्तरस्थित–वस्त्रादेः देशान्तरे नयनम्. शब्दश्च भेरीदण्डसंयोगे जातः कर्णशष्कुलीपर्यन्तं स्वभावतो गच्छति, तत्प्रतिकूलवायौ न गच्छति, निकटेऽपि न श्रूयते. अनुकूलेतु दूरादपि श्रूयते इति शब्दस्याऽपि देशान्तरप्रापणम्. सर्वेषाम् इन्द्रियाणाम् आत्मा च अयम्, एतदभावे किमपि इन्द्रियं न कार्यक्षमं भवति इति. एतत् पञ्चविधं वायोः कर्मतो अभितो लक्षणम् ।।३७।।

तेजसः उत्पत्तिम् आह **वायोः** इति.

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद् रूपं दैवेरिताद् अभूत् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मृदुत्वम् इत्यत्र. **तदेव** इति मृदुत्वादिधर्मकत्वरूपं सामान्यलक्षणमेव इति अर्थः. एवञ्च तत्त्वात्मा चतुर्विधः, स्पर्शकार्यरूपो गुणात्मातु गुरुत्व-संयोगादि-भेदभिन्नो अनेकविधएव इति फलति. द्वितीयस्कन्धे **''वस्तुनो लघुकाठिन्यम्''** (भाग.पुरा.२।१०।२३) इत्यत्र तथाप्रतिपादनात्. तेन चित्रस्पर्शस्यापि अतिरिक्तत्वे बाधकाभावः इति बोध्यम् ।।३६।।

चालनम् इत्यत्र. **कर्मलक्षणम्** इति. कर्मैव लक्षणम् इति अर्थः. **स्वभावतो गच्छति** इति. इदञ्च यथा तथा प्रस्थानरत्नाकरे मया निपुणतरम् उपपादितम् इति ततएव अवधारणीयम्. एवञ्च अरूपित्वे सति चालनादिपञ्चकर्मकत्वं सामान्यलक्षणं, चालनाद् अन्यतमकर्मकत्वं च विशेषलक्षणं ज्ञेयम्. द्वयमपि इदं व्यवहारोपयोगि च इति ।।३७।।

---

*तत् क. घ. ङ.

समुत्थितं ततस्तेजः चक्षू रूपोपलम्भनम् ।।३८।।

पूर्ववत् **स्पर्शतन्मात्राद्** इति. रूपतन्मात्रं, **दैवेन** कालेन. **ईरिताद्** इति उभयोः विशेषणम्. प्रथमतो रूपं समुत्थितं, ततः तेजः. चक्षुस्तु **रूपोपलम्भनं,** रूपम् उपलभ्यते अनेन इति रूपे प्रमाणम् उक्तम्।।३८।।

रूपस्य लक्षणानि आह **द्रव्याकृतित्वम्** इति.

द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च ।

तेजस्त्वं तेजसः साध्वि! रूपमात्रस्य वृत्तयः ।।३९।।

द्रव्यस्य घटादेः या आकृतिः सैव रूपस्य. पृथुबुध्नोदराकारं रूपमपि. आतान–वितानात्मकञ्च. द्रव्यस्येव आकृतिः इति द्रव्यस्यतु न उपमेयत्वम्, अतो रूपस्यैव लक्षणम्. **गुणता** सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीतिः. न एवं शब्दादिषु, स्वतन्त्रतयाऽपि प्रतीयमानत्वात्. व्यक्तेः संस्थैव संस्था यस्य. यदि व्यक्तिः वक्रा भवेद्, रूपमपि वक्रं भवेद् इति. उपविष्टे रूपवति रूपम् उपविशति रूपम् उपविष्टं भवति. आतानवितानात्मक–सङ्कुचीकरणयोः भेदात्. **तेजसश्च तेजस्त्वं,** रूपतन्मात्रत्वं सूक्ष्मावस्था इति अर्थः. **साध्वि!** इति सम्बोधनं रूपस्य अमोहार्थम्. **रूपमात्रस्य** रूपतन्मात्रस्य, सर्वगतरूपस्य वा चतस्रो वृत्तयः.

तेजसो लक्षणानि आह **द्योतनम्** इति.

द्योतनं पाचनं पानम् अदनं हिममर्दनम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

द्रव्याकृतीत्यत्र. द्रव्याकृति-तुल्याकृतिकत्वस्य द्रव्यान्तरेऽपि दर्शनाद् इदं रूपलक्षणम् अतिव्यापकम् इति आशङ्क्य तत्परिहाराय आहुः **द्रव्यस्य** इत्यादि. न उपमेयत्वं, किन्तु उपमानत्वम्, अतः समासेन द्रव्यभिन्नत्वे सति इति विशेषण-सूचनाद् रूपस्यैव असाधारणे धर्मरूपम् इदम् इति अर्थः. इमानि चत्वार्यपि रूपसामान्यलक्षणानि. व्यवहारोपयोगितातु न तुरीयस्य इति ज्ञेयम्. अत्र रूपभेदानाम् अगणनात् सार्वजनीनप्रतीतिसिद्धत्वाच्च ते बहवएव ज्ञेयाः. चित्ररूपं च अतिरिक्तं ज्ञेयम्. गन्धलक्षणे तद् उपपादयिष्यते ।।३९।।

द्योतनम् इत्यत्र. अत्र एकैकस्य कार्यस्य अव्यापकत्वेन तेजोविशेष-लक्षणतया द्योतनादिषड्वृत्तिकत्वं तेजःसामान्यलक्षणं ज्ञेयम्. विशेषमुखेन

तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्–तृडेव च ।।४०।।

द्योतनं प्रकाशनं, सूर्यादेरिव. **पाचनम्** औदर्यवह्नेः, पाककरणं वा वह्नेः. **पानं** जलादेः, तेजोव्यतिरेकेण न अन्यः पिबति. **अदनं** भक्षणम्, अत्ता अग्निरेव[१]. **हिममर्दनं** हिमदूरीकरणं, **शोषणं** च इति **तेजसः** पञ्च **वृत्तयः** पञ्च कार्याणि. तत्र त्रयं प्रत्यक्षसिद्धं : द्योतनं, पाचनं, हिममर्दनम् इति. शोषणञ्च अनुमीयते, वाय्वपेक्षया आतपे वस्त्रादिषु जलाकर्षणस्य शैघ्र्यात्. पानम् अदनञ्च न तेजःकार्यं, चेतनकर्तृकत्वात्, क्षुत्–पिपासाभ्यामेव तज्जननात्[२] च इति आशङ्क्य आह **क्षुत्तृडेव च** इति. क्षुतृड्रूपं तेजएव. अतः पानम् अदनञ्च तस्यैव कार्यम् इति युक्तम् इति अर्थः।।४०।।

जलस्य उत्पत्तिम् आह **रूपमात्राद्** इति.

रूपमात्राद् विकुर्वाणात् तेजसो दैवचोदितात्[३] ।
रसमात्रम् अभूत् तस्माद् अम्भो जिह्वा रसग्रहः ।।४१।।

रूपमात्रात् तेजसः विकुर्वाणाद् दैवचोदिताद् इति उभयोः विशेषणे. प्रथमतो रसमात्रम् अभूत्, तस्माद् अम्भः. जिह्वा रसं गृह्णाति इति तथा. रसे जिह्वैव प्रमाणम्।।४१।।

रसानां भेदकथनेनैव लक्षणम् आह **कषायः** इति.

कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा ।
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ।।४२।।

कषायः खदिरादिः, **मधुरो** गुडादिः, **तिक्तो** निम्बादिः, **कटुः** मरीचादिः, **अम्लः** तिन्तिण्यादिः. इतोऽपि अनेकप्रकारो अस्ति इति आह **इति नैकधा** इति. एवम् अनेक प्रकारो भवति इति अर्थः. ननु यदि रसः स्वभावतः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सामान्यसूचनात् शास्त्रे न कोऽपि दोषः. यत्तु शास्त्रान्तरे उष्णस्पर्शवत्वं भास्वररूपत्वं च तेजःसामान्यलक्षणत्वेन उच्यते तत्तु अव्यापकत्वात् प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक-भावकल्पनाग्रस्तत्वाच्च विशेषलक्षणत्वेनैव आदरणीयम् इति दिक् ।।४०।।

कषायः इत्यत्र. **इतोऽपि** इत्यादि. एतेन चित्ररसोऽपि अतिरिक्तो

१.अभिरिव क. ङ. २.जननेन क. ३. 'नोदितात्' इति मां४.

एवंविधः स्याद्, जलेऽपि उपलभ्येत, मधुरः पाकादिना तिक्तश्च न भवेत्. तत्र आह **भौतिकानां विकारेण** इति. एकएव रसो भौतिकानां पृथिव्यवयवानां संश्लेषाद् अनेकधा भिद्यते. वस्तुतस्तु अव्यक्तमधुरः एकएव रसः ।।४२।।

अम्भसो लक्षणानि आह **क्लेदनम्** इति.

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोदनम् ।
तापापनोदो भूयस्त्वम् अम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ।।४३।।

क्लेदनम् आर्द्रीकरणं वस्त्रादेः, **पिण्डनं** चूर्णीभूतानां पिण्डतासम्पादनं, यथा सक्तूनां; **तृप्तिः** क्षुदादिनिवृत्या पुरुषस्य सन्तर्पणं, भुक्त्वाऽपि जले अपीते न तृप्तो भवति इति. **प्राणनाप्यायनम्. प्राणनं** जीवनम्, **आप्यायनं** प्राणसन्तर्पणम्. **उदनं** प्रेरणं, जलेन हि पदार्थाः प्रवाहेण नीयन्ते, कूलादिश्च पात्यते इति. **तापापनोदः** सन्तापदूरीकरणम्. **भूयस्त्वम्** एकस्मिन् देशे सजातीयप्रचुरस्यैव अवस्थानम्. यद्वा, यत्र आपः प्रविशन्ति तद् भूयो भवति इति. अम्भसः इमाः अष्टौ वृत्तयः।।४३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अङ्गीकार्यः इत्यपि ज्ञापितम्. 'एक'पदस्य विवरणं **वस्तुतः** इत्यादि. भूयसीष्वपि अप्सु स्वल्पस्यापि लवणादेः निक्षेपे रसः परिवर्तते इति अव्यक्तत्वम् उक्तं ज्ञेयम्. एवञ्च कषायाद्यन्यतमत्वं जलतन्मात्रत्वञ्च इति द्वयं रसस्य सामान्यलक्षणं ज्ञेयम् ।।४२।।

क्लेदनम् इत्यत्र. **अष्टौ वृत्तयः** इति. एतेन क्लेदनाद्यष्टवृत्तिकत्वं जलस्य सामान्यलक्षणम् अत्र. घृत-तैलादौ यत् क्लेदकत्वं सङ्ग्राहकत्वञ्च दृश्यते, सोऽपि जलधर्मएव. वह्निसंसर्गादिना परम् अभिव्यज्यते कार्यस्य पाञ्चभौतिकत्वात्, तेन न अतिव्याप्तिशङ्कालेशः. तेषु यो जलव्यवहाराभावः, सतु भूतान्तरकृत-प्रतिबन्ध-निबन्धनः, करकास्विव. करकास्वपि काठिन्य-गाढत्वयोः प्रतीतिः न भ्रान्ता, तत्र नैमित्तकयोः तयोः सत्वात्. दृत्येव जलेन संरुद्धे वायौ ततो अतिशैत्येन जलस्य पिण्डने करकोत्पत्तेः. तेषां द्वैभौतिकत्वात्. अतएव हिमालयोपत्यकागत-गङ्गाप्रवाहोपरि पुरुषाः पद्भ्ययां पद्यमानाः दृश्यन्ते, अन्यथा मज्जेयुरेव. शीतकाले च मिहिकायाम् अम्भसि स्थापिते प्रातः जलपात्रे अधोमुखे कृतेऽपि न तस्य जलस्य पातः. छुरिकया विदार्य फलवद् जलस्य भक्षणमपि मध्यदेशीयजनानुभवगोचरः इति दिक् ।।४३।।

पृथिव्याः उत्पत्तिम् आह **रसमात्राद्** इति.

रसमात्राद् विकुर्वाणाद् अम्भसो दैवचोदितात्*।

गन्धमात्रम् अभूत् तस्मात् पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ।।४४।

स्थूल–सूक्ष्माद् अम्भसः क्षुभितगुणात् कालप्रेरितात् प्रथमतो गन्धमात्रम् अभूत्. तस्मात् पृथिवी. घ्राणम् इन्द्रियं गन्धग्राहकम् इति प्रमाणम्।।४४।।

गन्धस्य भेदान् आह **करम्भे**ति.

करम्भपूतिसौरभ्य–शान्तोग्राम्लादिभिः पृथक् ।

द्रव्यावयववैषम्याद् गन्ध एको विभिद्यते ।।४५।।

करम्भो मिश्रो गन्धः, व्यञ्जनादिषु[१] प्रसिद्धः. **पूतिः** दुर्गन्धः. **सौरभ्यं** चन्दनादिगन्धः. पूति–सौरभ्ययोरेव **शान्तोग्रौ** भेदौ. शतपत्रादिगन्धः शान्तः, उग्रः चम्पकादेः लशुनादेश्च. **अम्लः** पर्युषितसूपादेः. 'आदि'शब्देन धूपादीनाम् अनेकविधो गन्धः उक्तः. गन्धानां[२] न जातिसाङ्कर्यं, किन्तु ते भेदाः पृथगेव; चित्ररसइव चित्रगन्धाभावात्, सजातीयरसस्य गन्धस्य वा कारणगतस्य अनभिव्यक्तस्य कार्ये रसगन्धजननात्. अतएव हरीतक्यादेरपि रसो भिन्नः, धूपादेश्च गन्धः. अवान्तरानन्त्यं न दोषाय, अन्यथा पदार्थविभाजकोपाधीनां पञ्चविंशतिभेदाः न स्युः. एतद् आह **पृथग्** इति. तत्त्वे हेतुम् आह **द्रव्यावयवे**ति. द्रव्यस्य आधारभूतस्य ये अवयवाः, ते विजातीयरसगन्धवन्तः इति गन्धो[३]

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

करम्भेत्यत्र. मिश्र-शान्तोग्र-गन्धस्वीकारे जातिसाङ्कर्यात् सुरभित्वादिषु जातित्वहानिः. यत्र सौरभ्यं तत्र पूतित्वाभावः. कुसुमादौ यत्र पूतित्वं तत्र सौरभ्याभावः, लशुनादौ उभयोः समावेशो व्यञ्जनादौ इति शङ्कानिरासाय मिश्रगन्धम् अतिरिक्तम् अङ्गीकरोति इति आशयेन आहुः **गन्धानाम्** इत्यादि. **ते** इति. मिश्राख्याः. तत्र हेतुः **चित्रे**त्यादि. **चित्रः** सङ्करः. अतिरिक्ताङ्गीकारे उपपत्तिम् आहुः **सजातीये**त्यादि. तथाच मधुराम्ल-सुरभि-पूतिद्रव्येषु अनभिव्यक्तेषु अनभिव्यक्तौ मिश्ररसगन्धौ, तद् उभयद्रव्यारब्धे द्रव्ये तदुभयद्रव्ये रसं गन्धञ्च जनयतः इति अर्थः.

---

* 'नोदितात्' इति मां४. १.करञ्जादिषु. क. २.गन्धादीनाम्. क. घ. ङ. ३.गन्धोऽपि क. ग. ङ.

विभिद्यते. अथवा, यथायोजिताः अवयवाः गन्धम् उत्पादयन्ति. स्वभावतः सुरभिं[४] ते चेद् विषमाः योजिताः भवन्ति, तदा तं गन्धं न उत्पादयन्ति इति. गन्धनाशः, सम्यग् अनभिव्यक्तिः वा गन्धाभासः 'करम्भादि'शब्दैः उच्यते. वैषम्यस्य न एकविधत्वाद्, जलादीनां बहूनां तत्सम्पादकत्वाद्, गन्धानन्त्यमेव. तद् आह **एकोऽपि गन्धो विभिद्यते** इति ।।४५।।

पृथिवीं लक्षयति **भावनम्** इति.

भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद् विशेषणम् ।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ।।४६।।

पृथिव्याः पञ्च वृत्तयः. स्वभावतः आधारभूता भवति, आधेयभूता च देहवृक्षादिरूपा. तेषां कारणभूता च, प्रतिमारूपा च, मनसा उपासनार्थं कल्प्या च. एवं पञ्चविधा भवति[१]. तत्र **भावनं** मानसम्. **ब्रह्मणः स्थानं** प्रतिमा. धारणरूपा स्थूला. **सतां** घटादिपदार्थानां **विशेषणं** नानाविधकारणरूपता. सर्वेषां सत्त्वानां जीवानां ये गुणाः स्थूल-सूक्ष्म-नील-पीतादिभेदाः यस्मात्. अथवा, ब्रह्मणो भावनं प्रतिमा, स्थानं जलादीनां, धारणम् आधारत्वम् अनियतं सर्वेषां भवति, स्थानं नियतम् इति विशेषः. सताम् आकाशादीनाम् अवच्छेदकत्वं, सर्वेषां **सत्त्वानां** प्राणिनां तत्तद्गुणानां च पुंस्त्वादीनाम् उद्भेदः परिणामविशेषैः प्रकटीकरणम्. वस्तुतस्तु पूर्वम् उत्पन्नायाः **पृथिव्याः** एतानि लक्षणानि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एकपदानुरोधेन पक्षान्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. तथाच एकएव अनभिव्यक्तसुरभिगन्धः, शेषास्तु तदाभासाः इति अर्थः. अत्र इदं सिध्यति. अण्डसृष्टेः पूर्वभावात् तत्त्वत्वं गन्धादीनां, तदेव मूले 'एक'पदेन उक्तम्. तदुत्तरन्तु एते भेदाः भौतिकगुणरूपाः कार्याएव, नतु तत्त्वरूपाः इति च **द्रव्यावयववैषम्याद्** इत्यनेन उक्तम्. व्यावहारिकं प्रत्यक्षमपि न दुष्टम् इति. एवञ्च भूमितन्मात्रत्वं करम्भाद्यन्यतमत्वञ्च गन्धसामान्यलक्षणं ज्ञेयम् ।।४५।।

भावनम् इत्यत्र. 'भावन'पदस्य ब्रह्मणः इत्यनेन अन्वयम् अङ्गीकृत्य श्रीधरोक्तं पक्षम् आहुः **अथवा** इत्यादि. अस्मिन् पक्षे स्थान-धारणयोः ऐकार्थ्येन पौनरुक्त्यम् आशङ्क्य भेदकम् आहुः **अनियतम्** इत्यादि. श्रीधरोक्ते व्याख्याने

४.सुरभिः. क.मां४ १.भवन्ति. ख.

जलादिभ्यो व्यावृत्तानि वक्तव्यानि. प्रतिमा चित्रादे(दि)ः च आकृतिमात्रे भवति इति ब्रह्मणः इति वैयर्थ्यं स्याद्, नाऽपि स्थानं पृथक्तया स्थितिः, तत् सूर्यादेरपि सम्भवतीति न पृथिव्याः विशेषलक्षणम्. तस्माद् **भावनं** सर्वपदार्थरूपापादकत्वं, सर्वमेव भावयति इति. **ब्रह्मणः** शब्दब्रह्मणः परब्रह्मणश्च, [२]हृदय-कण्ठादि-स्थानरूपत्वम्. **धारणं** सर्वस्यापि जगतः. **सतां** सर्वेषामेव तत्त्वानां **विशेषणं** व्यावर्तकम्, अवयवभूतं वा. काष्ठादौ अग्निं प्रकटीकृत्य इतरव्यावृत्तिं जनयति[३], इतरथा तेजसः स्वरूपमेव क्वापि न अभिव्यक्तमिति कुतो व्यावृत्तिः भवेत्. एवं जलमपि स्वान्तर्गतं रसरूपं नद्यादौ प्रकटीकृत्य प्रदर्शयति. एवं व्यजनादिना वायुं, गर्तादिना आकाशं, शरीरादौ अहङ्कारादिसर्वाण्येव इन्द्रियाणि आत्मानञ्च. किञ्च, सर्वसत्त्वानां जीवानां यावन्तो गुणाः, आब्रह्मतृणस्तम्बपर्यन्तं भेदाः, तेषाम् उद्भेदः पृथिव्यामेव।।४६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अस्वरसं दर्शयन्ति **वस्तुतः** इत्यादि. **आकृतिमात्रे** इति. यस्य कस्यचिद् आकृतिमात्रे. स्थानलक्षणमपि असङ्गतम् इति आहुः **नापि** इत्यादि. सिद्धान्तम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. एवं सति भावनादि-पञ्चवृत्तिकत्वं पृथिवीसामान्यलक्षणम्, एकैक-वृत्तिकत्वञ्च विशेषलक्षणम् इत्येवं षड् लक्षणानि ज्ञेयानि. गन्धवत्व-नीलरूपत्वादिकं विशेषलक्षणमेव, सामान्यलक्षणत्वेतु पाषाण-शुक्लपटादौ अव्याप्त्यापत्तिः, अनुद्भूता(त)गन्धादिकल्पनापत्तिश्च इत्यादिकम् ऊह्यम्. यद्यपि धारणवृत्तिकत्वं प्राणादिधिष्ण्यरूपे आकाशे मेघादिधारके वायौ तेजसि जले च अतिव्याप्नोति इति विशेषलक्षणत्वं तस्य न घटते, तथापि सांसिद्धिक-शीतोष्णत्वानधिकरण-सांसिद्धिक-वेगव्यधिकरण-स्पर्शाधिकरणत्वम् अत्र विवक्षितम् इति न कश्चिद् दोषः, इति सर्वं समञ्जसम्. इदञ्च भौतिकेष्वपि व्यापकम् इति व्यवहारोपयोगी इति ध्येयम्. अत्र जलादिचतुष्के अतिव्याप्तिवारणाय **शीते**त्यादि. सजलघटादौ अतिव्याप्ति-वारणाय **सांसिद्धिके**ति. नच असम्भवः. भूमौ नैमित्तकस्यैव वेगस्य अनुभव-साक्षिकत्वात्. सांसिद्धिकत्वे गन्धादिवत् सर्वदा अनुभवप्रसङ्गात्. यद्यपि पाकजानुष्णी(ष्णाशी)तस्पर्शवत्वं व्यवहारः उपयुज्यते, तथापि पाकजत्वस्य शास्त्रमात्रगम्यत्वेन दुरधिगमत्वाद् इदमेव सम्यग् इति दिक् ।।४६।।

२.हृदयकरणादि घ. हृदयान्तःकरणादि. ङ. ३.ज्ञापयति क. ङ.

श्रोत्रादीनां शब्दादिग्राहकत्वं प्रमाणत्वेन उक्तं, तदेव तेषां *लक्षणानि इति आह सार्द्धद्वाभ्यां **नभोगुणः** इति.

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तत् श्रोत्रम् उच्यते ।
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत् स्पर्शनं विदुः ।।४७।।
तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते ।
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद् रसनं विदुः ।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तद् घ्राणम् उच्यते ।।४८।।

तन्मात्रारूपोऽपि शब्दः आकाशस्य गुणभूतो भवति. यथा कार्ये कारणप्रतीतिः, पटे तन्तुप्रतीतिवत्; तथा आकाशस्य शब्दो गुणः. एवम् अग्रेऽपि नभोगुणः शब्दो असाधारणः, नतु संयोगादिरूपः, सएव अर्थो विषयो यस्य **तत् श्रोत्रम्. उच्यते** इति प्रमाणम्. अनेन अन्ये व्याख्याताः. **वायोः गुणविशेषः** स्पर्शः, **तेजोगुणविशेषो** रूपम्, **अम्भोगुणविशेषो** रसः, एवं **भूमेः गुणविशेषो** गन्धः।।४७-४८।।

कारणानुप्रवेशाद् उत्तरोत्तरं धर्माधिक्यम् आह **परस्य** इति.

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात् ।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ।।४९।।

परस्य कारणस्य धर्मः, **अपरस्मिन्** कार्ये, कारणसमन्वयाद् धर्मो दृश्यते. अतः स्वधर्मः कारणधर्मश्च कार्ये भवति. सर्वेऽपि विशेषाः, पञ्चाऽपि गुणाः,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नभोगुण इत्यत्र. अत्र 'नभोगुण'विशेषपदेन शब्दोल्लेखाद् अन्योन्याश्रयोऽपि परिहृतो बोध्यः. यद्यपि अत्र गुणमात्रग्राहकत्वं लक्षणत्वेन उक्तं, तथापि त्वग्-दृशोः द्रव्यग्राहकत्वमपि अस्ति. अन्येषान्तु न, यदि स्यात् तदा परिमाणादिरपि द्रव्यगतो गृह्येत इति. अत्र तदनुक्तिस्तु शब्देऽपि अतिव्यापकत्वाद् अवान्तरपदार्था-निरूपकत्वात् साधर्म्याप्रतिज्ञानाच्च इति ज्ञेयम् इति दिक् ।।४७।।

परस्य इत्यत्र. स्पर्शरूपरसानां चतुस्त्रिद्विभूतेषु विद्यमानत्वेन सामान्यगुण-त्वात् त्वक्-चक्षू-रसनानां लक्षणेषु 'गुण'विशेषपदम् असङ्गतम् इति आशङ्क-ानिरासाय आहुः **कारणे**त्यादि. तथाच, तेषु सामान्यत्वप्रतीतेः कारणसमन्वय-

*लक्षणम् इत्याद्याहः. क.

अन्तिमकार्ये पृथिव्यामेव इति आह **अतो विशेषः** इति. साङ्ख्यशास्त्रत्वाद् न अस्य विशेषतः सर्वबोधकत्वम्. 'वीणादि'शब्दो वाङ्निमित्तकः इति कारणसम्बन्धेन तथात्वम्. चित्राणि च रूपाणि वरप्राप्तानि. सर्वेऽपि विशेषाः भूमावेव *[*] **उपलक्ष्यन्ते** दृश्यन्ते।।४९।।

एतेषाम् उत्पत्तिस्वरूपलक्षणानि उक्त्वा, कार्यतोऽपि तानि वक्तुं, तेभ्यो ब्रह्माण्डोत्पत्तिम् आह **एतानि** इति.

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै ।
काल-कर्म-गुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ।।५०।।

यदि अचेतनेभ्यएव तत्त्वेभ्यः कार्यम् उत्पद्येत तदा अस्मिन् सङ्घाते न आत्मा मृग्यः स्यात्, सर्वस्यैव जडत्वात्[१]. अतः सङ्घातः चेतनसहितानाम् इति वक्तुं केवलानाम् अकारणत्वम् आह **एतानि यदा असंहत्य** अमिलित्वा, मुख्यानि सप्त **महदादीनि** स्थितानि इति अर्थात्. तदा भगवान् कालप्राण्यदृष्टसत्त्वादिगुणैः मिलितः सर्वजगत्कारणकारणभूतः एतानि उपाविशत्. अत्र एकं वाक्यम् आर्थिकं ल्यपा[२] आक्षिप्यते. अथवा, भगवानेव असंहत्य एतानि अमेलयित्वा पश्चाद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रयुक्तत्वेन तेषां गुणने तदीयत्वाभावाद् न गुणविशेषत्वहानिः इति न तदसङ्गतिः इति अर्थः. **परस्य** इति अर्द्धेनैव चारितार्थ्याद् **अतो विशेषः**, इति अर्द्धपद्यं व्यर्थम् इति आशङ्कायाम् आहुः **साङ्ख्ये**त्यादि. तथाच वेदोक्तानां लोकसिद्धानाञ्च धर्मान्तराणां यो भूमौ उपलम्भः, सोऽपि तत्-तत्कारणसमन्वयहेतुकएव, नतु असतः सत्तारूप इति प्रमेयम् उपलक्षणविधया निरूपयितुम् इदम् अर्द्धम्, अतो न व्यर्थम् इति अर्थः. **तथात्वं** वर्णपदादिरूपत्वम्. तेन शब्दोऽपि चित्रो अतिरिक्तः इति ज्ञापितम् ।।४९।।

एतानि इत्यत्र. **सप्ते**त्यादि. महदहंभूतानि इति सप्त. **अर्थाद्** इति. ''घटेन जलम् आनय'' इति उक्ते करणतानिर्वाहकत्वे सच्छिद्रेतरत्वं यथा करणता-रूपार्थबलाद् बला(?)द् भासते, तथा स्थितिरपि अमेलननिर्वाहकतया ल्यबर्थरूपार्थबलाद् भासते इति अर्थः. कल्पनां विनापि श्लोकद्वयस्य एकवाक्यत्वे सुखे(न) प्रकृतार्थबोध इति आशयेन आहुः **अथवा** इत्यादि. **यदा** इत्यस्य व्याख्यानं पश्चाद् अनेन क्रियते ।।५०।।

*उपलभ्यन्ते. ख. घ.मां४. १.उद्गतत्वात्. क. घ. ङ. २.कल्पनया. ग. अर्थयलात् घ

उपाविशद् इति. अग्रे उत्पद्यमानं जगद् यथा चतुर्णाम् अधीनं भवति आत्म-काल-कर्म-स्वभावानां, तदर्थं कालादिभिः सह प्रवेशः ।।५०।।.

ततो ब्रह्माण्डम् उत्पन्नम् इति आह **ततः** इति.

ततस्तेनाऽनुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डम् अचेतनम् ।
उत्थितं पुरुषो यस्माद् उदतिष्ठद् असौ विराट् ।।५१।।

ततो भगवत्प्रवेशानन्तरं, **तेन** भगवता **अनुविद्धेभ्यो** योजनार्थं गुणान् गृहीत्वा सूच्येव विद्धेभ्यः, प्रथमतो अचेतनमेव अण्डम् उत्थितम्. **यस्माद् अण्डाद् असौ पुरुषः** पूर्वं तत्त्वेषु प्रविष्टः, सएव विराड्रूपो भूत्वा उदतिष्ठत् ।।५१।।

ब्रह्माण्डे चेतनाचेतनोत्पत्तिम् उक्त्वा तस्य नाम-रूपे आह **एतद् अण्डम्** इति.

एतद् अण्डं विषेशाख्यं क्रमाद् वृद्धैर्दशोत्तरैः ।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनाऽऽवृतं बहिः ।।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ।।५२।।

विशेषः इत्यस्य नाम. स्वयं सर्वतः पञ्चाशत्कोटि-योजन-विस्तृतं स्वतः. ततः उत्तरोत्तरं पूर्वस्माद् दशगुणं वृद्धैः तोयादिभिः सर्वतः परिवृतम्, अन्ततः प्रधानेन च आवृतम्. एवम् अस्य महत्वम्. अत्र स्थितसर्वजगतो भगवत्वेनाऽपि महत्वम् आह **यत्र लोकवितानो अयम्** इति. अयं सर्वोऽपि लोकविस्तारो भगवतो रूपम्. तस्माद् एतद् भगवदाधारभूतम्।।५२।।

सः बहुकालं पुरुषत्वसम्पादनार्थं तस्यां पुरि शयनं कृतवान्. 'पुरि शेते' इति 'पुरुष'पदनिर्वचनात्. यावद् अयं शयनं कृतवान् तावत् पूर्वम् अनुवेदरूपेण[1] प्रविष्टाः भगवदंशाः भोगं न प्राप्तवन्तः. यदातु [2]पुनः ततः उत्थाय तस्मात् पृथग्भूतः सन् तत्र निविष्टः तदा सर्वांशानां भोगार्थं तत्र स्थानानि जातानि इति आह **हिरण्मयाद्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

हिरण्मयाद् इत्यस्य आभासे. **पूर्वम् अनुवेदरूपेण प्रविष्टाः** इति. पूर्वं प्रवेशम् अनुलक्षीकृत्य वेदरूपेण शब्दार्थयोः नित्यसम्बन्धात्, तत्-तत्प्रतिपाद्य-

१.अनुवेध. क.अनुस्वेद. घ. २.पुनः. क. घ. ङ.

हिरण्मयाद् अण्डकोशाद् उत्थाय सलिलेशयात् ।
तम् आविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ।।५३।।

प्रकाशबहुलात् सुवर्णमयात् सलिले विद्यमानाद् 'नारायण'शब्दवाच्याद् विराड्देहाद् **उत्थाय,** पुनः **तम् आविश्य** सर्वत्र विद्यमानम् आकाशं **बहुधा निर्बिभेद,** बहूनि छिद्राणि कृतवान्. भगवदुत्थानेऽपि कोशस्य नाशाभावार्थं हिरण्मयत्वम् उक्तम्. रक्षसां बाधाभावार्थं सलिलेशयत्वम् उक्तम्. महादेवो हि अल्पनिरूप्यो भवति इति अल्पैः सहितः समर्थः तत्र शरीरे छिद्राणि कृतवान्. पुनरपि प्रविष्टो अयं भेदमात्रं कृतवान् इति पुरुषत्वमेव स्थितम्. न अनेन[१] विराजः कार्यकरणसामर्थ्यं भवति. यथा प्रतिमादौ भगवान् तिष्ठति तथैव अयं स्थितः इति ज्ञातव्यम्, अन्यथा तत्त्वेभ्यः आत्मविवेको न स्यात् ।।५३।।

छिद्राणां विनियोगम् आह [२]**निर्भिद्यते**त्याद्यष्टभिः

निर्भिद्यताऽस्य[३] प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत् ।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोतो घ्राण एतयोः ।।५४।।

प्रथमतः आस्यं निर्भिन्नं विवरात्मकम्. तस्य मुखम् इति नाम. **अस्य** इति पाठः. प्रथमम् अस्य मुखं निर्भिन्नं, **ततो वाणी** वागिन्द्रियं तत्र **अभवत्** प्रविष्टं, वाण्या सह वह्निरपि तत्र अभवत्. **अथो** छिद्रान्तरे भिन्नप्रक्रमेण नासापुटे निरभिद्येताम्. तयोः घ्राणम् इन्द्रियं निविष्टम्. तच्च देवतया विद्धम् इति आह **प्राणोतः** इति. प्राणेन उतः स्यूतः सम्बद्धः. उभयोः एकएव निविष्टः. अयं प्राणः न इन्द्रियदेवतारूपः किन्तु सर्वनियामकः आसन्यात्मकः।।५४।।

तस्य तत्र कथनप्रयोजनम् आह **प्राणाद्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नित्यपरिच्छिन्न-भगवदवयवरूपेण प्रविष्टाः इति अर्थः. **अल्पनिरूप्यो भवति** इति. महत्वस्य सापेक्षवृत्तिकत्वात् तथा भवति. **अनेन** इति. क्रियादिरहितेन केवलावेशेन. सक्रियत्वेन(?) प्रयोजनम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. अन्यथा इति निष्क्रियतयास्थितौ ।।५३।।

निर्भिद्यत इत्यत्र. उभयोः इति. नासयोः ।।५४।।

१.नोचेत्. क., अनेनैव. घ. ङ.२.निरभिद्यतः. ख.मां४ ३.निरभिद्यत. क.मां४

प्राणाद् वायुरभिद्येताम् अक्षिणी चक्षुरेतयोः ।
तस्मात् सूर्योऽन्वभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः ।।५५।।
निर्बिभेद विराजस्त्वग् लोमश्मश्रवादयस् ततः ।
तत ओषधयश्चासन् शिश्नं निर्बिभिदे ततः ।।५६।।
रेतस्तस्माद् आप आसन् निरभिद्यत वै गुदम् ।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः ।।५७।।
हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट् ।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः ।।५८।।
नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम् ।
नद्यस्ततः समभवद् उदरं निरभिद्यत ।।५९।।
क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोर् अभूत् ।
अथाऽस्य हृदयं भिन्नं हृदयाद् मन उत्थितम् ।।६०।।
मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर् बुद्धेर् गिरां पतिः ।
अहङ्कारस्ततो रुद्रः चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ।।६१।।

तस्मात् प्राणाद् वायुः इन्द्रियदेवतारूपो निरभिद्यत. भगवत्कृतसृष्टौ अश्विनीकुमारौ इन्द्रियदेवता, भगवदर्थसृष्टौतु वायुः इति विशेषः. ततो अक्षिणी गोलके. उभयोरपि चक्षुः इति एकम् इन्द्रियम्, तस्मात् सूर्यः आविर्भूतः. **कर्णौ अन्वभिद्येतां,** ततः **श्रोत्रं, ततो दिशः**. विराजः त्वग् निर्भिन्ना.

निर्बिभेद इति आविरभूद् इति अर्थः. तत्र **लोम** इन्द्रियं, श्मश्रु-केशाश्च लोमविशेषाः, तत्र देवता **ओषधयः**. अस्यां सृष्टौ त्वक्-चर्मणोः ऐक्यम्. स्पर्शः त्वगिन्द्रियेण. वायुः देवता केन गृह्यते इति पूर्वम् उक्तम्. **शिश्नं** गोलकम्.

रेतः इन्द्रियम्, **आपो** देवताः ''**आपएव पुरुषाकारा भवन्ति**''() इति. पूर्वं को देवः? सर्वत्र वैलक्षण्ये सृष्टिभेदो नियामकः. **गुदं** पायुस्थानम्, **अपानः** इन्द्रियम्. तत्र **मृत्युः** देवः. सच **लोकभयङ्करः** इति वैराग्यार्थम् उक्तम्. मृत्युः उपर्येव तिष्ठति, मध्ये मृत्युः इति च.

हस्तौ गोलकस्थानीयौ, **बलम्** इन्द्रियम्. **ताभ्यां** सहैव निर्गतम् इति

तृतीया. **ततो** बलात् **स्वराड्** इन्द्रः. एवं पादावपि. **गतिः** इन्द्रियम्. **ततो** गतिरूपाद् **हरिः** विष्णुः देवः.

नाड्यो गोलकम्. आसमन्ताद् भृतं **लोहितम्** इन्द्रियम्. **आभृतं** जातम् इति वा. **नद्यो** देवताः. **उदरं** गोलकम्.

क्षुत्–पिपासे इन्द्रियम्. **समुद्रो** देवता. **हृदयं** चतुर्णां गोलकम्. तत्र एकं मनः इन्द्रियम्.

मनसः सकाशाद् **जातः चन्द्रमाः** तस्य देवः. **बुद्धि**रपि इन्द्रियम्. **गिरां पतिः** देवः. **अहङ्कारः** इन्द्रियं, **रुद्रो** देवता. **चित्तम्** इन्द्रियं, **चैत्यो** जीवो देवता इति. एते सर्वे तत्तत्स्थाने अभिव्यक्ताः भगवदंशाः, **चैत्यो** मुख्यो भगवदंशः ।।५५– ६१।।

सर्वेभ्यः तं विवेक्तुं पुनः सर्वेषां निर्गमनप्रवेशौ आह **एते** इति.

एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवाऽस्योत्थापनेऽशकन् ।
पुनराविविशुः खानि तम् उत्थापयितुं क्रमात् ।।६२।।

एते देवाः स्वयम् **अभ्युत्थिता अस्य** देहस्य **उत्थापने न** शक्ताः. यएवेनं[1](?) देहम् उत्थापयति, सः जीवः आत्मा इति ज्ञातव्यम्. सामर्थ्ये विद्यमानेऽपि न उत्थापयन्ति इति न मन्तव्यं, किन्तु सामर्थ्यमेव न अस्ति इति. तदर्थम् उपाख्यानम् आह **पुनः आविविशुः** इत्यादिना. तदेव शरीरं, स्वस्वस्थाने पूर्वं भगवता सह निविष्टाअपि **पुनः आविविशुः**. **खानि** छिद्राणि. प्रयोजनं **तम् उत्थापयितुम्** इति. **क्रमाद्** इति स्वस्वबलपरीक्षार्थम्।।६२।।

वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।
घ्राणेन नासिके वायुः नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६३।।
अक्षिणी चक्षुषाऽऽदित्यो नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६४।।
त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।
रेतसा शिश्नम् आपस्तु नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६५।।
गुदं मृत्युर् अपानेन नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।

१.'इमम्' इति मां४.

हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६६।।

विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।

नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६७।।

क्षुत्तृड्भ्याम् उदरं सिन्धुः नोदतिष्ठत् [१] **ततो विराट् ।**

हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत् ततो विराट् ।।६८।।

बुद्ध्या ब्रह्माऽपि हृदयं नोदतिष्ठत् [२] **ततो विराट् ।**

रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत् [३] **ततो विराट् ।।६९।।**

वह्निः देवो वाचा इन्द्रियेण सह प्रथमतो मुखं भेजे. ततो निर्गत्य [४] तत्र प्रविष्टः. तस्मिन् प्रविष्टे विराट् सलिलाद् न उदतिष्ठत्. सर्वत्र इन्द्रियेण सह देवता गोलके निविष्टा. विराट् ततो न उत्थितः. **विष्णुः गत्यैव** इति. इन्द्रियेण सह प्रविष्टो विष्णुः तावन्मात्रप्रयोजको न अधिकं करोति. एवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्. मन्त्राधिष्ठातृरूपेष्वपि मर्यादा एषा. पुरुषोत्तमस्तु सर्वं करोति चेत् सः सेवितुं शक्यते, प्राप्यते वा. रुद्रपर्यन्तं देवाः सर्वे निविष्टाः प्रत्येकम्. **ततो विराड् न उदतिष्ठत्**।।६३-६९।।

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद् यदा ।

विराट् तदैव पुरुषः सलिलाद् उदतिष्ठत ।।७०।।

यदा पुनः **चित्तेन** इन्द्रियेण सह. **हृदयं, चैत्यो** जीवः, **क्षेत्रज्ञो** देहाभिमानी, यदैव प्राविशत् तदैव **पुरुषो** भगवत्सहितो देहः **सलिलाद् उदतिष्ठत**।।७०।।

अन्तरङ्गएव सेवको महाराजम् उत्थापयितुं शक्नोति, न अन्यः इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति **यथ** इति द्वाभ्यां

यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रिय-मनो-धियः।

प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुम् ओजसा।।७१।।

तम् अस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विष्णुः इत्यत्र. **एषा** इति. तत्फलमात्रदायकत्वरूपा इति अर्थः ।।६७।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे षड्विंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्याऽऽत्मनि चिन्तयेत् ।।७२।।

यथा स्वसामग्र्या *सुप्तं पुरुषं बहिः स्थिताः प्राणेन्द्रिय-मनो-धियः, **येन** अन्तःस्थितेन जीवेन **विना उत्थापयितुं न प्रभवन्ति**, तमेव **प्रत्यगात्मानं** शरीराभिमानिनं जीवम्, **अस्मिन्** सङ्घाते, इतरव्यावृत्या **चिन्तयेत्**. तत्र चिन्तने बुद्धिः करणम्. साऽपि न प्राकृती, किन्तु योगेन विपक्वा, योगेन प्रवृत्ता वा. योगसिद्धा इति अर्थः. तस्य सहायभूतं भक्त्यादित्रयम्. तैः सहितया बुद्ध्या इतरान् दूरीकृत्य तमेव चिन्तयेत्. बुद्ध्यभ्यासं तत्र कुर्यात्. तथा सति उत्तरत्र तस्य ब्रह्मभावो भावयितुं सुकरः इति भावः।।७२।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे षड्विंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

* गुप्तम् ग. ङ

।। सप्तविंशाऽध्यायविवरणम् ।।

साङ्ख्येनेतरभिन्नस्य[1] ज्ञाने जाते तथात्मनः ।

ब्रह्मरूपेण तज्ज्ञानं सप्तविंशे निरूप्यते ।।१।।

साधनानि स्वरूपं च चिन्तनार्थम् इहोच्यते ।

युक्तयोऽप्यत्र[2] कथ्यन्ते विपर्यय–निवृत्तये ।।२।।

पूर्वाध्याये सङ्घातेऽपि विद्यमानः आत्मा भिन्नतया निरूपितः. तस्य मोक्षो निरूप्यते. सः चेद् बहुकालं प्रकृतौ स्थितः, मञ्जिष्ठादिभिरिव रञ्जकद्रव्यैः वस्त्रमिव रक्तः स्यात्, तदा तस्य मोक्षो न सम्भावितः इति सूचयन्[3] तस्य स्थितिम् आह **प्रकृतिस्थोऽपि** इति.

श्रीभगवान् उवाच

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।

अविकाराद् अकर्तृत्वाद् निर्गुणत्वाद् जलार्कवत् ।।१।।

सर्वदा अयं जीवः प्रकृतावेव प्राकृतसङ्घाते वर्तते; तथापि प्रकृतेः सत्वरजस्तमोगुणैः **न अज्यते,** अक्तो न भवति, यथा पुरुषः तैलादिना अज्यते. अञ्जनाभावे हेतुचतुष्टयम् आह **अविकाराद्** इत्यादिचतुर्भिः पदैः. प्रकृतेः गुणाः स्वस्मिन् प्रविष्टं वस्तुतो[4] अक्तं कुर्वन्ति. स्वयं वा तत्र प्रविष्टाः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ सप्तविंशाध्याये विवरणं चिकीर्षवः सङ्गतेः पूर्वमेव निर्धारितत्वाद् अर्थमेव आहुः **साङ्ख्येन** इत्यादि. **तथात्मनः** इति. सङ्घातविवक्तस्य आत्मनः इति अर्थः. एतेन ब्रह्मरूपतया ज्ञातस्यैव आत्मनः इन्द्रियरूपत्वम् इति ज्ञापितम्. तादृशेनैव तेन सर्वदर्शनाद् इति. एवञ्च कपिलोक्तौ पूर्वोत्तराध्याययोः शेष-शेषिभावोऽपि स्फुटो ज्ञापितः सङ्गतित्वेन इति ज्ञेयम्. अवान्तरवाक्यानां सङ्गतिम् आहुः **साधनानि** इत्यादि. **चिन्तनार्थम्** इति ब्रह्मभावचिन्तनार्थम्. तथाच साधन-निरूपकाणां स्वरूपनिरूपकाणाञ्च हेतुतासङ्गतिः, युक्तिनिरूपकाणान्तु उपोद्घातः इति अर्थः. एतेन अस्य कामाध्यायत्वमपि स्फुटीकृतं, ब्रह्मभावस्यैव भगवद्विचारित-कामरूपत्वाद् इति.

१.साख्येतरविभिन्नस्य क. २.ह्यत्र क. ३.सूर्यवत्. ग. ४.च मनः क.

तत्र प्रवेशे विकृतमेव प्रविशन्ति इति विकाराभावाद् न प्रवेशः. भावस्य हि विकाराः भवन्ति. यो हि भवनम् अनुभवति, सतु न केनाऽपि प्रकारेण भवतीति विकाराभावः. किञ्च, कर्ता हि क्रियाधर्मैः अदृष्टप्रकारेण रज्यते. **अकर्तृत्वाद्** न अदृष्टप्रकारेणाऽपि. विकाररहितोऽपि सजातीयग्राहकः इति, यदि सगुणः स्यात्, तदा परगुणैरपि स्वसजातीयैः विद्वानिव रक्तो भवेत्. एतद्रसाभिनिवेशाद् रञ्जनं फलतो रञ्जनम् उच्यते. साधनतो, व्यापारतः, फलतश्च रञ्जनाभावः उक्तः. स्वस्मिन् प्रवेशे सति रञ्जनं भविष्यति इति आशङ्क्य प्रवेशं दृष्टान्तेन अन्यथा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आद्यपद्ये. तत्र प्रवेशे इति. परस्मिन् गुणप्रवेशे विचार्यमाणे इति अर्थः. विकाराभावएव कथम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **भावस्य** इत्यादि. **भावस्य** इति. भवनक्रियाश्रयस्य. व्युत्पत्तिस्तु, भवति इति भवः, सएव, स्वार्थाणा भावः इति. इदञ्च अनादिः आत्मा इति पूर्वोक्तलक्षणे 'अनादि'पददानस्य प्रयोजनं(सुष्ठु उक्तम्) सूक्तम्. भवनानुभवितृत्वेन अनादित्वं समर्थितम्. एवं सति अनुमानचतुष्टयेन अयम् अर्थः सिध्यति इति तानि प्रयुञ्जते. तथाहि. पुरुषो अनञ्ज्यः, अन्यकर्तृक-प्रवेशायोग्यत्वाद्, अन्यकर्तृक-प्रवेशायोग्यः, अविकारित्वाद्, अविकारी, अनादित्वाद्, यद् एवं तद् एवं, कालवद्; यद् न एवं तद् न एवं, तत्त्वादिवत्. अनादिः, भवनानुभवितृत्वाद्, यद् न एवं तद् न एवं, देहादिवद्, इति. ननु लौकिक-प्रकारेण अञ्ज्यो भविष्यति इति शङ्कानिवृत्यर्थम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. अत्रापि अदृष्टप्रकारेण न अञ्ज्यः, अकर्तृत्वात्, कालवद्, यद् न एवं तद् न एवं, नैयायिकादिप्रतिपन्नात्मवद्, इति अनुमानं ज्ञेयम्. 'निर्गुण'पदसिद्धम् अर्थम् आहुः **विकाररहितोऽपि** इत्यादि. अत्रापि ''अञ्ज्यः गुणग्राहकत्वाद्'' इत्यनेन सत्प्रति-पक्षितेषु पूर्वानुमाने(षु) पुनः पूर्वस्थापनाय, गुणग्राहकत्वेऽपि पुरगुणैः अनञ्ज्यः, सजातीयगुणरहितत्वाद्, गीतानभिनिविष्टपण्डितवद्; यद् न एवं तद् न एवं, गीताभिनिविष्टपण्डितवत्. **साधनतः** इत्यादि. साधनं गुणः, व्यापारो अदृष्टं; फलं रसाभिनिवेशः इति. **स्वस्मिन् प्रवेशे** इति. प्रकृतौ प्रवेशे. उक्तप्रकारके प्रवेशे गमकम् आहुः **अन्यथा** इति. अत्रापि ''अञ्ज्यः, प्रकृतौ प्रविष्टत्वाद्'' इत्यनेन सत्प्रतिपक्षिते पुनः स्थापनाय ''अनञ्ज्यः, प्रतिबिम्बन्यायेन प्रविष्टत्वाद्, जलार्कवद्, यद् न एवं

निरूपयति **जलार्कवद्** इति. सहि प्रकृतौ प्रतिबिम्बन्यायेन प्रविशति, नतु कुण्डे बदरमिव; अन्यथा प्रकृतौ तत्प्रतीतिः न स्यात्; सर्वत्र च प्रतीतिः न स्यात्, प्रकृत्यपेक्षया व्यापकत्वात् च. अतः स्वच्छा प्रकृतिः पुरुषच्छायां गृह्णातीइति पुरुषो न तद्धर्मैः सूर्यवद् रज्यते।।१।।

तर्हि कथं संसारः? इति आशङ्क्य आह **सः एषः** इति.

स एष यर्हि प्रकृतेः गुणेष्वभिविषज्जते ।

अहङ्क्रियाविमूढात्मा कर्ताऽस्मीत्यभिमन्यते ।।२।।

सएव प्राकृतैः गुणैः असम्बद्धोऽपि, **एषः** संसारी भवति. कथम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **यर्हि** इति. प्रकृतेः गुणेषु यर्हि स्वयम् अभिरज्यते. यद्यपि गुणाः किञ्चित् कर्तुं न शक्ताः, तथापि स्वयं चेतनः तान् गुणान् वशीकर्तुं स्वधर्मेण रञ्जयितुं शक्नोति. यथा सूर्यो जलं स्वगुणैः तप्तं करोति, जलन्तु सूर्यं शीतलं कर्तुं न शक्नोति. तदा किरणैः शुष्यद् जलं सूर्ये प्रविशति तदा तत्र गतं बहुधा प्रसूयते. एतदेव गुणेषु अभिविषक्तिः नाम. तदा वशीकृतेषु, अहङ्कारेण विमूढः सन्, ''कर्ता अस्मि'' इति आत्मानम् अभिमन्यते. प्रकृतेः गुणाः स्वात्मनि आगताः सर्वमेव कार्यं कुर्वन्ति. तत्र कर्ता अहङ्कारो गुणव्याप्तः. सच अहङ्कारो मोहात्मको भवति, यतो जीवो मूढः सन् 'अहम्' इति आत्मानं मन्यते. **अहङ्क्रिया** अहङ्कारः. मोहे स्त्रिया उपयोगात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशः. अहङ्क्रियया विमूढः, **आत्मा** अन्तःकरणं स्वरूपं वा यस्य. अहं करोति इति अहङ्कारः, तेन कर्तृत्वम् अहङ्कारस्यैव. तेन तदैक्याद् आत्मानमपि कर्ता

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तद् न एवं, कुण्डबदर(व)द्'' इति अनुमातव्यम् इति ज्ञापितम् ।।१।।

सः एषः इत्यत्र. **एतदेव** इति. स्वप्रतिबिम्बोपरक्त-गुणकृतसूर्यकिरण-शुष्यज्जलन्यायक-प्रवेशोत्तरभावि-बहुप्रकारक-गुणप्रसवनमेव इति अर्थः. **विमूढः** इति. उपधानेन विस्मृतस्वरूपः. स्वगुणप्रवेशकं रञ्जनम् उपरागः, स्वगुणप्रवेशकं रञ्जनम् उपधानम्(?) इति तयोः भेदः. **सः** इति. उपधानात्मा. तत्र हेतुः **यतः** इत्यादि. अत्र एवं क्रमो ज्ञेयः. पूर्वं भगवदिच्छया प्रकृति-पुरुषसंयोगः, ततः प्राकृतेषु चैतन्यात्मा पुरुषोपरागः, ततः चैतन्यात्मनि अहङ्कारोपधानम् अहङ्कारः, तेन 'मोह'शब्दवाच्या स्वरूपविस्मृतिः, तया ''कर्ता अहम् अस्मि'' इत्याकरिका

अस्मि इति मन्यते ।।२।।

ततः किम्? अतः आह **तेन संसारपदवीम्** इति.

तेन संसारपदवीम् अवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः ।

प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्-मिश्रयोनिषु।।३।।

कर्तृत्वाभिमानात् कर्ता भोक्ता भवति इति संसारभोगार्थं संसारपदवीम् इति. **अवशः** कर्माधीनः. अतएव आभिमुख्येन एति. ननु एवं सति नित्यः संसारः स्याद् अतः आह **अनिर्वृतः** इति. कर्मफले निर्वृतिरहितः. निर्वृतस्तु संसाराद् विमुच्यते इति उक्तं भवति. ननु संसारमार्गे गमनमात्रेण किं स्याद्? इत्यतः आह **प्रासङ्गिकैः** इति. प्रसङ्गेन हि कर्मणो दोषाः जायन्ते. स्वभावतः कर्माणि न दुष्टानि, किन्तु प्रसङ्गादेव. यथा अन्नभोजनं न निषिद्धं, किन्तु दुष्टान्नभोजनमेव. कर्ममार्गस्तु सदसन्-मिश्रयोनिरूपः. [1]सदादियोनिः देव-तिर्यङ्-मनुष्ययोनिः ।।३।।

ननु अयं संसारः किं सत्यो मिथ्या वा? आद्ये अनिर्मोक्षः, द्वितीये साधनवैयर्थ्यम् इति आशङ्क्य आह **अर्थे** इति.

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर् न निवर्तते ।

ध्यायतो विषयान् अस्य स्वप्ने-ऽनर्थागमो यथा ।।४।।

यद्यपि अत्र संसारे संसरणरूपो अर्थो न अस्ति. देव-तिर्यङ्-मनुष्य-योनिषु देहएव उत्पद्यते, देहे च आत्मनो न कोऽपि सम्बन्धः. असङ्गत्वाद् आत्मनः संयोगो न अस्ति, सुतरां समवायः. स्वरूपसम्बन्धोऽपि न अस्ति, उभयोः एकत्र निरूपणाभावाद्; महाराज-सेवकयोरिव[2] किन्तु आध्यासिकः. सतु

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

'संसार'शब्दवाच्या अहंमतिः इति ।।२।।

तेन इत्यत्र. **निर्वृतः** इति. अलम्बुद्ध्या दोषबुद्ध्या वा सुखदुःखोदा-सीनतया सन्तुष्टः. अत्र संसारपदवीतु प्रतिजन्मनि अनुवर्त्तमानकर्तृत्वाभिमान-परम्परा, तस्याः उत्पादने तज्जनकस्य मोहस्य अनिर्वृतिः सहकारिणी, कर्मदोषास्तु द्वारभूताः इति बोध्यम् ।।३।।

अर्थे इत्यत्र. **उभयोः** इत्यादि, एतेन स्वरूपसम्बन्धस्य लक्षणमिव कृतं

---

१. 'सदसदादि' इति मां४. २.मषकयोरिव. ख. ग., वराकयोरिव. ङ.मां४.

मोहाद् इति अलीकः. अतः संसारो अलीकभूतएव, तथापि न निवर्तते. यो हि मिथ्याभूतः सन् बाधते, सः कथं निवर्तते, अन्यथा बाधनमेव न स्यात्. ननु एतादृशस्य बाधने किं बीजं? तत्र आह **ध्यायतो विषयान् अस्य** इति. **अस्य** संसारस्य ये विषयाः, तान् भोग्यत्वेन ध्यायतः. विषयभोगवासनायां सत्याम् अविद्यमानोऽपि संसारो बाधते इति अर्थः. असतोऽपि बाधकत्वे दृष्टान्तः **यथा स्वप्ने अनर्थागमः**. स्वप्नस्तु मायिकः इति सिद्धान्तः. यद्यपि तत्र ताडनं मिथ्याभूतं, तथापि जागरणात् पूर्वं[1] न निवर्ततएव. अतः संसारनिवृत्यर्थं यत्नः कर्तव्यः इति सिद्धम्।।४।।

तत्र स्वप्नदृष्टान्तेनैव बोधः तस्य निवर्तकः इति अवसीयते. सः बोधः कथं भवति? इति आकाङ्क्षायाम् अन्तर्मुखे चित्ते भवति इति वेदाद् निश्चितं "**कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् इच्छन्**"(कठोप.२।१।१) इति श्रुतेः. संसारनिवृत्तं चित्तम् आत्मगामि भवति इति निश्चितम्. तद् असन्मार्गे प्रवृत्तं न निवर्ततएव. नापि निवर्तयितुं शक्यते, असतां बहुत्वाद्, बलिष्ठत्वाच्च. तत्रापि प्रकर्षेण आसक्तम्. तथापि एतादृशमपि निवर्तनीयम् इत्यादौ तस्य वशीकरणे[2] हेतुम् आह **अतएव** इति.

अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तम् असतां पथि ।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद् वशम् ।।५।।

यतो अनिवृत्तम् अनर्थहेतुः **अतएव** बहुकालम् आसक्तत्वात् शीघ्रम् अनिवृत्तावपि शनैः निवर्तनीयं, यथा असन्तः परिपन्थिनो न भवन्ति, यथा वा[3] चित्तम् आसक्तिं त्यजति. तत्र द्वयं हेतुः : भक्तियोगो विरक्तिश्च इति. भगवति स्नेहः, विषयेषु रागाभावश्च. पूर्वस्माद् वैपरीत्यम्. उभाभ्यां चित्तं वशे भवेत्।।५।।

उभयोः साधनानि आह **यमादिभिः** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ज्ञेयम्, उभयोः एकत्र निरूपणप्रयोजकं तयोः स्वरूपं स्वरूपसम्बन्धः इति सिद्धेः. **आध्यासिकः** इति. अहंमत्यात्मकः ।।४।।

अतएव इत्यस्य आभासे. **आवृत्तचक्षुः** इति. सम्मुखीकृतदर्पणवद् आवृत्तं चित्तं यस्य सः इति अर्थः ।।५।।

१.'पूर्वं वर्ततएव' इति मां४. २.तादृशकरणे. क., स वशीकरणे. ख., सदृशीकरणे. ङ. ३.च. क. ग.

यमादिभिर् योगपथैर् अभ्यसेत् श्रद्धयान्वितः ।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च ।।६।।
सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः ।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण महीयसा ।।७।।
यदृच्छयोपस्थितेन सन्तुष्टो मितभुङ् मुनिः ।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ।।८।।
सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम् ।
ज्ञानेन दृष्टतत्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च ।।९।।

पूर्वं भक्तिसाधनानि उक्तानि सत्सङ्गादीनि. तानि दुर्लभानीति ज्ञानमेव भक्तिसाधनम् इति निरूप्यते. यमादिसाधनैः आत्मानं चेद् जानाति तदा भगवति स्नेहः. पश्चाद् भगवति चित्तस्थैर्यम्. तदा विषयध्यानाभावात् संसारो निवर्तते. तत्र प्रथमं **यमाः** अहिंसादयः, ततो **नियमाः** स्नानादयः, ततः **आसनादि-**योगमार्गाः. तैः कृत्वा चित्तम् **अभ्यसेत्** चित्तं तत्परं कुर्यात्, संयमनाभ्यासं वा. मार्गे साधनेषु च **श्रद्धयान्वितः**. **मयि** भगवति, **भावेन** श्रद्धादिना. **सत्येन** सत्यभावेन, काय-वाङ्-मनस्तु सत्यप्रतिष्ठया. निरन्तरं भगवत्**कथाश्रवणेन**. **च**कारात् कीर्तनेन.

सर्वभूतेषु समदृष्ट्या, सर्वप्राणिषु वैराभावेन, सर्ववस्तुषु सर्वप्राणिषु च प्रसङ्गाभावेन, अष्टाङ्गब्रह्मचर्येण, **मौनेन** वृथा आलापपरिवर्जनरूपेण. **महीयसा** निष्ठां प्राप्तेन, **स्वधर्मेण** वर्णाश्रमधर्मेण.

यदृच्छया उपस्थितेन अन्नादिना सन्तुष्टो भवेत्. एतानि सर्वाणि साधनानि पूर्वेण-पूर्वेण सिद्धानि उत्तरोत्तराणि द्वादश भवन्ति. अन्यैः सहितेन यदृच्छया उपस्थितान्नादिना वा सन्तोषः साध्यः. पूर्वोक्तानि स्वरूपोपकार्यङ्गानि. कस्यचिद् मते सन्तोषएव मुक्त्यङ्गम् इति फलोपकार्यङ्गानि वा. अतः सन्तोषस्य कारणता न उक्ता. पृथक्स्थित्यभावार्थं वा कर्तृविशेषणत्वेन उक्तम्. तत्रापि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यमादिभिः इत्यत्र. **अष्टाङ्गब्रह्मचर्येण** इति. तानि च ''**एतन्मैथुनम् अष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः**''(दक्षस्मृ.७।३१;अष्टाङ्गसंग्रहसू.९।८५) इति वाक्योक्तविरुद्धानि ज्ञातव्यानि ।।६।।

मितभोजनं, मननञ्च, एकान्ते स्थितिः, परमशान्तिः, सर्वत्र मैत्री, करुणा, स्वाधीनान्तःकरणत्वं, पुत्रादिसहिते देहे मिथ्याभिनिवेशाकरणं च इति अन्तरङ्गाणि अष्टौ अङ्गानि. यमादयो द्वादश, एकः सन्तोषः, मितभोजनादीनि अष्टौ; एवं त्रिविधैः साधनैः अत्यन्तरङ्गसाधनैः त्रिभिश्च आत्मदृग्भवति.

तानि त्रीणि आह **ज्ञानेन** इति. साङ्ख्यम् एकं, तुरीयावस्थाभेद-ज्ञानाभावश्च. प्रकृतेः पुरुषस्य च दृष्टं तत्त्वं येन तादृशेन **ज्ञानेन** साङ्ख्य-जनितेन ।।७-९।।

निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः ।
उपलभ्यात्मनात्मानं चक्षुषेवार्कम् आत्मदृक् ।।१०।।

निवृत्तेति. निवृत्तानि बुद्ध्यवस्थानानि यस्य. [१]दूरीभूतानि अन्यानि दर्शनानि यस्य. एवं क्रमेण जाते आत्मनैव आत्मानम् उपलभ्य आत्मदृग् भवति. एकस्यैव करण-कर्मत्वे कथम्? इति आशङ्क्य दृष्टान्तम् आह **चक्षुषेव अर्कम्** इति. चक्षुरपि तैजसम् अर्कोऽपि. परम् इदम् अध्यात्मभूतम् आधिदैविकश्च सूर्यः. तत्र यथा वस्त्वन्तरग्रहणे विषयप्रकाशकत्वेन सूर्यम् अपेक्षते, एवं न सूर्यग्रहणे सूर्यापेक्षा. नाऽपि चक्षुर्गतान्धकारनिवृत्यर्थं तदपेक्षा, किन्तु तेनैव प्रकाशितं चक्षुः तदंशभूतम् आत्मानं गृह्णाति. एवं जीवेन भगवदंशभूतेन सर्वात्मस्वरूपं भगवल्लक्षणम् आत्मानं यः पश्यति सः आत्मदृग् भवति इति अर्थः।।१०।।

ननु एवम् आत्मदर्शने किं स्यात्? तत्र आह **मुक्तलिङ्गम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निवृत्तबुद्ध्यवस्थ इत्यत्र. **आत्मानम्** इति. स्वमूलभूतं सूर्यम्. **इति अर्थः** इति. एकस्यैव करणकर्मत्वे दृशेव दृशम् इति दृष्टान्तेनापि सिध्यतः. एवं सत्यपि चक्षुषेव अर्कम् इति यद् उक्तं तेन अयमेव अर्थः शास्त्रकारानुशयगोचरः इति अर्थः ।।१०।।

अग्रिमाभासे. **एवम्** इत्यादि. एवं सर्वात्मत्वेन रूपेण किं स्याद्? ''**आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयम् अस्मीति पूरुषः, किमिच्छन् कस्य वा हेतोः शरीरम् अनुसञ्ज्वरेद्**''(बृहदा.उप.४।४।१२) इति श्रुत्या 'अयम् अहम्' इति ज्ञानस्य

---

१. ''दूरीभूतम् अन्यदर्शनं यस्य'' घ. ङ.मां४.

मुक्तलिङ्गं सदाभासम् असति प्रतिपद्यते ।

सतो बन्धुम् असच्चक्षुः सर्वानुस्यूतम् अद्वयम् ।।११।।

एवं मानसभावनाज्ञानेन **असति** अस्मिन्नेव सङ्घाते **मुक्तलिङ्गं सदाभासं प्रतिपद्यते.** मुक्तं लिङ्गं यस्य. अन्तरावरणलिङ्गात्मकं तस्य निवर्तते. तदा **सतो** मूलभूतजीवस्य आभासरूपं शारीरम् आत्मानं **प्रतिपद्यते,** ''अयम् अहम्'' इति साक्षात् प्रतिपद्यते. एतावत्कालम् आभासस्याऽपि न साक्षात्कारः, बहिः आवरणानाम् अनिवृत्तत्वात्. ननु आभासे प्राप्ते कः पुरुषार्थः? तत्र आह **सतो बन्धुम्** इति. अयम् आभासः सतो मूलभूतात्मनो बन्धुः भवति, पुत्रो भ्रातेव वा भवति. तत्प्रतिबिम्बत्वात् सम्यग् मूलज्ञापको भवति इति भावः. ननु अस्य सतो बन्धुत्वे किं प्रमाणं? तत्र आह **असच्चक्षुः** इति. असतो देहादेः चक्षुः. यथा आभासरूपमपि चक्षुः विषयप्रकाशकं भवति, तेन ज्ञायते सूर्याभासो अयम् इति. ननु असत्प्रकाशकत्वमात्रेण सौरादितुल्यत्वाद् न सदाभासत्वं सिद्ध्यति इति आशङ्क्य आह **सर्वानुस्यूतम्** इति. सर्वत्रैव सङ्घाते **अनुस्यूतः** सम्बद्धो वर्तते. व्यापकाभासव्यतिरेकेण सर्वत्र अनुस्यूतता न भवति. आभासभेदे तद् [१]उपपद्यते

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आवश्यकत्वात् तदभावे किं फलं स्याद् इति अर्थः.

विवृतौ. **मूलभूतजीवस्य** इति. सर्वात्मनः सृष्टीच्छावशगस्य प्रथमपुरुषस्य हरेः इति अर्थः. **अनिवृत्तत्वाद्** इति. यद्यपि सुषुप्तौ साक्षात्कारो अस्ति, तथापि ''अयम् अहम्'' इत्याकारको न. ''**तथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरतोऽपि न विदुः**''(छान्दो.उप.८।१।५) इति श्रुतेः अनुभवाच्च इति सुष्ठु उक्तम् इदम्. **आभासे प्राप्ते** इति. मूलाभासो ''अयम् अहम्'' इति ज्ञाते इति अर्थः. **तत्प्रतिबिम्बत्वाद्** इति. दर्पणादिसङ्क्रान्तसूर्यांशुवत् शुद्धचित्तसङ्क्रान्तांशरूपत्वाद् इति अर्थः. **आभासरूपम्** इति. दर्पणादिसङ्क्रान्तं सूर्यस्य भास्वरं रूपम्. **अयम्** इति प्रकाशकः. **आह** इति. विशेषणान्तरम् आह इति अर्थः. **आभासभेदे** इत्यादि. यथा आदर्शे एकः सूर्याभासः, भग्ने तस्मिन्नेव दशधा प्रतीयमानः सर्वानुस्यूतत्वेन निश्चीयते, एवम् आभासभेदेऽपि सर्वानुस्यूतत्वम् उपपद्यते इति अर्थः. **एवम्** इति.

१. ''न तदुपपद्यते'' ख.मां४.

इति चेत् तत्र आह **अद्वयम्** इति. सर्वत्र सङ्घाते एकएव प्रतिबिम्बः, अन्यथा ''यएव अहं पश्यामि सएव अहं शृणोमि'' इति अनुसन्धानं न स्यात्।।११।।

एवम् अस्य शारीरस्य सदाभासता निरूपिता. तेन आत्मज्ञाननिरूपणार्थं दृष्टान्तोपपत्ती निरूपयति द्वाभ्यां **यथा** इति.

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते ।
स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः।।१२।।

गृहमध्ये स्थितः पुरुषो बहिः जलादौ सूर्यप्रतिबिम्बे सम्मुखगृहान्तःभित्तौ

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अनुमानविधया इति अर्थः. बोधसौकर्यार्थं तत् प्रदर्श्यते. तथाहि ''**एकधा दशधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद्**''(ब्रह्मबिन्दूप.१२) इति, ''**यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्**''(   ) इति श्रुत्या स्मृत्या च आत्मनः एकस्य आभासेन नानात्वे निश्चिते ततः सः आत्मा भासन्नसन्वेति सन्देहे ततः ''आत्माभासो मिथ्या, आभासत्वाद्, मुख्याभासवद्'' इत्यनेन मिथ्यात्वसाधने ''सत्यः, आ(भा)सत्वात्, सौराभासवद्'' इत्यनेन हेतोः साधारणत्वात् सन्देहानपगमे ''सत्यः, प्रकाशकत्वाद्, यद् एवं तद् एवं, यद् न एवं तद् न एवम्'' इत्यनेन सत्तानिश्चये ततः ''प्राकृतः प्रकाशकाभासत्वात्, सौराभासवद्'' इत्यनेन प्राकृतत्वरूपे असत्वे प्राप्ते अप्राकृतत्व-निश्चायनाय पुनः अनुमाने क्रियमाणे ''अप्राकृताभासः, सर्वत्र अनुस्यूतत्वाद्, यद् न एवं तद् न एवं, सौराभासवद्'' इति ''प्राकृताभासः, सर्वत्र अनुस्यूतत्वाद्, यद् एवं तद् एवं, भग्नादर्शप्रतीयमान-सौराभासवद्'' इति च प्रयोगाभ्यां हेतोः साधारणत्वे दर्शिते ''अयम् आभासो अप्राकृतः, सर्वानुस्यूतत्वे सति एकत्वाद्, यद् न एवं तद् न एवं, सौराभासवद्'' इति अनुमानेन प्रस्तुतसिद्धिः. आभासत्वेन पक्षोल्लेखो मूलरूपव्युदासार्थः. एवञ्च अत्र **सतो बन्धुः** इति विशेषणं **यथा ह्ययम्** इत्यादिश्रुत्यर्थस्मारकम्. **असच्चक्षुः** इति **सर्वानुस्यूतम् अद्वयम्** इति च एकैकहेतुगर्भम् इति पूर्वोक्तस्य ग्रन्थार्थतैव इति विभावनीयम् ।।११।।

यथेत्यत्र. ननु उक्तदृष्टान्तेन आत्मज्ञानन्तु साधनम् अन्तरेणापि अनुमानादिना सुकरमिति साधनोपदेशो व्यर्थः इति आशङ्कायाम् आहुः **एवम्**

तत्प्रतिफलनं भवति; धर्मइव तत्र भवति. तेन सः जानाति साक्षाद् अत्र सूर्यसम्बन्धो न सम्भवति, किन्तु बहिः दर्पणादौ प्रतिबिम्बितस्य इदं प्रतिफलनम् इति. एवं चक्षुरादौ प्रतिफलनं पूर्वोक्तसाधनैरेव, न अन्यथा इति मन्तव्यम्. नहि बहिः पीठादौ धर्मरूपेण सम्बद्धोऽपि सूर्यो दर्पणादिस्थितइव प्रतिफलति. तथा सति सर्वएव सङ्घातो अन्तः साक्षात् क्रियेत. अतः साधनेष्वेव जातेषु यद् भविष्यति तद् दृष्टान्तेन प्रथमसम्भावनानिवृत्त्यर्थं प्रदर्श्यते. **स्थलस्थेन** अन्तःभित्यादि-प्रतिफलितेन बहिःस्थितो **जलस्थः आभासो अवदृश्यते** ज्ञायते. तेनापि **जलस्थितेन स्वाभासेन दिवि स्थितः सूर्यो अवदृश्यते**।।१२।।

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः ।

स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन[१] सदाभासेन सत्यदृक् ।।१३।।

एवम् इति. एवं त्रिवृदहङ्कारस्थितः आत्मा सदाभासः, भूतेन्द्रियमनःसु प्रतिफलितैः आभासाभासैः **लक्ष्यते. तेन** त्रिवृदहङ्कारस्थितेन सतः आभासरूपेण **सत्यदृग्** आत्मा जीवभूतो लक्ष्यते।।१३।।

एवं दृष्टान्तेन आत्मसम्भावनां दूरीकृत्य दृष्टान्तस्य अप्रामाण्यम् आशङ्क्य अनुभवेन उक्तम् अर्थं द्रढयति **भूतसूक्ष्मे**ति.

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनो-बुद्ध्यादिष्विह निद्रया ।

लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहङ्क्रियः।।१४।।

जाग्रद्दशायां सङ्घातेन सह स्फुरणात् "**को अयम् आत्मा**" (ऐतरेयोप.५।१) इति यद्यपि विशेषतो न ज्ञायते तथापि सुषुप्तौ केवलः आत्मा सङ्घातव्यतिरिक्तो भासते इति तद् निरूपयति **भूतानि** स्थूलानि, **सूक्ष्माणि** च तन्मात्रारूपाणि, **इन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च.** 'आदि'शब्देन अहङ्कारः. स्वप्नरहितनिद्रया एतेषाम् आभासाः दूरीक्रियन्ते, तदा[२] एते न प्रकाशन्ते. आभासलयएव एषां लयः. तदा आभासप्रकाशरहिते, **असति** मूढे देहे, **यः तत्र**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यादि. **न अन्यथा.** आधारशुद्धिं विना न।।१२।।

भूतेत्यत्र. **लीनेषु** इति मूलेन उक्तस्य भूतादिलयस्य स्वरूपम् आहुः **आभासे**त्यादि. तथाच 'लीन'पदं गौण्या लीनतुल्यत्व-बोधकम् इति अर्थः ।।१४।।

१.'लक्ष्यते तेन' इति मां४. २. तदैव. क. घ. ङ.

प्रकाशते सः 'आत्मा' ज्ञातव्यः इति मन्तव्यम्[1]. ननु तत्र न कोऽपि भासते इति चेत् तत्र आह **तत्र विनिद्रः** इति. तस्यतु निद्राव्याप्तिः न अस्ति. ननु 'अहं' प्रत्ययवेद्यः आत्मा, सः चेद् विनिद्रः स्याद् 'अहम्' इति जानीयात्? तत्र आह **निरहङ्क्रियः** इति. 'अहम्' इति प्रत्ययो अहङ्कारसम्बन्धे भवति, तस्य च लीनत्वाद् निद्रायां 'न अहम्' इति मन्यते।।१४।।

ननु तर्हि आत्मा न भासते इति[2] चेत् तत्र आह **मन्यमानः** इति.

मन्यमानस्तदात्मानम् अनष्टो नष्टवद् मृषा ।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः ।।१५।।

तदा आत्मानम् अनष्टमपि नष्टं मन्यमानो भवति. यस्तु मन्यते, सः आत्मा. नष्टत्वेन यद् मन्यते, अतो न प्रकटप्रकाशः, अन्यथा नष्टं को वा मन्येत! स्वप्ने शिरः छिन्नं[3], को वा शिरः छेदं पश्येत्. अतः कश्चिद् अस्ति द्रष्टा, यः आत्मानम् अनष्टमपि नष्टं मन्यते ''न अहम् अस्मि'' इति. अनष्टस्य नष्टप्रतीतौ उपपत्तिदृष्टान्तौ आह **नष्टे अहङ्करणे** इति. सतु अहङ्कारसंवलितः, अहङ्कारे नष्टे, तदभेदप्रतीतिदार्ढ्याद् आत्मानमेव नष्टं मन्यते, [4]अहङ्काराध्यस्तस्यैव दृश्यत्वात्. केवलस्तु द्रष्टा. अतः आत्मानं दृश्यरूपम् अहङ्कारसहितं नष्टं मन्यतएव इति युक्तम्. अन्यनाशे अन्यनाशप्रतीतिम् आह **नष्टवित्तः** इति. धनात्मा अयं पुरुषो लौकिकः, धने नष्टे तद् व्यतिरेकेण स्वनिर्वाहाभावाद् आत्मानमेव नष्टं मन्यते. **आतुरो** रोगी. स वा यथा देहे नष्टे आत्मानमेव नष्टं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मन्यमानः इत्यस्य आभासे. **तत्र** आह इति. निद्रायामेव प्रतीत्यन्तरं प्रमाणत्वेन आह इति अर्थः. विवृतौ. **न अहम् अस्मि** इति. अत्र इदं बीजम्. निद्रायां परस्पर्शाद्यज्ञानाद् न देहाध्यासः. पश्यामि, सङ्कल्पयामि, जानामि, श्वसिमि इत्याद्यनुव्यवसायाभावदशायाम् इन्द्रियाद्यध्यासोऽपि न शक्यवचनः. अतः परम् अहङ्काराध्यासो अवशिष्यते. 'न अहम् अस्मि' इति प्रतीतौ सोऽपि चेद् विषयत्वेन प्रतीतः तदा केवलो द्रष्टैव अवशिष्टः इति सएव आत्मा इति. चित्तन्तु न अध्यासं जनयति, स्वच्छाविकारि-शान्त-वृत्तिकत्वात्. तस्माद् इयं प्रतीतिः स्वाप्यपि

१.अवगन्तव्यम्. घ.मां.४. १.इवेति क. एवेति. घ.मां.४ २.शिरश्छिन्ने. क. ग. च. ३.नाहङ्कारा. क. घ. ङ.

मन्यते. आतुरो वा भवति वित्ते नष्टे।।१५।।

एवम् आत्मानं निरूप्य उपसंहरति **एवम्** इति.

एवं प्रत्यवमृश्यासौ आत्मानं प्रतिपद्यते ।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानम् अनुग्रहः।।१६।।

पूर्वोक्तप्रकारेण **आत्मानं प्रत्यवमृश्य, असा**वेव आत्मा **आत्मानं प्रतिपद्यते.** ननु अहङ्कारनाशोऽपि न प्रतीयते; स्मरणे साहङ्कारस्य स्मरणात्, ''सुखम् अहम् अस्वाप्सम्'' इति. न अहङ्कारनाशः इति चेत् तत्र आह **साहङ्कारस्य** इति. अहङ्कारसहितस्य [१]आत्मनो **द्रव्यस्य, अवस्थानं** पश्चात् स्मरणम् **अनुग्रहो** भवति. पश्चाद् अहङ्कारः सम्बद्धः. यथा ''सो अयं देवदत्तः कुण्डली'' इति पूर्वं कुण्डलाप्रतीतावपि प्रतीयते. यो अनुग्रहः तदवस्थानम् इति सम्बन्धः. अनुग्रहस्य प्रसिद्धिः प्रकृतोपयोगिनी।।१६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

परिशेषाद् आत्मानुमापिका इति दिक् ।।१५।।

एवम् इत्यत्र. **अवस्थानम्** इति. पश्चात् सम्बन्धः इति अर्थः. **अनुग्रहस्य** इत्यादि. अयम् अर्थः. पूर्वं हि सुषुप्तौ आत्मभानाभावः आशङ्कितः, तन्निरासाय '' 'सुखम् अहम् अस्वाप्सं, न किञ्चिद् अवेदिषम्' इति स्मरणं स्वसमानाकारानुभव-जन्यं, स्मरणत्वाद्, यद् एवं तद् एवं, यद् न एवं तद् न एवम्'' इति अनुमानेन सुषुप्तौ भानाभावादिविषयकभानसाधने तद्दृष्टत्वेन आत्मसिद्धौ साहङ्कारस्य स्मरणात् तादृशस्यैव सुषुप्तौ सिद्धिः, नतु केवलस्य इति केवलनिश्चयार्थं पश्चाद् अहङ्कारानुग्रहः इति ज्ञानम् आवश्यकम्. तच्च, ''प्रस्तुतस्मरणं विशेषानुग्रहजन्यं, सविशेषप्रत्ययत्वाद्, यद् एवं तद् एवं, 'सो अयं देवदत्तः कुण्डली' इति प्रत्ययवद्, यद् न एवं तद् न एवं, 'सो अयं देवदत्तः' इति प्रत्ययवद्'' इति अनुमानेन सिद्ध्यति, सविशेषप्रत्ययत्वन्तु तदानीम् अहङ्कारानुभवादेव सिद्धमिति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. एवं सति 'सो अयं देवदत्तः कुण्डली' इति अनुभवे यथा प्रत्यभिज्ञायाः चक्षुःसहकारित्वम्, एवं ''सुखम् अहम् अस्वाप्सं, न किञ्चिद् अवेदिषम्'' इति स्मरणेऽपि अनुभवस्य मनःसहकारित्वं ज्ञेयम् इति हृदयम्. एवञ्च निर्बाधः केवलत्वनिश्चयः. इतएव च प्रकृतोपयोगित्वम् इति दिक् ।।१६।।

---

१. ''द्रव्यस्य आत्मनो'' इति मां४.

एवम् आत्मज्ञानं मोक्षार्थम् उपदिष्टम्. तत् प्रकृते न उपयुज्यते. प्रकृतिसम्बन्धो हि संसारे हेतुः. साङ्ख्ये प्रकृतिः नित्या, पुरुषोऽपि नित्यः सम्बन्धश्च. तत्र ज्ञानं किं करिष्यति? नहि ज्ञानेन प्रकृतिः *सम्बन्धो वा नाशयितुं शक्यते. अतो ज्ञानं कर्मवद् अभ्युदयहेतुरेव, न मोक्षहेतुः इति आशङ्कते **पुरुषम्** इति चतुर्भिः.

देवहूतिः उवाच

पुरुषं प्रकृतिर् ब्रह्मन्! न विमुञ्चति कर्हिचित्।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वाद् अनयोः प्रभो! ।।१७।।

प्रकृति–पुरुषयोः नित्यः सम्बन्धः नाऽपि कश्चित् प्रकृतिपुरुषविशेषो अनित्यो भवति; नापि प्रकृतिसम्बन्धः कश्चिद् अबाधकः. अथ ज्ञानेन प्रकृतेः बाधकत्वम् अपोद्यते इति मतम्. तदपि त्रिक्षणावस्थायित्वाद् ज्ञानस्य, तस्मिन् निवृत्ते पुनः प्रकृतिः बाधिष्यते इति मोक्षमार्गो असङ्गतः. स्वेच्छया पुरुष–प्रकृत्योः सम्बन्धः. तत्र प्रथमं सम्बन्धे पुरुषो हेतुः, कामो निमित्तं; तत्र पुरुषः काममयएवेति स्वयं प्रकृतिं न मुञ्चति. प्रकृतिरेव कदाचित् पुरुषं परित्यज्य गच्छेत् चेत् तदा मुक्तिः भवेद् इति आशङ्क्य आह **पुरुषं प्रकृतिः** कदाचिदपि **न विमुञ्चति** इति. **ब्रह्मन्!** इति सम्बोधनं प्रकृति–पुरुषयोः स्वरूपपरिज्ञानार्थम्, उभयोः उभयापेक्षत्वात्. किञ्च, अन्येनाऽपि उभयोः विश्लेषः कर्तुं न शक्यते, अन्योन्यापाश्रयत्वात्. यदि उभौ स्वभावतो भिन्नौ मिलितौ स्यातां तदा विश्लेषः कर्तुं शक्येतापि. तौतु परस्परं मिलितौ सन्तौ सम्बद्धौ; यथा पट्ट–कार्पासाभ्याम् एकः तन्तुः उत्पाद्यते, तेन निर्मिते पटे तन्तुद्वयविश्लेषेऽपि न पट्ट–कार्पासयोः विश्लेषः. तथा प्रकृतौ प्रविष्टः पुरुषः प्रकृतिरूपो जातः 'प्रकृतिः' इति उच्यते. पुरुषेऽपि प्रकृतिः प्रविष्टा पुरुषरूपा जाता 'पुरुषः' इति उच्यते. एतादृशयोश्च सम्बन्धः. सः कथं त्याजयितुं शक्यते इति अर्थः. नाऽपि एकस्य नाशे विश्लेषः सम्भवति, उभयोः नित्यत्वात्. **प्रभो!** इति सम्बोधनम् अघटमान–घटनासमर्थो भवान् इति बोधयितुम्।।१७।।

नापि कञ्चित् पुरुषं काचित् प्रकृतिः त्यक्ष्यति+ इति शङ्कनीयम् इति आह **यथा गन्धस्य** इति.

---

*प्रकृतेः क. ग. ङ. +'त्यजति' क. घ. ङ.मां४.

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः ।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च ।।१८।।

भूमेः गन्धः स्वाभाविको गुणः, सः कदाचिदपि भूमिं न त्यजति, आश्रयपरित्यागे स्वरूपनाशप्रसङ्गात्. तद् आह **व्यतिरेकतो न भावः** इति. नहि भूमिव्यतिरेके गन्धः कस्यचिद् गुणः, यो अन्यत्र तिष्ठेत्. गन्धस्य चन्दनादौ कदाचिद् गुप्तत्वेन व्यतिरेकश्चेत् शङ्केत, तदा दृष्टान्तान्तरम् उच्यते **अपां रसस्य च** इति. न कदाचिदपि जले रसो अनभिव्यक्तोऽपि भवति, अपाकजत्वेन नियतसम्बद्धत्वात्. तथैव बुद्धेः परस्याऽपि. प्रकृतिसम्बन्धो दूरे, प्राकृती या बुद्धिः तस्याअपि सम्बन्धः सहजः इति अर्थः।।१८।।

नच सम्बन्धे सत्यपि मोक्षो भविष्यति इति मन्तव्यम् इति आह **अकर्तुः** इति.

अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः ।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ।।१९।।

अयम् आत्मा स्वभावतो अकर्ता, प्रकृतिसम्बन्धादेव कर्तृत्वम्. कर्तुः कर्माणि अनन्तानि. तेषां च फलभोगेन विनाशे पुनः तद्धेतुना कर्मान्तराणीति न कदाचिदपि मोक्षः. तद् आह **अकर्तुः** आत्मनो अयं संसारलक्षणः **कर्मबन्धः** प्रकृत्याश्रयः. तस्याश्च **प्रकृतेः गुणेषु सत्सु कथं कैवल्यम्.** नच बन्धकाः गुणाः अन्ये, मोचकाश्च अन्ये इति मोचकसम्बन्धे मुक्तिः स्याद् इति चेत्, तत्र आह **तेषु** इति. यएव बन्धकाः तेष्वेव सत्सु कथं मुक्तिः इति अर्थः।।१९।।

नच तत्त्वज्ञानेन प्रकृतिबाधकत्वं दूरीक्रियते* इति मन्तव्यम् इति आह **क्वचिद्** इति.

क्वचित् तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयम् उल्बणम् ।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात् पुनः प्रत्यवतिष्ठते ।।२०।।

क्वचित् पुरुषविशेषे, अवस्थाविशेषे वा, उत्पन्नं ज्ञानं संसारभयं निवर्तयति. तदपि न सङ्गच्छते. भयहेतोः प्रकृतिसम्बन्धस्य अनिवृत्तत्वात् पुनः भयं प्रत्यवतिष्ठतएव. **उल्बणम्** असह्यम्।।२०।।

---

* दूरीकृतम्. क. ङ.

ज्ञानस्य क्षणिकत्वेऽपि सम्बन्धस्य नित्यत्वेऽपि, प्रकृतेरपि नित्यत्वे, तथा कानिचित् साधनानि सन्ति. यैः कृत्वा प्रकृतिः तिरोभावं प्राप्नोति सम्बन्धश्च पुनः न उद्गतो भवति. तानि साधनानि आह **अनिमित्ते**ति द्वाभ्याम्.

श्रीभगवान् उवाच

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ।।२१।।

अनिमित्तेन निष्कामेन, **निमित्तेन** कर्मणा. सर्वत्र कर्मैवं[1] निमित्तम् इति 'निमित्त'पदप्रयोगः. **स्वधर्मः** वर्णाश्रमधर्मः, निर्मलान्तःकरणञ्च साधनम्. उभाभ्यां वा निर्मलान्तःकरणत्वम्. एतानि ज्ञानोत्तरं पुनः कर्तव्यानि. अन्तःकरणस्य च नैर्मल्यं तारतम्येन. भगवतो भक्तिश्च तीव्रा निरन्तरं सर्वभावेन प्रवृत्ता स्नेहपूर्विका सेवा. स्नेहपूर्वकश्रवणादिकं वा. **च**कारात् गुरुभक्त्या. साऽपि भक्तिः निरन्तरसाधनेन पुष्टा कर्तव्या इति आह **श्रुतसम्भृतया** इति. चिरकालं भगवद्गुणश्रवणेन सम्यग् भृता पूर्णा, हृदये आपूरिता वा।।२१।।

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ।।२२।।

ज्ञानेन इति. सर्वतत्त्वसाक्षात्कारेण साङ्ख्यानुभवेन यद् जनितं ज्ञानं, तत् पुनः आवर्त्तनीयं साधनानुवृत्या. **बलीयसा वैराग्येण,** विषयैः कदाचिदपि रागजननात्यन्ताभावयुक्तेन. **तपसा** संयुक्तेन **योगेन** च अष्टाङ्गेन. आत्माविर्भावसमर्थेन **समाधिना**. एवं दश साधनानि उत्तरोत्तरं सञ्जातानि, मिलितानि वा पुरुषस्य सम्बधिनीं प्रकृतिम् अन्वहं दहन्ति इति।।२२।।

तथा सति यत् स्यात् तद् आह **प्रकृतिः** इति.

प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैर् अग्नेर्योनिरिवाऽरणिः।।२३।।

अन्वहं **दह्यमाना, अहर्निशं** वा **दह्यमाना,** शनैः तिरोभवित्री. ननु एतानि साधनानि प्राकृतान्येव, कथं तैः प्रकृतिः नश्यति, प्रत्युत पुष्टैव भवेद्! इति आशङ्क्य तथात्वे दृष्टान्तम् आह **अग्नेः योनिः** इति. यद्यपि अरणेः सकाशादेव

---

१. 'कर्मैव' इति मां४.

अग्निः उत्पद्यते, तथापि सः तां नाशयत्येव, नतु वर्द्धयति. तथा एतानि साधनानि. नतु काष्ठादिनिर्मितं पीठादिकं यथा काष्ठपोषकं तथा अग्निः भवति. तस्माद् लौकिकान्येव कर्मादीनि प्रकृतिपोषकाणि नतु एतानि इति भावः।।२३।।

तस्याः पुनः उद्गमशङ्कां वारयति **भुक्तभोगे**ति.

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याऽशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ।।२४।।

अभुक्ता चेद् वासनया हृदयं प्रविष्टा कदाचिद् न निवर्तेतापि, भुक्तभोगातु निवृत्तैव भवेत्. तत्रापि अलम्बुध्या परित्यक्ता. तत्रापि दृष्टदोषा. यथा अमेध्यत्वेन परित्यक्तम् अन्नादिकं न रागं जनयति. कदाचिद् दोषे स्फुरितेऽपि रागश्चेद् अन्तःस्थो न निवर्तेत; कदाचित् तस्याः दोषो न स्फुरत्यपि. तद् व्यावृत्यर्थम् आह **नित्यशः** इति. सर्वदा दृष्टदोषा. तथात्वे तस्यां रागाभावो हेतुः. किञ्च, यथा गृहस्थस्य भार्या गृहस्थं बाधते, न तथा ईश्वरं शतशोऽपि भार्या बाधितुं शक्नुवन्ति; तथा इयं प्रकृतिरपि दासभूतमेव जीवं बाधते, नतु ईश्वरभूतम्. ऐश्वर्यं च भगवत्कृपया [१]तद्धर्मप्राप्त्या भवति. तद् आह **न ईश्वरस्य अशुभं धत्ते** इति. किञ्च, स्वे महिम्नि स्थितस्य च अशुभं न धत्ते. यस्तु स्वानन्दएव रमते, तं प्रकृतिः न बाधते, प्रकृत्यपेक्षाभावात्. यथा सर्वतो विरक्तं भार्या बाधितुं न शक्नोति, नाऽपि आत्मारामम् इति 'च'शब्दार्थः।।२४।।

किञ्च,

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थकृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ।।२५।।

इयं प्रकृतिः निद्रावत् पुरुषस्य बाधिका. तथा सति यथा निद्रा स्वप्नं जनयित्वा पुरुषं बाधते, तथा इयमपि संसारं जनयित्वा बाधते. सोऽपि स्वप्नो भगवन्मायाजनितसर्वप्रपञ्चात्मकः, भगवदिच्छया विद्यमानोऽपि **अप्रतिबुद्धस्यैव बह्वनर्थकृद्** भवति, नतु प्रतिबुद्धस्य कस्यचिदपि कदाचिदपि कस्मिन्नपि देशे. निश्चयेन मोहाय न कल्पते किन्तु स्मृतिमात्रं जनयति।।२५।।

एवमेव विदिततत्त्वस्याऽपि पुरुषस्य प्रकृतिः संसारजननेन न अपकारं कर्तुं शक्नोति इति आह **एवम्** इति.

---

१. प्राप्तौ. ग.

एवं विदित-तत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम् ।
युञ्जतो नाऽपकुरुते आत्मारामस्य कर्हिचित् ॥२६॥

विदिततत्त्वस्य इति. स्वभावतो मोहकत्वाभावे हेतुः. **मयि** भगवति **मानसं युञ्जतः** इति. बलाद् अदृष्टादिद्वाराऽपि अपकाराभावे हेतुः. कामादि-जननद्वाराऽपि न अपकर्तृत्वम् इति आह **आत्मारामस्य** इति. आत्मन्येव रमणं यस्य. अतएव प्रकारत्रयेणाऽपि बाधाभावात् **कर्हिचिद्** इति उक्तम् ॥२६॥

एवं प्रकृतेः बाधकत्वाभावम् उक्त्वा, विदित-तत्त्वस्य प्रकृति-बाधाभावानन्तरं[१] साधनपूर्वकं भगवत्प्राप्तिलक्षणं मोक्षम् आह चतुर्भिः **यदैवम्** इत्यादिभिः.

साधनं च फलञ्चैव फलत्वं चाऽपि तस्य च ।
प्रतिबन्ध-निवृत्यैव तत्प्राप्तिर्बाधनाशतः ॥१॥
एतत् चतुष्टयं प्राह चतुर्भिर्नाऽन्यथा फलम् ।
तादृशस्यापि हि भवेद् इति ज्ञानोत्तरक्रिया ॥२॥

प्रथमं साधनानि आह **यदा एवम्** इति.

यदैवम् अध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनाद् मुनिः ॥२७॥

पूर्वं यावन्ति साधनानि निरूपितानि ज्ञानार्थं प्रकृतिजयार्थञ्च; तानि उभयविधान्यपि बहुजन्मसु आवृत्तानि सन्ति[२]. **अध्यात्मे** आत्मज्ञाने रतिः उत्पद्यते. ज्ञानन्तु बहुधा जायते, प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वाद् ज्ञानस्य. रतिस्तु कदाचिदेव जायते, तस्याः कालनियमाभावाद् **यदा एवम्** इति उक्तम्. एवम् आकाङ्क्षा-युक्तो बहुजन्मना कालेन अध्यात्मरतो भवेत्, तदैव सर्वत्र जातवैराग्यो भवेत्. ततोऽपि वा बहुजन्मना सर्वत्र वैराग्यम्. क्रममुक्तावपि वैराग्यम् इति आह **आब्रह्मभुवनाद्** इति. तत्रापि निरन्तरं मननं साधनं, बहिःपदार्थनिवृत्तेः आवश्यकत्वात् ॥२७॥

मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यदैवम् इत्यत्र. **अध्यात्मे**त्यादि. इतः पूर्वम् **अथ** इति अध्याहार्यम् ॥२७॥

---

*प्रकृतिबाधानन्तरम्. ग. घ. २.'भवन्ति' इति मां४.

निःश्रेयसं स्वसंस्थानं 'कैवल्या'ख्यं मदाश्रयम् ।।२८।।
प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशा छिन्नसंशयः ।
यद् गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद् विनिर्गमे ।।२९।।

मद्भक्तः इति. एवं बहुजन्मनि जाते **मद्भक्तो** भवति. पश्चात् **प्रतिबुद्धार्थो** भवति. तावत् कः पुरुषार्थः इत्येव न जानाति, यावद् भगवति भक्तिः न भवति. तदा भगवानेव परमपुरुषार्थः इति ज्ञाने महान् भगवत्प्रसादो भवति. तदा वैकुण्ठं प्राप्नोति. तदेव हि नितरां श्रेयोरूपं, **स्वस्य** भगवतो जीवस्याऽपि सम्यक् स्थानभूतम्. तत्रैव हि पुरुषः केवलो भवति, सर्वस्य आत्मत्वात्, प्रतीतत्वाच्च. तदेव हि मम स्थानम्. यस्तु मम स्थानं प्राप्नोति सो अहमेव भवति. **अञ्जसा** अनायासेन. **इहै**व शरीरे, नतु ब्रह्माण्डभेदाद्यपेक्षा. ननु वैकुण्ठस्य भगवतो वा परमपुरुषार्थत्वं शास्त्रान्तरैः युक्त्या च विरुद्धं भाति इति बहुविधोऽपि सन्देहः स्वयं यदा तत्र पश्यति तदा निवर्तते इति **स्वदृष्ट्या छिन्नसंशयो** भवति. तस्य शास्त्रार्थत्वाय श्रुति-सूत्राभ्यां निरूपितशास्त्रपर्यवसानम् आह **यद् गत्वा न निवर्तेत** इति. नच पुनः आवर्तते "**अनावृत्तिः शब्दाद्**" (ब्रह्मसू.४।४।२२) इति. तत्रैव परिसमाप्तिः त्रय्याः शास्त्रस्य च. यद् मत्स्थानं गत्वा मदीयो न निवर्ततएव. [१]**योगी** च **लिङ्गाद् विनिर्गमे** सति, लिङ्गभङ्गे वा न निवर्तते।।२८, २९।।

अन्तिमजन्मनि योगिनो विघ्नाः सम्भवन्ति "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" इति स्मृतेः. तैः विघ्नैश्चेद् न अभिभूयते तदा कालम् अतिक्रम्य तत्र गच्छति इति आह **यदा** इति.

यदा न योगोपचितासु चेतो मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग! ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद् आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ।।३०।।

योगेन **उपचितासु** निकटे समानीतासु, **मायासु** अणिमादिषु, सिद्धस्य चेतो यदा न विषज्जते. **अनन्यहेतुषु** इति. न विद्यते स्वव्यतिरिक्तो हेतुः यत्र. अनेन आयासाभावः उक्तः. तदैव **मे गतिः स्याद्** वैकुण्ठाख्या. फलान्तरेण सम्बद्धभुक्त-ब्राह्मणइव मुख्ये फले न युज्यते. आगतास्वपि सिद्धिषु चित्तं चेद् न युज्यते, **अथ** तदनन्तरमेव, भगवत्प्राप्तिः भवति. यद्यपि भगवतो बहुविधा गतिः

१. योग. ख. च.

भवति सगुणाऽपि तथापि इयम् **आत्यन्तिकी.** यत्र च फले मृत्योः गर्वो न भवति. मृत्युर्हि सर्वप्रकारेण फल-साधन-प्रमेय-प्रमाणैः भ्रामयित्वा स्ववशे नयति. तस्य यदि सर्वोऽपि प्रयासो व्यर्थो भवति तदा गर्वो गच्छति. *तत्र यदा मृत्योः हासो गर्वो न अस्ति इति. अतएव अत्र भ्रमो न कर्तव्यः. यस्मिन्नेव शास्त्रे मते वा, साधनेषु वा, कदाचिदपि प्राणी म्रियते, तदेव असच्छास्त्रं साधनञ्च एतदेव निदर्शनम् इति भावः।।३०।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे सप्तविंशाध्यायविवरणम्।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यदा न इत्यत्र. **सम्बद्धभुक्तब्राह्मणः** इति. पूर्वं सम्बद्धः, पश्चाद् भुक्तो ब्राह्मणो यस्मिन् सः. तथा अत्र यथा सम्बन्धिनि ब्राह्मणे भोजिते मुख्यं भोजनफलं न भवति, किन्तु फलान्तरेण संयुज्यते तथा इति अर्थः ।।३०।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे सप्तविंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

---

*तदा यत्र. ख. ग. घ. ङ. च. मां४.

।। अष्टाविंशाध्यायविवरणम् ।।

चित्तञ्चेद् भगवत्स्पृष्टं भक्ति–ज्ञान–विरक्तिभिः ।
तदा शुद्धं स्वसम्बन्धि–पुरुषं गमयेत् फलम् ।।१।।
योगेनाऽपि भवेत् शुद्धम् इति योगो निरूप्यते ।
अष्टाविंशे ध्यानयुक्तः सर्वसाधनसंयुतः ।।२।।
यत्रैव भगवद्वेशः तत् प्रमाणादिकं भवेत् ।
स्वतः शुद्धो हरेर्नाऽन्यः स्वाध्याय इव सर्वथा ।।३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ अष्टाविंशाध्यायविवरणं चिकीर्षवः शुकवाक्ये मैत्रेयवाक्ये च अवसरस्य पूर्वम् उक्तत्वात्. कापिलेयस्यैव सङ्गतिं वदन्तो द्वाभ्याम् अध्यायार्थम् आहुः **चित्तम्** इत्यादि. तलवकारश्रुतौ ''**मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं वाशुद्धमेव च, अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्**''(ब्रह्मबिन्दूप.१) इति शुद्धस्य मनसो निष्कामत्वं लक्षणम् उक्तम्. चित्तं निश्चयात्मकम्. तथाच, भक्त्यादिभिः त्रिभिः यदि भगवान् प्रसीदति तदा तत् स्पृशति इति भगवत्स्पृष्टं कामरहितं सत् शुद्धं भवति. तत् शुद्धं चित्तं कर्तृ स्वसम्बन्धिपुरुषं फलं गमयेत्. एतदर्थं पूर्वाध्यायत्रये भक्त्यादीनि साधनानि उक्तानि. यथा तैः चित्तं शुद्धं भवति तथा योगेनापि शुद्धं भवेद् इति हेतोः साङ्गो योगो अष्टाविंशे निरूप्यते. ननु त्रयाणां कार्यं कथम् एकेन? इत्यतः आहुः **ध्यानयुक्तः** इति. ध्यानेन भगवत्सम्बन्धः सोऽपि तथा शुद्धं करोति इति अर्थः. तेन एककार्यत्वं चतुर्णाम् अध्यायानां सङ्गतिः इति अर्थः. ननु भवतु एवं, तथापि शास्त्रे मैत्रेयोक्तौ च यो अवसरः सः कथम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **यत्रैव** इत्यादि. **वेशः** आवेशः. यत्रैव वस्तुनि भगवदावेशः तदेव प्रमाणरूपं, प्रमेयरूपं, प्रकृतसाधनरूपं, प्रकृष्टफलरूपञ्च भवेत्. तत्र हेतुः **स्वतः** इत्यादि. ''**अयम् आत्मा अपहतपाप्मा**'' (छान्दो.उप.८।१।५) इति छन्दोगश्रुतेः परमात्मनो हरेः अन्यः स्वतः शुद्धो न, इति हेतोः स्वाध्यायो वेदः सर्वथा सर्वैः प्रमाणादिप्रकारैः तत्सम्बन्धात् शुद्धः तथा. यथा वेदो भगवत्सम्बन्धात् शुद्धः, तथा योगोऽपि भगवदाविष्टत्वाद् भगवद्भोगसृष्टौ प्रमाणतया सर्वप्रकाशकत्वेन बुद्धिरूपः इति शास्त्रीयावसरसिद्धिः. सएव योगो अत्र इन्द्रियसंयमात्मकत्वात् स्वरूपव्यवस्थापकत्वाच्च मोक्षरूपः इति मैत्रेयोक्तावपि अवसरः इति अर्थः.

भक्ति-साङ्ख्य-ज्ञानानि निरूप्य योगं फलपर्यन्तं निरूपयति **योगस्य** इति.

श्रीभगवान् उवाच

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ।।१।।

योगाः बहुविधाः. सध्यानोऽपि द्विविधः : सबीजो निर्बीजश्च इति. सबीजोऽपि अनेकविधः नानाविधार्थध्यानविषयः[१]. तत्र भगवद्ध्यानएव चित्तं सन्मार्गे विशति, स्वदेवतायामेव[२] प्रसादात्. तद् आह **सबीजस्य योगस्य लक्षणं वक्ष्ये** इति. निर्बीजो योगो गीतायाम् उक्तः, "**यतो-यतो निःसरति**"(भाग. पुरा. ७।१५।३३) इत्यादिना. सबीजस्तु ध्येयसहितः. सुगमश्च अयं, यतः त्वं **नृपात्मजा.** येनैव विधिना मनः शीघ्रमेव प्रसन्नं सत् **सत्पथं याति.** प्रसादः तस्य स्वदेवताभिनिवेशात् तदैव सन्मार्गे गच्छति. सतः आत्मनो भगवतो वा मार्गः, वेदोक्तो वा।।१।।

तत्र पञ्चविंशतीसाधनानि आह. यम-नियमरूपाणि कृशराणि कृत्वा. सर्वतत्त्वानाम् अतिक्रमार्थे तावन्ति साधनानि. एकेन च साधनेन एकस्य तत्त्वस्य अतिक्रमो न भवति इति साधनान्तराण्यपि अतिदिश्यन्ते **स्वधर्माचरणम्** इति.

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम् ।
दैवाद् लब्धेन सन्तोष आत्मवित् चरणार्चनम् ।।२।।

स्वधर्माणां देहधर्माणां वर्णाश्रमाधिकारसिद्धानाम् **आचरणं** यथा**शक्त्या** कर्तव्यं, नतु शक्तावपि सङ्कोचः. शास्त्रमपि "यत् शक्नुयात् तत् कुर्याद्" इति. **विधर्मात् च निवर्तनं** द्वितीयं साधनम्. धर्मबाधो विधर्मः. यस्मिन् क्रियमाणे स्वस्य धर्मस्य बाधो भवति. सः यथाधिकारम् अवसेयः. यावद् देहो अयं तावद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

योगस्य इत्यत्र. **बहुविधाः** इति. सिद्ध्युपसिद्ध्यादि-साधकत्वेन फलतः, बीजादिभेदेन साधनतश्च अनेकविधाः ।।१।।

स्वधर्मेत्यत्र. **अप्यतिदिश्यन्ते** इति. एकतत्त्वातिक्रमेऽपि अतिदिश्यन्ते. **सः** इति. विधर्मः. अधिकारविभागं स्फुटीकुर्वन्ति **यावद्** इत्यादि. **देहो अयम्** इति.

१.पदार्थ. २.स्वदेवताया एव. घ.मां४

वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः. भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः, परधर्माः वा. यदा पुनः आत्मानं जीवं मन्यते, सङ्घातव्यतिरिक्तं, तदा दास्यं स्वधर्मः, अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः. यदा पुनः भगवद्भावं प्राप्ताः तदा अलौकिकधर्माएव ऋषभादिष्विव गोचर्यादयः स्वधर्माः, अन्ये परधर्माः इति. **च**कारात् परधर्मादयः चत्वारोऽपि सङ्गृहीताः. अयञ्च प्राप्तज्ञान इति स्वशक्त्या भगवत्प्रेरणया, स्वज्ञानेन[१] वा ज्ञानबाधाभावे शरीरशक्त्या वा, उभयात्मकस्वधर्मानुष्ठानं, नतु एकतरविरोधि. तृतीयं साधनं **दैवाद् लब्धेन सन्तोषः. दैवाद्** इति वचनाद् आवश्यकप्राप्तिः सूचिता. अलब्धे वा महाहिरिव अप्रयत्नोऽपि सन्तुष्येद् इति ज्ञातव्यम्. ''**अन्यैश्च**'' (भाग.पुरा.३।२८।७) इति अतिदेशात्[२]. **आत्मविदां चरणार्चनं** चरणपूजा, दास्यम् इति यावत्. आत्मवित्त्वं च तेषां ज्ञातव्यम् अक्षोभादिना।।२।।

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा ।
मितमेध्याशनं शश्वद् विविक्तक्षेम-सेवनम् ।।३।।

ग्राम्येति. **ग्राम्यधर्माः** लौकिकाः, इन्द्रियग्रामवन्तो वा ग्राम्याः. **च**कारात् स्वधर्माअपि ग्राम्यधर्माश्चेत् त्यक्तव्याः इति. **मोक्षधर्माः** अहिंसादयः, तेषु रतिः. **तथा** इति एतदपि ग्राम्यधर्मनिवृत्तिवत् साधनम्. परधर्मत्वेन अधर्मशङ्कायां तथा उक्तम्. **मितं** परिमितं **मेध्यं** पवित्रञ्च, **अशनं** भोजनं कर्तव्यम्. **शश्वद्** इति सर्वदा. ''मितमेध्यस्य अदनम्'' इति पाठे चर्ब्यमेव फलादिकं भक्षणीयम् इति उक्तं भवति. **विविक्तस्य** एकान्तस्य, **क्षेमस्य** भयरहितस्य, सेवनम्. तादृशे देशे तद्देशं शुद्धं कुर्वन् सेवमानएव तिष्ठेद् इति अर्थः।।३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विपर्ययाभ्यासदार्ढ्येन आत्मतया भातः. **चत्वारः** इति. परधर्माभास-धर्मोपधर्मच्छलधर्माः सप्तमस्कन्धोक्ताः. **शक्त्या** इत्यस्य तात्पर्यम् आहुः **अयञ्च** इत्यादि. **उभयात्मक-स्वधर्मानुष्ठानम्** इति. वर्णाश्रमधर्मात्मको ज्ञानात्मकश्च यः स्वधर्मः तदनुष्ठानम्. **कुर्याद्** इति शेषः. तथाच एवं ज्ञापनाय 'शक्त्या' इति पदम् उक्तम् इति अर्थः. **अन्यैश्च इति अतिदेशाद्** इति. ''**एतैरन्यैश्च पथिभिः**'' (भाग.पुरा.३।२८।७) इत्यनेन वक्ष्यमाणाद् अतिदेशात्।।२।।

१.स्वाज्ञानेन वा. ग. २.अनिर्देशात् क. घ. ङ.

अहिंसा सत्यम् अस्तेयं यावदर्थ–परिग्रहः ।

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥४॥

अहिंसा इति. **अहिंसा** सर्वप्राणिषु काय–वाङ्मनोभिः द्रोहाकरणम्. अयाचितेऽपि अल्पद्रोहः इति केचिद्; अतो न परिज्ञाते स्थातव्यम् इति. **सत्यं** यथार्थभाषणम्. **अस्तेयं** परस्वग्रहणाभावः. यावान् अर्थो योगं साधयति तावतएव परिग्रहः. **ब्रह्मचर्यम्** अष्टाङ्गम्. **तपः** कृच्छ्रादि. **शौचम्** अन्तःबहिः शुद्धिहेतूनां करणम्. **स्वाध्यायो** वेदाध्ययनम्. **पुरुषार्चनं** भगवत्पूजा॥४॥

मौनं सदासनजयः स्थैर्यं प्राणजयः शनैः ।

प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयाद् मनसा हृदि ॥५॥

मौनं जनैः सह सम्भाषणाभावः, वृथा आलापपरिवर्जनञ्च. **सदा** [१]**आसनस्य** अभितो जयः कर्तव्यः, यथा कदाचिदपि चित्तं परवशं न भवति. स्थैर्यम् एकनिष्ठा, चाञ्चल्याभावः. **शनैः प्राणजयः** प्राणायामादिना. **इन्द्रियाणां** च विषयेभ्यो व्यावर्तनं, बलात् प्रत्याहारः. जयाश्च **च**कारात्. **विषयाद्** मोहकात्. मनसा सह इन्द्रियाणाम्. मनो वा करणं प्रत्याहारे. आहृतानां हृदये स्थापनम्. एतद् एकम् ॥५॥

धिष्ण्यानाम् एकदेशेन मनसा प्राणधारणम् ।

वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथात्मनः॥६॥

धिष्ण्यानां स्थानानां मूलाधारादीनाम् **एकदेशेन** सर्वधिष्ण्येभ्यः प्राणान् आकृष्य क्वचिद् हृदयादिस्थाने, **एकदेशेन** मनसा प्राणानां धारणम्. इन्द्रियजयादिष्वपि मनसो योजनं, प्राणायामादिष्वपि[३]. एकदेशे वाः, सप्तम्यर्थे तृतीया. वैकुण्ठस्य भगवतो **लीलानाम् अभिध्यानम्.** सर्वावस्थासु वैयग्र्याभावो अन्तःकरणस्य समाधानम्. एतानि स्वसिद्धान्ते प्रोक्तानि साधनानि, अन्यानि च

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अहिंसा इत्यत्र. **अयाचितेऽपि अल्पद्रोहः** इति. अयाचितत्वेन प्रसिद्धौ अन्यं विहाय लोकैः अस्मै दाने क्रियमाणे तेषां वृत्तिभङ्गप्रयोजकतया अल्पद्रोहः इति अर्थः. तथा [२]सति 'अहिंसा'पदं यावद् अर्थावबोधकं तद् आहुः **अतः** इत्यादि ॥४॥

---

१. सदावितस्य. 'चित्तस्य' इति मां. २.तथात्रा. ३.इति क. घ. ङ.

मतान्तरसिद्धानि ।।६।।

एतैर् अन्यैश्च पथिभिर् मनो दुष्टम् असत्पथे ।
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर् जितप्राणो ह्यतन्द्रितः।।७।।

एतैः इति. सर्वैरेव **पथिभिः** मार्गैः, **असत्पथे** लौकिके मार्गे, **दुष्टं**[1] मनो **बुद्ध्या युञ्जीत.** असन्मार्गं त्याजयित्वा आत्मनि विवेकवत्या बुद्ध्या योजयेत्. न अत्र बलं विधेयम्, अन्यथा मनः कलुषितं स्यात्. अतः आह **शनकैः** इति. जिताः च प्राणाः इन्द्रियाणि च सदा मृग्यन्ते।।७।।

एवं खण्डशः कृतैः [2]साधनैः बहुजन्मसिद्धैः यदा मनः इन्द्रियाणि प्राणाः देहश्च सिद्धानि भवन्ति तदा फलपर्यवसायिनि योगे योजयेत्. तद् आह **शुचौ देशे** इति.

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन् स्वस्तिकम् आसीनः ऋजुकायः समभ्यसेत् ।।८।।

बहुधा आवर्तिताः पूर्वोक्ताएव यम-नियमाः जाताः. आसनम् उच्यते **शुचौ देशे** इति. गङ्गातीरादिदेशे केशकीटास्थ्यादिवर्जिते, **आसनं** चैलाजिन-कुशरूपं प्रतिष्ठाप्य, [3]अभ्यासेन **विजितासनो** भवेत्. सर्वाण्येव आसनानि तत्र शिक्षेत्. यदा भवेद् विजितासनः तदा तस्मिन् आसने **स्वस्तिकासनम् आसीनः**, **ऋजुकायो** भूत्वा, **सम्यग्** योगम् **अभ्यसेत्.** यावन्ति जीवजातानि तावन्त्येव आसनानि. तत्र स्वस्तिकं पद्मासनञ्च श्रेष्ठम्. तत्र स्वस्तिकासने स्थित्वा प्राणस्य आर्जवेन गत्यर्थम् **ऋजुकायो** भूत्वा प्राणायामम् अभ्यसेत्।।८।।

प्राणस्य शोधयेद् मार्गं पूर-कुम्भक-रेचकैः।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरम् अचञ्चलम् ।।९।।

तस्मिन्नेव अभ्यासे **प्राणस्य मार्गं शोधयेत्.** भौतिक्यो नाड्यो मलादिना आपूरिताः तिष्ठन्ति, ताः **पूरक-कुम्भक-रेचकैः** शोधयेत्. तत्र वायुं पूरयित्वा, संस्तभ्य, कुम्भकेन नाडीः शोषयित्वा, पक्वा विधाय, ततो मलं वायुञ्च रेचयेत्. एवं पुनः-पुनः पूरणादिना प्राणस्य मार्गं शोधयेत्. प्राणायामभेदैः वा कुम्भकादिभिः शोधयेत्. **प्रतिकूलेन वा** शोधयेद् रेचक-पूरक-कुम्भकैः. किं

१.जुष्टम् ग. च. २.'साधकैः' इति मां३. ३.'अभ्यसनेन' इति मां४.

बहुना, यथैव चित्तं चाञ्चल्यं परित्यज्य स्थिरं भवेत् तथा प्राणस्य मार्गं शोधयेत्. प्राणायामादिभिरेव[१] शोधनं, न प्रकारान्तरेण कर्तव्यम्. अविहितत्वाद् न तैः चित्तं शुद्धं भवति।।९।।

मनोऽचिरात् स्याद् विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।

वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ।।१०।।

एवं कृते **योगिनो मनो जितश्वासस्य विरजं** भवेद्[२] अचिरात्. ननु प्राणायामेन कथं मनसः शुद्धिः? तत्र दृष्टान्तेन[३] आह **वाय्वग्निभ्याम्** इति. यथा **लोहं** सुवर्णादिकं **वाय्वग्निभ्यां ध्मातं मलं त्यजति** तथा प्राणायामैः, तज्जनित-धर्मेण च दृष्टादृष्टोपायैः मनो मलं त्यजति।।१०।।

सर्वदोषाणां निवृत्तिप्रकारान् आह **प्राणायामैः** इति.

प्राणायामैर् दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान् ।

प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ।।११।।

दोषाः पापानि प्राणायामैः दूरीकर्तव्यानि, वातादिजनितदोषान् वा. **धारणाभिः** भगवन्मूर्तिचिन्तनैः, **किल्बिषान्** वासनासहित-महापातकादीन् **दहेत्. प्रत्याहारेण** इन्द्रियाणां संसर्गजनितान् दोषान् दहेत्. ध्यानेन पुनः **अनीश्वरान्** संसारित्वापादकान् अज्ञानादीन् दहेत्. तत्र ये संसारदशायां गुणाः ब्राह्मण-शरीरापादकान्यपि कर्माणि भगवद्ध्यानं दहति।।११।।

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।

काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकनः।।१२।।

एवं कृते **यदैव स्वं मनो विरजं** भवति, योगेन च सुष्ठु समाहितं भवति, तदा **भगवतः काष्ठां** वैकुण्ठं, हृदयं वा, हृदये वैकुण्ठं वा, स्वनासाऽग्रे निरीक्षणं यस्य तादृशो भूत्वा ध्यायेत्. अन्यथा दृष्टिः चञ्चला मनसो व्यासङ्गम् उत्पादयेद्, मीलिता निद्राम्।।१२।।

तत्र भगवन्तं ध्यायेद् इति वक्ष्यति. को भगवान्? इति आकाङ्क्षायां

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्राणस्य इत्यत्र. **प्रकारान्तरेण** इति. मूत्रपानादिना ।।९।।

---

१. 'प्राणायामेनैव' इति मां.४. २.भवत्यचिरात् ख. ग. च. ३.दष्टान्तमाह ग. च.

पुरुषोत्तमस्य एतद् रूपम् इति मनसा तद्रूपं परिकल्प्य, निरन्तरं चिन्तनीयम् इति तद्रूपं कल्पनार्थम् अनुवर्णयति **प्रसन्नवदनाम्भोजम्** इति षड्भिः, षड्गुणत्वाद् भगवतः.

प्रसन्न-वदनाम्भोजं पद्म-गर्भारुणेक्षणम्।
नीलोत्पल-दल-श्यामं शङ्ख-चक्र-गदाधरम्॥१३॥
लसत्-पङ्कज-किञ्जल्क-पीत-कौशेय-वाससम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत् कौस्तुभामुक्त-कन्धरम्॥१४॥

प्रसन्नं वदनाम्भोजं यस्य. **प्रसादो** वरदानार्थः. **अम्भोजत्वं** दृष्ट्यैव सन्तोषजननार्थं, मध्वर्थञ्च. पद्मस्य गर्भे स्थितपत्रवद् अरुणवर्णे ईक्षणे यस्य. तत्राऽपि प्रसादो दोषदूरीकरणं योगसिद्धिश्च सूचिता. नीलोत्पलानां दलवत् श्यामम्. सौन्दर्यशुद्धी, उग्रत्वाद्यभावः, शृङ्गार-रसरूपता[१] च सूचिता. **शङ्ख-चक्रगदाधरम्** इति अप्-तेजो-वायूनां शुद्धिदोषाभावार्थं शङ्खचक्रगदानां धारणम्.

लसन्ति पङ्कजकिञ्जल्कानीव प्रान्ते मुक्ताफलगुम्फितम् अन्ते आरक्तं परिधानयोग्यार्थं केसराकारेण कृतं यत् पीताम्बरम् तदपि कौशेयं पट्टप्रकृतिकं सर्वदैवत्यं वासो यस्य, भगवान् त्रिभुवनसारभूतः, तस्य छन्दोमयं गूढरसाच्छादकं, मुक्तान् रजोगुणं, सत्त्वभेदांश्च गृहीत्वा स्थितपीताम्बरयुक्तम्. श्रीवत्सं वक्षसि यस्य. यो ब्रह्मानन्दः सः हृदये प्रकाशते. भ्राजत् कौस्तुभेन आमुक्ता कन्धरा यस्य. मुक्तान् भक्तान् जीवान् अतिप्रियत्वेन[२] कण्ठस्थान् करोति॥१३-१४॥

मत्तद्विरेफ-कलया परीतं वनमालया।
परार्ध्यहार-वलय-किरीटाङ्गद-नूपुरम्॥१५॥
काञ्ची-गुणोल्लसत् श्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्द्धनम्॥१६॥

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रसन्नेत्यत्र. **सूचिता** इति. 'पद्मगर्भ'पदेनैव सूचिता. अग्रे पाठसन्देहाद् अर्थो न भाति (?) ॥१३॥

१.रुपरसता क. ख. ग. घ. च. २.अतिप्रयत्वेन क.

मत्ताः ये **द्विरेफाः** भ्रमराः, तेषां **कला** पङ्क्तिः यत्र, तादृश्या **वनमालया परीतं** व्याप्तम्. [१]षड्दर्शनीपारं गतैः निरन्तरं स्तुतया कीर्त्या व्याप्तम्. **पराध्यानि** अमूल्यानि **हार-वलय-किरीटाङ्गद-नूपुराणि** यस्य. पराध्यानि भगवतः सम्बन्धीनि पञ्च भवन्ति : भगवद्भक्ताः, भगवदर्थक्लेशः, भगवदीयं ज्ञानं, भक्तिः, गतिश्च इति.

काञ्चीगुणेन उल्लसन्ती श्रोणिः यस्य. पृथिव्यां स्त्री-धनाभ्यां सत्व-रजस्तमोगुणः संसारः सुप्रसिद्धो भवति. स्वस्य **हृदयाम्भोजमेव विष्टरं** स्थानं यस्य. अनेन सर्वप्राणिषु विद्यमानो भगवान् ध्येयः, नतु अधिष्ठानादिषु परिच्छिन्नः. **दर्शनीयतमम्** अतिसुन्दरं सर्वप्रापञ्चिकरसविस्मारकम्. **शान्तं** कामादि-सर्वदोषनाशकं[२] ज्ञानमयम्. मनो-नयनयोः वर्द्धनं यस्मात्. सकृत् चेद् भावयति मनः पश्यति वा, पुनः भावनामेव उत्पादयति, दिदृशाञ्च[३]. अनेन विषयबलादपि प्रत्याहारः साधितः. योग-ज्ञानयोश्च वृद्धिः।।१५-१६।।

अपीच्य-दर्शनं शश्वत् सर्वलोक-नमस्कृतम्।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रह-कातरम्।।१७।।
कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम्।
ध्यायेद् देवं समग्राङ्गं यावद् न च्यवते मनः।।१८।।

अपीच्यं सुन्दरं **दर्शनं** यस्य. स्त्रीणामपि स्वासक्त्या मोक्षदायी. दर्शनेनैव परमानन्दजनकञ्च. भगवदनुभवः आनन्दाविनाभूत इति च सूचितम्. **शश्वद्** इति. वयोवृद्धत्वादिना कदाचिदपि अन्यथा दर्शनं निवारितम्. **सर्वलोकनमस्कृतं** सर्वप्रमाणसिद्धम्, सर्वरूपञ्च[४]. **कैशोरे वयसि सन्तम्** इति. दशमवर्षम् आरभ्य षोडशवर्षपर्यन्तं किशोरावस्था. रसप्रादुर्भावः तावद् दूरे. अग्रे लावण्यस्य ह्रासः. अनेन देवोत्तमत्वम् उक्तम्. भृत्येषु अनुग्रहार्थं **कातरं** व्यग्रम्. फलदानावश्यकत्वं सूचितम्.

कीर्तनीयं तीर्थरूपं यशो यस्य. भगवान् अतिकृपालुः, यतः स्वस्य कीर्तिं कीर्तनीयां तीर्थरूपां च कृतवान्. लोके सन्ति तीर्थानि पापनिवर्तकानि, नतु तेषां सम्बन्धः आवश्यकः. उक्तिविशेषवाक्यानि कीर्तनीयानि भवन्ति. सर्वोऽपि

१.'षड्दर्शनीयतांगतैः' इति मां४. २. 'विनाशकम्' इति मां४. ३.'दिदृक्षाञ्च' इति मां४. ४.'सर्वफल...' इति मां४.

रसाविष्टः कीर्तयति. सर्वपापनाशकं सर्वफलदातृ चेद् नित्यसम्बद्धं[1] भवेत्, सर्वोऽपि कृतार्थः स्यात्, तादृशी च कीर्तिः. किञ्च, स्वकीयानामपि तादृशीं कीर्तिं सम्पादयति इति **पुण्यश्लोक–यशस्करम्** इति. पुण्याः श्लोकाः कीर्तिः येषां भक्तानां, तेषामपि स्वसमानतां सम्पादयति इति यशस्करः. ''**एवं विंशति–धर्मात्मा ध्येयो हरिः इहोदितः**''. एकविंशो हि पुरुषः, विंशत्यङ्गुलयः, आत्मैकविंशः इति. एते ध्येयाः धर्माः विंशतिः, स्वयं भगवान् एकविंशः. एवम् एतादृशं भगवन्तं निरूप्य तत्र कर्तव्यम् आह **ध्यायेद् देवम्** इति. एवं **समग्राङ्गं** सर्वावयवपूर्णं ध्यायेत्. यावद् मनः एकमपि अवयवं न त्यजति, सम्पूर्णमेव रूपं स्फुरति, तावदेव ध्यायेद् इति आह **यावद् न च्यवते मनः** इति. **यावत्** सम्पूर्णाद् अङ्गाद् **न च्यवते** न अपगच्छति. मनस्तु चञ्चलं न एकत्र स्थिरम् इति तथा उक्तम्, अन्यथा मुख्ययोगे सर्वदैव स्थिरं भवेत्।।१७–१८।।

अवस्थासु विकल्पम् आह **स्थितम्** इति.

स्थितं व्रजन्तम् आसीनं शयानं वा गुहाशयम् ।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेत् शुद्धभावेन चेतसा ।।१९।।

स्थितम् उत्थितं वा **ध्यायेद्, व्रजन्तं वा ; आसीनम्** उपविष्टं ; **शयानं वा**. चतुर्विधोऽपि **गुहाशय**एव स्वहृदयएव. सर्वतो विलोकनार्थम् उत्थितः, कार्यकरणार्थं चलति, पूजां गृह्णन् उपविशति, कृतकार्यश्च शेते. किञ्च, **प्रेक्षणीया ईहितो** भगवान् ध्येयः. प्रेक्षणीयम् ईहितं यस्य. चेष्टाऽपि भगवानिव प्रेक्षणीया. तेन भगवतः क्रीडा; बालैः गोभिः गोपालैः गोपिकाभिः अन्यैश्च नानाविधाः क्रीडाअपि ध्येयाः इति उक्तम्. तत्र क्रीडासु तत्तद्रागेण स्वकामादिनाऽपि ध्यानं सम्भवति इति तन्निवृत्यर्थम् आह **शुद्धभावेन चेतसा** इति. शुद्धो भावो यस्य चेतसः, सर्वकामनादिदोषरहितेन. एषा हि धारणा निरूपिता।।१९।।

एकैकावयवस्य रसं ज्ञातुं ध्यानं निरूपयति **तस्मिन् लब्धपदम्** इति.

तस्मिन् लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्याद् अङ्गे भगवतो मुनिः ।।२०।।

तस्मिन् सम्पूर्णे, **लब्धपदं**, तत्र स्थिरीभूतं **चित्तं** सर्वावयवेषु सुप्रतिष्ठितं

१.सत् क. घ. ङ

विलक्ष्य ज्ञात्वा, व्यतिरेकतया वा लक्षयित्वा, **भगवतः** किञ्चिद् न्यूनं ज्ञात्वा एकस्मिन्नेव अङ्गे संयुज्यात्. यतो अयं मुनिः युक्त्यैव पदार्थान् स्थिरीकृत्य ध्यायति अतो अत्रापि एकैकस्य अवयवस्य माहात्म्यं [1]ज्ञात्वाज्ञात्वा सर्वज्ञानं करिष्यति इति भावः. तद् एकम्-एकम् अङ्गं निरूपयति त्रयोदशभिः, मतान्तरत्वात् संवत्सरात्मकः सः इति।।२०।।

अतिक्रमस्य [2]वक्तव्यत्वात् तत्र प्रथमं चरणारविन्दं तद्गुणाविष्कारेण वर्णयति द्वाभ्यां : स्वतः कार्यतश्च माहात्म्यप्रतिपादनेन. तत्र प्रथमं स्वतो माहात्म्यम् आह **सञ्चिन्तयेद्** इति.

सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुश-ध्वज-सरोरुह-लाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्ग-रक्त-विलसद् नख-चक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहत-महद्-हृदयान्धकारम् ।।२१।।

भगवतः चरणारविन्दं सम्यक् चिन्तयेत्. सम्यक्त्वं दीर्घकालादर-नैरन्तर्यं, माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वञ्च. **चरणो** भक्तिप्रतिपादकः, **अरविन्दं** सर्वतापनाशकम्. **वज्राङ्कुश-ध्वज-सरोरुह-लाञ्छनाढ्यम्.** चिह्नचतुष्टयेन **आढ्यं** सम्पन्नम्. भक्तानां पाप-पर्वत-पक्ष-छेदनार्थं **वज्रः**; भक्तानां मनोगज-वशीकरणार्थम् **अङ्कुशम्,** अत्र स्थितानां सर्वभयनाशनज्ञापनार्थं **ध्वजः,** सुखसेवार्थं[3] च अम्बुजम्. एतानि **लाञ्छनानि** चिह्नानि चतुर्विधपुरुषार्थ-ज्ञापकानि. एतादृशानि अनन्तानि चिह्नानि सन्ति इति आढ्यता ज्ञापयति. अनेन भजनीयाः गुणाः उक्ताः, फलदातारः. दोषनिवर्त्तकान् आह **उत्तुङ्गे**ति. उत्तुङ्गानि रक्तानि यानि विलसन्ति नखानि, तेषां चक्रवालं मण्डलं; तस्य ज्योत्स्नाभिः आहतो महतां हृदयान्धकारो येन. बहिःस्थितेन प्रकाशेन न अन्तःस्थितो

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्मिन् इत्यत्र. त्रयोदशसङ्ख्यातात्पर्यम् आहुः **मतान्तरत्वाद्** इत्यादि. भक्तौतु भगवानेव फलभूतः इति समग्रएव ध्येयः, इहतु चित्तशोधनोपायभूतः कालात्मकः इति तथात्वज्ञापनाय तथा इति अर्थः ।।२०।।

सञ्चिन्तयेद् इत्यत्र. नखानां चन्द्रत्वं **'ज्योत्स्ना'**पदप्रयोगसूचितं बोध्यम् ।।२१।

---

१. 'ज्ञात्वा' इतिमां४. २.वक्तव्यत्वाच्च ख. च. ३.सेव्यार्थम् क. ख. ङ. च

अन्धकारो अपगच्छति. महतां च अहङ्काराधिक्यं तत्रत्यश्च अन्धकारः अवश्यं दूरीकर्तव्यः. सच न एकेन चन्द्रमसा भवति, सौरश्च प्रकाशः तापजनकः. तेन दशनखात्मकाः चन्द्राः दशावस्थासु सर्वदोषनिवारकाः. **उत्तुङ्गाः** ऊर्द्धतुङ्गाः, अतितुङ्गेऽपि अहङ्कारे विद्यमानम् अज्ञानं नाशयन्ति. **रक्ताः** तदर्थमेव उद्यन्तः, उद्यन्तश्च आरक्ताः भवन्ति, विलासयुक्तत्वात्. नियतमपि आवरणं दूरीकुर्वन्ति; यथा कामिन्यावरणं कामुकः, सएव विलासः, चन्द्राः भवन्ति; परं नखाः, न विद्यते खम् आकाशं येषाम्. एकएव चन्द्रः आकाशे भासते, एतेतु न आकाशसम्बन्धिनः. एतेषां चक्रम् आयुधवालम् अमृतपोषकं; नतु केवलम् अन्धकारमेव नाशयति. वम् अमृतम् अलं यत्र इति वा कलङ्करहितम्. **ज्योत्स्नाभिः** इति बहुवचनं नानाविधान्धकारनिवृत्त्यर्थम्. अनेन स्वतः आनन्दरूपता, अज्ञाननिवृत्त्या च आनन्ददायकत्वं निरूपितम्।।२१।।

एवं स्वरूपोत्कर्षम् उक्त्वा कार्यतः उत्कर्षम् आह **यच्छौचे**ति.

यच्छौच–निःसृत–सरित्–प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवो–ऽभूत्।
ध्यातुर्मनः–शमल–शैल–निसृष्ट–वज्रं
ध्यायेत् चिरं भगवतश्–चरणारविन्दम्।।२२।।

भगवतः चरणे पदार्थद्वयं परममाहात्म्यसूचकम् अस्ति : गङ्गा, भक्तिरसश्च इति. तत्र गङ्गायाः माहात्म्यं प्रायश्चित्तानधिकृतानपि सर्वपूज्यान् करोति. तद् आह ययोः चरणयोः शौचे प्रक्षालने सति निःसृतं, यद् जलं तत् [१]सरित्प्रवरा जाता. सरितां मध्ये गङ्गा श्रेष्ठा, तस्याः यद् उदकम् एकदेशः, तेनापि मूर्ध्नि निहितेन अधिकारवत् प्राप्तेन, **शिवः** परमकल्याणरूपोऽपि, **शिवो अभूत्.** यस्तु साधनेन सिद्धमेव स्वस्वरूपं प्राप्नोति सः आधिदैविकं प्राप्नोति इति अध्यवसीयते. अपहतपाप्मनएव एतत् सामर्थ्यम् आधिदैविकत्वप्रापणम्. यथा

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यच्छौचेत्यत्र. **ययोः चरणयोः** इति द्विवचनेन बलिकृतं चरणक्षालनं सूच्यते. तेन तद्यज्ञ-वाट-सम्बन्धि-नार्मद-जलेऽपि पावनत्वं सिध्यति, तेन दर्शनादेव नार्मदम् इत्यादीनां सङ्गतिः. अपहतपाप्मनएव आधिदैविकप्रापकत्वे

१.'सरित्प्रवरो जातः' इति मां४.

“**स वाचमेव प्रथमाम् अत्यमुच्यत, स वाग् अग्निः अभवद्**”(बृहदा.उप.१।३।१२) इति. एवं शिवोऽपि स्वां देवतां प्राप्तवान्, अन्यथा भगवतइव तस्य स्वतन्त्रता न स्यात् प्रमाणादिचतुष्टयेनाऽपि. अतो गङ्गा स्वस्य आधिदैविकं रूपं प्रापयति इति, चरणसम्बन्धिनामपि यत्र एतद् माहात्म्यं, तत्र साक्षात् चरणस्य ध्यातस्य तथात्वसम्पादकत्वं किं वक्तव्यम्! इति भावः. एतच्च गङ्गायाः माहात्म्यं न गङ्गाजलस्थलं[१]; नाऽपि तदभिमानिन्याः देवतायाः, शिवापेक्षया अन्येषाम् अचेतनाधिष्ठातृदेवतानां हीनत्वात्; किन्तु भगवच्चरणस्थमलस्य एतद् माहात्म्यम्. तानि रजांसि पूर्वं निरूपितानि भक्तानां पुण्यसंस्कृतभौतिकानि इति. तानि चरणस्य मलरूपाण्येव भवन्ति, अन्यथा सेवकरूपदेहोत्पत्तिः न स्यात्. अतः एतद् जलं शौचे, पादप्रक्षालने सति, तद्रजःसहितं निःसृतम्. महत्त्वाद् रजःसम्बन्धाद् देवताशरीरं तज्जातम् इति आह **सरित्प्रवरा** इति. निःसृता सरित्प्रवरा जाता. सर्वभक्तोद्धारार्थे उपायभूता. सा चेद् रजोविशिष्टा धृता स्यात् तदा भक्तानां देहोत्पत्तिः न स्याद् इति उदकमेव निरूपितम्. तस्मिन् उदके रजःसामर्थ्याभावे शिवत्वसम्पादकत्वं न स्याद् इति आशङ्क्य तीर्थत्वम् आह तत्साधारणमेव सर्वजगताम् आधिदैविकत्व-सम्पादनरूपं[२] तीर्थं जातम्. ननु अनेन[३] जलेन आधिदैविकत्वमेव कुतः सम्पादितं? “**यावदस्थि मनुष्याणाम्**” (स्कन्दपुरा.काशीखण्ड २८।३५) इत्यादिवाक्यैः फलसाधकत्वं च श्रूयते. तत्र आह **मूर्ध्नि अधिकृतेन** इति. उत्तमाङ्गं शिरः, स्वमस्तके[४] तज्जलम् अधिकारि कृतवान्. अतः उत्तमाङ्गे स्वस्य सर्वाधिकारं दत्त्वा स्थापितवतः साधारणं फलं प्रयच्छति; सर्वस्वनिवेदने आधिदैविकत्वप्रापणमेव युक्तम्. शिवत्वादेव न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

गमकम् आहुः **यथे**त्यादि. **स्वस्य आधिदैविकं रूपम्** इति शिवस्य परमशिवरूपम्. तेन मोक्षधर्मे छन्दोगानां प्रपदनमन्त्रे च ब्रह्मपुत्रत्वेन नमक-मन्त्रेषु मन्युत्वादिना सिद्धस्य यद् ब्रह्माभिन्नत्वम् अर्थशिरःप्रभृतिषु उक्तं, तत् परमशिवत्वं गङ्गासम्बन्धादेव इति अर्थः. **पूर्वम्** इति. प्रथमस्कन्धे “**या वै लसत् श्रीतुलसी-विमिश्र**” (भाग.पुरा. १।१९।६) इत्यत्र. **धृता स्याद्** इति. शिवेन धृता स्यात्, न मुक्तावपि ।।२२।।

१.‘...जलस्थम्’इति मां४. २.‘...सम्पादकरूपम्’ इति मां४. ३.एतेन क. ङ.मां४. २.स्वयम् ग.

पापादिसम्बन्धः. अमङ्गलरूपस्यैव भजनीयत्वाद् नाऽपि तद्रूपनिवृत्तिः. अतः आधिदैविकएव अयं जातः. माहात्म्यान्तरम् आह **ध्यातुः मनः** इति. यो ध्यायति तस्य मनसि ये **शमलशैलाः** पापपर्वताः, तेषाम् अर्थे निसृष्टो वज्रो येन. भगवतः चरणे ये वज्रादयो निर्मिताः तत्र सः चरणो ध्याने परमासक्तियुक्तः, तान् प्राणिनः पापेन अतिगुरुतरान् मत्वा, बहुजन्मार्जित-पापपर्वतान् दूरीकरोति. अनेन भक्त्यधिष्ठात्री देवता इयम् इति निरूपिता. पक्षपातोऽपि निरूपितः. एवम् अङ्कुशादिकार्यमपि करिष्यति इति सूचितम्. 'मनः'पदेन ध्यानस्य तत्र सम्बन्धात् सम्बन्धिनएव पापं नाशयति इति तथा उक्तं; नतु देहपापं नाशयति इति. देहस्य अग्रे गमनापेक्षाभावात् च. पापानाम् अतिदाढ्र्यप्रचयात् पर्वतत्वम्. एवं भगवतः चरणमाहात्म्यं ज्ञात्वा चरणं ध्यायेत्. चिरध्याने मनसोऽपि आधिदैविकत्वम् आपद्येत. उपसंहारेऽपि भगवतः चरणारविन्दकीर्तनं मध्ये पदार्थान्तरध्यान-व्यावृत्त्यर्थम्. प्रत्येकध्यानानि गुरुध्यानं वा निवारितम्।।२२।।

चरणध्यानानन्तरं जानुद्वयं ध्यायेद् इति आह **जानुद्वयम्** इति.

जानु-द्वयं जलज-लोचनया जनन्या
लक्ष्म्या-ऽखिलस्य सुर-वन्दितया विधातुः।
ऊर्वोर्निधाय कर-पल्लव-रोचिषा यत्
संलालितं हृदि विभोर् अभवस्य कुर्यात्।।२३।।

जानुद्वयस्य माहात्म्यं सर्वजगत्फलरूपायाः ब्रह्मानन्दरूपायाश्च सेवकत्वेन. यथा वा सुवर्णे मरकतमणिः योजितः स्वरूपतोऽपि सुन्दरो भवति. जानुद्वयस्य ऊर्वोः निरूपणात् शयानो भगवान् लक्ष्यते, शय्यागता च लक्ष्मीः. अनेन तस्याम् अनुग्रहोऽपि सूचितः. अतः तज्जनितश्रमः तयैव दूरीकर्तव्यः. **जलजलोचनया** इति कमल-नयनया तद्रससौन्दर्यनिरूपणाय उक्तम्. दोषाभावाय तथात्वप्रयोजनाय च आह **अखिलस्य जनन्या** इति. अन्यथा जगत्सृष्टिः न स्यात्. "**मम योनिर् महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं, सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत**" (भग.गीता १४।३) इति भगवद्वाक्यात्. **लक्ष्म्या** इति सा ज्ञानशक्तिः इत्यपि सूचितं, 'लक्ष'धातुनिष्पन्नत्वात्. अनेन माता-पित्रोः ध्यानं निरूपितम्. तस्याः ध्यानं योगिनो न कर्तव्यम् इति शङ्कायाम् आह

सुरवन्दितया इति. सर्वैः देवैः वन्दिता सा परमा देवता; अतो ध्येया देवता; ध्यानाभावे इष्टसिद्धिः न स्याद् इति. ऊर्वोः उभयोः निधानं लक्ष्म्याः कृतकृत्यताभावनार्थं, स्नेहाधिक्यभावनार्थञ्च. **निधाय** इति भगवच्छयनं लक्ष्यते; भगवदपेक्षाभावो वा. **करपल्लवाः** अङ्गुलयः तेषां **रोचिः** दीप्तिः लीलया शनैः स्थापनम्, अन्यथा भगवज्जान्वपेक्षया ऊरु-कर-पल्लवयोः कठिनत्वात् पीडा स्यात्. यथा शीतलस्पर्शेन तापो गच्छति तथा हस्तानन्दस्य अन्तःप्रवेशेनैव श्रमो गच्छति इति अर्थः. **यत्** प्रसिद्धं जानुद्वयम्, एतद्हृदये भाव्यम् इति; नतु बहिःस्थितं मनसा[1] स्मर्तव्यम्. ननु अल्पे हृदये कथम् एषा भावना भविष्यति? इति आशङ्क्य आह **विभोः** इति. सहि समर्थो ध्यातो हृदयं पुष्कलं कर्तुं समर्थः. ननु संसारएव निरूपणात् किम् एतादृशेन ध्यानेन? इति आशङ्क्य आह **अभवस्य** इति. न विद्यते भवः संसारो यस्मात्. यो हि भगवद्धर्मसजातीयः सः तस्य आधिदैविकः इति तन्नाशसमर्थो भवति. यथा तस्य अरणेरेव तत्र उत्पन्नो अग्निः दाहको भवति, नहि अन्यो विजातीयं दहति. अतएव पुराविदां वचनं "**स्तेयं हरेर्हरति यद् नवनीतचौर्यम्**"[2] (श्रीकृष्णकर्णामृतम् ३।९०) इति।।२३।।

[3]ततः ऊरू ध्यायेद् इति आह **ऊरू** इति.

ऊरू सुपर्ण-भुजयोर् अधिशोभमाना-
वोजो-निधी अतसिका-कुसुमावभासौ।
व्यालम्बि-पीत-वर-वाससि वर्तमान-
काञ्ची-कलाप-परिरम्भि नितम्बबिम्बम्।।२४।।

गच्छन् भगवान् गरुडाधिरूढो ध्येयः. गरुडपृष्ठे उपविष्टः, स्कन्धयोः लम्बितपादः, गरुडहस्तयोः स्थापितचरणो यो भगवान्, तस्य ऊरू ध्येयौ. **सुपर्णभुजयोः** अध्युपरि अधिकं **शोभमानौ.** यथा दिव्येन्द्रनीलमणेः अधिकः प्रकाशो भवति तथा **ओजोनिधी.** अतसिकापुष्पवद् अवभासो ययोः. नितम्बबिम्बमपि ध्येयम् इति आह **व्यालम्बि** इति. विशेषेण आलम्बि[4] यत् पीतं,

१.अन्तरा क. २.स्तेयं हरेर् हरति यद् नवनीतचौर्यं जारत्वमस्य गुरुतल्पकृतापराधम्, हत्यां दशाननहतिर् मधुपानदोषं यत् पूतनास्तनपयः स पुनातु कृष्णः" श्रीलीलाशुकविरचितम्. ३.तथा ङ. ४.आलम्य्यम् ख. ग.

वरम् उत्कृष्टं वासः, तस्मिन् **वर्तमाना** या काञ्ची, तस्याः **कलापः** समूहः, बहुसूत्रनिर्मितत्वात्, चित्ररूपाणि वा; मयूरकलापसदृश-पदकयुक्ता वा काञ्ची. तस्याः परिरम्भयुक्तं **नितम्बबिम्बं** यस्य. गरुडो हि कालात्मा, ऊरू च दैत्योत्पतिस्थानभूतौ. तेषाम् आधिदैविकम् ऊरूद्वयं, तत्कालाधीनगतिमत्. कालस्य स्कन्धद्वयं कर्म-स्वभावौ. कालस्याऽपि अयं गरुडः आधिदैविकः, अतएव सुपर्णत्वम्. अधिकशोभमानत्वं काल-कर्म-स्वभावोपमर्दनेन. तद्भावनायां स्वस्याऽपि तथात्वं भविष्यति; यथा संसारनिवृत्तिः पूर्वं फलति, तथा अत्र स्वभावादिजयः. सुपर्णएव स्थितम् इति नितम्बबिम्बं मुख्यतया कालातिक्रमहेतुः. अनेन विश्वातिक्रमोऽपि विश्वरूपभगवद्भावतया इति उक्तम्[१]. वेदैश्च कालातिक्रमरूपम् आच्छादितम्. वेदव्यवहितमेव यज्ञादिकं कालसम्बद्धं भवतीति कर्मणां कालोपाधिकत्वम्. अहोरात्रातिक्रमो अग्निहोत्रेण; मासातिक्रमो दर्शपूर्णमासाभ्याम्; एवम् ऋत्वतिक्रमः चातुर्मास्यैः, अयनातिक्रमः पशुना; वर्षस्य अतिक्रमः सोमेन इति. जगज्जननहेतुस्थानञ्च; तद्ध्यानेनैव जगति जन्मातिक्रमश्च. ओजोनिधित्वं तेजसो अतिक्रमाय. अतसिका पृथिवीजलात्मिका, तत्र यो नीलो भावः, पुष्पस्य, तत्पृथिव्याः, यः शुक्लः सः जलस्य; अतः तत्पुष्पावभासत्वं तदुभयातिक्रमाय. भगवांस्तु सर्वैरेव उपमीयते इति न प्राकृतोपमादोषः. विशेषेण पीताम्बरस्य लम्बता आच्छादनाधिक्य-ख्यापनाय. वेदो हि बहुपरिकरो भवति इति. पीतो हि अर्थो धर्मसहितः, सः श्रुतिरूपो[२] भवति इति. अग्नि-वेदाभ्यां कर्म साध्यते. आवरकसौन्दर्येणैव व्यामोहार्थं वरत्वम्. वासश्च आच्छादकं; तत्रैव माया व्यामोहयति. काञ्ची माया; कलापो जगद्वैचित्र्यं, तत्परिरम्भो जगद्वैचित्र्यजननार्थम्. बिम्बत्वम् आधिदैविकत्व-ख्यापनार्थम्।।२४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ऊरू इत्यत्र. **तेषाम्** इति कालाद्युपमर्दकत्वम्. तद् आहुः **यथा** इत्यादि. **वेदैः च** इत्यादिना पीताम्बरतात्पर्यम् उक्तं ज्ञेयम्. **कालातिक्रमरूपम्** इति. कालस्य अतिक्रमो येन तादृशं रूपम्. तत्प्रकारम् आहुः **वेदे**त्यादि **अतिक्रमाय** इत्यन्तेन. **स्थानं च** इति. ध्येयम् इति शेषः।।२४।।

१.भावनया ख. २.कृति ङ.

ततो नाभिं[१] ध्यायेद् इति आह **नाभिह्रदम्** इति.

नाभि–ह्रदं भुवन–कोश–गुहोदरस्थं
यत्रात्मयोनि–धिषणाखिल–लोक–पद्मम् ।
व्यूढं हरिन्मणि–वृषस्तनयोर् अमुष्य ध्यायेद् द्वयं विशद–हारमयूखगौरम्।।२५।।

शयानएव भगवान् ध्येयः इति लक्ष्यते, तादृशएव रूपे भगवतो नाभिकमलाद् ब्रह्मा उत्पद्यते इति. ह्रदत्वेन अतिगम्भीरत्वं, सर्वजीवानाम्[२] आधारत्वञ्च; तस्मिन्नेव ध्याते भौतिको जीवभावो गच्छति इति. भुवनात्मको यः कमलकोशः तस्य गुहा गुप्तस्थानं तादृशं भगवद्उदरम्. उदरे हि जगत् तिष्ठति. कोशस्थितश्च न जलादिभिः उपहन्यते; तथा भगवद्उदरे स्थिताः प्राणिनो न सङ्घातैः उपहन्यते. एतावता तुन्दिलो भगवान् इति ज्ञापितं, तादृशस्यैव उदरमध्ये नाभिः भवति. नाभेः माहात्म्यम् आह **यत्र** इति. **आत्मयोनेः** ब्रह्मणः तस्य या **धिषणा** बुद्धिः आध्यात्मिकं रूपं; तदेव अखिललोकात्मकं **पद्मम्.** नाभौ ब्रह्मा, बुद्धिः, पद्मञ्च इति आधिदैविकादयः त्रयोऽपि नाभौ निरूपिताः. भगवतः स्तनयोः द्वयं च ध्यायेत्. हरिद्वर्णमणिवृषौ यौ स्तनौ. हरिन्मणिः कामपूरकः चिन्तामणिः, तत्र श्रेष्ठो भगवद्धर्मलक्षणः. सः उभयविधोऽपि द्वयत्वेन उक्तः, तस्य व्यूढता भगवदवयवेभ्यः स्वतन्त्रतया प्रकाशमानत्वम्. विशदो यो हारो मुक्तानाम्. विशदानां निर्मलानां वा यो हारः. तस्य मयूखैः गौरम्. भगवद्धर्माः शुकादिभिः परिसेव्यमानाः सर्वेषां रागहेतवो भवन्ति. **विशदत्वं** नानायोगचर्याद्यभावः, अलौकिककरणाभावो वा।।२५।।

वक्षो भावयेद् इति आह **वक्षो अधिवासम्** इति.

वक्षो–ऽधिवासम् ऋषभस्य महाविभूतेः
पुंसां मनो–नयन–निर्वृतिम् आदधानम् ।
कण्ठं च कौस्तुभ–मणेर् अधिभूषणार्थं
कुर्याद् मनस्यखिल–लोक–नमस्कृतस्य ।।२६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नाभिह्लदम् इत्यत्र. विशदत्वस्य उभयविधाभावरूपत्व-व्याख्यानेन स्वपरिषेव्यधर्मोपदेशनं वैशद्यं फलति ।।२५।।

१.नाभिह्दम् घ. २.जीवाधारत्वम् ख.मां४. जीवनाधारत्वम् ग. व. ङ.

ऋषभस्य वक्षो महाविभूतेः निवासं[1] **पुंसां मनो–नयनयोः निर्वृतिम् आदधानम्.** वक्षो हि स्वरूपतः कार्यतश्च सर्वोत्तमं; तत्र स्वरूपम् **ऋषभस्य** श्रेष्ठस्य इति. श्रेष्ठता हि हृदयधर्माद् भवति. यादृशम् अन्तर्हृदयं तादृशमेव गोलकं भवति. भगवतस्तु आनन्दमयस्य२ न एवंविधोऽपि भेदो विद्यते. अतो यावन्तो भगवद्गुणाः पुरुषोत्तमत्वज्ञापकाः ते सर्वे वक्षसि इति ऋषभसम्बन्धेनैव स्वरूपमाहात्म्यम् उक्तम्. कार्यतो माहात्म्यं द्विविधम् : ऐहिकं स्त्रीधनाद्यात्मकं, पारलौकिकं परमानन्दहेतुत्वम्. तत् क्रमाद् आह. **विभूतेः** लक्ष्म्याः सर्वैहिक–पुरुषार्थरूपायाः निवासस्थानम् इति. आनन्दोऽपि बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधः, तद् उभयम् आह मनसो नयनयोश्च निर्वृत्तिम् आसमन्ताद् दधानम् इति. कामादिकृत–दोषवशात् तथात्वं वारयति **पुंसाम्** इति. बहुवचनं काकतालीय–व्युदासाय; सर्वेषामेव पुंसाम्. कण्ठञ्च ध्यायेद् इति आह **कण्ठम्** इति. कण्ठो हि द्विविधः : बाह्यः आभरणाधारभूतः, आन्तरः सर्ववेदोद्गमहेतुः जगद्गुरुः. आभरणानि च अतिप्रियाणि कण्ठे धार्यन्ते; भगवतस्तु मुक्तभक्तापेक्षया न अन्यः प्रियः इति तेषां तत्त्वरूपस्य कौस्तुभमणेः अधिकभूषणम् अर्थो यस्य. मणिना हि न कण्ठो भूष्यते, किन्तु कण्ठेन मणिः. सुवर्णादिकं तस्यापि भूषणं भवति तद् व्यावृत्त्यर्थम् अधिकं भूषणम् इति उक्तम्. **च**कारात् स्कन्धद्वयमपि. **अखिल–लोकनमस्कृतस्य** इति वेदोद्गमहेतुः अखिलगुरुः भगवान् निरूपितः।।२६।।

बाहूंश्च मन्दर–गिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्त–बाहु–वलयान् अधि–लोकपालान्।
सञ्चिन्तयेद् दशशतारम् असह्यतेजः
शङ्खं च तत्करसरोरुह–राजहंसम्।।२७।।

बाहून् च ध्यायेत्. **च**काराद् बाहुस्थिताः देवाः. बाहवो हि अमृतमथने व्यापृताः, देवेभ्यो अमृतं पायितवन्तः. वलयाः तत्र वेष्टनरूपाः पुरुषार्थः. **मन्दरगिरेः परिवर्तनेन** परितो भ्रामणेन, **निर्णिक्तानि** अन्योन्यं मिलितानि, घर्षणेन उज्ज्वलीकृतानि वा, बाहुवलयानि येषाम्. अधिकृताः लोकपालाश्च येषु तेषु

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वक्षः इत्यत्र. **न एवंविधोऽपि** इति. न सादृश्यात्मकोऽपि ।।२६।।

१.स्थानं निवासम् क. घ.मां४. २. 'तथा' इति अधिकं मां४ पाठे..

हस्तेषु चक्राद्यायुधानि ध्येयानि. तत्र प्रथमं सुदर्शनं ध्येयम् इति आह **सञ्चिन्तयेद्** इति. **दशशतारं** चक्रं, दशशतानि आराः यस्य[1]. कालचक्रं निर्दिष्टम्. **शतम्** इति अपरिमितनाम. दश प्राणाः भवन्ति. प्रत्येकं दशानां शतानि आराः कालावयवाः भवन्ति. तेन सर्वप्राणहारि कालात्मकं सुदर्शनं चक्रम्. प्रतीकाराभावाय आह **असह्यतेजः** इति. तस्य तेजो यद् ऊर्मयः[2]. कालगुणान् च सोढ्वा प्रतीकारः कर्तव्यः, तदेवतु असह्यम्. **शङ्खं च** ध्यायेत्. **च**कारात् सर्ववेदान् च तद्गतान्. **तस्य** भगवतः **करसरोरुहे** करकमले, राजहंसरूपम्. भगवतः ओष्ठकान्त्या आद्यन्तयोः आरक्तिमा, सः शब्दश्च इति लोहितास्यचरणः कूजन् हंसः कमलमध्यस्थो निरूपितः. सहि क्षीरनीरविवेककर्ता भगवत्प्रीति-बोधकश्च।।२७।।

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत दिग्धामरातिभट-शोणित-कर्दमेन।
मालां मधुव्रतसमूहगिरोपघुष्टां चैत्यस्य तत्त्वम् अमलं मणिमस्य कण्ठे।।२८।।

कौमोदकीमपि **स्मरेत्.** सा हि आसन्यरूपा इति. भगवतः प्रिया, अपहतपाप्मत्वाच्च सर्वदैत्यहननहेतुः उक्तः. तद् आह **दिग्धां** व्याप्ताम् **अरातीनां** शत्रूणां ये **भटाः** तेषां **शोणितकर्दमेन.** यथा निष्पापः पुरुषो महान् भगवत्प्रियः, एवं दैत्यहन्ताऽपि भगवत्प्रियो भवति. मालामपि ध्यायेद् **मधुव्रतसमूहगिरा उपघुष्टाम्**. मधुव्रताः मनोहरनियमयुक्ताः, मध्वेव व्रतं यस्य इति; वेदाअपि भगवत्प्रतिपादनमेव कुर्वन्ति इति. तेषां समूहः, सएव वेदः. तेषां गीः धर्मज्ञानरूपा तया उपघुष्टा भगवत्कीर्तिः भवति, यद् धर्मादिभिः न भवति तत्कीर्त्या भवति इति. मालायाः कण्ठएव स्थानम् इति पूर्वोक्तएव कण्ठः कौस्तुभभूषणत्वेन उक्तः पुनः स्मार्यते. **चैत्यस्य** चित्ताधिष्ठातुः जीवस्य तत्त्वं यत्, सङ्घाते अप्रविष्टं निजं रूपं, सएव कौस्तुभमणिः, तद् अस्य भगवतः कण्ठे. मालां च मणिञ्च कण्ठे ध्यायेद् इति सम्बन्धः. भक्तैः सह भगवत्कीर्तिः ध्येया इति यावत्।।२८।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

बाहून् इत्यत्र. ''**सहस्राराच्युतोऽव्यय**''(भाग.पुरा.९।५।४) इति सुदर्शन-स्तुतिवाक्यानुरोधेन प्रकारान्तरेण व्याख्यानं कुर्वन्ति **दशे**त्यादि ।।२७।।

१.अस्य क. २.षडूर्मयः ख. उर्मयः ग.मां४.

अतःपरं वदनारविन्दं ध्यायेद् इति आह **भृत्येति.**

भृत्यानुकम्पित–धियेह गृहीत–मूर्तेः
सञ्चिन्तयेद् भगवतो वदनारविन्दम् ।
यद् विस्फुरद् मकर–कुण्डल–मण्डितेन
विद्योतितामल–कपोलम् उदारनासम्॥२९॥
यत् श्रीनिकेतम् अलिभिः परिषेव्यमाणं
भूत्या स्वया कुटिल–कुन्तल–वृन्दजुष्टम्।
मीनद्वय–श्रियम् अधिक्षिपद् अब्जनेत्रं
ध्यायेद् मनोमयम् अतन्द्रितम् उल्लसद्भ्रु॥३०॥

तदेव वदनारविन्दं ध्येयं यत् सर्वजनीनम्. तदैव च सर्वजनीनं भवति यदि भूमौ अवतरति. अवतारश्च तदैव भवेद् यदि भृत्यानां दुःखं भवति. तद् आह भृत्यानाम् अनुकम्पितधिया[१] गृहीता मूर्तिः येन. अवतीर्णस्य अन्यथा शङ्का–व्युदासाय आह **भगवतः** इति. दृष्टिमात्रेणैव तापापनोदनादरविन्दत्वम्. तद् मुखारविन्दम् अनुवर्णयति सार्द्धेन **यद् विस्फुरद्** इति. यद् मुखारविन्दं विशेषेण स्फुरती मकराकृते कुण्डले ताभ्यां **मण्डितेन** गण्डयुगलेन; **वल्गितेन** इति पाठे मकर–कुण्डलयोः यद् वल्गितं, चालनेन उत्पन्नं तेजः, तेन विद्योतिते अमलकपोले यत्र. उदारा नासा यत्र.

यत् पुनः मुखारविन्दम् अलिभिः परिषेव्यमाणं, **स्वयैव भूत्या** असाधारणकान्त्या च परिषेव्यमाणम्. कुटिलानां कुन्तलानां वृन्दैः जुष्टम्. **मीनद्वयस्य श्रियम् अधिक्षिपद्** दूरीकुर्वद् **अब्ज**सदृशं नेत्रद्वयं यत्र. **मनोमयं,** सर्वेषामेव मनांसि तत्र निरन्तरं वर्तन्ते इति मनःप्रचुरम्. **अतन्द्रितं** सावधानतया

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भृत्येत्यत्र. **मकराकृते** इति. मकरवद् आसमन्तात् कृते. **युगलेन** इति. उपलक्षितम् इति शेषः. अनयैव अरुच्या पाठान्तरं दर्शयन्तो व्याकुर्वन्ति **वल्गितेन** इत्यादि. **यच्छ्री**त्यत्र. ध्यानस्य मानसी(?)मूर्त्तिकल्पनयैव भवनेन मनोमयत्व-सिद्धावपि मध्ये तदुक्तिप्रयोजनं वक्तुं 'मनोमय'पदं व्याकुर्वन्ति **सर्वेषाम्** इत्यादि. **सावधानतया** इति एतेन 'अतन्द्रित'पदस्य क्रियाविशेषणत्वं सूचितम्. वशीकरणं च

१.अनुकम्पनधिया क.

उल्लसन्त्यौ भ्रुवौ यत्र. एवं नव विशेषणानि मुखे निरूपितानि नवरसजननाय, सर्वेषां च वशीरकरणाय. नवविधा भक्तिश्च निरूप्यते. मुखं हि आनन्दरूपस्य भगवतो भक्तिरसात्मकं फलं भवति; विषयः चरणौ; आश्रयो जीवः. नवरसाअपि मुखे अभिव्यक्ताः. कपोलौ च भक्तिरसानुभवे भक्तानां समाजस्थानमेव भवति; तत्र क्रियापराः ज्ञानपराश्च भक्ताः उल्लसन्ति. साङ्ख्य–योगौ मकर–कुण्डले. शाब्दं प्रमाणं श्रोत्रम्, अनुभवरूपं चक्षुः शाब्दे प्रमाणे. साङ्ख्य–योगयोः यो अयम् अनुभावः[२] तद् वल्गितम्. तेन विद्योतितत्वं क्रियाज्ञानशक्त्या आविर्भावः. उत्तमभक्तानां परस्परं श्रोतणां समाजत्वाद् अमलत्वम्. अनेन श्रवणपरिकरो महान् निरूपितः. उदारे नासे कीर्त्तनं; कीर्त्तनस्य सर्वपुरुषार्थदातृत्वाद् उदारत्वम्. मुखे हि नासिकैव प्रधानं, जगति सौन्दर्यदानाद् भगवन्नासिकायाः उदारत्वं; भगवत्स्थित्यैव सर्वेषां सर्वपुरुषार्थसिद्धिः. स्थितिप्रतिपादिकायाः नासिकायाः उदारत्वम्. **श्रीनिकेतम्** इति. लक्ष्म्या स्थितिः स्मृतिरूपा, भक्तौ श्रीः स्मृतिरेव. अलीनां परितः सेवनं, प्रकारान्तरेण[३] भक्तानां पादसेवनम्. स्वया भूत्या सेवनञ्च. अर्चनं स्पष्टमेव. कुटिलाः वक्राः कुन्तलाः वन्दनात्मकाः भवन्ति. वन्दने हि पुरुषः कुटिलाकृतिः भवति, अन्यथा भगवति कुटिलानां स्थितिः न स्यात्. **कुं** पृथिवीं तरन्ति इति. यथा जले तरन्तो यादृग् रूपाः भवन्ति तथैव पृथिव्यां नमन्तः. वृन्दं शतादिसङ्ख्यावृत्तिः, तेनाऽपि जुष्टम् इति रसनमनं[४] प्रतिपादितम्. दास्यं : प्रत्यक्षं, परोक्षम्, अन्तः, बहिश्च; अन्तः मलदूरीकरणरूपं, बहिः सौन्दर्यरूपञ्च. मीनाः जलस्थ–मलनाशकाः, तच्च मलं बाह्याभ्यान्तरभेदेन भवति इति मीनद्वयं शोधकद्वयं : पापाविद्यानाशकरूपम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भक्तानामेव करोति इति ज्ञापनाय आहुः **नवविधे**त्यादि. ननु मुखे भक्तिनिरूपणस्य किं प्रयोजनम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **मुखं हि** इत्यादि. तथाच, भक्तिविषये आसक्तस्य भक्त्याश्रयस्य भक्तिरसात्मकं फलम् अनुभावयितुं तन्निरूपणम् इति अर्थः. तत्र प्रथमं श्रोतणां रसानुभावनप्रकारं व्याकुर्वन्ति **नवरसाः** इत्यादि. **शाब्दे प्रमाणे** इति. इदं पदद्वयं सप्तम्यन्तम्. चक्षुषः शब्दान्तःपातित्वन्तु सामानाधि-करण्यात्. रलयोः अभेदम् आश्रित्य 'कुन्तल'पदनिरुक्तिम् आहुः **कुं पृथीवीम्**

२.अनुभवः ग. ३.प्रकटानाम् क. ङ ४.रसनमनन्तम् घ. नमनमनन्तम् ङ.

दास्यन्तु उभयसामर्थ्यमपि क्षिपद्भवति. आकृतौ वर्णनातु स्पष्टैव; रसार्थं परिभ्रामणे तथैव प्रतीतिः. बहिः शोभार्थम् अब्जम् इति आह. नेत्रद्वयं सर्वानुभवहेतुः, तथैव दास्यम् इति. मध्ये पुनः ध्यानकथनं सप्तानां स्वाधीनानां भिन्नतया ज्ञापनार्थम्. **मनोमयं** सख्यं, नहि ईश्वेरण वस्तुतः सख्यं भवति. भ्रुवोः उल्लासः आत्मसमर्पणं भवति. फलमुखं च एतद् लक्षणं, ''**तद् भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम्**''(भाग.पुरा.२।१।३०) इति, आत्मस्थाने ब्रह्मा निवेशितः इति ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**''(भग.गीता ४।११) इति वाक्याद् आत्मसमर्पणम् उक्तं [5]तत्फलनिरूपणेन।।२९,३०।।

एवं नवविधभक्त्यनन्तरं भगवतो ज्ञानशक्तिं मायाशक्तिञ्च निरूपयति द्वयेन **तस्य** इति.

तस्यावलोकम् अधिकं कृपयातिघोर-तापत्रयोपशमनाय निसृष्टम् अक्ष्णोः ।
स्निग्ध-स्मितानुगुणितं विपुल-प्रसादं
ध्यायेत् चिरं वितत-भावनया गुहायाम् ।।३१।।

भगवतो अवलोकम् अधिकं ध्यायेत्. तस्य अनिष्टनिवारकत्वम् इष्टसाधकत्वञ्च निरूपयति. अक्ष्णोः अवलोकनं लौकिकालौकिकामृतरूपम् आध्यात्मिकादि-त्रिविधमपि तापम् उभयविधं नाशयति; यतः कृपया तापत्रयोपशमनाय **निसृष्टम्.** कृपाहेतुः भक्तिः उक्ता. फलार्थम् आह **स्निग्धं** यत् **स्मितं,** भक्त्यर्थं यो मोहः, तेन **अनुगुणितम्.** ज्ञानशक्तिः भक्तिसहिता न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यादि. **तथैव प्रतीतिः** इति ।।२९।।

तस्य अवलोकम् इत्यत्र. **उभयविधम्** इति. ननु ''**ज्ञानेन तु तद् अज्ञानं येषां नाशितम् आत्मनः**''(भग.गीता ५।१६) इत्यादिवाक्यैः ज्ञानाज्ञानयोः वध्य-घातकविरोधनिश्चयाद् अज्ञानजनितमोहानुगुणितत्वं कथं सङ्गच्छते? इत्यतः आहुः **ज्ञानशक्तिः** इत्यादि. पूर्वं पञ्चमाध्याये ज्ञानेन अज्ञाननाशम् उक्त्वा ततो अष्टादशाध्याये ''**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा**'' (भग.गीता १८।५४) इत्यनेन ब्रह्मभाव-फलतया भक्तिं वदति. सः(?) यद्यपि आत्मधर्मरूपा, तथापि ततः पूर्वं या अर्जुनादीनां सम्बन्धादिकृता सातु अध्यासकार्यं, समर्थोपदेशानन्तरमपि अनुवर्तमाना

५.तथा क. घ. ङ.

भक्त्यर्थाध्यासेन विरुध्यते. विपुलः प्रसादः स्वतन्त्रभक्तिपर्यन्तः, तावद् ज्ञानं सिद्ध्यति. तद् बहुजन्मभिः भवति इति तस्य स्वरूपं ज्ञातुं **ध्यायेत् चिरम्** इति उक्तम्. वितता भावना तदुपयोगि-सर्वपदार्थनां विचारार्थम्. **गुहायाम्** इति अन्येषां विचाराभावाय।।३१।।

ज्ञानेऽपि जाते तदुत्तरा भक्तिः चेद् न भवेत् तदा फलं न भवेदिति सर्वथा मोहाभावे भक्तिः न भवेद् इति हासं ध्येयत्वेन आह **हासम्** इति.

हासं हरेरवनताखिल-लोकतीव्र-शोकाश्रु-सागर-विशोषणम् अत्युदारम् ।
संमोहनाय रचितं निजमाययाऽस्य भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ।।३२।।

भगवतो हासं ध्यायेत्. अतिक्लिष्टानां क्लेशाभावहेतुत्वाद् **हरेः** इति उक्तम्. तद् आह **अवनता** ये **अखिललोकाः,** तेषां **तीव्रो** यः **शोको** भगवद्विरहजनितः, सर्वभक्तप्रत्ययसाक्षी; तज्जनिताश्रूणां **सागरस्य** शोषणं येन. मायामोहेनैव एवं भवति, अन्यथा निरन्तरम् अनिर्वृतएव तिष्ठेत्. नच परमपुरुषार्थहानिः इति आह **अत्युदारम्** इति. विरहानिवृत्तिः शीघ्रं परमपुरुषार्थ-दायिनी[1] तथापि प्रतीत्या दुःखात्मिका भवतीति तां निराकृत्य स्वयमेव तं पुरुषार्थम् अधिकारमपि[2] सम्पाद्य प्रयच्छति इति अत्युदारो हासः. ननु दीनेषु भक्तेषु कथं हासः उत्पन्नः? इति आह **सम्मोहनाय** इति. **मकरध्वजस्य सम्मोहनाय.** मुनयो हि भगवन्तं ध्यायन्ति. तत्र भगवदैश्वर्यं दृष्ट्वा मुनीनां स्पृहा[3] भवतु इति पूर्वं तैः निर्जितः कामः बाधकत्वेन भगवत्सान्निध्ये उपतिष्ठति. तदा सः चेद् न मुग्धो भवेद्, मुनीनां सर्वमेव कार्यं नश्येद् इति कन्दर्पसम्मोहनाय हास्योत्पतिः. सोऽपि भगवन्मुखसौन्दर्यं दृष्ट्वा विस्मितो मुनीनां मोहं न सम्पादयति. **निजमायया** इति आधिदैविकमपि कामं मोहयितुं हासस्य बलं निरूपितम्. अस्य भ्रूमण्डलमपि ध्यायेत्. तस्याऽपि हासवत् कार्यसाधकत्वं,

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

च. तेन ज्ञायते, संसारार्थाध्यासत्वेन भगवज्ज्ञानत्वेन वध्य-घातकविरोधः, नतु सामान्यतो अध्यासत्वेन भगवज्ज्ञानत्वेन इति. अतो न विरोधः इति ।।३१।।

हासम् इत्यत्र. **एवं भवति** इति. शोकशोषणं भवति ।।३२।।

१.दायिनीति क. २.अनधिकारम् क. च. ३.सर्वस्पृहा क. घ. ङ.

मृत्युरूपत्वात् परं नाशकत्वं दुष्टविषयकमेव. मोहे जीवानां स्वतएव दुःखाभावः, भ्रूमण्डलध्यानेतु भगवत्कर्तृकः इति द्वयं निरूपितम्. मकरो हि क्रूरात्मा, ततः तस्य क्रौर्यं निरूपितम्. मण्डलं मण्डलीकृत–कार्मुकत्वाय।।३२।।

भगवतः च प्रहसितं ध्यायेत्, पूर्वध्यानेषु सर्वबाधकव्यामोहार्थं **ध्यानायनम्** इति.

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ–
भासाऽरुणायित–तनुद्विज–कुन्दपङ्क्ति।
ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णोः
भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग् दिदृक्षेत् ।।३३।।

तत् सर्वेषामेव ध्यानानां स्थानं; सर्वे हि तत्र प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं भगवतः प्रहसितं ध्यायन्ति. अत्यानन्दे हि भगवतः प्रहसितं भवति. तत् सर्वविस्मारकं कालादीनपि कथं न मोहयेद्? बहुलम् अधरोष्ठयोः यद् भाः[१] दीप्तिः लज्जा–लोभयोः स्वरूपधनसङ्कोचः कार्यम् इति; तेन कृत्वा अरुणायिता तनुः यस्य. द्विजाएव कुन्दपुष्पाणि, तेषां पङ्क्तिः यत्र. प्रहसिते हि दन्ताअपि प्रकटाः भवन्ति, ते च कुन्दपुष्पसन्निभाः. पृथिव्यां स्नेहहेतवो दन्ताः पुत्रादिस्नेहरूपाः. त्रिभिश्च सर्वसङ्कोचः. ननु एतादृशं प्रहसितं स्वात्मानमपि व्यामोहयति इति कथं ध्येयम्? इत्यतः आह **स्वदेहकुहरे अवसितस्य** इति. यदि भगवान् स्वहृदये प्रकटएव, तदा[२] स्वस्य मोहो न भवति इति सिद्धम्. सिद्धे भगवति मुख्ये सख्यात्मनिवेदने आह **आर्द्रया भक्त्या अर्पितं मनो** यस्य. अपृथग्दर्शनं च आत्मनिवेदनम्।।३३।।

एवं पूर्णा भगवति नवविधा भक्तिः सिद्धा ध्यानेन. तस्यां सिद्धायां मोक्षः फलम् आवश्यकमिति तदुत्पादकध्यायमानस्य भगवद्रूपस्य निवृत्तिम् आह **एवं हरौ** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ध्यानायनम् इत्यत्र. **सर्वसङ्कोचः** इति. कुं द्यति इति निरुक्त्या कुन्दः पृथिवीसङ्कोचः, लज्जा-लौभौ च स्वरूप-धनसङ्कोचकौ. अत्र एतैः त्रिभिः ध्यातैः स्वरूप-धन-पुत्रादिषु स्नेह-सङ्कोचः इति अर्थः।।३३।।

एवं हरौ इत्यत्र. **एवं पूर्णो**[+] **भगवति** इत्यादिना त्रयोदशानां तात्पर्यम् उक्तम्.

१.बहुला ग. ङ. २.ततः क. ङ. +.पूर्णा.

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्हृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्य–बाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः
तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ।।३४।।

सर्वदुःखनिवर्तके, सर्वपुरुषार्थदायके भगवति प्रतिलब्धः एवं पूर्वोक्तो भावो येन. भक्तेः अवान्तरकार्यम् आह **द्रवद्हृदय** इति. यथा तापेन हिमघृतादिकं द्रवति तथा भक्त्या हृदयम्. तस्य द्रवणे देहे वैक्लव्यं भवति, आनन्द–प्रतिबन्धकस्य हृदयस्य द्रुतत्वात्. प्रमोदे जाते उत्पुलको भवति. तदा भगवति प्रेमाधिक्यात् कण्ठनिरोधोऽपि भवति. ततः औत्कण्ठ्ये या बाष्पकला उत्पद्यते, तया मुहुः अर्द्यमानः, सकलायां भक्तौ सिद्धायां, तच्चापि चित्तस्य बडिशं वशीकरणहेतुः भगवद्रूपं मनःकल्पितम् इति **शनकैः** वियुङ्क्ते त्याजयति।।३४।।

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथाऽर्चिः ।
आत्मानम् अत्र पुरुषोऽव्यवधानम्
एकम् अन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ।।३५।।

अन्यतो निवृत्तं मनः भगवन्मूर्तिं कल्पयित्वा तत्र निर्वृतं स्थितं; तस्मिंस्तु गते मुक्ताश्रयं निर्विषयञ्च जातम्. आश्रयत्वविषयत्वे एतावत्कालम् अत्रैव स्थिते; पूर्वविषयास्तु पूर्वमेव त्यक्ताः. भगवद्रसस्य च आस्वादितत्वाद् इदानीं तत्र **विरक्तम्.** एवं सर्वथा विषयाभावे, **निर्वाणं** कारणे लयं स्वयमेव **ऋच्छति** अपगच्छति. सङ्घाते विद्यमाने न गच्छेद् इति आशङ्क्य दृष्टान्तम् आह **यथा अर्चिः** इति. दीपार्चिः काष्ठार्चिः वा, विद्यमानायामेव सामग्र्यां शाम्यति, तथा मनोऽपि इति अर्थः. ततः किम्? अतः आह **आत्मानम्** इति. उपाधिरूपे अन्तःकरणे गते, अत्रैव शरीरे, **पुरुषो** जीवः, **आत्मानं** भगवन्तम्, **अव्यवधानं**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अन्यतो निवृत्तम् इत्यारभ्य अग्रिमश्लोकस्य **मुक्ताश्रयम्** इत्यस्य व्याख्यानं ज्ञेयम् ।।३४।।

मुक्ताश्रयम् इत्यत्र. **तत्र विरक्तम्** इति मनःकल्पितमूर्तौ विरक्तम्.

व्यवधायकधर्मरहितम् **एकं,** नतु सजातीयम् **अन्वीक्षते**. ननु सत्त्वादिगुणैः आध्यात्मिकैः निरन्तरं रागादिप्रवाहाः उत्पाद्यन्ते, भगवदीयैश्च विषयाः. उभयोः व्यवधायकत्वात् कथम् एकत्वप्रतीतिः? ततएव श्रुतिः आह **''न तं विदाथ''** (ऋग्वेद १०।८२।७) इति. तत्र आह **प्रतिनिवृत्त–गुण–प्रवाहः** इति. उभयविधः इति एके; अन्यतरः इति अन्ये. एवम् आत्मज्ञानार्थं चरमा मनसो वृत्तिः अपेक्षिता, तदभावे ब्रह्मात्मानुभवो न भवति।।३५।।

जाते ज्ञाने तन्निवृत्तिम् आशङ्क्य आह **सोऽपि एतया** इति.

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या स्वस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत् स्वात्मन्यधत्त उपलब्ध–परात्मकाष्ठः।।३६।।

एवं चरमामेव वृत्तिं स्थापितवान् यः स्वानुभवार्थं **सोऽपि एतयैव चरमया मनसो वृत्त्या स्वस्मिन्नेव महिम्नि** अपवर्गाख्ये स्वयम् **अवसितो** भवति. पुनः पूर्ववत् पूर्वावस्थां न प्राप्नोति इति अर्थः. तस्याः अवस्थायाः पूर्ववैलक्षण्यम् आह **सुखदुःखबाह्ये** इति. वैषयिक–सुखदुःखे तस्याम् अवस्थायां न भवतः. ननु चित्तगतं कर्तृत्वादिकं चित्ते लीने आत्मनिष्ठं चेत् पुनः सुखदुःखे आवश्यके इति आशङ्क्य आह **हेतुत्वमपि** इति. यथा सुखदुःखे तत्र न स्तः, तथा सुखदुःखयोः हेतुरपि तत्र न अस्ति. तत्र हेतुः यतः सुखदुःखहेतुत्वम् **असति** मिथ्याभूते दुष्टे वा कर्तरि अन्तःकरणएव. ननु आत्मन्यपि सुखदुःखहेतुत्वं प्रतीयतएव तत्र आह यः **स्वात्मनि** पूर्वम् **अधत्त** इति. चित्तगतमेव कर्तृत्वं पूर्वम् आत्मनि आरोपितम्, इदानीन्तु **उपलब्धा परात्मनः काष्ठा** स्वरूपं येन. अधुना परमानन्दः प्राप्तः इति न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भगवदीयैः इति. गुणैः इति अर्थः. अत्र गुणप्रवाहनिवृत्तौ उभयविधप्रवाहनिवृत्तिरेव मुख्यः पक्षो ज्ञेयः ।।३५।।

सोऽपि इत्यत्र. मूले 'निवृत्ते'ति पदं नितरां वृत्तिः निवृत्तिः इति तादृश-वृत्तिवाचकम्. **स्थापितवान् यः** इति. यो जीवः एवं कृतवान्. मूले **दुःखयोः** इति द्विवचनं दुःखत्वेन लौकिकसुखस्यापि ग्राहकम्. एवञ्च अस्याम् अवस्थायां परमानन्दः प्राप्तः, असङ्गोदासीन ऐक्यं प्राप्तो भवति इति फलति ।।३६।।

१.पूर्वमेव धत्त क. ङ.

अन्यगतकर्तृत्वारोपेण प्रयोजनम्. एवम् अन्तःस्थितिः सर्वा निरूपिता।।३६।।

बाह्यां निरूपयति **देहन्तु** इति द्वाभ्याम्. स्वानुपयोगो देहस्थितिश्च भेदेन निरूप्यते इति. तत्र प्रथमं स्वानुपयोगम् आह

देहं तु तं न चरमः स्थितम् उत्थितं वा सिद्धो *विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवाद् उपेतम् अथ दैववशाद् अपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः।।३७।।

देहन्तु न पश्यति, तत्र अभिमानो दूरे. **तं** पूर्वम् उपलालितमपि; यतो अयं चरमो देहोपकारानपेक्षः. घटादिवदपि तस्य अवस्थामपि न जानाति इति आह **स्थितम् उत्थितं वा** इति. यत्र पूर्वम् आसने स्थितः तत्रैव स्थितः, ततः उत्थितो वा इति न वेद; यतो अयं जीवः **स्वरूपं** ब्रह्मभावम् **अध्यगमत्.** गार्हस्थ्यदशायां स्थितं गृहादिकं यथा महाराजत्वे जाते न अनुसन्धत्ते. तर्हि अधिष्ठातृव्यतिरेकेण कथं देहः तिष्ठेद् गच्छेद् वा? इति आशङ्क्य आह **दैवाद् उपेतम्** इति. कालादिप्रेरणयैव वासनावशात् क्वचिद् देशान्तरे उपेतं भवति, तस्माद् अपेतञ्च. असम्भावितं मत्वा दृष्टान्तम् आह **मदिरया** यः उन्मादः, तेन **अन्धो** महामत्तो **यथा** स्वयमेव परिकृतं[१] वासः, न वेद; किं स्वस्मिन् गते गच्छति, अपगच्छति वा इति. ''देहन्तु नश्वरम्'' इति पाठे नश्वरम् इति अनुपयोगे हेतुः।।३७।।

देहस्य स्वरूपम् आह **देहोऽपि** इति.

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चम् अधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ।।३८।।

दैववशगो अयं **देहः** काल-कर्म-स्वभावाधीनः. **खलु** इति निश्चये. **यावत् स्वारम्भकं कर्म** तावत् **सासुः** प्राणसहितः. स्वस्थित्याद्यर्थं तत्कर्म अपेक्षते. बहुकालमपि तिष्ठति, तथापि तद् न अनुसन्धत्ते इति आह **तम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

देहम् इत्यत्र. **बाह्यां निरूपयति** इति पूर्वोक्तावस्था ज्ञापिका बाह्यावस्था इति तां निरूपयति इति अर्थः. ''देहं तु नश्वरम्'' इति पाठे विपश्यति इति पठनीयं भाति ।।३७।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे अष्टाविंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

---

* 'न पश्यति' इति मां.४. १.परिहृतम् ग. ङ.मां.४

प्रपञ्चसहितं **तं** देहम्, **अधिरूढः** समाधिपर्यन्तं च* योगो येन. अनेन नित्यारूढसमाधिः उक्तः. तादृशस्य बहिः संवेदनाभावाद् युक्तमेव तस्य अदर्शनम्. किञ्च, **स्वाप्नम्.** अयं हि प्रतिबुद्धवस्तुः स्वतः स्फुरिताऽत्मरूपः. तच्च **स्वाप्नं** स्वप्नइव प्रतीतं तुच्छम्. अतो रागाभावाद् लौकिकवदपि अनुसन्धानं न अस्ति।।३८।।

इदानीं देहादिव्यतिरिक्तम् आत्मानं साधयति, तदभावे पूर्वोक्तं नैव सिध्येत्. **यथा पुत्रात् च** इति.

यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्-मर्त्यः प्रतीयते।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद् देहादेः पुरुषस्तथा ।।३९।।

पुत्र-वित्तयोः लोके आत्मबुद्धिः, शास्त्रतश्च. आन्तरो देहः-पुत्रः बाह्याः प्राणाः-वितम्. तत्र यथा पुत्राद् वित्तादपि **मर्त्यो** मरणधर्मा, पुत्रे वित्ते विद्यमानेऽपि स्वयं म्रियते इति तस्मात् पृथक्. ननु अत्र भेदः स्वतः सिद्धः किम् अत्र साध्यते? इति आशङ्क्य आह **अप्यात्मत्वेन अभिमताद्** इति. येषान्तु न आत्मत्वेन अभिमतिः तान् प्रति न साधयामः, ये पुनः आत्मत्वेनैव[1] मन्यन्ते तेषामपि देहात् ते भिन्नाः इति अर्थः. एवमेव **देहादेः** देहेन्द्रिय-प्राणान्तःकरणात् पुरुषो भिन्नः।।३९।।

अत्र आत्मनो लोके पृथक् प्रतीत्यभावाद् युक्त्या उक्तमपि न सम्यग् अवगतं भवति इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति **यथा उल्मुकाद्** इति.

यथोल्मुकाद् विस्फुलिङ्गाद् धूमाद् वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाऽभिमतात् तथापि पृथग् उल्मुकात् ।।४०।।

अग्नेः त्रयो अन्ये सम्बन्धिनः आधारभूतं काष्ठं, कार्यं धूमः, स्वाधाराः स्वांशाः विस्फुलिङ्गाः. त्रयोऽपि अग्नेः यथा भिन्नाः, यद्यपि अग्नित्वेन अभिमताः. **उल्मुकं** ज्वलत्काष्ठम्. अग्नेरेव राजसं रूपं धूमः, तामसम् उल्मुकं, विस्फुलिङ्गाः सात्त्विकाः. **स्वसम्भवाद्** इति. त्रयाणां विशेषणम्. अग्निसम्बन्धादेव उल्मुकत्वम्, अन्यथा काष्ठत्वम्. ''अग्न्यात्मत्वेन अभिमताद्'' इत्यपि पाठः. **तथापि पृथग् उल्मुकाद्** इति. धूमादिषु भेदः

---

*'च' इति नास्ति ख. ग. च.मां४. १.आत्मत्वमेव क. ङ.

प्रत्यक्षसिद्धः, उल्मुके सन्दिग्धः इति सएव उक्तः।।४०।।

दार्ष्टान्तिकम् आह **भूतेन्द्रियान्तःकरणाद्** इति.

भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाद् 'जीव'सञ्ज्ञितात् ।

आत्मा तथा पृथग् द्रष्टा भगवान् 'ब्रह्म'सञ्ज्ञितः।।४१।।

भूतानि देहः, इन्द्रियाणि, अन्तःकरणञ्च प्रधानं स्वभावात्मकं; **जीवसंज्ञितं** 'लिङ्गशरीर'शब्दवाच्यम्. एतस्मात् चतुष्टयादपि आत्मा अग्निवत् पृथग्; यतो **द्रष्टा,** इदं च दृश्यम्. सच आत्मा **भगवान्** भगवत्प्रकृतिकः, नतु तत्त्वप्रकृतिकः. अविकृतकार्यत्वाद् अंशत्वाद् वा भगवत्सम्बन्धेन उक्तः. भगवान् इत्येव उच्यते इति केचित्. 'भगव'च्छब्दः कार्येऽपि वर्तते इति तद्व्यावृत्यर्थम् आह **ब्रह्मसंज्ञितः** इति. 'ब्रह्म' इति संज्ञा यस्य. अतो वैलक्षण्यस्य स्पष्टत्वात् सङ्घाताद् आत्मा पृथक्।।४१।।

एवं पृथग् आत्मज्ञानानन्तरं यत् कर्तव्यं तद् आह **सर्वभूतेषु** इति.

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षेताऽनन्यभावेन भूतेष्वपि तदात्मताम् ।।४२।।

यद्यपि सङ्घातात् पृथग् आत्मा प्रतीतः तथापि परिच्छिन्नः प्रतीतः इति न कार्यसिद्धिः. नहि परिच्छिन्नज्ञानाद् अपरिच्छिन्नं फलं भवति. अतः सर्वभूतेष्वेव आब्रह्म-तृणस्तम्बपर्यन्तेषु स्वात्मनं पश्येत्, स्वयमेव सर्वत्र वर्तते इति. यथा स्वस्मिन् आत्मनि अयं देहादिसङ्घातः केनचित् सम्बन्धेन वर्तते, एवमेव सर्वएव सङ्घाताः स्वस्मिन्नेव वर्तन्ते, न अन्यस्मिन् इत्यपि ईक्षेत[१]. उपचारात् स्नेहाद् वा न एवं द्रष्टव्यम् इति आह **अनन्यभावेन** इति. न विद्यते अन्यो भावो यस्य. अन्यबुद्धिः यस्मिन् मनसि न स्फुरति, तादृश मनसा. यथा सङ्घाते निरूपितं तथा भूतेष्वपि ज्ञातव्यम् इति आह **भूतेष्वपि तदात्मताम्** इति. भूतेषु स्वात्मा द्रष्टव्यः, भूतानि च स्वस्मिन् द्रष्टव्यानि इति. **तदात्मता** भूतात्मता. 'भूतेष्विव' इति पाठे भूतेषु तत्त्वप्रतीतेः तद्भावापन्नानि इति ज्ञानवतो दृष्टान्तः।।४२।।

ननु एकस्य कथं नानात्वप्रतीतिः? कथं वा सुखदुःखाद्युपपत्तिः? इति आशङ्क्य आह **स्वयोनिषु** इति.

१.इतीपेक्ष, घ. इत्यपेक्षेन ख. ग.

स्वयोनिषु यथा ज्योतिः एकं नाना प्रतीयते ।
योनीनां गुणवैषम्यात् तथात्मा प्रकृतौ स्थितः।।४३।।

यथा एकएव अग्निः, **स्वयोनिषु** काष्ठेषु, **नाना प्रतीयते**. वक्र-ऋज्वादिभेदेन, श्वेत-रक्तादिभेदेन च. तत्र हेतुः **योनीनां गुणवैषम्यम्**, आकारो जातिश्च, तथा आत्माऽपि प्रकृतौ विद्यमानः. आत्मनः सकाशाद् यद्यपि तत्त्वानि जायन्ते, ततश्च न तुल्यदृष्टान्तता, तथापि यदा[1] तेषु प्रविश्य उद्गच्छति तदा दृष्टान्तः इति ज्ञापयितुं **तथा आत्मा प्रकृतौ स्थितः** इति उक्तम्।।४३।।

शास्त्रार्थम् उपसंहरति **तस्माद्** इति.

तस्माद् इमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम् ।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणाऽवतिष्ठते ।।४४।।

इदं हि शास्त्रं साङ्ख्यं, योगस्तु अङ्गत्वेन उक्तः, यथा भक्तिः. अतः प्रकृतिव्युदासमेव उपसंहरति **इमाम्** अनुभूयमानां, स्वभावत्वेन स्वां प्रकृतिं, स्वस्य जायेव स्वसंसारप्रसवित्रीं, **दैवीं** भगवत्सम्बन्धिनीं, विना भगवत्कृपया भगवद्भावाभावे वा अनिवर्त्तमानां; **सदसदात्मिकां** कार्य-कारणरूपाम् अनेकविधां वा अस्थापने हेतुः. **दुर्विभाव्याम्** इति सम्बन्धानिरूपणे हेतुः, अतः स्वतो निवृत्त्यभावः. **एतादृशीं पराभाव्य स्वरूपेण अवतिष्ठते** इति शास्त्रम्. प्रकृति-तद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्षः इति सिद्धम् ।।४४।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे अष्टाविंशाध्यायविवरणम्.

१.यदि क.

।। एकोनत्रिंशाध्यायविवरणम् ।।

एवं ज्ञानप्रकरणं साङ्गं वै सुनिरूपितम् ।
अतः परं तु वैराग्यं चतुर्भिः विनिरूप्यते ।।१।।
वैराग्ये कारणं कालः परिच्छेदक ईरितः ।
कालस्य भक्तिहेतुत्वं माहात्म्यार्थं स्वतोऽपि तत् ।।२।।
ततो जीवस्य गतयो लोकशास्त्रविभेदतः ।
लोको हि द्विविधः प्रोक्तः परलोकस् तथैहिकः ।।३।।
वैदिको ब्रह्मपर्यन्तः कालश्चैवं चतुर्गतिः ।
यावाद् निरूपितं पूर्वं तत्कालास्पृष्टमेव हि ।।४।।
अग्रे सर्वं कालसाध्यम् अतो वैराग्यहेतुकम् ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ एकोनत्रिंशाध्यायं विवरिषवः प्रकरणस्य भिद्यमानत्वात् सङ्गतिबोधनाय प्रकरणयोः अर्थम् आहुः **एवम्** इत्यादि. तेनैव कार्यत्वम् अत्र संवादे प्रकरणसङ्गतिः. शास्त्रे मैत्रेयसंवादे च स्व-स्वरीत्या अवसरएव अध्यायसङ्गतिः. प्रकरणस्यतु तत्रापि एषैव इति अर्थः.

ननु चतुर्भिः कुतो वैराग्यनिरूपणम्? इति आकाङ्क्षायां तत्र उत्तरम् अध्यायार्थकथनेन सार्द्धाभ्याम् आहुः **वैराग्ये** इत्यादि. परिच्छेदकः कालो वैराग्ये कारणम् ईरितः. सच कालः प्रथमे वैराग्यजनक-सगुणभक्तिहेतुत्वेन स्वतो माहात्म्यवत्वेन च उक्तः. द्वितीये वैराग्यजनक-द्विविधजीवगतिहेतुत्वेन, तृतीय-चतुर्थयोः तत्प्रयोजक-द्विविधलोकहेतुत्वेन इत्येवं चतुर्गतिजनकः, अतो वैराग्ये चत्वारः अध्यायाः इति अर्थः.

वैदिकः इति चरणः परलोकविशेषणम्. न भक्त्यादीनाम् अर्थानां, पूर्वमपि निरूपितत्वात् कथम् अत्र तस्यैव निरूपण(णं) वैराग्यार्थत्वम्? इत्यतः आहुः **यावद्** इत्यादि. **वैराग्यहेतुकम्** इति. वैराग्यं प्रयोजकत्वेन निमित्तीकृत्य उक्तम्. तथाच, वैराग्यस्य दुःखजनित-जुगुप्साहेतुकत्वाद् दुःखस्य कालहेतुकत्वात् पूर्वेषु कालास्पृष्टत्वेन दुःखाद्यजनकत्वाद् न वैराग्यहेतुत्वम्. अतो अत्र कालकृतं तदर्थम् उच्यते इति अर्थः. ननु मैत्रेयो हि ''**अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः**'' (भाग.पुरा.३।५।२२) इति भगवल्लीलाः कथनाय प्रवृत्तः तस्य कालवशवार्ता

कालस्तु सर्वत्र समः स्वतन्त्रैः स विरुद्ध्यते ।।५।।
दण्डनेतुर्यथा सर्वे हरिणैव तथा यतः ।
अतः कालवशानां हि वार्ता प्रकरणे तथा ।।६।।
एकोनत्रिंशद् अध्याये कालभक्तिः ससाधना ।
माहात्म्यं चापि कालस्य विस्तरेण निरूप्यते ।।७।।
सर्गे यद् यस्य नोत्पत्तिः वैराग्यं न भवेत् ततः ।
आधिभौतिकभूतादीन्येतानीत्यपि बोध्यताम् ।।८।।

पूर्वप्रकरणे ज्ञानं साङ्गं सुविनिरूपितम्. वैराग्याभावे तद् न उपपद्येत इति पूर्वानुवादपूर्वकं वैराग्यहेतुं पृच्छति. यद्यपि भक्त्या वैराग्यं भवति इति पूर्वं सूचितं तथापि कीदृशी भक्तिः वैराग्यं जनयति? इति भक्तिभेदानपि पृच्छति. तत्र प्रथमं पूर्वानुवादम् आह सार्द्धेन **लक्षणम्** इति.

देवहूतिः उवाच

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च ।
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम् ।।१।।

त्वया महदादेः प्रकृति-पुरुषयोश्च लक्षणं कथितम्. **येन** लक्षणेन, स्वरूपात्मरूपं, **लक्ष्यते** ज्ञायते; **अमीषां** च स्वरूपं ज्ञायते. अनेन ज्ञानोपायः सर्वोऽपि उक्तः इति उक्तम्।।१।।

तत्र प्रमाणमपि उक्तम् इति आह **यथा साङ्ख्येषु कथितम्** इति.

यथा साङ्ख्येषु कथितं यद् मूलं तत् प्रचक्षते ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निरूपणे किं प्रयोजनम्? अतः आहुः **कालस्तु** इत्यादि सार्द्धम्. [१]यतो हरिणैव यथा सर्वे दण्डनेतुः यमस्य वशगाः कृताः तथा कालवशगाअपि. कालस्तु सर्वत्र समः स्वतन्त्रैः सह विरुद्धश्च, अतः तद्वशानां वार्ता जीवस्वातन्त्र्यत्याजनाय, भगवच्चेष्टारूपकालस्वभावस्य भगवद्दत्ताधिकारस्य च ज्ञापनाय उक्तविधलीलात्वेन रूपेण मैत्रेयो वदति इति एतत्प्रयोजनम् इति अर्थः. एवं प्रकरणार्थं निरूप्य अध्यायार्थम् आहुः **एकोने**त्यादि सार्द्धम्. **अस्य** इति कालमाहात्म्यस्य. एवं मैत्रेयोक्तो अवसरः साधितः. शुकोक्तं तं साधयन्ति **आधिभौतिके**त्यादि (८).

१.यथा.

भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरतः प्रभो ।।२।।

साङ्ख्यस्य माहात्म्यम् आह **यद्मूलं तत् प्रचक्षते** इति. **तत्** पूर्वोक्तलक्षणादिकं **यत्** साङ्ख्यमूलम् इति प्रचक्षते. यो भगवान् वा, तस्य साङ्ख्यस्य मूलम् इति प्रचक्षते. अनूद्य वैराग्यहेतुभूतां भक्तिं पृच्छति **भक्तियोगस्य** इति. **मे** मह्यम्. **मार्गं** नानाविधं, **विस्तरतो** बहुसाधनभेदतः, **ब्रूहि. प्रभो** इति तथाकथने सामर्थ्यम् ।।२।।

किं ततः स्यात्? तत्र आह **विरागो येन** इति.

विरागो येन पुरुषो भगवन्! सर्वतो भवेत् ।

आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः ।।३।।

भगवन्! इति सम्बोधनं वैराग्यस्याऽपि भगवद्गुणत्वेन भक्ति-साध्यत्वेऽपि न दोषः इति ख्यापनार्थम्. **येन** भक्तिमार्गेण कृत्वा, **पुरुषः सर्वतो विरागो भवेत्.** इदमेव वाक्यम् अग्रेऽपि युज्यते. भक्तिः हि अलौकिकप्रकारेण वैराग्यहेतुः. लौकिकप्रकारेण वैराग्यहेतुं पृच्छति **आचक्ष्व** इति. **जीवलोकस्य** [1]लोकप्राणिनः, **विविधाः** संसरणमार्गाः देव-तिर्यङ्-मनुष्यादि-योनि-प्राप्त्युपायाः. **मम** मह्यम्।।३।।

कालश्च वैराग्यहेतुः इति तस्य स्वरूपं कथय इति आह **कालस्य** इति.

कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते ।

स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद् हेतोः कुशलं जनाः।।४।।

ईश्वरस्य रूपमिव रूपं यस्य. ऐश्वर्यांशो भगवता काले स्थापितः, अतः कालस्य स्वरूपं ज्ञातव्यम्. किञ्च, **परेषां** ब्रह्मादीनामपि **परो** नियन्ता. किञ्च, **बत** इति हर्षे सर्वे **जनाः** कालहेतोः **कुशलं कुर्वन्ति.** कालाद् भयाभावे कोऽपि कुशलं न कुर्यात्।।४।।

ननु मया सर्वं वक्तव्यम् इति को अयं निर्बन्धः? तत्र आह **लोकस्य** इति.

लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुषः चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।

श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया त्वमाविरासीः किल योगभास्करः ।।५।।

लोकस्य निस्तारार्थे, **योगभास्करः किल त्वम् आविरासीः,** अतः

१.'लौकिकप्राणिनः' इति मां४.

त्वयैव सर्वम् अज्ञाननिवर्तकं[1] वक्तव्यं, सूर्येणैव हि सर्वं तमो बाध्यते. ननु लोकाः स्वयमेव स्वाज्ञानं कथं न दूरीकुर्वन्ति? तत्र आह **मिथ्याभिमतेः** इति. मिथ्या **अभिमतिः** अभिमानो यस्य. अभिमानेन ग्रस्ताः न सन्मार्गं जानन्ति इति अर्थः. किञ्च, चक्षुषा हि मार्गपरिज्ञानं, लोकास्तु **अचक्षुषः**. चक्षुः अत्र सच्छास्त्रम्, अन्यथा सूर्येणाऽपि कार्यं न किञ्चित्. अत्यन्ताविवेकार्थम् आह **अनाश्रये** अरक्षके, **तमसि** अज्ञाने, **चिरं प्रसुप्तस्य** पूर्वापरानुसन्धानव्यतिरेकेण संसारएव रमतः. तत्रापि **कर्मसु अनुविद्धया धिया श्रान्तस्य**.

कर्मश्रान्तः शयानोऽज्ञः [2]अन्यः सुप्तस्तमस्यधः।

दीनो भवति सर्वेषां ये समर्था दयालवः ।।

तेषां योगप्रकाशको[3] भास्करः, अतः चक्षुरपि प्रयच्छति, तमोऽपि दूरीकरोति, सुप्तमपि प्रबोधयति, श्रमापनोदनं च करोति, कर्मासक्तिं च त्याजयति, मिथ्याभिमानञ्च दूरीकरोति, आश्रयश्च भवति, शीघ्रञ्च कृतार्थं करोति इति अष्टाङ्गोद्धारहेतुः अयं भास्करः।।५।।

सन्मार्गं पृच्छति इति सन्तुष्टः, वैराग्यहेतुः न उक्तः इति श्रोतृत्वावगत्याऽपि प्रीतः, मातृत्वाद् अनुरुद्धः, तस्याः दीनत्वं दृष्ट्वा करुणया पीडितः, अग्रे[4] इयं कृतार्था भविष्यति इति महामुनित्वाद् ज्ञात्वा अभिनन्दनेन सम्मुखीकृत्य बभाषे इति आह **इती**ति.

मैत्रेयः उवाच

इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः ।

आबभाषे कुरुश्रेष्ठ! प्रीतस्तां करुणार्दितः ।।६।।

श्लक्ष्णं मनोहरं **मातुः वचः** तथात्वेन अभिनन्द्य, **तां** पुरुषार्थोपयोगिनीम् **आबभाषे** प्रत्युत्तरं दत्तवान्।।६।।

मुख्यां भक्तिं वक्तुम् आदौ गुणैः भिन्नां भक्तिम् आह **भक्तियोगो बहुविधः** इति.

श्रीभगवान् उवाच

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि! भाव्यते ।

१.निवर्तकं च. क. घ. ङ. २.'अन्धः' इति मां४. ३.योगप्रकाशः क. घ. ङ. १.अद्येयम् क.

स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ।।७।।

मार्गैः मतभेदैः, पुरुषस्वभावभेदैश्च, **बहुविधो भाव्यते.** यतः स्वभाव-गुणमार्गेण पुंसां स्वभावो विभिद्यते. स्वभावो जीवभेदनिमित्तः, जीवाः हि अनेकविधाः नानास्वभावाः. गुणाअपि भेदकाः अन्तःकरणस्वभावहेतवः. मार्गाः देश-काल-नियमेन [1]देहनियामकाः. वर्णाश्रमधर्म-पाषण्डादिप्रतिपादन-शास्त्ररूपो मार्गः. तेषाम् आवृत्त्या प्राणिनां भावो भिद्यते[2] अन्यथा श्रुत्वाऽपि स्वभाववशाद् अन्यथा अर्थं कल्पयन्ति, तदनुसारिणश्च तथैव प्रवर्तन्ते; अतो बहुविधाः मार्गाः भक्तौ।।७।।

तत्र प्रथमं तामसान् भक्तिभेदान् आह **अभिसन्धाय** इति.

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः ।।८।।

शत्रूणां हिंसाम् उद्दिश्य यस्तु **मयि भावं** भक्तिं कुर्यात्; सः तामस-तामसो भवति. तस्माद् दम्भेन यः करोति परप्रतारणार्थं सः राजस-तामसः, परस्य बुद्धिः धनञ्च अपह्रियते इति तामसत्वम्. मात्सर्येण परोत्कर्षासहनेन लोकानाम् असाधारणबुद्धिनिवृत्त्यर्थं यो मयि भावं कुर्यात् सः सात्त्विकतामसः. अयं भावः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भक्तियोगो बहुविधः इत्यत्र. **पुरुषस्वभावभेदैः** इति अयं हेतुः उत्तरार्द्धे अर्थतः प्राप्यते इति बोधयितुम् आहुः **यतः** इत्यादि. ननु चिदंशानां जीवानां सर्वेषाम् एकविधत्वात् कथं स्वभावभेदः ? इत्यतः आहुः **स्वभावः** इत्यादि. भगवतः सकाशाद् व्युच्चरिताः आत्मानो वासनाविशिष्टनानाविधलिङ्गेषु प्रविष्टाः 'जीव'शब्दवाच्याः भवन्ति इत्यतः स्वभावभेदः इति अर्थः. अन्यद् भेदकद्वयम् आहुः **गुणाः** इत्यादि. **मार्गाः** इत्यादि च. **मार्गाः** कर्मादयः, **देशाः** मगध-कुरुक्षेत्रादयः, **कालः** कृतकलि-सुदुर्मुहूर्त-नक्षत्रादिरूपः, तत्कृतो यो नियमः तादृशदेशकाल उत्पत्त्या आचार-संसर्गादिरूपः तेन तथा इति अर्थः ।।७।।

अभिसन्धाय इत्यत्र. मूलस्थ'भाव'पदेन उक्तस्य अर्थस्य स्वरूपम् आहुः **अयम्** इत्यादि. तत्र गमकम् आहुः **तत्र** इत्यादि. श्रवणादिरूपे तादृशस्य

१.देहनियामकवर्णा...ग. च. २.अपि भिद्यते ख. विभिद्यते घ.

आन्तरबुध्यात्मकः, अभिध्यानरूपः, [1]तपोरूपो वा; नतु श्रवणादिरूपः, तत्र तस्य अनधिकारात्. **भिन्नदृग्** इति. अभिन्नदृष्ट्यापि एते भावाः भवन्ति इति तद्व्यावृत्त्यर्थम् उक्तं; ''**यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत्, सत्येनाऽनेन नः सर्वे यान्तु नाशम् उपद्रवाः**'' (भाग.पुरा.६।८।३१) इति वाक्यात्. तमसो मूलं **संरम्भी** इति. भगवत्स्तोत्रेषु सर्वेषां सङ्ग्रहार्थं बहूनि फलानि उच्यन्ते; अतः फलविशेष-कामनयैव स्तोत्रादीनां श्रवणं सम्भवति इति तामसी भक्तिः उक्ता।।८।।

एवं राजसीं त्रिविधाम् आह

विषयान् अभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः ।।९।।

विषयान् स्रक्-चन्दनादीन्, **यशः** कीर्तिम्, **ऐश्वर्यं** वा क्रमेण अभिसन्धाय गुणैः भिन्नो राजसः प्रतिमादौ यो मां पूजयेत् सः राजसः. **पृथग्भावः** इति पूर्ववत्. **एव** इति समुदायव्यावृत्त्यर्थं, **वा** इति विकल्पार्थम्, अन्यथा चत्वारो भेदाः स्युः. 'आदि'शब्देन सूर्यादयः।।९।।

सात्त्विकभेदान् आह **कर्मनिर्हारम्** इति.

कर्मनिर्हारम् उद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
यजेद् यष्टव्यम् इति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः।।१०।।

कर्मणः पापस्य **निर्हारो** दूरीकरणं, प्रायश्चित्तम् इति यावत्. पूर्वकृत-कर्मणो वा रोगादिना परिज्ञाने तन्निवृत्त्यर्थं[2] यो भगवन्तं **यजेद्** वैदिक-तान्त्रिक-मार्गेण पूजां कुर्यात्, सः तामस-सात्त्विकः. **परस्मिन्** भगवति वा कृतानां सर्वकर्मणाम् **अर्पणं** समर्पणम् उद्दिश्य यो हरिं यजेत् सः राजस-सात्त्विकः. एवं विधानेन भगवन्तम् इष्ट्वा तत्र सर्वाणि कर्माणि समर्पणीयानि इति यो [3]यजते सः तथा उक्तः. यस्तु ''नित्यकर्मवद् यष्टव्यएव भगवान्'' इति [4]यजते सः[5] सात्त्विक-सात्त्विकः. **पृथग्भावः** पूर्ववत्।।१०।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अधिकारानुक्तेः इति अर्थः. **एते भावाः** इति अभिध्यारूपाः. अभिन्नदृष्ट्या क्रियमाणत्वे उदाहरणम् आहुः **यथा** इत्यादि ।।८।।

१.तपो वा. ग. ङ. २.परिज्ञानेन निवृत्त्यर्थम्. क. ३-४. 'यजेत्' इति मां४. ५.स च.

निर्गुणां भक्तिम् आह द्वयेन **मद्गुणे**ति.

मद्गुण–श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।

मनोगतिर् अविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसो–ऽम्बुधौ ।।११।।

परिच्छेदकाः हि गुणाः सत्त्वादयः[1]. भगवद्गुणास्तु सर्वोत्कृष्टहेतुत्वेन श्रुताः स्वाश्रयं भगवन्तम् अनवच्छिन्नमेव बोधयन्ति, अन्यथा स्वस्य उत्कर्षहेतुत्वं न स्यात्. अतः **सर्वगुहाशये मयि** भगवति, प्रतिबन्धरहिता **अविच्छिन्ना** या **मनोगतिः**. पर्वतादिभेदनमपि कृत्वा यथा गङ्गाम्भो अम्बुधौ गच्छति, तथा लौकिक–वैदिकप्रतिबन्धान् दूरीकृत्य या भगवति मनसो गतिः. **मनसः** इति उपलक्षणं, दुर्लभत्वाय वा; यथा कायिकगतिः गोपिकानाम्. सा गतिः **निर्गुणस्य भक्तियोगस्य** भगवति प्रेम्णो गतिः **लक्षणं** ज्ञापकम् इति उत्तरेण सम्बन्धः।।११।।

स्वरूपम् उक्त्वा लक्ष्य–लक्षणसम्बन्धम् आह **लक्षणम्** इति.

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।१२।।

निर्गुणस्य भक्तियोगस्य तल्लक्षणम् उदाहृतम् इति प्रमाणम्. आत्यन्तिकभक्तेः लक्षणम् आह **अहैतुकी** इति सार्द्धाभ्याम्. **या अहैतुकी पुरुषोत्तमे भक्तिः सएव भक्तियोगः आत्यन्तिकः उदाहृतः** इति सम्बन्धः. पुरुषोत्तमएव भक्तिः, नतु पुरुषेषु अवतारेषु[2] वा. **भक्तिः** च प्रेमपूर्विका सेवा. **हेतुः** फलानुसन्धानं[3], तद्रहिता अहैतुकी, अनिमित्ता वा. अनेन सगुणा निवारिता. **अव्यवहिता** इति कालेन कर्मणां वा यत्र सेवायां व्यवधानं न अस्ति, नतु निद्राभोजनादिना; तस्य सेवाहेतुत्वात्. **या भक्तिः** इति लोकवेदप्रसिद्धा, नतु चौर्यादिना विषयान् सम्पाद्य भगवत्सेवाकरणम्।।१२।।

तस्याः निदर्शनम् आह **सालोक्ये**ति.

सालोक्य–सार्ष्टि–सामीप्य–सारूप्यैकत्वम् अप्युत ।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।।१३।।

स एव 'भक्तियोग'ाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।

१.सात्त्विकादयः ख. च. २.इतरेषु ङ. ३.फलाभिसन्धानम् ख. ग. छ.

येनाऽतिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते।।१४।।

सैव आत्यन्तिकी या स्वतो रसभावं प्राप्तः, सैव न अन्यत् फलम् अङ्गीकारयति. अत्यन्तप्रेमोत्पत्तौ एवं भवति. **सालोक्यं** वैकुण्ठे वासः; **सार्ष्टिः** समानैश्वर्यं; **सामीप्यं** भगवत्समीपे स्थितिः, सालोक्येऽपि अयं विशेषः, **सारूप्यं** स्वस्याऽपि चतुर्भुजत्वम्; **एकत्वं** सायुज्यम्. **उत** इति तस्य मुख्यफलत्वं ज्ञापयति. तदपि **दीयमानं न गृह्णन्ति** इति अत्यन्तानादरे. दीयमानत्वं स्नेहात्. **मत्सेवनम्** इति सेवैव आनन्दरूपा जाता इति समासाद् बोध्यते, यतः ते **जनाः** सेवकाः. **भक्तियोगः** इति[१] तस्यैव नाम.

सएव **आत्यन्तिकः इति उदाहृतः**. तस्य स्वातन्त्र्याय भगवतइव फलसाधकत्वम् आह **येन** इति. **येन** भक्तियोगेन **त्रिगुणम् अतिव्रज्य, मद्भावाय** भगवत्त्वाय[२] **उपपद्यते** योग्यो भवति इति अर्थः।।१३-१४।।

एतस्याः भक्तेः साधनानि आह **निषेविते**ति[१] चतुर्भिः

निषेवितानिमित्तेन[३] स्वधर्मेण महीयसा।

क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ।।१५।।

मुख्यं साधनम् अन्तःकरणशुद्धिः, तद् अन्तःकरणं षोडशकलं भवतीति तस्य शुद्ध्यर्थं षोडशसाधनानि उच्यन्ते. तान्यपि त्रिविधानि. आधिभौतिकान्येव तानि कृतानि अन्तःकरणशुद्धिं सम्पादयन्ति परमां धर्मार्थं; तान्येव आध्यात्मिकानि ज्ञानार्थे शुद्धिं सम्पादयन्ति परमां; तान्येव च पुनः आधिदैविकानि परमां शुद्धिं सम्पादयन्ति भक्त्यर्थम्. साच भक्तिः आत्यन्तिकी; इदं वैलक्षण्यं वक्ष्यति "**मद्धर्माचरणैरेतैः**"(भाग.पुरा.३।२९।१९) इति. अन्यथा उक्तानां मद्धर्मत्वं न विहितं स्यात्. अतएव प्रथमं धर्मत्रयम् आह स्मार्तं, श्रौतं, तान्त्रिकञ्च इति सार्द्धेन. प्रथमं श्रौते रुचिः न भवति इति स्मार्तं विधत्ते. **स्वधर्मेण परिसंशुद्धाशयः पुरुषो मत्सम्मुखम् एति** इति सम्बन्धः. एवम् अन्येष्वपि साधनेषु. **स्वधर्मो** वर्णाश्रमधर्मो देहप्रयुक्त्या निष्पन्नः. सोऽपि सम्यग् नितरां सेवितः चेद्, नतु अनुकल्पेन. तत्रापि कामनारहितेन; तत्रापि सजातीय-प्रचयसहितेन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निषेवितेत्यत्र. **तादृशपशुसद्भावे** इति. इध्मादितुल्यपिष्टपशुसद्भावे।।१५।।

१.इतीति नास्ति क. घ. ङ. २.भगवद्भावाय ख. ङ. च. ३.निवेविननेति क. च. निषेवितेनानि क.

महीयसा. त्रिविधगुणयुक्तश्चेत् स्वधर्मः स्नानादिरूपः स्मार्तः, सतु पार्थिवांशदोषं दूरीकरोति इति षोडशांशोपकारं करोति. एवं क्रियायोगो वैदिको यज्ञात्मकः. **प्रशस्तः** येषु ब्राह्मणवाक्यानि अतिप्रशंसकानि भवन्ति, नतु द्वादशाहा(?) हीनवद् निन्दितान्यपि भवन्ति. तत्रापि हिंसाप्रचुरं न कर्तव्यम्. अल्पहिंसा इध्माबर्हिषाम् अर्थे. आलम्भेऽपि तादृशपशुसद्भावे अल्पहिंसा भवति "**मृत्यवे वा एष नीयते**"(तैत्ति.संहि.३।१।५) इति श्रुतेः. अतो **न अतिहिंस्रेण** इति उक्तम्. सोऽपि सर्वदा कर्तव्यः. एवं क्रियायोगोऽपि गुणत्रयसहितः. अयम् आध्यात्मिकं दोषं दूरीकरोति इति अपां च आध्यात्मिकत्वात् तच्छोधको भवति।।१५।।

एवं स्मार्त-श्रौताभ्यां परिशुद्धः तान्त्रिके अभिनिविष्टः पञ्चाङ्गं भगवद्भजनं करोति इति आह **मद्धिष्ण्ये**ति.

मद्धिष्ण्य-दर्शन-स्पर्श-पूजा-स्तुत्यभिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनाऽसङ्गमेन च ।।१६।।

भगवद्धिष्ण्यानि अधिष्ठानानि. 'धिष्ण्य'पदेन च प्रमाणमूलकानि श्रीरङ्गादीनि. तेषां प्रथमतो दर्शनं; ततः चरणस्पर्शः, ततः पूजा, स्तुतिः, अभिवन्दनञ्च इति पञ्च. पञ्चानां प्रत्येकसामर्थ्यद्योतनाय बहुवचनम्. अनेन सर्वतैजसशुद्धिः उक्ता, पञ्चाग्नौ अयं जातः इति. चतुर्थं साधनम् आह **भूतेषु** इति. सर्वेष्वेव सङ्घातेषु भगवद्भावना कर्तव्या, भगवानेव एवं जातः, अवस्थः इति वा; यथा वायोः. साधनान्तरं **सत्त्वेन** इति. सत्त्वगुणः साधनम्. तत् त्रिविधं : सात्त्विक-कर्मरूपं, सतां स्वरूपत्वापादकं, वसुदेवरूपान्तःकरणसाधकञ्च. अनेन आकाश-शरीरत्वाद् भगवतः तच्छुद्धिः उक्ता. इन्द्रियशुद्धिम् आह **असङ्गमेन** इति. सर्वसङ्गनिवृत्तिः कर्तव्या. **च**कारात् तदिच्छापरित्यागः।।१६।।

महतां बहुमानेन दीनानाम् अनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ।।१७।।

स्वापेक्षया **महतां बहुमाननं,** पीडितानां **दीनानां** स्वापेक्षया हीनानाम् अनुकम्पा, **तुल्येषु** च **मैत्री** नतु मात्सर्यम्. अवगणना, स्पर्द्धा च न कर्त्तव्या इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मद्धिष्ण्येत्यत्र. **यथा वायोः** इति. येन कृतेन प्रकारेण वायोः शुद्धिः इति अर्थः ।।१६।।

चार्थः. चक्षुषो दर्शनस्य स्पर्शस्य च दोषाः व्यावर्तिताः. **यमेन नियमेन च** इति प्रत्येकं द्वादशविधेनाऽपि [1]कर-पादौ शोधितौ. अहिंसादयो **यमाः**, स्नानादयो **नियमाः**, **च**कारादु अवान्तराः[2] गृहीताः।।१७।।

आध्यात्मिकानुश्रवणाद् नाम-सङ्कीर्तनात् च मे ।

आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहङ्क्रियया तथा ।।१८।।

आध्यात्मिकानां शास्त्राणां साङ्ख्य-योगादीनाम्, **अनुश्रवणं** गुरुमुखात् श्रवणं, श्रोत्रसंस्कारकम्. भगवतो निरन्तरं नामकीर्तनं च वाक् संस्कारकम्. **च**कारादु गुणकर्मणामपि. **मे** इति विषयो व्यावर्तितः. सर्वत्र आर्जवम् ऋजुत्वं, घ्राणसंस्कारः उक्तः. आर्याणां सतां सङ्गो जिह्वासंस्कारकः. तएव इतररस-निवारकाः. अहङ्काराभावस्तु मनःशोधकः सुप्रसिद्धः।।१८।।

मद्धर्माचरणैर् एतैः परिशुद्धाशयः[3] स्फुटम् ।

अञ्जसा[4] पुरुषोऽभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ।।१९।।

एते सर्वे ये भक्तिजनकाः, ते मद्धर्माः, तैः परितः शुद्धः आशयो भवति. तदैव **पुरुषः, अञ्जसा** सामस्त्येन, **श्रुतमात्रगुणं माम अभ्येति**. यथा चिरकाङ्क्षित-विदेशगतपुत्रगुणे श्रुते, भर्तृगुणे वा, सर्वतो निवृत्तं मनः तत्र प्रविशति, स्वयञ्च अभिमुखो भवति इति. युक्तम् उक्तम् इति **हि** शब्दार्थः. **पुरुषस्य अञ्जसा** इति पाठे आशयएव कर्ता।।१९।।

एकं च साधनम् आह **यथा वातरथः** इति.

यथा वातरथो घ्राणम् आवृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।

एवं योगरतं चेत आत्मानम् अविकारि यत् ।।२०।।

निरन्तरं सेव्यमानो योगः एकएव सर्वसाधकः. तत्र शुद्धिरपि न अपेक्ष्यते

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मद्धर्माचरणैः इत्यत्र. **तदैव पुरुषो अञ्जसा** इति एवम् अर्थकथने **अञ्जसा पुरुषो अभ्येति** इति पाठो बोध्यः. श्रीधरीयेतु ‘‘मद्धर्मणो गुणैरेतैः’’ इति पाठः ।।१९।

यथा इत्यत्र. **साधनम् आह** इति. मुख्यं भगवत्प्राप्तिसाधनम् आह इति अर्थः।।२०।।

---

१. ‘करौ-पादौ’ इति मां४. २.अवान्तरभेदाः ख. घ.मां४. ३.परिसंशुद्ध आशयः पा. ४.पुरुषस्त्वञ्जसाऽभ्येति. क.मां४.

इति दृष्टान्तेन तथात्वम् आह **यथा गन्धो** वातारूढः, स्वभावतएव वा, वातो रथो यस्य. सतु घ्राणमेव आवृङ्क्ते, घ्राणएव तस्य ग्राहको भवति इति. एवं योगरतमपि चित्तम् आत्मानमेव गृह्णातीति आत्मगाम्येव भवति. अत्र पूर्वसाधनानि अपेक्ष्यन्ते इति आशयेन आह **अविकारि यद्** इति. यत् चितं सर्वमेव विकारं त्यक्तवत्।।२०।।

एवम् उत्तमां भक्तिं ससाधनां साधयित्वा पूर्वोक्तां सगुणां त्रिविधामपि निन्दति **अहम्** इति चतुर्भिः

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थितः सदा।
तम् अवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्।।२१।।
करोति यत्तद् नटवद् मुख्यस्याऽतिक्रमस्तथा।
दोषोत्पत्तिश्च प्रचुरा मत्प्रीतेश्च न साधकम्।।१।।

तत्र प्रथमं पूर्वभक्तिः अनुकरणमात्रं, नतु भक्तिः इति आह **सर्वेषु भूतेषु अहम् आत्मा.** ''**अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः**'' (ब्रह्मसू.१।४।२२) इत्यत्र प्रतिपादितं भगवतएव अवस्थाविशेषो जीवः इति. तद् आह **अवस्थितः सदा** इति. **अहमेव** वा **भूतात्मा** सर्वभूतरूपः, तत्त्वरूपः, जीवरूपश्च, सङ्घातरूपश्च इति. **अवस्थितः सदा** इति अन्तर्यामी. अतः सर्वभावेन **सर्वेषु भूतेषु** विद्यमानं **माम् अवज्ञाय,** भेदबुद्धिं हिंसादिकञ्च तत्र जनयित्वा स्वात्मानमपि केवलं मर्त्यं शरीरं मत्वा, यत् **कुरुते** तद् **अर्चाविडम्बनमे**व।।२१।।

अथ भगवदाकाराभावात् स्वबुद्ध्या शास्त्रम् उल्लङ्घ्य यदि भजते तदा यत् तस्य फलं तद् आह **यो माम्** इति.

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तम् आत्मानम् ईश्वरम्।
हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः।।२२।।

सङ्घाते अहं त्रिरूपो वर्ते : प्रथमं सर्वेषु भूतेषु तद्रूपः, ततः आत्मरूपः, ततः ईश्वरो अन्तर्यामी नियामकः. एवं पुरुषे सर्वभावेन विद्यमानं भगवन्तं **हित्वा,**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यो माम् इत्यत्र. ननु एकादशस्कन्धे भगवता ''**मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य**'' (भाग.पुरा.११।२७।५०) इत्यादिना महता प्रपञ्चेन प्रतिमापूजनमेव मुख्यतया

अर्चां प्रतिमां **यो भजते**. भजने प्रमाणाभावम् आह **मौढ्याद्** इति नतु स्वतन्त्रो भगवन्मार्गो निषिद्धः, सः गुणातीतः इति एकादशे वक्ष्यते, ''**मन्निकेतं तु निर्गुणम्**'' (भाग.पुरा.११।२५।२५) इत्यादिभिः. प्रकरणेन च वाक्यानि सम्बद्धानि तत्प्रकरणस्थमेव गुणदोषं वदन्ति, तत्र पृथग्भावस्तु न उक्तः. द्वादशानुसारेण वा पुरुषो नारायणः इज्यः. उभयत्राऽपि भेद-गुणयोः अभावाद् न एतानि दूषणानि भवन्ति, किन्तु अत्रैव तानि पूर्वोक्त-सगुणभक्ति-दूषकाणि. अर्चायां ज्ञान-क्रिया-चैतन्यानन्दानाम् अभावाद् निष्पादनार्थं व्यापृतान्यपि एतानि पश्चात् त्यक्त्वा गतानि इति भस्महुतप्रायं भवति. **सः** इति पूर्वोक्तएव. पूर्वम् अग्निः तत्र दृष्टः इति शान्तेऽपि अग्नौ भ्रमाद् होमः इति सो अत्र दृष्टान्तीकृतः।।२२।।

परद्वेषादिना अर्चायां भगवद्भजने कामाद्युत्पत्तेः कदाचिदपि न मनःशान्तिः भवति इति आह **द्विषतः** इति.

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिम् ऋच्छति ।।२३।।

सहि मामेव द्वेष्टि, यतो भूतेषु अहमेव वर्ते इति. अतः **परकाये मां द्विषतो मनः** कदापि **न शान्तिम् ऋच्छति** इति सम्बन्धः. ननु जीवएव द्वेषाश्रयः सङ्घातो वा; अन्यथा व्यवहारो न स्याद्, अतो भेदो व्यवहारार्थं मृग्यएव, ''**यं द्विष्यात् तं**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

निरूपितम्, अत्रतु निन्द्यते इति कथम् अविरोधः? इत्यतः आहुः **नतु** इत्यादि. तत्र गमकम् आहुः **सः** इत्यादि. तथाच विषयाधिकारिणोः प्रमाणस्य च भेदाद् न विरोधः इति अर्थः. प्रकारान्तरं सङ्गृह्णन्ति **द्वादशे**त्यादि. ''**तान्त्रिकाः परिचर्यायाम्**'' (भाग.पुरा.१२।११।२) इत्यादिना उक्तेः. एवं विरोधं परिहृत्य प्रस्तुतं व्याकुर्वन्ति **अर्चायाम्** इत्यादि. **ज्ञान-क्रिये** इत्यत्र ज्ञानं धर्मात्मकं बोध्यम्. **निष्पादनार्थं व्यापृतान्यपि एतानि** इति अर्चकस्य [१]अज्ञानादीनि अर्चायां भगवत्त्वनिष्पादनार्थं व्यापृतानि भूतेषु भगवदवज्ञया त्यक्त्वा गतानि इति अर्थः।।२२।।

द्विषतः इत्यत्र. अत्र परकाये स्वद्वेषकथनं लोकवेदविरुद्धम् इति आशङ्क्य समादधते **ननु** इत्यादिना. **अन्यथा** इति. जीव-सङ्घातयोः भगवदभिन्नत्वे.

१.अर्चकस्य ज्ञाना.

ध्यायेद्''(तैत्ति.संहि.६।४।५) इति श्रुतेश्च. तत्र कथम् आह भगवान् ''**मां द्विषतः**''(भग.गीता १६।१९) इति चेत्; सत्यम्. तद्गतापकारक्रियया हि तस्मिन् द्वेषः. सा क्रिया मत्कृता, मत्प्रेरणया वा जाता इति तन्निमित्तं चेद् अन्यं द्वेष्टि, तर्हि मामेव द्वेष्टि. भेदेतु यज्ञपरिपन्थिनो दैत्याः, मदधिष्ठिताअपि, रोगाइव निवर्तनीयाः; तुषादिरिव व्रीह्यादिषु. अतो यज्ञार्थं द्वेषः; नतु द्वेषार्थं यज्ञः उचितः. श्येनादावपि एवमेव, यज्ञभ्रातृव्यएव स्वभ्रातृव्यः इति. तत्रतु यज्ञो निरभिमानः इति तावदपि कर्तव्यम्; अत्रतु भगवान् साभिमानः इति द्विषन्तमपि न द्विष्यात्. कार्यन्तु प्रह्लादइव सेत्स्यति. अतो अत्र मार्गे सर्वथाऽपि द्वेषो अनुचितः. भगवदर्थं सृष्टिः च इयम्; अतो अत्र भगवद्द्वेषएव भवति. किञ्च, **मानिनः, भिन्नदर्शिनः, भूतेषु**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तन्निमित्तम् इति. अपकारनिमित्तम्. ननु व्यवहारार्थं भगवतैव भेदः प्रकटितः इति तत्प्रयुक्तो द्वेषः इति शङ्कायां तत्र व्यवस्थाम् आहुः **भेदेतु** इत्यादि. ननु एवं सति श्येनादिविधीनां का गतिः? इत्यतः आहुः **श्येने**त्यादि. **इती**ति अस्माद् हेतोः. विद्वेषार्थं श्येनयागः इति तस्यापि न भूतद्वेषे तात्पर्यम्. ननु श्येनदृष्टान्तेन अत्रापि विद्वेषः सङ्गमनीय इति चेत्, तत्र आहुः **तत्रतु** इत्यादि. एतेन ''**यो मां द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः यं द्विष्मः तस्मिन् प्रतिमुञ्चामि पाशम्**''(कौषी.ब्राह्म.उप.२।८) इत्यादावपि 'माम्' इत्यनेन यज्ञादिरूपं भगवन्तं निरभिमानं, **वयम्** इत्यनेन यज्ञद्वेषिप्रतिपक्षाः इत्यादिरूपं जानीयाद् इति ज्ञापितम्. ननु एवं सर्वाद्वेषे कथं कार्यसिद्धिः? इति आकाङ्क्षायां भगवतैव सिद्धिः इति दृष्टान्तेन आहुः **कार्यन्तु** इत्यादि. ननु एवं सर्वथा द्वेषत्यागे ''यो मां द्वेष्टि'' इत्यादिषु लक्षणाप्रसक्तिः, ''**विश्वामित्र-जमदग्नी वशिष्ठेनास्पर्धेताम्**''(   ) इत्यादिवाक्योक्ताचारविरोधश्च आपद्येत इति न इदं युक्तम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **भगवदर्थम्** इत्यादि. तथाच अन्यत्र यथा तथा अस्तु, यः तावद् अस्यां सृष्टौ उत्पन्नः सः सर्वत्र एतामेव अनुसन्दध्याद्, अतः सर्वं समञ्जसम् इति अर्थः. द्वेषाभावस्य आवश्यकत्वं फलप्रदर्शनेन समर्थयन्ति **किञ्च** इत्यादि. तथाच विद्वेषादीनाम् अशान्तिरूपं प्रत्यक्षदोषम् अनुसन्धाय तया सुखाभावरूपं दोषं प्रत्यक्षाद् ''**अशान्तस्य कुतः सुखम्**'' (भग.गीता २।६६) इति वाक्याद् विमृश्य च द्वेषाभिमानादिकं त्यजेद् इति अर्थः ।।२३।।

बद्धवैरस्य इति दोषत्रयम्. सात्त्विक–राजस–तामसाः दोषाः निरूपिताः. नहि त्रिदोषव्याप्तस्य शान्तिः अस्ति. अभिमानस्तु सात्त्विकदोषएव, उत्कृष्टकर्मणैव अभिमानो भवति इति. क्रियया हि भेदः इति राजसं भेदज्ञानं, वैरन्तु तामसम् इति ।।२३।।

अहन्तु न सन्तुष्टो भवामि इति मुख्यं दूषणम् आह **अहम्** इति.

अहम् उच्चावचैर् द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे! ।

नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ।।२४।।

यद्यपि बहुसुर्वणपुष्पादिकं प्रयच्छति, तथापि **उच्चावचैः** अनेकविधैः **द्रव्यैः** पुष्पादिभिः **उत्पन्नया** क्रियया **अहं नैव तुष्ये**. तत्र हेतुः **भूतग्रामावमानिनः** इति. **अर्चायाम्** इति उपलक्षणम्. पुरुषविशेषेऽपि [१]भजने **भूतग्रामावमानिनो न** तोषएव. परं तत्र तादृशएव भजति इति **अर्चायाम्** इति उक्तम्।।२४।।

तर्हि अर्चाविधायकानि वाक्यानि व्यर्थानि स्युः इति आशङ्क्य आह **अर्चादौ** इति.

अर्चादावर्चयेत् तावद् ईश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।

यावद् न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।।२५।।

यावत् सर्वात्मकं भगवन्तं न जानाति तावद् अर्चायाम् अर्चयेत्. यतो अहम् ईश्वरः, अन्यथा मारयेत्. सा अर्चा धर्मरूपा इति आह **स्वकर्मकृद्** इति. सन्ध्यावन्दनवद् भगवत्पूजाऽपि नित्या ब्राह्मणादीनाम्. अतः **स्वकर्मकृत्** शालग्रामादौ मां पूजयेद्, **यावद्** मां **सर्वभूतेषु अवस्थितं स्वहृदि न वेद** अनुभवो न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अहम् इत्यत्र. द्वेषादेः महान्तं दोषं वदन्ति **अहन्तु** इत्यादि. **पुरुषविशेषे** इति गुर्वादौ ।।२४।।

अर्चादौ इत्यत्र. **अर्चाविधायकानि** इति. सगुणार्चाविधायकानि. **यावदि**त्यादि, तथाच मुख्याधिकाराभावे कर्तव्यताबोधनेन सार्थक्याद् न तेषां वैयर्थ्यम् इति अर्थः. ननु एवं वाक्यवैयर्थ्याभावे पूजायाः फलाभावात् फलतो वैयर्थ्यं दुर्वारम् इत्यतः आहुः **यतः** इत्यादि. तथाच अनिवृत्तिः ईदृशी ततो भवति इति न फलतो वैयर्थ्यम् इति अर्थः. तादृशपूजायाः स्वरूपम् आहुः **सार्चा** इत्यादि.

१.भजन् क. ग. ङ. च.

भवति इति अर्थः, नतु शाब्दज्ञानं प्रयोजकम्. यथा साक्षाद् भगवति समागते बुद्धिः भवति, एवं कृमि–कीटादावपि चेद् बुद्धिः तदा कर्मनिवृत्तिः अर्चानिवृत्तिश्च इति साधारणम् एतद् वाक्यं, गुणप्राधान्याभावात्।।२५।।

ज्ञानोत्तरन्तु न कर्तव्यम् इत्यत्र हेतुम् आह **आत्मनः** इति.

आत्मनश्च परस्याऽपि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युः विदधे भयम् उल्बणम् ।।२६।।

यदि ज्ञानोत्तरमपि पूजां कुर्याद्, भेदबुद्ध्या स्वसेवामिव कुर्वन् न दुष्यते. स्वसेवया च स्वयं सन्तुष्यते, ''**यदि अन्यां देवताम् उपास्ते, अन्यो असौ अन्यो अहम् अस्मीति यथा पशुरेवं स देवानां पशुः**''(बृहदा.उप.१।४।१०) इति श्रुतेः आत्मा इत्येव उपासीत. यस्तु पुनः, **आत्मनः परस्याऽपि अन्तरा**[1] **उद् अरमपि** ईषदपि **अरं** भेदं करोति. अराः हि भेदकाः चक्रस्य. ''**यदा ह्येव एष एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति**''(तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः. तद् भयम् अहमेव प्रयच्छामि इति आह **तस्य भिन्नदृशः** इति. **उल्बणं भयं विदधे** विशेषेण तस्मिन् स्थापयामि. तद् भयं मृत्युरेव, नहि अन्येन भयेन प्राणान् त्यजति. सहजो हि प्रयत्नः प्राणधारकः, अतो भक्तिफलं दूरे; मृत्युस्तु[2] सेत्स्यति इति[3] ज्ञानोत्तरं मृत्योः अभावाद् एतद् न कर्तव्यम् इति फलितम्।।२६।।

अज्ञानदशायामपि अर्चापेक्षया ज्ञानार्थिनः सर्वभूतेष्वेव भजनं श्रेष्ठम् इति आह **अथ माम्** इति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रयोजकम् इति पूजादिकर्मनिवृत्तिप्रयोजकम्. एतदेव व्याकुर्वन्ति **यथा** इत्यादि. **साधारणम्** इति. पूजामात्रसाधारणम्. एतादृशत्वे ''**गृहं सर्वात्मना त्याज्यम्**'' (पञ्चश्लोकी१) इति उक्तरूपस्य त्यागस्यैव अधिकाराद् इति ।।२५।।

आत्मनः इत्यत्र. **आह** इति. अभेददर्शनरूपं हेतुं भेदनिन्दामुखेन आह. **पूजां कुर्याद्** इति. भिन्नदृशा पूजां कुर्यात्. तस्य अहमेव भयं प्रयच्छामि इत्यनेन अस्य अन्वयः. तेन सिद्धम् आहुः **भेदबुद्ध्या** इत्यादि. अत्र अकारः पतितः इति प्रतिभाति. **विदधे** इति उत्तमपुरुषयोगे 'मृत्यु'पदम् अन्वितमेव तिष्ठति इत्यतः आहुः **तद्भयं मृत्युरेव** इत्यादि ।।२६।।

१.अन्तरा अन्तरमपि क. घ. ङ. २.मृत्युमप्येति इति घ. ३.नश्यति ङ.

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद् दान–मानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ।।२७।।

अथ इति भिन्नप्रक्रमार्थः, पूर्वं ज्ञानिनो निरूपणात्. सर्वभूतेषु भजनं भक्तिमार्गेऽपि वर्तते इति तन्निवृत्त्यर्थम् आह **भूतात्मानम्** इति. भूतानाम् आत्मा जीवः. ननु सः सर्वत्र वर्तते इति को अयं भूतेषु विशेषः? तत्र आह **कृतालयम्** इति. यथा कश्चिद् गृहं कृत्वा क्वचित् तिष्ठति, तदुपलब्धिः तत्र सुलभा, अतः आत्मनोऽपि सङ्घातरूपं गृहं कृत्वा स्थितस्य तत्र उपलब्धिः सुलभा. लोकेऽपि गृहे पदार्थसमर्पणे गृहस्थः प्रीतो भवति, अतो भूतेष्वेव माम् अर्हयेत्. यथायोग्यञ्च पूजा, येनैव यः सन्तुष्यति. तत्र मुख्यं दानं, मानञ्च, मैत्री च. निकृष्टे दानम्, उत्कृष्टे मानं, समे मैत्री. एतदपि **अभिन्नचक्षुषा** सर्वत्र आत्मज्ञानेन कर्तव्यं, नतु लोकदृष्ट्या इति आह **अभिन्ने**ति।।२७।।

विशेषपूजायाम् उत्कृष्टब्राह्मणलक्षणम् अधिष्ठानं वक्तुं सर्वजीवापेक्षया तस्य उत्कर्षम् आह **जीवाः** इति सार्द्धैः षड्भिः

जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे! ।
ततः सचित्ताः प्रवराः ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ।।२८।।

जीवाः प्राणयुक्ताः **अजीवानां** पाषाणादीनां मध्ये श्रेष्ठाः वृक्षादयः. ततः **प्राणभृतः** श्वासोच्छ्वासवन्तो जङ्गमाः श्रेष्ठाः. **शुभे!** इति सम्बोधनम् उक्त–विश्वासाय. देहापेक्षया[1] स्थूलः प्राणः उत्कृष्टः, ततोऽपि आसन्यः. एवम् एते त्रयो निरूपिताः क्रियाशक्तिप्रधानाः. ततो ज्ञानशक्तिप्रधानाः उत्तमाः इति आह **ततः सचित्ताः** इति चेतनाधारभूतम् अन्तःकरणं चित्तं, ज्ञानवन्तः इति यावत्. **ततः च इन्द्रियवृत्तयः** इति. सविषयज्ञानवन्तः. इन्द्रियाणि एतानि क्रियामयानि।।२८।।

ततोऽपि ज्ञानवतां श्रैष्ठ्यम् आह **तत्राऽपि** इति.

तत्राऽपि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः ।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठाः ततः शब्दविदो वराः।।२९।।
रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतो दतः ।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाः चतुष्पादस्ततो द्विपात् ।।३०।।

१.श्वासापेक्षया ङ.

ततो वर्णाश्च चत्वारः तेषां ब्राह्मण उत्तमः।

ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ।।३१।।

अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत्।

मुक्तलिङ्गस्ततो भूयान् अदोग्धा धर्मम् आत्मनः।।३२।।

ज्ञानेन्द्रियेषु निकृष्टः स्पर्शः, ततो रसना उत्कृष्टा, मधुरादयो हि रसाः स्पर्शापेक्षयाऽपि मोहकाः इति. ततोऽपि गन्धविदः, पृथिवीगुणत्वाद् दूरादपि ज्ञानजनकत्वात् च. **स्पर्शवेदिनः** प्रायेण सर्वे कृमयः; ततो मत्स्याः **रसवेदिनः**. **गन्धविदो** भ्रमरादयः; **ततः शब्दविदो** हरिणाः, गन्धापेक्षयाऽपि शब्दो दूरादेव अर्थं ज्ञापयति इति.

ततोऽपि चक्षुः, अतिदूराद् अर्थं ज्ञापयति इति **रूपभेदविदः** काकादयः श्रेष्ठाः. **ततः च उभयतो दतः** साधनाधिक्यवन्तः मर्कटादयः श्रेष्ठाः, मूषकादयो वा. तच्च करणम् अन्तःनयनार्थमेव इति ततोऽपि बहिःकरणवन्तः श्रेष्ठाः इति आह **तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाः** इति. गोजरादयो बहुपदाः. ततोऽपि चतुष्पादः सर्वे मूषक-मार्जार-श्वादयः. **ततो द्विपात्,** सर्वे पक्षिणो मनुष्याश्च.

ततो ब्राह्मणादि**वर्णाः** उत्तमाः, धर्मवत्त्वात्[१]. तेषाम् आद्यः, मुख्य-धर्मत्त्वात्. जातिब्राह्मणापेक्षयाऽपि वेदाध्यायी महान्, ततोऽपि वेदार्थवित्. ततोऽपि वेदार्थे सर्वसन्देहनिवारकः. ततोऽपि यज्ञादिकर्ता श्रेष्ठः. ततोऽपि **मुक्तलिङ्गो** गलितदेहाभिमानः श्रेष्ठः. ततोऽपि निरभिमानो भूत्वा ऐहिकामुष्मिकार्थं न किञ्चित् करोति, नाऽपि वाञ्छति सः उत्तमः ।।२९-३२।।

तस्मात् तादृशो भूत्वा यो भगवद्भक्तः सः महान् इति आह **तस्माद्** इति.

तस्माद् मय्यर्पिताशेष-क्रियार्थात्मा निरन्तरः।

मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणाम्।।

न पश्यामि परं भूतम् अकर्तुः समदर्शनात्।।३३।।

व्यर्थत्यागापेक्षया[१] भगवति समर्पणम् उत्तमम् इति. **मयि अर्पितो अशेषः क्रियार्थः आत्मा** च येन, आत्मनिवेदी. तादृशोऽपि[२] भूत्वा यः आत्मत्वेनैव

१.धर्ममयत्वात् क. धर्मत्वात् घ. ङ. १.अर्थत्यागा क. घ. ङ. २.'अपि' इति नास्ति क. घ. ङ४.

भगवन्तं जानाति, सः महान्. अतोऽपि कश्चिद् महान् अस्ति इति आशङ्क्य परिहरति **मयि अर्पितात्मनः** इति. मदर्थं **संन्यस्तकर्मणां** पुंसां मध्ये, **मयि अर्पितात्मनः, अकर्तुः समदर्शनाद्** अन्यं **परम्** उत्कृष्टं **न पश्यामि**. यद्यपि तत्तच्छास्त्रे ते-ते श्रेष्ठाः निरूपिताः, तथापि विचारकाणां हृदये ते न आयान्ति इति **न पश्यामि** इति उक्तम्. सर्वापेक्षया भक्ति-ज्ञानयोः उत्कर्षः. भक्तावपि आत्मसमर्पणं, ज्ञानन्तु साङ्ख्यं, ब्रह्मज्ञानञ्च. यद्यपि एते त्रयः, केवल-परित्यागिनश्च सर्वे परित्यागिनो भवन्ति, तथापि आत्मनिवेदनं ज्ञानद्वयञ्च यस्य अस्ति, ततः किम् अधिकं भविष्यति! तत् पदत्रयेण उक्तं, **मयि अर्पितात्मनः, अकर्तुः, समदर्शनाद्** इति।।३३।।

ननु एवं सति सएव भजनीयः स्यात्, सच सर्वैरेव स्वतएव सेव्यते इति शास्त्रवैफल्यं पूर्वदोषानिवृत्तिश्च इति आशङ्क्य आह **मनसा** इति.

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयेत् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् इति ।।३४।।

स्वार्थमेव एतद् ज्ञानं निरूपितं, नतु अधिकारिणो अन्यपूजार्थम्. अतः एवंविदपि[१] **एतानि** परिदृश्यमानानि **भूतानि प्रणमेत्.** स्वापेक्षयाऽपि **बहु मानयेत्.** तत्र हेतुः **ईश्वरो** भगवान् **जीवकलया** जीवकलारूपेण, सह वा, सद्गुणैः सह **प्रविष्टः** इति. 'इति'शब्दो हेतौ, ईश्वरत्वाद्, अन्यथा स्वस्थानात् प्रच्यावयेत्. जीवेतु न हीनबुद्धिः कर्तव्या, स[२] हि कला. लीलार्थं सा कला इति अर्थः।।३४।।

एवं भक्तिज्ञाने निरूप्य, नमस्कार-भगवद्दर्शनाभ्याञ्च व्यवहारेऽपि तद् उभयम् उपपाद्य, भक्ति-ज्ञानयोः समुच्चयः विकल्पो वा, फलहेतुः इति आशङ्क्य आह **भक्तियोगः च** इति.

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः ।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत् ।।३५।।

हे **मानवि! भक्तियोगो** अष्टाङ्गयोग**श्च मया** द्वयम् उदीरितम्. **मानवि!** इति परिज्ञानार्थम्. ययोः मध्ये **एकतरेणैव पुरुषः पुरुषम्** आत्मानं[३] भगवन्तं **व्रजेत्.** ज्ञाने योगः उक्तः उत्तराङ्गं साक्षात्कारावृत्यर्थं प्रवेशार्थञ्च[४]. भक्तिस्तु

१.एवंविदोऽपि क. घ. ङ. च.मां४. २.सा. ख. ग. घ. ३.महात्मानम्. क. घ. ङ. ४.वा. ग.

स्वतन्त्रा. एकप्राधान्ये अन्यद् गौणभावमेव अवलम्बते, अतो न समुच्चयः शास्त्रार्थः ।।३५।।

एवं पृष्टां भक्तिं निरूप्य, वैराग्यार्थं कालस्य पराक्रमं वक्तुं, प्रथमतः कालस्य स्वरूपम् आह **एतद् भगवतः** इति द्वयेन.

एतद् भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ।
परं प्रधानं पुरुषो दैवं कर्म विचेष्टितम् ।।३६।।
रूपभेदास्पदं दिव्यं 'काल' इत्यभिधीयते ।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम् ।।३७।।

कालस्य कार्यं[१] स्वरूपञ्च उच्यते, कार्ये निविष्टः स्वरूपं प्राप्नोति इति ज्ञापनार्थम्. **एतद्** जगत् सर्वं **भगवतो रूपम्,** अन्यथा कालस्य[२] भगवत्त्वात् कालत्वं विधातुं न शक्येत. अतः [३]एतज्जगद् [४]भगवद्रूपम् इति उक्तम्. श्रुतौ हि

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भक्तियोगः च इत्यत्र. **स्वतन्त्रे**ति स्वतन्त्रसाधनभूता, नतु योगवद् ज्ञानोपकारकतया तच्छेषा. ननु भक्ति-योगयोः उभयोरपि निरूपणे इतरेतराङ्गत्वेन इतरेतरनिरूपणे (उ)भयोरपि स्वीकारात् समुच्चयएव कुतो न उक्तः? इत्यतः आहुः **एके**त्यादि. स्पष्टम् ।।३५।।

एतद् इत्यत्र. उभयथा कालनिरूपणस्य प्रयोजनम् आहुः **कार्ये** इत्यादि. कालस्य कार्यं हि वक्ष्माणा-व्युत्पत्तिप्रलयौ, तत्र निविष्टो जीवः स्वरूपं परादि-दिव्यान्तं कालस्वरूपं यथाधिकारं प्राप्नोति, तत्र लीनः तदात्मको भवति, एतज्ज्ञापनार्थम् उभयथा निरूपणम् इति अर्थः. स्वरूपं विवृण्वन्ति **एतद्** इत्यादि. ननु अत्र एतत्त्वम् उद्दिश्य कालत्वे सर्वस्य विधातव्ये भगवद्रूपत्वं मध्ये किमिति उच्यते? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. पूर्वं काललक्षणकरणे प्रकृते गुणसाम्यस्य इत्यनेन प्रकृतिचेष्टाजनको भगवानेव कालः इति उक्तं, तद् यदि जगतो भगवद्रूपत्वं न उच्येत, तदा तस्य जगतो अभगवत्त्वात् कालत्वं विधातुं न शक्येत, अतः तदर्थं तथा इति अर्थः. **ब्रह्मणः परमात्मनः** इति विशेषणद्वयस्य प्रयोजनम् आहुः **श्रुतौ**

१.कार्यस्य क. घ. ङ. २.कालस्य कार्यं स्वरूपम् क. घ. ङ. च. ३.एवम् क. घ. ४.'भगवतो रूपम्' इति मां४.

प्रकारद्वयेन निरूपणम्, आत्मत्वेन, ब्रह्मत्वेन च. "**आत्मैव इदं सर्वम्**" "**ब्रह्मैव इदं सर्वम्**"(छान्दो.उप.७।२५।२) इति. बृंहणत्वं व्याप्तिञ्च अपेक्ष्य पदद्वयं प्रवृत्तम्. उभयोः स्वरूपम् आनन्दः तथापि सप्रकारः आत्मा, निष्प्रकारं ब्रह्म, आत्मनोऽपि ब्रह्मत्वविधानाद् "**अयम् आत्मा ब्रह्म विज्ञानमयः**"(बृहदा.उप.४।४।५) इति. विचारे ब्रह्मैव प्रतिज्ञातम् "**अथ अतो ब्रह्मजिज्ञासा**"(ब्रह्मसू.१।१।१) इति. जगतः उभयरूपत्वम् आह **ब्रह्मणः परमात्मनः** इति. मतत्रयं वा सङ्गृहीतं "**ब्रह्मेति**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इत्यादि. **हिर्हेतौ. निरूपणम्** इति. जगतो निरूपणम्. **बृंहणत्वम्** इति. पोषकत्वम्. **उभयोः** इति. 'आत्मब्रह्म'पदवाच्ययोः. **सप्रकारः** इति. अन्तर्यामिब्राह्मणे "**यस्य पृथिवी शरीरम्**" (बृहदा.उप.३।७।३) इत्यारभ्य "**यस्यात्मा शरीरम्**" इत्यन्तैः शरीराणां प्रकारतया सिद्धत्वात् सप्रकारः "**एकमेवाद्वितीयम्**" (छान्दो.उप. ६।२।१) इति श्रुतेः निःप्रकारम् इति अर्थः. ननु वाच्याभेदे अर्थविभागः किं निबन्धनः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **आत्मनोऽपि** इत्यादि. "**इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा**" (बृहदा. उप.२।४।६), "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**"(छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुतिद्वये 'यच्छ'ब्दयोगप्राथम्याभ्यां सर्वसत्त्वस्योऽ(?)नूद्यतया यथा उद्देश्यत्वम्, आत्मत्व-ब्रह्मत्वयोः चौत्तर्याद् विधानं, तथा "**अयम् आत्मा ब्रह्म विज्ञानमयः**" (बृहदा.उप.४।४।५) इति श्रुतौ आत्मनो ब्रह्मत्वेन विधानात्, तस्मिन् च सति पूर्वप्रकारभेदस्य आवश्यकत्वात् तथाविधाननिबन्धनः इति अर्थः. ननु अस्य विधानस्य बृहदारण्यके "**शारीरम् आत्मानम् उपक्रम्य दर्शनात् तस्य च विज्ञानमयः**" इत्यारभ्य "**इदं मयोऽदोमयः**" (बृहदा.उप.४।४।५) इत्यन्तैः बहुभिः विशेषणैः तथात्वं प्रतिपादितम् इति अर्थविभागो युक्तः. प्रकृतेतु उभयं भगवतएव विशेषणमिति न अयं विभागो युज्यते इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **विचारे** इत्यादि. तथाच, यदि विभागो न अभिप्रेतः स्यात् तदा व्यासचरणाः आत्मजिज्ञासामेव प्रतिजानीयुः. तथाच, द्वेधापि अभिप्रेतत्वादेव "**उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवद्**" (ब्रह्मसू.३।२।२७) इति "**पूर्ववद् वा**"(ब्रह्मसू.३।२।२९) इति सूत्रद्वयं प्रणीतम्, अतो अत्रापि विशेषणद्वयं युक्तम् इति भावः. तदेतद् हृदिकृत्य आहुः **जगतः** इत्यादि. **उभयरूपत्वम्** इति प्रकारत्वम् अभेदञ्च. ननु भगवत्त्वेनैव

परत्मात्मेति भगवान् इति शब्द्यते''(भाग.पुरा.१।२।११) इति. लोके ऐश्वर्यादिधर्मान् पुरस्कृत्य भगवत्त्वम् आहुः. वैलक्षण्यं पुरस्कृत्य आत्मत्वं, सद्रूपतां पुरस्कृत्य ब्रह्मत्वम् इति. तद्रूपं कियद्? इति आकाङ्क्षायां गणयति **परं** प्रकृति-पुरुषनियामकं, **प्रधानं** प्रकृति, **पुरुषः** च; **दैवं** कालो भगवदिच्छा वा **कर्म** अदृष्टं, **विचेष्टितं** विविधचेष्टायुक्तः स्वभावः. रूपभेदास्पदं सर्वमेव जगत् परिदृश्यमानं, दिव्यम् अपरिदृश्यमानञ्च. एतत् सर्वं 'कालः' इति अभिधीयते, कालाधारत्वात्, कालाधीनत्वाच्च. कालस्य कालत्वं साधयति **भूतानाम्** इति. महदादीनामपि यस्मात् कालाद् भयं सः कालः. भये भिन्नदर्शनं हेतुः बहिर्मुखान् कालो ग्रसति इति।।३६-३७।।

कालस्य उपास्यतानिमित्तं कालस्य आधिदैविकं रूपम् आह **यो अन्तःप्रविश्य** इति.

योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः ।
स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः।।३८।।

यो भगवान् सः कालः. सः को भगवान् इति आकाङ्क्षायां यस्तु **अधियज्ञः,** यज्ञाधिष्ठात्री देवता विष्णुः ''**यज्ञो वै विष्णुः**''(तैत्ति.संहि.१।७।४) इति श्रुतेः. एकस्यैव 'कालः' इति सञ्ज्ञा 'विष्णुः' इति च. तत्र 'विष्णु'सञ्ज्ञा कथम्? इति आकाङ्क्षायां व्याप्तिं निरूपयन् अन्तःप्रवेशं निरूपयति **यो भूतैः सह अन्तःप्रविश्य अखिलाश्रयो** जातः. अन्तःव्याप्तिः प्रवेशाद्, बहिःव्याप्तिः आश्रयत्वात्. कालत्वम् आह **कलयतां प्रभुः** इति. यस्तु कलयति आकलयति, जानाति, भक्षयति वा; क्रियया ज्ञानेन वा यो व्याप्नोति, सः कालः. कलयन्ति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

प्रकारप्राप्तेः **परमात्मनः** इति विशेषणवैयर्थ्यप्रतीत्यरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **मतत्रयम्** इत्यादि. तद् व्याकुर्वन्ति **लोके** इत्यादि. **कालः** इति. चिरक्षिप्रादिव्यवहारहेतुत्वेन यो लोकसिद्धः ।।३६-३७।।

यो अन्तः इत्यत्र. **प्रवेशाद्** इति. अत्र प्रवेशो मारकत्वेन रूपेण ज्ञेयः. अतएव स्वतो वह्न्यादिनाशः सार्वजनीनो अनुकूलीभवति इति. **भक्षयति** इति स्वार्थे णिच्, अत्तिव्याख्यानत्वात् ।।३८।।

इति कलयन्तः, तेषां कलयतां ब्रह्मादीनामपि नियन्ता. अतः कालः इति अर्थः।।३८।।

इदं भगवतः केवलं मारणैकस्वभावम् इति वक्तुं तस्य सर्वसाधारणत्वम् आह **नच अस्य** इति.

न चाऽस्य कश्चिद् दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनम् अन्तकृत् ।।३९।।

अस्य कालस्य, **कश्चिद**पि उपासकोऽपि, **दयितो न** अस्ति. यो वा द्वेष्टि सोऽपि **न द्वेष्यः**. सर्वएव काले उत्पन्नः इति सम्बन्धविशेषाभावात् कोऽपि न बान्धवः. परम् अयं सर्वप्रकृतिः यः पश्यति तं न गृह्णाति किन्तु प्रमत्तमेव जनम्. **असौ अप्रमत्तो** अन्तकर्ता, **आविशति** भक्षणार्थं तं प्रविशति, व्याघ्रइव ।।३९।।

अस्य कालत्वं सर्वएव जानन्ति इति तेषां तज्ज्ञानकार्यं भयम् आह **यद् भयाद्** इति पञ्चभिः.

यद् भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद् भयात् ।
यद् भयाद् वर्षते देवो भगणो भाति यद् भयात् ।।४०।।
यद् वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह ।
स्वे-स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च ।।४१।।

वातादयः स्व-स्वकार्यं कालभयादेव कुर्वन्ति, तत्र किं वक्तव्यं "**प्राणी स्वधर्मं करिष्यति**"(   ) इति.

अधिकारिणो महान्तो ये ये वा मूढा अचेतनाः ।
तत्त्वानि देवाः सर्वे च कालाद् भीता इतीर्यते ।।१।।

अयं **वातः, यत्** काले-काले **वाति, सूर्यो**ऽपि यस्मिन् नक्षत्रे यथा तापः उचितः, तथा **तपति**; **देवः** पर्जन्यः स्वकाले **वर्षति**; नक्षत्राणां गणोऽपि ज्योतिश्चक्रं स्वकाले **भाति**. तद्गताः शुक्रादयो यथाधिकारं भान्ति इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

नच अस्य इत्यत्र. **इदम्** इति. रूपम् इति शेषः. **सर्वप्रकृतिः** इति. सर्वमूलकारणं, नतु कस्यापि विकृतिः इति अर्थः ।।३९।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे एकोनत्रिंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

अतिमूढाः **वनस्पतयो लताश्च** अश्वत्थादयः, कूष्माण्डादि-फलप्रधानलताः पुष्पप्रधानाश्च. **च**कारात् पत्रप्रधानाअपि. **ओषधिभिः** व्रीह्यादिभिः **सह, स्वे-स्वे काले,** स्व-स्वनक्षत्र-देशविशेषेषु अनतिक्रम्य, **पुष्पाणि फलानि च गृह्णन्ति** ।।४०-४१।।

चैतन्यरहिताअपि भीताः इति आह

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः ।
अग्निरिन्धेत् सगिरिभिः न भूर्मज्जति यद् भयात्।।४२।।

सरितो नद्योऽपि **भीताः** सत्यः **स्रवन्ति. उदधिः** भूमेः उच्चोऽपि मर्यादातो अग्रे **न उत्सर्पति. अग्निरपि** *इन्धे काष्ठादिभिः ज्वलितो भवति, अन्यथा स्वयोनिं न दहेत्. **गिरिभिः** सह यद् भीत्या **भू**रपि **न मज्जति. अग्निः ज्वलति यद् भीत्या** इति वा पाठः।।४२।।

तत्त्वान्यपि भीतानि इति आह **नभो दधाति** इति.

नभो दधाति श्वसतां पदं यद् नियमाद् अदः ।
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतः ।।४३।।

यस्य कालस्य **नियमाद् नभः** आकाशं, **पदं** स्वर्गादिलोकानां स्थानम्, **अदः** तत् प्रसिद्धं **दधाति,** आकाशोऽपि धारको जातो अस्ति इति अर्थः. श्रुतौ आकाशादिसृष्टिः इति आकाशो निरूपितः पुराणादौ महदादिः इति सोऽपि उच्यते. **महान् स्वदेहमे**व लोकात्मकं **तनुते. सप्तभिः** प्रकृत्यहङ्कार-पञ्चमहाभूतैः आवृतः।।४३।।

ब्रह्मादयोऽपि भीताः इति आह **गुणाभिमानिनः** इति.

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद् भयात् ।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतत् चराचरम् ।।४४।।

गुणाभिमानिनो देवाः ब्रह्मादयः. रजःप्रभृतयो गुणाः, रजोभिमानी ब्रह्मा, सत्त्वाभिमानी आधिभौतिको विष्णुः, तमोऽभिमानी शिवः इति. [1]तेऽपि उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयान् सर्वेषां कालानुसारेण कुर्वन्ति. **अनुयुगं** च एते **वशे वर्तन्ते.** अनेकधा अवतीर्याऽपि कार्यं कुर्वन्ति. **येषां** ब्रह्मादीनां **वशे एतत् चराचरं** जगद्

---

*इन्धेत् ख. ग.मां४. 'अग्निर्ज्वलति सगिरिभिः भूर्न मज्जति' इति मुद्रितपाठः. १.'त्रयोपि' इति मां४.

इति माहात्म्यम्।।४४।।

एवं कालस्य माहात्म्यम् उक्त्वा तस्य कार्यं वदन् उपसंहरति **सो अनन्तः** इति.

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालो–ऽनादिरादिकृदव्ययः।
जनं जनेन जनयद् मारयन् मृत्युनाऽन्तकम्।।४५।।

स्वयम् **अनन्तः**, सर्वेषाम् अन्तकरः, स्वयम् **अनादिः**, सर्वेषाम् आदिकृत्, कार्यं जनयन्नपि **अव्ययः**, इतरबीजादिवद् व्ययरहितः. उत्पत्तिरपि तस्य विचित्रा. **जनेनैव** उत्पन्नेनैव पित्रादिना, **जनं** पुत्रादिकं **जनयन्, मृत्युना** मरणरूपेण मारकम् **अन्तकम**पि मारयन्निव वर्तते इति माहात्म्यम्. अतः एतत् परिज्ञानेनैव वैराग्यं भवति इति उक्तम्. यः तस्माद् न बिभेति अस्मिन्नेव च तिष्ठति, तस्य गतिः उत्तरत्र वक्ष्यते.

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे एकोनत्रिंशाध्यायविवरणम्.

।। त्रिंशाध्यायविवरणम् ।।

अभीतः कालकार्येषु यो मूढो वर्तते गृहे ।
नदीप्रवाहे गृहवत् स 'दुःखी'ति निगद्यते ।।१।।
बहिर्मुखो हि कालस्य विषयो नात्मदर्शनः ।
अतो बहिर्मुखे[१] कालः लोकयोर्दुःखदः स्मृतः ।।२।।
त्रिंशत्तमे तथाध्याये गृहस्थस्योभयोर्महत् ।
लोकयोरुच्यते दुःखं पुनर्जन्मावधि स्फुटम् ।।३।।
अष्टादशभिराद्यन्त–मरणावधि वर्ण्यते ।
पुनर्जन्मविधि परं श्लोकैः षोडशभिः पुनः ।।४।।

कालस्य भगवतो विष्णोः बहिर्मुखत्वे बाधकत्वम् अज्ञात्वा दुःखं प्राप्नोति इति वक्तुं प्रथमम् अज्ञानम् आह **तस्य एतस्य** इति.

श्रीभगवान् उवाच

तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम् ।
काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः ।।१।।

यः पूर्वं सर्वभयजनकत्वेन उक्तः, सएव अयं कालः. एवमपि **जनः** तत्रैव उत्पन्नः प्राणी, **नूनं विक्रमं न वेद.** ननु यावद् न बाधते तावत् कथं जानीयाद्? इति आशङ्क्य आह **काल्यमानोऽपि** इति. प्रेर्यमाणः, पीड्यमानो वा; तद्वशवर्त्यपि न जानाति. असम्बन्धिनः पीडा सोढुं शक्या कादाचित्की, अयन्तु **वायोरिव घनावलिः** तस्य वशे।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ त्रिंशाध्यायं विवरिषवः संवादद्वयसङ्गत्योः पूर्वम् उक्तत्वात् ते उभे स्फोरयितुम् अर्थम् आहुः **अभीतः** इत्यादि. तथाच दुःखमेव मात्रा, लोकद्वयमेव च अर्थः इति शुक-मैत्रेयोक्तिविचारेण बोध्यम्. एवं पूर्वाध्याये भेददृष्टिः वा दैहिकान्येव भूतानि तत्प्रयुक्तएव भक्त्यादिः धर्मः इत्यपि बोधितम्. कपिलोक्ते सङ्गतिं प्रदर्शयितुम् आहुः **त्रिंशदि**त्यादि. तथाच कालविक्रमो अध्यायार्थः तस्य च वैराग्यजनकत्वाद् एककार्यत्वम् अध्यायसङ्गतिः इति अर्थः.

तस्य इत्यत्र. **अयं कालः** इति. उत्पत्त्याद्याधारभूतः कालः ।।१।।

१.बहिर्मुखम् ख.मां४.

सर्वकार्येषु तस्य पीडाम् आह **यं–यम् अर्थम्** इति.

यं–यम् अर्थम् उपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे ।
तं–तं धुनोति भगवान् पुमान् शोचति यत् कृते ।।२।।

सुखहेतवे महताऽपि **दुःखेन यं–यम् अर्थं** भार्या–गृहादिकम् उपादत्ते, **तं तम् अर्थं** कालो **धुनोति,** भगवत्त्वात् समर्थो जानाति च. ननु का एषा भगवतो लीला यत् सर्वेभ्यो दुःखं प्रयच्छति? इति आशङ्क्य आह **पुमान् शोचति यत् कृते** इति. यस्य भगवतः **कृते** अर्थे तदधीनं सर्वम् इति तूष्णीं स्थातव्यं, तदा सः ईश्वरः पश्चाद् न कुर्याद्; यद् अयं शोचति अतो धुनोति इति भावः. अनेन भगवतो दोषाभावो निरूपितः।।२।।

तथापि महतः किम् एतत् कृत्यम्? अतः आह **यद् अध्रुवस्य** इति.

यद् अध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः ।
ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृहक्षेत्रवसूनि च ।।३।।

तस्य वैराग्यार्थम् एवं करोति यतो अयम् **अध्रुवस्य देहस्य,** नश्वरस्य अनुबन्ध–पुत्रादि–सहितस्य सम्बन्धीनि गृह–व्रीह्यादि–क्षेत्रधनानि **ध्रुवाणि मन्यते,** तदर्थम् आयुश्च वृथा व्ययीकरोति. यतो अयं **दुर्मतिः**. तदपि न प्रमाणात्, किन्तु **मोहादेव**; अतो दूरीकरणार्थं तथा करोति इति भावः।।३।।

ननु किं धनादिदूरीकरणेन? निकृष्टयोनौ जातः स्वयमेव विरक्तो भविष्यति! इति आशङ्क्य आह **जन्तुः** इति.

जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां–यां योनिम् अनुव्रजेत् ।
तस्यां–तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते ।।४।।

एतस्मिन् संसारे स्वभावतः उत्कर्षापकर्षरहिते, स्वयं **जन्तुः** प्राणी, **यां–यां योनिं** श्वयोनिं शूकरयोनिं वा **अनुव्रजेत्** कर्मवशाद् गच्छेत्; **तस्यां तस्यामेव निर्वृतिं** सुखं, **सः लभते.** स्त्रियम् अन्नं निद्राञ्च प्राप्नोति, यथा राजशरीरे, इन्द्रशरीरे[1] वा; अतो **न विरज्यते**. तस्माद् न नीचयोनिसम्बन्धे वैराग्यम् ।।४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यं यम् इत्यत्र. **कृते अर्थे** इति. तेन मूले **यत्कृते** इति सप्तमी, नतु तादर्थ्यबोधकम् अव्ययम् ।।२।।

१.इन्द्रादिशरीरे.

कर्मणा नरके जाते दारुणदुःखं दृष्ट्वा वैराग्यं भविष्यति इति आशङ्क्य आह **नरकस्थोऽपि** इति.

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुम् इच्छति ।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमाया–विमोहितः ।।५।।

कुम्भीपाकादिनरकाः उक्ताः. तत्र नारकदेहाअपि निरूपिताः. तादृशानपि देहान् ते त्यक्तुं न वाञ्छन्ति. नरकसम्बन्धिनी या निर्वृतिः, नरकस्थ–मज्जादि–भक्षणसुखं, यथा अत्र अमेध्यगर्ते कीटानाम्. अतः तस्यां **निर्वृतौ सत्यां** तस्मिन् देहे गते सा गमिष्यति इति भयाद् **न त्यक्तुं वाञ्छति.** ननु एतद् दुःखात्मकं प्रत्यक्षसिद्धं कथं 'निर्वृतिः' इति उच्यते? इति आशङ्क्य आह **देवमाया–विमोहितः** इति. मायामोहितो विपरीतमेव मन्यते, तीव्रवेदनामपि सुखत्वेन मन्यते इति. मायायाः माहात्म्यख्यापनार्थं 'देव'पदम्।।५।।

ननु अस्मिन् मानुषे जन्मनि पुत्र–भार्यादिभिः अवश्यं पोष्यैः दुःखे दत्ते वैराग्यं भविष्यति इति आशङ्क्य आह **आत्मजाया** इति.

आत्मजाया–सुतागार–पशु–द्रविण–बन्धुषु ।
निरूढ–मूल–हृदय आत्मानं बहु मन्यते ।।६।।

आत्मा देहः, **जाया** स्त्री, **सुताः** पुत्राः, **अगारं** गृहं, **पशवः द्रविणानि बान्धवाश्च**, षडङ्गो अयं प्राकृतः आत्मा. साङ्गे तस्मिन् निरूढं मूलं यस्य, तादृशान्तःकरणो भूत्वा, भाराक्रान्तोऽपि दुःखं प्राप्नुवन्नपि, **आत्मानं बहु** कृतार्थं, **मन्यते.** अतः तैः प्रत्युत रागएव तस्य, नतु वैराग्यम् इति भावः।।६।।

नच मन्तव्यं, ते सुखदायिनएव इति आह **सन्दह्यमानसर्वाङ्ग** इति.

सन्दह्यमान–सर्वाङ्ग एषाम् उद्वहनाधिना ।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः ।।७।।

एषां भार्यादीनाम् **उद्वहनं** पोषणं, तदर्थं यः **आधिः**, तेन **सन्दह्यमानानि सर्वाङ्गानि** यस्य न केवलम् इह लोके तत्कृतं दुःखं प्राप्नोति किन्तु परलोकेऽपि इति आह **करोति** इति. सर्वदा **मूढः** सन्, बाधकवाक्यानि अविचार्य, स्वतोऽपि अन्तःकरणशुद्धिरहितो **दुरितानि** दुष्टप्रकारेण धनोपार्जनादीनि, ऐन्द्रियकानि वा पापानि करोति इति अर्थः।।७।।

एतावदपि कृत्वा न ऐहिकं सुखं प्राप्नोति इति आह **आक्षिप्ते**ति त्रिभिः.

आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणाम् असतीनां च मायया ।

रहोरचितयालापैः शिशूनां कलभाषिणाम् ।।८।।

असतीनां व्यभिचारिणीनाम् उभयलोकनाशिकानां **स्त्रीणां मायया** कपटेन वञ्चनार्थमेव कृतेन, **आक्षिप्तानि** स्त्रीवशे जातानि आत्मा इन्द्रियाणि यस्य. नहि परवशैः इन्द्रियैः सुखं भवति, स्त्रीसुखस्यैव प्रधानत्वात्. सा माया भगवद्भजनादिनाऽपि न अपगच्छति इति ज्ञापयति **रहो रचितया** इति. एकान्ते सा माया रचिता, एकान्तभक्त्यैव अपगच्छति. सातु गृहस्थस्य न सम्भवति इति अनुल्लङ्घ्या. **कलभाषिणां** सूक्ष्मपुत्राणाम् अव्यक्त-मधुर-वाक्यानाम् आलापैः **आक्षिप्तात्मेन्द्रियः** आक्षिप्तानि आत्मा इन्द्रियाणि च यस्य. अनेनैव ऐहिकसुखाभावो निरूपितः।।८।।

स्पष्टं परलोकाभावम् आह **गृहेषु** इति.

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः ।

कुर्वन् दुःखप्रतीकारं सुखवद् मन्यते गृही ।।९।।

गृहाः धर्मप्रधानाः इति लोकप्रसिद्धिः. परं तत्र कपटरूपएव धर्मः, धर्मच्छलः, धर्माभासो वा. यः च[१] प्रतिष्ठार्थं जनसमक्षमेव औदार्यं ख्यापयति, अन्यदा समागतेभ्यो जलमपि न प्रयच्छति, सः तथा उच्यते. **दुःख**मेव **तन्त्रं** परिकरो येषाम्. इह लोके दुःखं, परलोकेऽपि कपटधर्माद् दुःखम्. तत्रैव **अतन्द्रितः** सावधानः. स्त्रीणाम् अर्थे धर्मे महत्कार्यं कृत्वा तासाम् आश्रमे समागतः तृषया म्रियमाणो यथा कथञ्चित् पानीयं पीत्वा आत्मानं सुखिनं मन्यते, कृतार्थञ्च. तद् आह **कुर्वन् दुःखप्रतीकारं सुखवद् मन्यते** इति. अत्र सुखं श्रुतम् अन्यगतं[२] वा. **गृही** इति सर्वदा गृहभाराक्रान्तः. शिरःस्थभार-जलपानवत् तस्य सुखम् इति निरूपितम्।।९।।

ननु लोकद्वये सुखाभावेऽपि दुःखमपि न भविष्यति इति न अत्यन्तं गृहं निन्दितम् इति आशङ्क्य आह **अर्थैः** इति.

अर्थैर् आपादितैर् गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान् ।

१.यथा क. ख.मां४. २.अन्यत्र घ. ङ.

पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः पुमान् ।।१०।।

इतस्ततः स्वकीयानां परकीयानाञ्च या **गुर्वी** हिंसा पीडा, तया **आपादितैः अर्थैः तान्** पुत्रादीन् **पुष्णाति येषां पोषेण अधो** नरके गच्छति. नरकविशेषेषु सामान्यतः कुटुम्बपोषको रौरवे पतति इति उक्तम्. ''**यो राज्ञः प्रतिगृह्णीयाद् लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः, स पर्यायेण यातीमान् नरकानेकविंशतिम्, तामिस्रम् अन्धतामिस्रम्**''(मनुस्मृति ४।८७-८८) इत्यादि-मनुवाक्यानि. ''**कुम्भीपाके महाघोरे पुनरावृत्तिवर्जिते, तुलापुरुषप्रतिग्राही ऋत्विग्भिः सह मज्जति**'' (   ) इत्यादि-शतशो वाक्यानि अहिंसयाऽपि उत्पादितधने श्रूयन्ते, ये पुनः घातकाः तेषां किं वक्तव्यम्! अतो अर्थैः तत्कृतपोषणेन च सर्वथा अधो याति. नच अत्र भोगः, यतः **शेषभुग्** उच्छिष्टभोजी, ब्राह्मणादीन् हत्वा, स्त्रीणां मलनिवृत्ति-स्थानकर्तारोऽपि लोके दृश्यन्ते, कः तेषाम् इह लोकः परलोको वा भविष्यति! **पुमान्** इति. समर्थोऽपि भूत्वा एवं नष्टो भवति इति ज्ञापितम्. 'स्वयम्' इति पाठे न पुत्रादयो गच्छन्ति नरके किन्तु स्वयमेव इति अर्थः।।१०।।

एवं सामर्थ्यदशायां न कोऽपि धर्मो भोगो वा सिद्धः इति उक्तम्. असामर्थ्येतु सुतरां नरको भोगाभावश्च इति आह द्वयेन **वार्तायाम्** इति.

वार्तायां लुप्यमानायाम् आरब्धायां पुनः-पुनः ।
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम् ।।११।।

प्रायेण अयं गृहस्थो वार्ताजीवनः. सा वार्ता कालवशात् पुनः-पुनः आरब्धाऽपि लुप्यमाना भवति. धनव्यतिरेकेण च न पोषः सिद्ध्यति, अतो लोभेन अभिभूतो विवेक-धैर्यरहितश्च, **परस्य** श्रेष्ठस्य **अर्थे** गुर्वर्थे देवतार्थे वा, **स्पृहां कुरुते** चोरयितुं विचारयति. प्राप्तिस्तु दुर्लभा इति स्पृहैव उक्ता. अनेन पारलौकिकं महद्-दुःखम् उक्तम्।।११।।

ऐहिकसुखाभावम् आह **कुटुम्बे**ति.

कुटुम्ब-भरणाकल्पो मन्द-भाग्यो वृथोद्यमः ।
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायन् श्वसिति मूढधीः।।१२।।

पूर्वोक्तन्यायेन कुटुम्बपोषणे असमर्थो भवति. दैवादपि तस्य

धनप्राप्त्यभावम् आह **मन्दभाग्यः** इति. अतो अल्पमपि वृथा उद्यमो यस्य. सर्वथा धनेन कान्त्या च विहीनो भवति. ततो अनालोचित–याचकः **कृपणो** भवति. तदा पूर्वसिद्धविषयान् केवलं **ध्यायन् श्वसिति,** यतो अयं **मूढधीः**. तत्रापि परलोकार्थं यत्नरहितः।।१२।।

एवं स्वतः सुखाभावं दुःखञ्च उक्त्वा परकृते आह **एवम्** इति.

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा ।

नाद्रियन्ते यथापूर्वं कीनाशा इव गोजरम् ।।१३।।

स्वपोषणासमर्थम्. तत्कलत्रादयः पूर्ववद् आदरमपि न कुर्वन्ति. भक्ष्यादिकमपि न प्रयच्छन्ति इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तम् आह **कीनाशाः** दुष्टकृषीवलाः, **गोजरं** वृद्धबलीवर्दं, न आद्रियन्ते. तस्य अन्नं छायां वा यथा न सम्पादयन्ति इति अनुभवार्थं दृष्टान्तः।।१३।।

एवम् अपकृतोऽपि न विरक्तो जायते इति आह **तत्रापि** इति.

तत्राप्यजातनिर्वेदो भ्रियमाणः स्वयंभृतैः ।

जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे ।।१४।।

पूर्वं **स्वयं भृतैः** अधुना **भ्रियमाणो** भवति इति अवैराग्ये हेतुः. अनेन निरभिमानतया तिष्ठति इति दोषार्थम् अभिमाननाशः उक्तः. *अवश्यं मरण–लक्षणानि च तस्य जातानि इति आह **जरया उपात्तवैरूप्यः** इति. वलीपलितादिकं वैरूप्यम्. तदा अयं मरणाभिमुखः इति निश्चयः।।१४।।

आस्तेऽवम् अत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन् ।

आमयाव्यप्रदीप्ताग्निः अल्पाहारोल्पचेष्टितः।।१५।।

तथापि गृहएव आस्ते. अवमत्या अवमानेन, **उपन्यस्तम्** ओदनादिकं, **गृहपालइव** श्वेव, **आहरन्** स्वयमेव गृहीत्वा भक्षयन्नपि गृहएव आस्ते. एवं बाह्यक्लेशम् उक्त्वा आन्तरं क्लेशम् आह **आमयावी** इति. **आमयावी** रोगवान्,

---

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवम् इत्यत्र. **परकृते** इति सुखाभावदुःखे ।।१३।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे त्रिंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

---

* 'एवम् अवश्यम्' इति मां४.

अजीर्णान्नो वा. तत्र हेतुः न प्रदीप्तो अग्निः यस्य इति. तदा **अल्पाहारो** भवति. भोगाभावः पुरुषार्थाभावश्च उक्तः. चेष्टाऽपि अल्पैव भवति. अनेन स्वसिद्धान्यपि करणानि न सुखप्रदानि जातानि इति उक्तम्।।१२।।

अतिक्लेशम् आह **वायुना उत्क्रमता उत्तारः** इति.

वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफ–संरुद्ध–नाडिकः।

कासश्वास–कृतायासः कण्ठे घुरघुरायते।।१६।।

शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः स्वबन्धुभिः।

वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः।।१७।।

उत्क्रमता देहं परित्यज्य गच्छता, ऊर्ध्वं गच्छता, प्राणेन उद्गते **तारे** अक्ष्णोः यस्य, तादृशो भवति. तत्र हेतुः कफेन संरुद्धा नाड्यो यस्य, तादृशेन वायुना, वायोः मार्गे. मुखगतः, नासागतो वा कफेन रुद्धः, अतः कफरहितेन मार्गेण गच्छामि इति विचार्य नेत्रयोः आघातं करोति, तदा पुरुषः उत्तारो भवति. लोकदृष्ट्या तस्य खेदो निरूपितः. तस्यापि दुःखानुभवम् आह **कासे**ति. कास–श्वासौ रोगविशेषौ, ताभ्यां कृतः आयासो यस्य. तादृशोऽपि न विरज्यते इति उक्तम्. **कण्ठे**[1] पुनः **घुरघुरायते**. वाय्वनुकरणशब्दो अयं, घुरघुरवद् आचरति. विड्वराहानुकरणशब्दोऽपि अयं, तेन अस्य दुर्गतिः सूचिता. तदापि गृहमध्यएव शयानो भवति.

बन्धुभिश्च परितः शोचद्भिः परीतो भवति इति लौकिकव्यवहारोऽपि. व्यर्थम् अयं प्राणी स्वात्मानं नाशितवान् इति अनुकरणमिव वर्ण्यते, नहि कृतकार्यं कश्चित् शोचति. तदा कालपाशेन आवृतः 'तात' इति उच्यमानोपि **न ब्रूते**।।१६–१७।।

एवं [2]सर्वावस्थाम् उक्त्वा मुख्यं तस्य मरणम् आह **एवम्** इति.

एवं कुटुम्ब–भरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः।

म्रियते रुदतां स्वानाम् उरुवेदनयाऽस्तधीः।।१८।।

कुटुम्बभरणे **व्यापृतात्मा** योजितचित्तः, अग्रेऽपि खेदं प्राप्तुम् **अजितेन्द्रियः** च. अन्यकृत–भगवन्नाम–श्रवणाभावार्थं स्वानां रुदतां सतां, स्वयमपि स्मरणरहितः, **उरुवेदनया** अस्तबुद्धिः **म्रियते** प्राणान् त्यजति. अनेन

१.कण्ठः घ. ङ.मां४. २.पूर्वावस्थाम् ख. घ.मां४.

अष्टादशविद्यानां वैयर्थ्यम् उक्तम्।।१८।।

तस्य परलोकदुःखम् आह **यमदूतौ** इत्यादिषोडशभिः.

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ ।

स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृद् मूत्रं विमुञ्चति ।।१९।।

प्राणत्यागे यदि शुद्धो भवेत् तदा पुत्रादिकृत–संस्कारैरपि सिद्धिं गच्छेत्; तदभावार्थं यमदूतयोः आगमने भीतः, तयोः दर्शनेन[१] **शकृद्** अमेध्यं, **मूत्रं** च, **त्रस्तहृदयः** सन् **विमुञ्चति.** प्राणोत्क्रमणसमयएव एतज्जातम् इति न शौचादिविलम्बः।।१९।।

अतः पुण्याभावात्, तृणजलौकावद् देहसम्बन्धाच्च, यमनिर्मितो यातनादेहः ताभ्यामेव आनीतः स्वदेहपरित्यागानन्तरमेव तं गृह्णाति इति आह **यातनादेह** इति.

यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात् ।

नयतो दीर्घम् अध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा ।।२०।।

तदा यमदूतौ अपानद्वारा निर्गतप्राणं, **यातनादेहे** निरुध्य, आज्ञाकारिणमपि **बलात् पाशैः गले बद्ध्वा दीर्घम् अध्वानं नयतः**. 'यातना'पदेन देहसम्बन्धएव क्लेशो निरुपितः. ननु बद्ध्वा नयनं किमर्थम्? नरकस्तु अग्रे वक्तव्यः इति आशङ्क्य आह **दण्ड्यं राजभटा यथा** इति. प्रवृत्तिमार्गस्थितं सर्वमेव यमदूतौ नयतः. तत्र यो दण्ड्यः सः बद्ध्वा नीयते. दण्डनज्ञापकं बन्धनम्. यथा अधिकारिणं राजभटाः नयन्त्येव, दण्ड्यन्तु बद्ध्वा नयन्ति इति।।२०।।

मार्गेऽपि तत्कृतं क्लेशम् आह **तयोः** इति चतुर्भिः. पुरुषार्थचतुष्टय–नाशकः इति मार्गे चतुर्भिः क्लेशो निरूप्यते.

तयोर् निर्भिन्नहृदयः तर्जनैर् जातवेपथुः ।

पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वम् अनुस्मरन्।।२१।।

दूतौ पुण्य–पापयोः अधिष्ठातृरूपौ. पुण्यस्याऽपि अकरणात् सः क्रुद्धः, पापस्य करणाद् द्वितीयः. उभाभ्यां निर्भिन्नं हृदयं यस्य. **तयोः** इति स्वरूपेणैव भयोत्पादकत्वात् षष्ठी निर्दिष्टा. महाभयेन हृदये भेदः **तर्जनैः** वा. वाग्दण्डनपूर्वकं ताडनं तर्जनम्. जातो वेपथुः कम्पो यस्य. अहोरात्राभिमानिन्यो देवताः

१.दर्शने क. ङ.मां४.

विकर्मसाक्षिण्यः श्वानः तैश्च **पथि भक्ष्यमाणो** भवति. **आर्तश्च** भवति, रोगादिभिरिव व्याप्तः. **स्वस्य अघम् अनुस्मरन्** इति देवतासान्निध्यात् तस्य पूर्वज्ञानम् उत्पद्यते इति ज्ञापितम्. प्राणोत्क्रमणक्षणप्रभृति–क्लेशावश्यकत्वात् पथि शुनां भक्षणम् उक्तम्।।२१।।

मार्गे दुःखान्तराण्यपि आह **क्षुत्तृट्परीतः** इति.

क्षुत्तृट्–परीतोऽर्कदवानलानिलैः सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके ।

कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडितः चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके ।।२२।।

क्षुत्तृषावपि यातनासम्बन्धिन्यौ, अतः ताभ्यां व्याप्तः. **अर्कदवानला–व**पि तथा अनिलश्च. तैः सम्यक् तप्यमानः. सर्वतः क्लेशो निरूप्य इति अन्तःस्थकृततापः, बहिःस्थितकृततापश्च वर्णितः. मार्गकृतमपि आह **पथि तप्तवालुके** इति. मार्गे सर्वत्र वालुकैव, साऽपि तप्ता. **कृच्छ्रेण चलति** इति तत्कृतपीडानुभवो निरूपितः. महावेदनाभावम् आशङ्क्य ताडनेनैव तथात्वम् इति[१] वक्तुं ताडनम् आह **पृष्ठे कशया च ताडितः** इति. वेत्रताडनं मुख्यं, तयोः सहजम्. **कशा** अश्वप्रहरणी, तयाऽपि ताडितः. **निराश्रमोदके** इति यमदूताभ्यां नीयमानमार्गे न च्छाया गृहवृक्षादिकृता, नाऽपि जलम्।।२२।।

गतिसाधनानां क्लेशरूपत्वम् उक्त्वा तस्य क्लिष्टां गतिम् आह **तत्र–तत्र** इति.

तत्र–तत्र पतन् श्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।

यथा पापीयसा नीतः तरसा यमसादनम् ।।२३।।

प्रतिपदं **पतन् श्रान्तो** भवति, अतिवेदनया **मूर्च्छित**श्च. तयाऽपि यातनादेहत्वात् **पुनः उत्थितो** भवति. तथा नयने तारतम्यं ज्ञापयन् हेतुम् आह **यथा पापीयसा नीतः** इति. **पापीयसा** घातकेन, अरण्ये वधार्थं **नीतो** भवति, व्याघ्रादिना वा. यथा पापयुक्तो वा यथा पापीयान् [२]स्वकृतपापयुक्तो वा स्वकृतपापानुसारेण यो जातो देहः, यथा पापीयान्, तेन **तरसा** शीघ्रमेव यमसादनं नीतः इति पापतारतम्ये[३] दुःखतारतम्यं निरूपितम्।।२३।।

बहुदूरं शीघ्रं नीयमानः क्लिश्यति इति प्रकारकृतमपि क्लेशम् आह **योजनानाम्** इति.

योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाऽध्वनः ।
त्रिभिर् मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः ।।२४।।

कर्मभूमेः सकाशाद् यातनास्थाने[१] एकसहस्रयोजनन्यूनलक्षयोजनानि सन्ति, तद् आह **सहस्राणि नवतिं नव च** इति. भूमेः दलं तावदेव ''**अधस्ताद् भूमेः**''(   ) इति वचनात् सहस्रं योजनानि तस्याः अधोभागः यातनाभूमेः वा अर्वाक्. वराहकल्पानुसारेण च एतद् उक्तं, ब्रह्मकल्पेनाऽपि न विरुद्ध्यते. **त्रिभिः मुहूर्तैः** इति. पापाल्पत्वे. **द्वाभ्याम्** इति पापाधिक्ये. एतावद्दूरम् एतावत्कालेन नीतो यातनाः प्राप्नोति. तावद् दुःखं प्राप्नोति इति अर्थः।।२४।।

तत्र प्रकीर्णपापानां यथापापं त्रिविधं नरकम् आह त्रिभिः **आदीपनम्** इति.

आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः ।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृतं परतोऽपि वा ।।२५।।
जीवतः स्वाङ्गाभ्युद्धारः[२] श्वगृध्रैर्यमसादने ।
सर्पवृश्चिक-दंशाद्यैः स्मरद्भिश्चात्मवैशसम् ।।२६।।
कृन्तनं वावयवशो गजादिभ्यो निपातनम् ।
पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनं चाऽम्बुगर्तयोः।।२७।।

सात्त्विके पापे; **जीवतः** इति राजसे; कृन्तनम् इति तामसे. [३]ज्वलद् उल्मुकानि गात्रेषु वेष्टयित्वा **आदीपनं** ज्वालनम्. 'आदि'शब्देन तृण-वस्त्रादिभिरपि वेष्टयित्वा दाहः. महापातकानाम् एतत्. अन्येषान्तु **आत्ममांसादनं क्वापि** देशे. स्वेनैव कृतं कृन्तनं, स्वदेहाद् उद्धृतम्. **परतोऽपि वा** अन्योद्धृतं वा. स्वतएव कृते पापे, अन्यप्रेरणया कृते.

जीवतः स्वस्य गात्राणां शरीरावयवानाम् अभ्युद्धारः श्व-गृध्रादिभिः कृतः. तैरेव भक्ष्यते इति विशेषः. **यमसादने** इति. सर्वतो भयानकत्वं सूचितम्. **श्वानः** पूर्वम् उक्ताः. **गृध्राः** पाषण्डाभिमानिनः. **सर्प-वृश्चिक-दंशाद्यैः** [४]इति. **दंशाः** स्थूलाः मशकाः. 'आदि'शब्देन मत्कुणादयः. **आत्मवैशसं** पूर्वं स्वमारणम्.

---

१. यातनाभूमिस्थानम् घ. ङ. 'यातनास्थानम् एक...' इति मां४. २.जीवतश्चान्वा... क. ङ. ३. ज्वलनवत् ग. ४. अपि. ख. ग. च.

तैरपि कृतो गात्राभ्युद्धारः इति योजना.

इक्षुदण्डानामिव **अवयवशः कृन्तनम्.** [1]गजव्याघ्रादिभ्यो **निपातनं** भक्षणार्थं प्रक्षेपः. **गिरिशृङ्गेभ्यः** च अधः**पातनं,** जले च निरोधनम् **गर्ते** च. यथायथम् एतानि पापफलानि।।२५-२७।।

प्रकीर्णकानि उक्त्वा मुख्यानि आह **याः तामिस्रे**ति.

यास्तामिस्रान्धतामिस्र-रौरवाद्याश्च यातनाः ।

भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः ।।२८।।

अष्टाविंशति**यातनाः** याः उक्ताः, ताः भुङ्क्ते. तासां लक्षणम् उत्तरत्र वक्ष्यते. स्त्रिया भोग्यत्वेन [2]नरकानुभवाभावम् आशङ्क्य आह **नारी वा** इति. भोग्यत्वांशेऽपि नरकसम्बन्धार्थम् आह **मिथः सङ्गेन** इति. अन्योन्यसम्बन्ध-जनितपापेन **निर्मिताः** यातनाः।।२८।।

भयमात्रत्वम् इति आशङ्क्य लोकदृष्टान्तेन सत्यत्वं साधयति **अत्रैव नरकः स्वर्गः** इति.

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते ।

या यातना वै नारक्यः ता इहाऽप्युपलक्षिकाः।।२९।।

इष्टाधिकारिणां राज्यादयः, अनिष्टकारिणां राजदण्डादयश्च प्रत्यक्षम् उपलभ्यन्ते. एतत् सर्वं यतो अस्मिन्नेव लोके दृश्यते इति अत्रत्याः यातनाः तदुपलक्षिकाः।।२९।।

एतत् सर्वं कुटुम्बपोषनिमित्तमेव इति आह **एवम्** इति.

एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भरिरेव च ।

विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलम् ईदृशम् ।।३०।।

यस्य वा कुटुम्बं न अस्ति, सोऽपि एवम् अनुभवति इति आह **उदरम्भरिरेव च** इति. इहैव कुटुम्बम् उदरञ्च त्यक्त्वा, पश्चात् **प्रेत्य,** तद् उभयपोषनिमित्तं फलम् ईदृशम् अनुभवति।।३०।।

सर्वेषां पापजनक-द्रव्यानुभवेऽपि एकएव तत्फलं भुङ्क्ते इति आह **एकः** इति.

---

१. व्यालादिभ्य घ. १.नरकानुभावाभावम् क. ख. ङ.

एकः प्रपद्यतेऽध्वानं हित्वेदं सकलेवरम् ।
कुशलेतर–पाथेयो भूतद्रोहेण यद् भृतम् ।।३१।।

कलेवर–सहितम् एतत् सर्वं परित्यज्य, एकएव यमलोकाध्**वानं प्रपद्यते,** कुशलपाथेयः, इतरपाथेयो वा. उभयविधानामपि प्रवृत्तिपराणां यमलोकएव गमनम् इति ज्ञापयितुं 'कुशलेतर'पदम्. **पाथेयं** पथि शम्बलम्. **भूतानां** प्राणिनां **द्रोहेण** यद् भृतं तद् अवश्यं भोक्तव्यम् इति ज्ञापनार्थं पुनः उक्तम्।।३१।।

ननु यमलोके वा प्रायश्चित्तं कुर्याद्, विवादं वा. ''न मयैव भक्षितम्'' इति. तथा सति नरको न स्याद् इति आशङ्क्य आह **दैवेन** इति.

दैवेनाऽऽसादितं तस्य शमलं निरये पुमान् ।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः।।३२।।

तत्र भगवदिच्छयैव तस्य **शमलम्** उपस्थितं, भुङ्क्ते च; नतु तद् अन्यथा कर्तुं शक्यते. **शमलं** पापफलम्. **निरये** नरकभूमौ. **पुमान्** इति स्वतन्त्रः. ननु भगवदिच्छया चेत् कस्य दोषो अयम्? इति आशङ्क्य आह **कुटुम्बपोषस्य** इति. अन्तःदुःखमपि तस्य इति आह **हृतवित्त** इति. यथा रोगग्रस्तदेहो वित्ते गते दुःखम् अनुभवति, एवं कुटुम्बे देहेऽपि गते तद्वासनायाः विद्यमानत्वात् शमलं भुङ्क्ते. धर्माधर्माभ्यां कुटुम्बपोषकस्य एतद् उक्तम्।।३२।।

केवलाधर्मेण कुटुम्बपोषकस्य फलम् आह **केवलेन** इति.

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः ।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ।।३३।।

पापोपार्जितेनैव द्रव्येण, व्याधइव, घातकइव वा, यः कुटुम्बं पोषयति; उत्सुको वा; सो अन्धतामिस्रं याति. अस्माद् अन्धतामिस्रात् तद्भिन्नं दैत्यानाम् अन्ते फलरूपम्. तद् आह **चरमम्** इति. तत्र गतो न निवर्तते. तत्र च निवृत्त्यभावार्थम् आह **तमसः पदम्** इति।।३३।।

तत्र कल्पान्तं स्थित्वा पुनः आयाति इति आह **अधस्ताद्** इति.

अधस्ताद् नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः ।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्रावव्रजेत् शुचिः ।।३४।।

नरलोकस्य अधस्ताद् यावतीः यातनाः ताः सर्वाएव क्रमेण ऊर्ध्वमुखः

सन्, अनुभूय, नतु सर्वाः सकृत्, किन्तु समनुक्रम्य. एकं नरकम् आरभ्य, तत् सम्यग् भुक्त्वा, पुनः नरकान्तरं भोक्तुम् आरभते इति अर्थः. पुनः अत्रैव लोके शुद्धो भूत्वा **आव्रजेद्** इति अर्थः।।३४।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे त्रिंशाध्यायविवरणम्

।। एकत्रिंशो अध्यायः ।।

एकत्रिंशे पुनस्तस्य गर्भादिकृतयातनाः ।
जानतोऽपि पुनर्मोहो दुःखं चापि तथोच्यते ।।१।।
कृतिः प्रधानं न ज्ञानं यावद् देहस्मृतिर्भवेत् ।
अतस्त्यागो विधातव्यो ज्ञानं तस्मात् तु [१] दुर्बलम् ।।२।।
क्रिया चेद् विषमा जाता ज्ञानं तस्य न साधकम् ।
क्रियां चेद् जनयेत् तद्धि तदुत्तमम् इहोच्यते ।।३।।
अधर्माधिक्यतो धर्मं यः करोति गृही सदा ।
बहुजन्मविपाकेन गर्भे तस्य भवेद् मतिः ।।४।।
तामसत्वात्तु धर्मस्य न भूमौ नोत्तरे फलम् ।
अतो गर्भे ज्ञानसिद्धिः तादृशस्योच्यते हितम् ।।५।।

पूर्वाध्यायान्ते नरकाद् इह लोके पुनः आगमनम् उक्तम्. ततश्च तस्य देहसम्बन्धः कथम्? इति आशङ्क्य यदा योनौ रेतः निर्जीवमेव तिष्ठति तदा सः आगत्य कर्मणा प्रविशेद् इति आह **कर्मणा** इति.

श्रीभगवान् उवाच

कर्मणा दैवतन्त्रेण[१] जन्तुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ।।१।।
कललं[२] त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम् ।।२।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ एकत्रिंशाध्यायं विवरिषवः सङ्गतीनां पूर्वम् उक्तत्वाद् अर्थमेव आहुः **एकत्रिंशे** इत्यादि. **तथा** इति, वैराग्यजनकत्वेन प्रकारेण. ननु अस्मिन् अध्याये गार्भज्ञाननिरूपणस्य किं प्रयोजनम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **कृतिः** इत्यादि. **तस्माद्** इति. त्यागात्. **हितम्** इति. त्यागरूपं हितम्. तथाच, हीनाधिकारे ज्ञानस्य उपकारकत्वेऽपि नैर्बल्येन अकिञ्चित्करत्वात् त्यागस्य आवश्यकत्वं बोधयितुं तन्निरूपणम् इति अर्थः.

१.सुदुर्बलम् क. घ. ङ.

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः ।
नख–लोमास्थि–चर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ।।३।।
चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ।।४।।

भगवदिच्छाधीनेन कर्मणा **जन्तुः** अयं जायमानो देहोत्पत्यर्थं पुंसो रेतः कणम् आश्रित्य, **स्त्रियाः उदरं प्रविष्टो** भवति. प्रथमतः उदरप्रवेशः, पश्चाद् रेतः कणाश्रयः. मुख–नासिकाद्वारा च प्रवेशः. तस्मिन् प्रविष्टएव तत्प्रयत्नेन धारितं रेतः तिष्ठति. दैववशात् समानकाले रेतः सम्भवश्च भवतः.

तत्र दिनमात्रे स्थिते तद् रेतः **कललं** भवति. शुक्र–शोणिते मिलिते भवतः. पञ्चरात्रेण बुद्बुदाकारम् उच्छूनं भवति. दशाहेनतु **कर्कन्धूः** भवति, बदरीफल–बीजसदृशं भवति. ततः परं **पेशी, अण्डं** वा भवति. अण्डाकारं वृत्तं वा अपूपाकृतिः भवति. पुरुषश्चेद् अण्डम्, इतरौ चेत् पेशी. यो वा ऊर्ध्वं गच्छेत्, सो अण्डाकृतिः भवति. यः पुनः अधः तत्र वा तिष्ठेत् सः पेशी भवति.

ततः परं दशदिवसानन्तरम्. मासेनतु शिरो निष्पद्यते एकदेशेन. मासयोः द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्यादिसहितस्य **अङ्गस्य** देहस्य विशेषेण ग्रहः. देहाकृतौ निष्पन्नायां तत्र अभिमानोऽपि विशिष्टो निष्पद्यते इति अर्थः. बाहवः अङ्घ्रयश्च अङ्गानि यस्मिन् विग्रहे तादृशो भवति इति वा अर्थः. नखानि लोमानि अस्थीनि चर्माणि च **त्रिभिः** मासैः भवन्ति. लिङ्गस्य नवछिद्राणां च उद्भवः त्रिभिरेव मासैः.

धातवः त्वगादयः. यद्यपि अस्थि पूर्वं जातं, तथापि उतरोत्तरभावेन[३] न[४] जातम् इति चतुर्भिः तथा उद्भवः. क्षुत्–तृषोः पञ्चभिः उद्भवः. षड्भिः जरायुणा वीतो भवति. पुरुषत्वाद् दक्षिणे कुक्षौ भ्राम्यति।।१–४।।

तस्य जीविकाम् आह **मातुः** इति.

मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसत्तमे ।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते सजन्तुर्जन्तुसम्भवे ।।५।।

भक्षितान्नपानाद्यैरेव एधद्धातुः भवति. तस्य अवस्थाम् आह **असत्तमे** स्वस्य अत्यन्तम् अयोग्ये विण्मूत्रयोः गर्ते शेते इति. अन्येऽपि जन्तवः तत्र शेरते.

१.दैवनेत्रेण ङ. २.कलिलम् पा. ३.उत्तरभावेन ग. ४.नकाराभावः ख. घ. ङ.मां४.

सजन्तुः जन्तुभिः सहितः. ननु क्व तत्र जन्तवः? इति आशङ्क्य आह **जन्तुसम्भवे** इति. जन्तूनां सम्भवो यस्मिन् गर्ते।।५।।

तत्र क्लेशम् आह **कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः** इति.

कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात् प्रतिक्षणम् ।
मूर्छाम् आप्नोत्युरुक्लेशः तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ।।६।।

शरीरम् अत्यन्तं सुकुमारम् इति कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः प्रतिक्षणं मूर्छाम् आप्नोति. मूर्च्छाप्राप्तिदशायाम् उरुक्लेशो भवति. कृमीणां क्षते हेतुम् आह **क्षुधितैः** इति. मुहुः दंशाद् *नितरां दुःखम् ।।६।।

आध्यात्मिकं दुःखम् आह **कटुतीक्ष्णे**ति.

कटु-तीक्ष्णोष्ण-लवण-रूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः ।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थित-वेदनः।।७।।

मधुरएव न बाधकः, अन्ये कट्वादयो बाधकाएव. 'आदि'शब्देन [१]द्रव्याणि अपरिणामतो बाधकानि. तेषां सम्बन्धार्थम् आह **मातृभुक्तैः उपस्पृष्टः** इति. जीवन-नाडिकाद्वारा मुखे रसः समायाति; बहिरपि स्पर्शो भवति इति सर्वाङ्गोत्थितवेदनो भवति।।७।।

आधिदैविकीं पीडाम् आह **उल्बेन** इति.

उल्बेन संवृतस्तस्मिन् अन्त्रैश्च बहिरावृतः।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ।।८।।

बन्धनरज्जुवद् **उल्बेन** गर्भवेष्टकेन **तस्मिन्नेव** गर्ते[२] सम्यग् वृतः, अन्त्रैः च उल्बाद् बहिरपि आवृतः. एवं पीडितोऽपि शिरः स्वकुक्षौ कृत्वा [३]**भुग्नपृष्ठ-शिरोधरः आस्ते**. अयम् उपद्रवो दैविकः।।८।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उल्बेन इत्यत्र. अव्ययीभाव एभिः कृते आधिदैविकीति भव(ति)न्ति. देवाः च अत्र इन्द्रियाधिष्ठातारएव. तथाच, तेषु या पीडा सा तादृशी वाच्या. सा अत्र कथम्? इति आकाङ्क्षायां तत्स्वरूपम् आहुः **अयम्** इत्यादि. देवनियामकेन तेषु कृतः इत्येवं तत्सम्भवः इति अर्थः ।।८।।

---

* 'निरन्तरम्' इति मां४. १.द्रव्याण्यपि परिणामतः ग. ङ. २.मार्गे क. ङ. ३.भग्नपृष्ठशिरोधरः, क. ख.मां४.

उपद्रवाणां फलम् आह **अकल्पः** इति.

अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे ।

तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात् कर्म जन्मशतोद्भवम् ।

स्मरन् दीर्घम् अनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते ।।९।।

स्वाङ्गचेष्टायामपि **अकल्पः**. स्वतः सामर्थ्यनाशाभावाय आह **शकुन्तइव** इति. बाधककृतमेव असामर्थ्यं[1]; नतु स्वतः इति अर्थः. पूर्वोक्तप्रकारेण पूर्वोपार्जितधर्मवशाद् भगवदिच्छया ऊर्ध्वगन्तुः गर्भे [2]सर्वज्ञता भवति इति आह **तत्र** इति. स्वस्यैव **जन्मशतोद्भवं कर्म स्मरन्,** उत्पन्नेन शोकेन **दीर्घं** श्वसन्**, किं नाम शर्म विन्दति,** अपितु न विन्दति इति अर्थः. कर्माणितु पूर्वोक्तानि, येषां स्मरणेन सुखसम्भावनाऽपि न भवति. एतादृशस्मरणे हेतुः **दैवाद् लब्धस्मृतिः** इति।।९।।

पूर्वजन्मस्मरणेन वैराग्ये जातेऽपि ''**तरति शोकम् आत्मविद्**'' (छान्दो.उप. ७।१।३) इति श्रुतेः ज्ञानम् अवश्यम् अपेक्ष्यते इति. यथा भगवदिच्छया पूर्वकर्मस्मृतिः तथा जीवब्रह्मस्वरूपज्ञानमपि तस्य जातम् इति आह **आरभ्य** इति.

आरभ्य सप्तमान् मासाद् लब्धबोधोऽतिवेपितः ।

नैकत्राऽऽस्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः।।१०।।

सप्तममासम् **आरभ्य सप्तमान् मासाद्** ऊद्र्ध्वं जन्मपर्यन्तं **लब्धबोधो** भवति. कालादीनां च पराक्रमं स्मृत्वा अतिवेपितश्च भवति. वस्तुस्वभावैश्च वेपितो भवति इति आह **न एकत्र आस्ते** इति. प्रसूतिवातैः वेपितः सन् न एकत्र आस्ते. जातेऽपि ज्ञाने क्रियैव बलिष्ठा इति ज्ञापयितुम् आह असत्तुल्यतां **विष्ठाभूरिव** इति. विष्ठायां जातो यथा कृमिः. ननु महतो अस्य कथम् एवं निन्दावचनम्? तत्र आह यतो अयं **सोदरः** समानम् उदरं यस्य. यदि अयं महान्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अकल्पः इत्यत्र. **भगवदिच्छया ऊर्ध्वगन्तुः** इति. ''**पुनरत्राव्रजच्छुचिः**'' (भाग.पुरा.३।३०।३४) इति शुचित्वम् उक्त्वा तदुत्तरम् एतत् प्रघट्टकोक्त्या अत्र एवम् अवसीयते. तथाच, गर्भे न सर्वस्य सर्वज्ञता इति हृदयम् ।।९।।

१.कृतत्वमेवा...क. घ. ङ. २. 'सर्वज्ञानम्' इति मां४.

स्यात् सोदरो न स्यात्. भगवत्प्रेरित–वस्तुस्वभावानां बलिष्ठताप्रदर्शनं ज्ञानस्य अप्रयोजकत्वं ज्ञात्वा भगवद्भजनार्थम्।।१०।।

अतः तथा ज्ञात्वा भगवत्स्तोत्रं कृतवान् इति आह **नाथमानः** इति.

नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः ।

[1]स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः।।११।।

नाथमानः उपतप्यमानः. ''**नाथृ–नाधृ याञ्चोपतापैश्वर्याशीःषु**'' (धा.पा. भ्वादि.६–७) इति धातुपाठात्. भगवन्तं वा **नाथमानः स्तुवीत** इत्यपि, अर्थात् स्वनिस्तारम्. **ऋषिः** इति अलौकिकज्ञानस्य वृत्तत्वाद् मन्त्रदर्शी. मन्त्रेण हि स्तुतः अलौकिकः आत्मा प्रसन्नो भवति. ननु प्रसन्ने भगवति आविर्भूते स्तोत्रं कर्तव्यम्, अयम् अन्तर्यामी भगवान् न आविर्भूतो न प्रसन्नः ततः आह **भीतः** इति. स्तोत्रम् उभयथाऽपि क्रियते : भीतेन, प्रसादविषयेण च. यद्यपि अयं प्रसादपात्रं न भवति तथापि भीतः सन् प्रसादार्थं स्तोत्रं कुर्यात्. ननु गर्भाद् निर्गमने जाते स्तोत्रं कर्तव्यं किम् इदानीं स्तोत्रेण? इति आशङ्क्य आह **सप्तवध्रिः** इति. **वध्रिः** चर्ममयी बन्धिका रज्जुः, तादृश्यः सप्त सन्ति त्वगाद्याः, तेन सर्वथा बद्धः विलम्बं न सहते. इयं स्तुतिः प्रार्थनार्था इति ज्ञापयति. **कृताञ्जलिः** इति. प्रेम्णो जातत्वात् सफला इयं स्तुतिः इति ज्ञापयितुम् आह **विक्लवया वाचा** इति. फलं च इदानीं दुःखनिवृत्तिरेव इति **येन उदरे अर्पितः** इति उक्तम्।।११।।

प्राणरक्षां पुरस्कृत्य दशभिः स्तोत्रम् ऊचिवान्।
भक्ति–प्रपत्ती कर्तव्ये इति शास्त्रार्थबोधनात्।।१।।
शरणागमनं पूर्वं जीव–ब्रह्मविभाजनम्।
जीवहीनत्वतश्चापि सत्सङ्गादेव तद् भवेत्।।२।।
एवं हरिस्तु हितकृत् कृपाप्रार्थनमेव च।
प्रत्युपकारासामर्थ्यं ज्ञानदातृत्वमेव च।।३।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्य उपपन्नेत्यत्र. कारिकासु. **जीवहीनत्वतः चापि** इति जीवहीनत्वतो नमनं, **च**कारात् पूर्वश्लोके विभागादपि नमनम् इति अर्थः. **सत्सङ्गाद्** इत्यादि. अतो महदनुग्रहस्तु निरत्यर्थः. शेषं स्फुटम् ।।१२।।

१.स्तवीति इति पाठः

संसारस्यातिदुष्टत्वं तदभावस्तु याच्यते।

प्रथमतः शरणागमनम् आह **तस्य** इति.

जीवः उवाच

तस्योपपन्नम् अवितुं जगदिच्छयात्त–नानातनोर्भुवि लसत् चरणारविन्दम्।
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा ।।१२।।

पूर्वधर्मवशाद् अवतीर्णस्य हरेः पूर्वं भावकः इति तमेव शरणं गच्छति. अद्याऽपि भक्तिमार्गेण न निविष्टः इति जगद्रक्षार्थं भगवदवतारम् आह **उत्पन्नं** स्वेनैव निर्मितं जगद् **अवितुं** स्वेच्छया **आत्ताः** स्वीकृताः नाना तनवो येन. अतएव तादृशस्य **लसत् चरणारविन्दं शरणं व्रजामि**. भक्त्यर्थमेव एषा शरणागतिः चरणनिरूपणात्. युक्तमेव यद् भीताः[1] रक्षकस्य चरणशरणं गच्छन्ति[2] इति. तत्रापि पूर्ववद् बाधश्चेद् व्यर्थं(?) शरणागतिः इत्यतः आह **अकुतोभयम्** इति. ननु अयमेव दुःखदाता "**सुखं दुःखम्**"(भाग.पुरा.१०।२४।१३) इत्यादिवाक्यात्. ततश्च मारकस्य शरणागमनम् अनुचितम् इति आशङ्क्य आह **येन ईदृशी गतिः अदर्शि**. यदि केवलम् एतादृशीं गतिं प्रयच्छेद् नतु ज्ञापयेत् तर्हि शरणं न गच्छेत्. यत् पुनः ज्ञापयति, असतः एतादृशी गतिः इति, तेन एवं ज्ञायते सत्त्वे न एवं गतिः भविष्यति इति ज्ञापयति. तत्र सत्त्वं सति भगवति प्रवेशादेव सदसतोः विभागः हेयत्वेन, ग्राह्यत्वेन च निर्द्धारितः. प्राकृतम् असद् भगवान् सन् इति. यथा जीवस्य स्वरूपतः सतोऽपि असति प्रवेशे असत्त्वम्. तथा सति प्रवेशत्वम् इति सत्प्रवेशार्थं भगवच्छरणागतिः युक्तैव इति अर्थः।।१२।।

जीव–ब्रह्मणोः पूर्वोक्तसिद्ध्यर्थं रूपभेदम् आह **यस्तु अत्र** इति.

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा भूतेन्द्रियाशयमयीम् अवलम्ब्य मायाम्।
आस्ते विशुद्धम् अविकारम् अखण्डबोधम् आतप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि।१३।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

हेयत्वेन ग्राह्यत्वेन इति. नतु मिथ्यात्वेन सत्यत्वेन इति अर्थः. एतदेव प्रदर्शयन्ति. **यथा** इत्यादिना।।१२।।

यस्तु अत्र इत्यत्र. अत्र मूले **यस्तु** इति 'यत्'पदेन, **नमामि** इति उत्तमपुरुषेण

१.भीतः ख. ग.मां४. २.गच्छति ख. ग.मां४.

अत्रैव शरीरे यः शकुन्तइव बद्धः प्रतिभासते सः जीवः. तस्य बन्धे हेतुः **कर्मभिः आवृतात्मा** इति. कर्मभिरपि सम्बन्धे हेतुः **भूतेन्द्रियाशयमयीम् अवलम्ब्य मायाम्** इति. **भूतानि** देहः, इन्द्रियाणि अन्तःकरणञ्च. आत्मानं व्यामोहयितुम् एतद्रूपा माया जाता. अतः ताम् अवलम्ब्य आत्मत्वेन [1]आधारत्वेन वा यः आस्ते सः बद्धइव जीवः. यस्तु तथाविधां मायां न अवलम्ब्य आस्ते सः विशुद्धः. अनेन अदेहरूपता निरूपिता. इन्द्रियरूपता-व्यावृत्त्यर्थम् आह **अविकारम्** इति. सर्वे विकाराः इन्द्रियजन्याः. **अखण्डबोधम्** इति. अन्तःकरणरूपताव्यावृत्त्यर्थम्. एवंभूतोऽपि सन् अस्मत्कृपया स्वस्य सखित्वप्रतिपादनार्थम् आसमन्तात् **तप्यमाने हृदये अवसितं** प्रतीतम्, अतएव **नमामि.** अतो भगवतो दोषाभावो गुणाश्च उक्ताः. जीवस्य च दोषाः उक्ताः तन्निवृत्त्यर्थं च नमनम् इति निरूपितम्।।१३।।

ननु किं नमनेन ज्ञानेन हि माया निवर्तिष्यते, ततः कर्मसम्बन्धाभावे देहसम्बन्धाभावः, ततो मुक्तो भविष्यति इति मुक्त्यर्थं भगवन्नमनं न[2] कर्तव्यम् इति आशङ्क्य आह **यः पञ्चभूतरचिते** इति.

यः पञ्चभूत-रचिते रहितः शरीरे छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थ-चिदात्मको-ऽहम् ।
तेनाविकुण्ठ-महिमानम् ऋषिं तम् एनं वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम् ।।१४।।

अयं देहः पञ्चभूतै रचितः, तानि च भूतानि भगवन्नियमितानि भगवदधीनान्येव. ''**अजनि च यन्मयं तद् अविमुच्य नियन्तृ भवेद्**'' (भाग.पुरा. १०।८७।३०) इति वाक्यात्. तादृशे अन्याधीने शरीरे यो रहितः तम्. तादृशएव शरीरे यः छन्नः. यथावद् इन्द्रियगुणार्थचिदात्मकः सो अहं वन्दे इति सम्बन्धः. शरीरस्य आच्छादकत्वं तदैव भवति यदि पूर्वं चिद्रूपोऽपि अन्यत्र सम्बद्धो भवति.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

च. 'सो अहम्' इति पदद्वयाक्षेपाद् यः **एवम् आस्ते सो अहं नमामि** इति सम्बन्धो बोध्यः ।।१३।।

यः पञ्चभूतेत्यत्र. **रहितः** इति, तत्र विद्यमानोऽपि निरभिमानत्वात् तत्सम्बन्धरहितः. ननु एकस्मिन् उभयोः विद्यमानत्वेऽपि कथम् एकस्यैव आच्छाद्यत्वम्? इत्यतः उपपादयन्ति **शरीरस्य** इत्यादि. 'यथा'पदस्य **यथावद्** इति

१.'अक्षरत्वेन' इति मां४. २. 'न' इति नास्ति क. घ. ङ पुस्तके.

यथा दर्पणगतः सूर्यः स्थाप्यते, प्रतिमागतो वा विष्णुः गन्धादिभिः पूज्यते इति. तदर्थं प्रथमतो देहसम्बन्धात् पूर्वम् इन्द्रियादिसम्बन्धो निरूप्यते **यथा** इति दृष्टान्तेन वा शरीराच्छादनं स्थाप्यते. यथा अयम् **इन्द्रियाणि गुणाः** अन्तःकरणरूपाः **अर्थः** आधिभौतिकः, त्रितये प्रकाशार्थं यः चिद्रूपेण प्रविष्टः सः चतुष्टयात्मा भवति. आध्यात्मिकादिरूपः त्रितये वेदनरूपश्च. यथा [१]अहम् इन्द्रियादिसम्बद्धः तथा आत्मसम्बद्धोऽपि इति अर्थः. अतः एकस्मिन्नेव शरीरे विद्यमानयोः एको रहितो भवति, एकश्च छन्नो भवति. **तेन** कारणेन **अविकुण्ठमहिमानं** जीवस्य अलौकिकोपकारकरणसमर्थम्, **ऋषिम् एनं** पूर्वोपकारिणं पूर्वस्थित-बाधक-निवृत्तये प्रकृति-पुरुषयोः **परं** नियन्तारं, निराकारपक्षव्यावृत्त्यर्थं **पुमांसम्. वन्दे** इति स्वस्य हीनतां निरूप्य पूर्वोक्तमेव अनुवादेन उक्तम् ।।१४।।

एवं शरणागतिः नमनादिकञ्च भगवद्भक्तकृपयैव भवति इति आर्षज्ञानेन स्मृत्वा भक्तसङ्गमिव प्रार्थयितुं तदनुग्रहं स्तौति **यद् मायया** इति.

यन् माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन् सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण ।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं युक्त्या कया महदनुग्रहम् अन्तरेण।।१५।।

स्वसामर्थ्ये गते शास्त्रतोऽपि अचिकित्स्ये अलौकिकद्वारा भगवद्-भक्ताएव तं भगवत्परं कर्तुं शक्नुवन्ति इति युक्तम्. अन्यथा स्वतः सामर्थ्ये एवं दुर्दशा न स्यात्. प्रतीकारो हि ज्ञान-क्रिययोः सद्भावे भवति. तत्र ज्ञानाभावो **नष्टस्मृतिः** इति. श्रमप्रतिपादनात् क्रिया, शक्त्यभावश्च. श्रमस्य नित्यम् उत्पत्त्यर्थं **यस्य** भगवतो **मायया** मोहने[२] करणभूतया **उरूणि** यानि **गुणकर्माणि** तैः नितरां बन्धनं यत्र. एतादृशे अस्मिन् सांसारिके मार्गे निरन्तरं चरन् इति मुक्तोऽपि निरन्तरं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

व्याख्यानं क्लिष्टमिव मत्वा व्याख्यानान्तरम् आहुः **यथेति** इत्यादि. आच्छादन-स्थापनप्रकारम् आहुः **यथा अयम्** इत्यादि. अत्र इन्द्रियाणि आध्यात्मिकानि, गुणाः आधिदैविकाः ज्ञेयाः. तथाच एवं चतुष्टयरूपत्वेन सांसारिकतया आच्छाद्यत्वम् इति एकपदएव दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभावः इति अर्थः. **पूर्वोक्तमेव** इति. नमनमेव।।१४।।

यन् मायया इत्यत्र. **तदनुग्रहम्** इति. महदनुग्रहम् ।।१५।।

१. अयम् क. घ. ङ.मां४. २.मोहनेन ग.मां४.

चरन् श्रान्तो भवति, किमुत बद्धः. सोऽपि बन्धः कर्मकृतः स्वतोऽपि मोचयितुम् अशक्यः. कर्माण्यपि न प्रायश्चित्तादिना निवर्तयितुं शक्यानि, यतो भगवन्माययैव जायन्ते. गुणाश्च स्वभावभूताः, चित्तं तत्परमेव कुर्वन्ति. **अस्मिन्** इति निरन्तरं परिदृश्यमानत्वेन निवृत्तिः दुर्घटा सूचिता. **पथि** इति अनिवृत्तिः सूचिता. कया युक्त्या इति लौकिकः उपायो न सङ्गच्छते इति[1] युक्तम्।।१५।।

ननु एवं भक्तकृपयैव कथं भवति? इति आशङ्क्य आह **ज्ञानं यदेतद्** इति.

ज्ञानं यदेतद् *अददात् कतमः स देवः त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः ।
तं जीवकर्मपदवीम् अनुवर्त्तमानाः तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम ।।१६।।

यद् एतद् अस्माकं जातं त्रैकालिकवस्तुविषयज्ञानं तद् भगवतैव दत्तम्. अन्यथा यो हृदयस्थितो न भवति सः कथं हृदये ज्ञानं दधाति[1]. अयं[2] च स्थिरचरेषु अनुवर्तितः, स्वांशो यस्य येन इति वा. अयं हि स्वांशं जीवम् अनुवर्तते. अन्तर्यामिरूपो वा अंशः सर्वत्र वर्तते इति; अयमेव ज्ञानम् **अदधाद्**. ननु सर्वेन्द्रियादौ अधिष्ठातारो देवाः सन्ति, न ते ज्ञानं प्रयच्छन्ति. अयञ्च सर्वेषु वर्तते इति; तथापि मह्यमेव दत्तवान्. अतो अयं **कतमो देवः** अत्यन्तं कः परब्रह्मरूपः. अन्यदेवानां[3] न कृत्यम्. **कतमः** इत्यनेन विशेषतो वक्तुमपि अशक्यः इति उक्तम्. अतएव एतादृशम् उपकारिणं **जीवानां कर्मपदवीं** संसारमार्गम् **अनुवर्तमानाः वयं** सर्वे तापत्रयोपशमनाय भजेम. ये केचन जीवभावं प्राप्ताः तेषां दास्यं परमो धर्मः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ज्ञानं यदेतद् इत्यत्र. **अन्यथा** इत्यस्य विवरणं **यो हृदये**त्यादि. हृदयस्थितत्वं व्युत्पादयन्ति **अयञ्च** इत्यादि. **अनुवर्तितः** इति. लक्षीकृत्य स्थापितः. **वर्तते** इति, ‘‘**य आत्मनि तिष्ठन्**’’ (शतप.ब्राह्म.१४।५।३०) इत्यादि श्रुतेः तथा इति अर्थः. तस्य सर्वत्र साम्यात् पक्षान्तरम् आहुः **अन्तः** इत्यादि. अनुपपत्तिं समादधते **तथापि** इत्यादि. तथा अत्र ‘कतमः’ इति निर्धारकं पदम् इति अर्थः. शब्दमहिम्नातु प्रश्नोपि इति आहुः **कतमः** इत्यादि. ननु भवतु उपकारित्वं, भजनस्य किं प्रयोजनम्? अतः आहुः **ये केचन** इत्यादि. **दास्यं परमो धर्मः** इति. पूर्वं वन्दनम् उक्तं, ततः

१.सङ्गच्छतीत्युक्तम् क. ङ. * ‘अदधात्’ इति मां४. १.ददाति घ. ङ.मां४. २.अतः ङ. किञ्च. ३.अल्पदेवानाम् ख. ग.मां४.

देहभावं परित्यज्य ब्रह्मभावात् पूर्वं जीवभावएव. प्रथमप्रवृत्तत्वात् **तापत्रयोपशमनाय** इति उक्तम्. **वयम्** इति बहुवचनं स्वसमानशीलानां सर्वेषां विज्ञापनार्थम्. भजनेनैव भगवान् कृपयति इति।।१६।।

एवं भजनम् उक्त्वा विज्ञापनम् आह **देहीति**.

देह्यन्यदेह-विवरे जठराग्निनासृग्-विण्मूत्रकूप-पतितो भृशतप्तदेहः ।
इच्छन् इतो विवसितुं गणयन् स्वमासाद्
निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन्! कदा नु ।।१७।।

अयं स्वलक्षणो देही. **अन्यस्य** मातृलक्षणस्य **देहविवरे** उदरे जठराग्निना भृशं तप्तदेहः; असृग्विणमूत्रपूर्णे **पतितः** त्रिविध-दुःखभोक्ता. माता भूत-स्थानीया, अग्निः दैविकः. अतः त्रिविध-दुःखपीडितः **इतो विवसितुं** निर्गन्तुम् इच्छन् स्वमासान् **गणयन्** वर्तते पूर्वनिवृत्तान्. अग्रिममासानां नियमाभावात्. **हे भगवन्** कदा वा निर्वास्यते. हे **भगवन्** इति. अत्र त्वमेव समर्थः. **कृपणधीः** इति धैर्याभावः उक्तः. अनन्तदुःखस्मरणाद् गणनाकालेनाऽपि दुःखनिवृत्तिं मत्वा, भवतेति अर्थात्. एवं तत्र दुःखानुभवाद् अन्यत्र गमनं प्रार्थितम् ।।१७।।

ननु कृतोपकारस्य ज्ञानदानलक्षणस्य प्रत्युपकारं चेत् कुर्यात् तदा अग्रे विवासनमपि कुर्यात्. प्रत्युपकाराऽभावे कथं करिष्यति? इति आशङ्क्य आह **येन** इति.

येनेदृशीं गतिम् असौ दशमास्य ईश! सङ्ग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन ।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिम् अस्य कुर्यात्।।१८।।

येन भवादृशेन, **असौ** मल्लक्षणः, **दशमास्यः** दशभिः मासैः परिच्छिन्नः, ईदशीं **गतिं** ज्ञानं सम्यग् ग्राहितः. ननु ग्राहको अन्यः कश्चिद् धर्माधिष्ठाता देवता, अहन्तु अन्यः इति किं मां प्रति उच्यते? इति आशङ्क्य

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उत्कृष्टत्वात्. सख्यादेश्च स्वाधीनत्वाद् दास्यमेव तथा इत्यतो भजनमेव आवश्यकम् इति अर्थः. **प्रथमप्रवृत्तत्वाद्** इति. मुख्याधिकारस्य इदानीम् अजातत्वाद् इति अर्थः।।१६।।

आह **भवादृशेन** इति. **स**एव भवान् भवत्सदृशो वा. किम् अनेन विचारेण किन्तु स्वेनैव कृतेन सः तुष्यतु. यथा पङ्कमग्नां गाम् उद्धृत्य स्वयमेव तुष्यति, तथा स्वतएव भगवान् तुष्यतु, को नाम तस्य प्रतिविधिं प्रत्युपकारं करिष्यति. स्वनिष्कृत्यर्थं चेत् किञ्चित् कुर्यात् तदा अञ्जलिं कुर्याद्, नतु अतिरिक्तं कर्तुं शक्नोति इति अर्थः।।१८।।

ननु कं प्रति एवम् उच्यते यतः कोऽपि न अभिव्यक्तः इति आशङ्क्य आह **पश्यति** इति.

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे ।
यत् सृष्टयास तम् अहं पुरुषं पुराणं पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम् ।।१९।।

यद्यपि भगवान् न अभिव्यक्तः, अथापि अयं **दमशरीरी** शमदमादि-साधकदेहसहितः. स्वयं सप्तवध्रिरपि येन भगवता सृष्ट्या **धिषणया** बुद्ध्या स्वदेहएव स्वयम् **अपरो** नियामकत्वेन अन्यो भाति, स्वयन्तु नियम्यत्वेन. अतः तद्दत्तज्ञानेनैव तं पश्ये. सो अहं कृतोपकारः तम् उपकारिणं भगवन्तम् अहं शारीरः अस्मिन्नेव पुरे शेते यः तम् इति प्रतीतिः उक्ता. **पुराणम्** इति. न आगन्तुकत्वम्, अतः परिचयोऽपि उक्तः. देहाद् **बहिः हृदि च प्रतीतं**, यथा चैत्यो जीवः तद्वदपि प्रतीतं, सर्वभावेन सर्वत्र प्रतीतं, यथा जीवप्रतीतौ न साधनाद्यपेक्षा तथा भगवानपि स्वतः स्फुरति इति तत्संस्कारकत्वेन न अन्यापेक्षा. ज्ञानन्तु साधनम् उक्तमेव. अतो दृष्ट्वैव प्रार्थनादिकम् इति न किञ्चिद् दूषणम्।।१९।।

एवं सर्वत्र भगवद्दर्शने ''**अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्**'' (भग.गीता ५।२६) इति भगवद्वाक्यात् किञ्चित् सुखं प्राप्य गर्भएव गतव्यथः बहिःबाधकं स्मृत्वा अन्तरेव स्थितिं प्रार्थयति **सो अहम्** इति.

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं गर्भाद् न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपम् ।
यत्रोपयातम् उपसर्पति देवमाया मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रम् एतत् ।।२०।।

अस्मिन् गर्भे **बहुदुःखवासं** यथा भवति तथा **वसन्नपि**, इतो बहिः **न**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

पश्यति इत्यत्र. पश्यति इत्यनेन उक्तस्य दर्शनस्य प्रकारम् आहुः **स्वयम् अपरः** इत्यादि. **कृतोपकारः** इत्यत्र षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिः. **तत्संस्कारकत्वेन** इति. बुद्धिसंस्कारकत्वेन ।।१९।।

निर्जिगमिषे; यतो **बहिः अन्धकूपम्**. यद्यपि इदमपि सर्वतो वेष्टकं कूपप्रायं, तथाऽपि अत्र ज्ञानम् अस्ति, बहिः न अस्ति इति अन्धकूपत्वम्. ननु इदं ज्ञानं तत्राऽपि अनुवर्तिष्यते इति चेत्, तत्र आह **यत्र उपयातम्** इति. [१]गर्भाद् बहिः निर्गतं जीवं भगवतो माया अनुल्लङ्घ्या **उपसर्पति**. ततो मायामोहितस्य मिथ्यादेहादौ अहं मतिः भवति. तदनु **संसृतिचक्रं** जन्ममरणाद्यावृत्तिश्च भवति. अतः पुनः अत्र आगन्तव्यम्, अतो निर्गतस्य न कश्चित् पुरुषार्थः. **एतद्** इति परिदृश्यमानम् आवश्यकम् इति अर्थः।।२०।।

ननु अत्र स्थित्वा किं कर्तव्यम्? तद् आह **तस्माद् अहम्** इति.

तस्माद् हं विगतविक्लव उद्धरिष्य आत्मानम् आशु तमसः सुहृदात्मनैव।
भूयो यथा व्यसनम् एतद् अनेकरन्ध्रं मा मे भविष्यद् उपसादितविष्णुपादः।।२१

अत्रैव स्थित्वा वैक्लव्यं परित्यज्य, आत्मानं **तमसः** सकाशात् **सुहृदात्मनैव** भगवतैव **उद्धरिष्ये**. सङ्घाते पतितम् आत्मानं स्वरूपे स्थापयिष्यामि. तत्र सत्सङ्गादिकं न अपेक्ष्यते, यतः परमोपकारी भगवानेव सर्वं सम्पादयति. ननु किम् उद्धारेण, अत्रैव स्थित्वा भगवानिव कथं न स्वतन्त्रो भवेद्? इति आशङ्क्य आह **भूयः** इति. यथा अनेकरन्ध्रं व्यसनं मे मा भविष्यत्; अत्र स्थित्वैव तथा भगवद्ध्यानलक्षणम् उपायं करिष्यामि, यथा व्यसनं न भविष्यति. जातेतु व्यसने प्रतीकारः कठिनः. अत्रापि व्यसनं भविष्यति इति चेत् तत्र आह **मे उपसादित-विष्णुपादः**. उपसादितौ विष्णुपादौ येन सः उपसादितविष्णुपात्; तादृशस्य मे. तत्रतु मायामोहाद् उपसादनं भविष्यति न वा? इति सन्देहः. एवम् अध्यवसायान्ता स्तुतिः उक्ता, भगवत्स्तोत्रस्य फलं च उक्तम्. यत्र क्वचित् स्थित्वा भगवच्चरणोपसादनं कर्तव्यम् इति।।२१।।

एवं जीवस्य ऊर्ध्वगमनार्थं बीजसंस्कारम् उक्त्वा तादृशस्य [१]ऊर्ध्वगतिं वक्तुं जननम् आह **एवं कृतमतिः** इति.

[२]कपिलः उवाच

एवं कृतमतिर्गर्भो दशमास्यः स्तुवन् ऋषिः।

१.इतः पूर्वे भवति इतिविशेषः घ. मतिर्भवति इति ङ. १.प्रस्तुतम् क. घ.'तादृशस्य गतिं प्रस्तुतम्' इति मां४. २.श्रीभगवानुवाच घ. ङ.मां४.

सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ।।२२।।

दशमासपरिच्छिन्नो **गर्भः स्तुवन् ऋषिः** भूत्वा निश्चयमतिः जातः. मन्त्रादर्शित्वे भजनं न स्याद् इति. ''कृतिर्बलिष्ठा'' इति पूर्वम् उक्तत्वात् **सूति-मारुतः** तादृशमपि प्रसूत्यै प्रसवार्थम् **अवाचीनं क्षिपति.** अधोमुखो भवति इति अर्थः।।२२।।

ततः किम्? अतः आह **तेन अवसृष्टः** इति.

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वाऽवाक्-शिर[१] आतुरः ।

विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ।।२३।।

तेन वायुना, **अवसृष्टः** ततः प्रक्षिप्तः **कृच्छ्रेण विनिष्क्रामति** इति सम्बन्धः. **सहसा** इति सावधानाभावार्थम्. [२]**अवाक् शिरो** भूत्वा, शिरः [३]**अवाग्** अधोमुखं कृत्वा वा प्रथमतः आतुरो भवेद्; व्यसनस्य प्राप्तत्वात्; ततो अतिकृच्छ्रेण निष्क्रामति. निष्क्रमणे हेतुः **निरुछ्वासः** इति. अन्तःउच्छ्वास-स्थानाभावात् **हतस्मृतिर**पि भवति. अन्यथा क्रियायाः प्राबल्यं न स्यात्, साधनशास्त्राणां च वैयर्थ्यापत्तेः।।२३।।

निष्क्रमणानन्तरं कृत्यम् आह **पतितः** इति.

पतितो भुवि विण्मूत्रे[१] विष्ठाभूरिव चेष्टते ।

रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः ।।२४।।

विष्ठा स्वस्यैव, **मूत्रं** गर्भोदकम्. पश्चाद् भुवि पतितः, प्रथमतो **विष्ठाभूरिव चेष्टते.** क्रियाव्यतिरेकेण ज्ञानस्य अप्रयोजकत्वज्ञानार्थं निन्दावचनम्. तत्तु[२] ज्ञानं ज्ञापकमेव इति प्रसूतिवायुना तद् उपहतिम् आह **रोरूयति** इति. गते ज्ञाने विपरीतां गतिं ''गतः देहो अहम्'' इति बुध्वा रोरूयति रोदिति. शब्दमात्रं करोति इति रोरूयति इति उक्तम्. यथा सर्वस्वे गते प्राणी शब्दं करोति।।२४।।

उत्पन्नस्य बाल्यदुःखम् आह **परच्छन्दम्** इति.

परच्छन्दं न विदुषा [१]पुष्यमाणो जनेन सः ।

अनभिप्रेतम् आपन्नः प्रत्याख्यातुम् अनीश्वरः।।२५।।

१.अर्वाक्शिरः क. २.अर्वाक् क. ३.अर्वाक् क. १.असङ्मूत्रे क. घ. ङ. २.ननु क. घ. ङ.

बालकस्य इच्छाम् अविदुषा जनेन **पुष्यमाणो** भवति, ततो अनभिप्रेतम् आपन्नो भवति. क्षुधया रोदने औषधं, व्यथायान्तु अन्नम् इति. **प्रत्याख्यातुं** निराकर्तुम् **अनीश्वरः** असमर्थः. अतो महद्दुःखम् उक्तम्।।२५।।

पीडा-क्षुदभावदशायामपि दुःखम् आह **शायितः** इति.

शायितोऽशुचि-पर्यङ्के जन्तु-स्वेदज-दूषिते।
नेशः कण्डूयनेऽङ्गानाम् आसनोत्थान-चेष्टने।।२६।।

अशुचिपर्यङ्के शायितो भवति. दशदिवसपर्यन्तं सूतीगृहस्थानां पदार्थानां शुद्ध्यभावः. अनेन तस्य ज्ञानोत्पत्तौ प्रतिबन्धः उक्तः. **जन्तवो** मत्कुणादयः, **स्वेदजाः** मशकाः, तैः **दूषिते**ति सुतरां सोपद्रवः उक्तः. अधर्माद् व्यसनाच्च ज्ञानं न उत्पन्नम् इति उक्तम्. व्यसनप्रतीकारे अशक्तिम् आह **न ईशः** इति. अङ्गानां कण्डूयने असमर्थः, आसने उत्थाने चेष्टने वा. किन्तु सर्वदा पतितः तिष्ठति इति अनिवृतौ हेतुः. अनेन आध्यात्मिकं दुःखम् उक्तम्।।२६।।

भौतिकं दुःखम् आह **तुदन्ति** इति.

तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः।
रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा।।२७।।
इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च।
अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानाद् इद्धमन्युः शुचार्पितः।।२८।।

आमा अपक्वा **त्वग्** यस्य. **दंशाः** स्थूलमशकाः, **मत्कुणाः** लोहितवर्णाः खट्वाकीटाः. 'आदि'शब्देन अन्येऽपि वस्त्रकीटादयः. उभयोः ज्ञानाभावम् आह **रुदन्तम्** इति. विगतं ज्ञानं यस्य, अतो रोदिति; अन्यथा सहेत्. ततोऽपि अन्यं सजातीयं मत्वा दशन्ति इति आह **कृमयः कृमिकं यथा** इति. स्थूलः कृमिः कृमिकः.

इति दुःखम् अतिबाल्ये. **एवं** प्रकारकमेव **शैशवं** पञ्चवर्षपर्यन्तम्. नरकाद् आगतो विद्याधनयुक्ते कुले न भवति इति अतिदरिद्राणां गृहे दुःखम् एतादृशमेव. पौगण्डमपि तत्र दुःखम्. पञ्चमवर्षाद् ऊर्ध्वं नववर्षपयर्न्तं पौगण्डम्. तत्रापि एतज्जातीयमेव दुःखम्; अतो दुःखाभिभूतस्य न ज्ञानम् इति भावः. अग्रे

१.पोष्यमाणः पा.

ज्ञानं भविष्यति इति आशङ्क्य तत्र कामादयो बाधकाः भवन्ति इति आह **अलब्धाभीप्सितः** इति. न लब्धम् अभीप्सितं येन; अभीप्सितमपि अज्ञानात्. अज्ञानादेव **इद्धो** मन्युः यस्य. [1]इद्धमन्युना वा शोकेन च अर्पितो भवति. काम-क्रोधशोकाः उत्पन्नाः ज्ञानम् उत्पादयितुं न प्रयच्छन्ति इति अर्थः।।२७-२८।।

ततः पुष्टस्य सुतरां ज्ञाननाशहेतून् आह **सह देहेन** इति.

सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना ।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः ।।२९।।

यथा देहो वर्द्धते तथा मानो मन्युश्च. मन्युस्तु देहवृद्धिमपि न अपेक्षते. अभिमानस्यैव तदपेक्षा इति पृथग् वचनम्. **आत्मनः अन्ताय** नाशाय कामिषु **विग्रहं करोति.** एकवस्तुविषये कामश्चेद् बहूनां तदा बलिष्ठैः बहुभिः इतरो हन्यते. तदा पूर्ववत् स्वतन्त्रसुकृताभावाद् न इष्टसिद्धिः।।२९।।

[2]वाक्यज्ञानं दूरापास्तम् इति वक्तुं प्रत्यक्षतोऽपि दृष्टे यत्र ज्ञानं न भवति तत्र किं वक्तव्यम् अन्यस्माद् भविष्यति इति आह **भूतैः** इति द्वाभ्याम्.

भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत् ।
अहं ममेत्यसङ्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम् ।।३०।।

आकाशादि-पञ्चमहाभूतैः **आरब्धे देहे देही** देहाभिमानवान् पूर्वज्ञानरहितः असकृद् **'अहं मम' इति मतिं करोति,** यतो अयं कुमतिः. दृश्यतएव भूतादिजनितत्वं देहे. एवं प्रत्यक्षदृष्टेऽपि चेद् अबुधः. अबोधे हेतुः देहाभिमानी, सर्वदा वासनावशाद् भौतिकत्वे ज्ञातेऽपि 'अहं मम' अभिमानो भवति. अयम् अभिमानः स्वतो न निवर्तते इति **असकृद्** इति उक्तम्. **असद्ग्राहः** इति परबोधवैयर्थ्यम्. स्वतो युक्त्यनुसन्धानाभावाय **कुमतिः** इति।।३०।।

एवं देहे 'अहं मम' इति बुद्धौ स्थिरायां यद् भवति तद् आह **तदर्थम्** इति.

तदर्थं कुरुते कर्म यद् बद्धो याति संसृतिम् ।
योऽनुयाति ददत् क्लेशम् अविद्याकर्मबन्धनः।।३१।।

देहार्थं कर्म कुरुते. कर्मणा च बद्धो जन्म-मरणरूपं संसारं **याति.** देहोऽपि तं न त्यजति इति आह **यो अनुयाति** इति. **यो** देहः सर्वदा क्लेशं ददद् **अनु**

१.विद्धमन्युना. ग.मां४. २.'वाक्यात्' इति मां४.

पश्चाद् **याति**. यतः आत्मना सः बद्धः. प्रथमतो अविद्या, ततः[१] कामः ततः कर्माणि, तैः बन्धनं यस्य. एवं देहाभिमानेन नष्टो भवति इति उक्तम्।।३१।।

एतद् उपरि असत्सङ्गश्चेत्, तदा नष्टएव जातः इति आह **यदि असद्भिः** इति.

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदर–कृतोद्यमैः ।
आस्थितो रमते जन्तुः तमो विशति पूर्ववत् ।।३२।।

पुनः पथि पूर्वोक्तएव संसारमार्गे असद्भिः सह आस्थितः सन् रमते. तदा पूर्ववत् तमो विशति. अतो न तस्य किञ्चिद् वक्तव्यं व्याख्यातत्वात्. **असद्भिः** इति षष्ठ्यर्थे वा तृतीया. असतां लक्षणं शिश्नोदरार्थे कृतः उद्यमो यैः इति न भगवदर्थे. अनेन गृहस्थाः सर्वएव असन्तः इति उक्तम्. यदि अन्येऽपि एतादृशाः सुतरां असन्तः. [२]अवर्जनीयतया यः तिष्ठेद् यो वा न रतः तयोः न नाशः इति उक्तम्. **जन्तुः** इति अल्पबुद्धिः अतो रमणम्।।३२।।

असतां सङ्गस्य दोषम् आह **सत्यम्** इति.

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत् सङ्गाद् याति संक्षयम् ।।३३।।

पुरुषे द्वादशगुणाः मोक्षे अन्तरङ्गाः, यैः मोक्षो भवत्येव. ते नश्यन्ति इति तान् गणयति **सत्यं** यथार्थता, काय–वाङ्–मनोगता नश्यति. **शौचम**पि शुद्धत्वं तथा. **दया** परदुःखप्रहाणेच्छा. **मौनं** वृथा आलापनिवृत्तिः. **बुद्धिः** भगवद्विषयिणी, सन्मार्गविषयिणी वा. **श्रीः** धनं, शोभा च. **ह्रीः** लज्जा. **यशः** कीर्तिः, **क्षमा** शान्तिः. **शमो** मनोनिग्रहः. **दमः** इन्द्रियाणाम्. **भगो** भाग्यम् ऐश्वर्यादिभगवद्धर्माः. एते असतां सङ्गमात्रेणैव गच्छन्ति।।३३।।

मोक्षप्रेप्सोः तत्सङ्गो न कर्तव्यः इति वदन् असतां विशेषम् आह **तेषु** इति.

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याद् शोच्येषु योषित् क्रीडामृगेषु च ।।३४।।

यथा भगवत्सम्बन्धिनो भागवताः सन्तः षड्गुणयुक्ताः भवन्ति एवम्

१.ततः काम इति (ग) नास्ति. २.वर्जनीयतया ङ.

असन्तोऽपि असन्मूलदैन्यरूपं[1] षड्दोषयुक्तं प्राप्ताः भवन्तीति षड् दोषाः उच्यन्ते. तेषाम् अन्तःकरणे कदापि न शान्तिः. अनेन सत्त्वगुणाभावः उक्तः. प्रायिकं रजोऽपि न अस्ति इति आह **मूढेषु** इति. शास्त्रार्थज्ञानरहिताः मूढाः. खण्डितः आत्मा विषयैः येषाम्. पूर्वापरानुसन्धानाभावार्थं खण्डनम्. **असाधुषु** अनाचारेषु. एवं चतुष्टयम् उक्त्वा निषेधम् आह पुरुषार्थचतुष्टयबाधकत्वात्, **शोच्येषु** साधूनाम्. सत्यामपि प्रज्ञायां भगवदग्रहणात्. योषितां च ते क्रीडामृगाः. षड् एतानि लक्षणानि प्रत्येकम् असत्त्वसाधकानि इति **च**कारः।।३४।।

तत्रापि ये स्त्रीसङ्गिनः, स्त्रियश्च मुख्यतया 'असच्छ'ब्दवाच्याः, इति तत्सङ्गाभावम् आह **न तथा अस्य** इति.

न तथाऽस्य भवेद् मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।

योषित् सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गि-सङ्गतः ।।३५।।

अस्य पुरुषस्य मोक्षेप्सोः धनैः अश्वैः वस्त्रादिभिश्च तथा मोहो न भवेद् यथा योषितां सङ्गात्. **पुंसः** इति प्रतियोगित्वम्. यथा वा तत्सङ्गिनां सङ्गाद्, योषित्सङ्गापेक्षयाऽपि तेषां सङ्गो नाशकः. उपायपूर्वकं नाशजननात्।।३५।।

तत्र स्त्रिया नाशकत्वं जातित्वेनैव, नतु व्यभिचारादिदोषत्वेन इति वक्तुम् आह **प्रजापतिः** इति.

प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः ।

रोहिद्भूतां [2]सोऽन्वधावद् ऋक्षरूपी गतत्रपः।।३६।।

कथा पूर्वम् उक्ता. **स्वां दुहितरं** वाचं तद्रूपेण **धर्षितः** गतविवेकः. तद्रूपपरित्यागेऽपि न त्यक्तवान् इति आह **रोहिद्भूताम्** इति. तदर्थम् आत्मानमपि नाशितवान् इति आह **ऋक्षरूपी** इति. रोहिदृक्षौ सजातीय-स्त्रीपुरुषवाचकौ. **गतत्रपः** इति मरीच्यादिषु पश्यत्स्वपि नग्नः स्फुटावयवश्च।।३६।।

अतः स्वरूपतः कश्चित् सङ्गे जातेऽपि दोषरहितो भविष्यति इति न आशङ्कनीयम् इति आह **तत्सृष्टे**ति.

तत्सृष्ट-सृष्ट-सृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान् ।

ऋषिं नारायणम् ऋते योषिन् मय्येह मायया ।।३७।।

१.दैत्य ग. घ. ङ.मां४. २.अभ्यधावत् पा.मां४.

तेन ब्रह्मणा **सृष्टाः** मरीच्यादयः, **तत्सृष्टाः** कश्यपादयः **तत्सृष्टं** सर्वमेव जगत्. **को नु** इति वितर्के. न खण्डिता धीः यस्य. तादृशः कोऽपि न अस्ति इति अर्थः. एको अस्ति नारायणः तथाभूतः सः इति एकादशे वक्ष्यते. न केवलं सा नाशयति, किन्तु तस्याम् आविष्टा आधिदैविकी भगवन्माया, सा योषिन्मयी. सर्वधनादिरूपाऽपि योषित्प्रधाना. यद्यपि मार्कण्डेयोऽपि तथा उक्तः तथापि कल्पान्तरे सो अन्यथा भविष्यति इति नारायणएव उक्तः।।३७।।

स्त्रीणां मायात्वम् उपपादयति **बलम्** इति.

बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।
या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम् ।।३८।।

मे मायाया बलं पश्य. यद्यपि सर्वरूपैव माया बलिष्ठा तथापि स्त्रीमयी अतिबलिष्ठा. तस्याः बलम् आह **या करोति** इति. दिग्जयिनोऽपि स्त्रीजिताः इति।।३८।।

सामान्यतः तस्याः सङ्गं दूषयित्वा योगे सुतरां बाधकत्वम् आह **सङ्गं न कुर्याद्** इति.

सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मभावो वदन्ति यां निरयद्वारम् अस्य ।।३९।।

प्रमदासु इति योगेन सुरूपाः तरुण्यो निषिद्धाः. **जातु** इति कदाचिदपि. **योगस्य** परं **पारम् आरुरुक्षुः**. सङ्गत्यागे सामर्थ्यम् आह **मत्सेवया** इति. प्रतिलब्धः **आत्मभावो** भगवद्भावो येन. अन्यथा सा मोहयेदेव. योगो हि स्वात्मयोजकः. एतमेव आत्मानं संस्कारविशेषैः भगवद्भावपर्यन्तं नयति. तस्य[१] रेतएव स्थानम्. तद् असति प्रविष्टं नरकं प्रापयतीति अस्य योगस्य यां योषितं निरयद्वारं प्राहुः. अनेन स्वतः उद्यमो[२] निवारितः इति बुद्धम्।।३९।।

शास्त्रान्तरानुरोधेन स्वतः आगतायाम् अबाधाम् आशङ्क्य आह **या**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सङ्गं न इत्यत्र. **तस्य रेतएव स्थानम्** इति. मनसो अन्नमयत्वेन श्रुतिसिद्धत्वाद् रेतसो मनोरूपतया चित्ताभेदात् चित्तवृत्तिनिरोधरूपस्य योगस्य रेतएव स्थानम् इति अर्थः. **बुद्धम्** इति. शास्त्रेण बुद्धम् ।।३९।।

१.तस्याः ङ. २.अपि ङ.मां४.

उपयाति इति.

योपयाति शनैर्माया योषिद् देवविनिर्मिता ।

ताम् ईक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ।।४०।।

शनैः-शनैः इति हृदयं प्रविशन्ती सा योषिन्मायैव. एतद् व्यामोहार्थमेव देवेन निर्मिता. तस्याः व्यामोहकत्वे सिद्धे स्वस्य असुरत्वमपि सिद्धम्. अतः संसारो अन्धन्तमश्च. अतः ताम् आत्मनो मृत्युम् ईक्षेत. आपाततः तथाज्ञानाभावे हेतुः **तृणैः कूपमिव आवृतम्** इति. हस्तिबन्धनार्थे तथा क्रियते।।४०।।

नच एतद् अन्यस्त्रीपरं मन्तव्यम् इति आह **यां मन्यते** इति.

यां मन्यते पतिर्मोहाद् मन्मायाम् ऋषभायतीम् ।

स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्य-गृहप्रदम्।।४१।।

यां मन्मायां पतिः [१]भार्यात्वेन मन्यते. भार्या पुनः **ऋषभायतीं** पतित्वेन भासमानाम्. एवम् उभयोः अन्योन्यं माया. 'पतिम्' इति पाठे स्त्रिया एषः उपदेशः. ननु स्त्रिया मुक्तिः न अस्ति इति किम् उपदेशेन? इत्यतः आह **स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तः** इति. नहि सः निसर्गतः स्त्रीरूपः किन्तु स्त्रीसङ्गतः स्त्रीत्वं प्राप्तः, तस्य पतिः माया. **वित्तापत्य-गृहप्रदम्** इति पत्युः विशेषणं संसारजननाय।।४१।।

पूर्वसंस्कारवशाद् आत्मज्ञाने वृत्ते[२] पातिव्रत्यं स्वधर्मः इति तत्परित्यागे दोषो भविष्यति न वा? इति शङ्का न कर्तव्या, किन्तु तं पतिम् आत्मनो मृत्युमेव जानीयाद् इति आह **तम् आत्मनः** इति.

तम् आत्मनो विजानीयात् पत्यपत्यगृहात्मकम् ।

दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा ।।४२।।

पतिः अपत्यं गृहञ्च. एतदात्मकं मृत्युं तं प्रसिद्धं विजानीयात्. पूर्वमेव प्रारब्धवशाद् एवं जातम्. अधुनापि एवं भावे सर्वथा नाशः इति पुनः-पुनः प्रवृत्तत्वाद् दैवोपसादितं मृत्युं जानीयात्. ननु अनुभवेन तदनुसारिवाक्यैश्च आनन्दजनकत्वम् अनुभूयते, तथा सति कथं मृत्युत्वम्? इति आशङ्क्य आह **मृगयोः गायनं यथा** इति. यद्यपि **मृगयुः** व्याधः मृगान् युनक्ति इति धृत्वा मृगान्

१.'जाया' इति मां४. २.प्रवृत्ते ग.

क्रीडति. आरण्यापेक्षया ग्राम्यान् उत्तमान् भक्ष्यान् प्रयच्छति, गीतं च श्रवणसुखं करोति, तथापि बन्धकः. पारतन्त्र्यं च महद्दुःखहेतुः. अतः ऐहिकं सुखं पारलौकिकञ्च सुखं तत्प्रसङ्गजनितं बन्धहेतुत्वाद् उपेक्ष्यमेव इति अर्थः।।४२।।

एवं सङ्गदोषं सर्वं निरूप्य देहदोषं निरूपयति **देहेन** इति चतुर्भिः.

देहेन जीवभूतेन लोकाद् लोकम् अनुव्रजन् ।

भुञ्जानएव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्।।४३।।

नित्यास्मात्[१] संसृतिः पुंसः तथापि वशगो ह्ययम् ।

दोषार्थमेव तच्चापि न[२] द्वाभ्यां साधनं क्वचित्।।१।।

आदौ देहकृतएव अस्य संसारः इति आह जीवस्थानं प्राप्तेन **देहेन लोकाद्** लोकान्तरम् **अनुव्रजन्** कर्मफलं भुञ्जानएव **अविरतं** कर्माणि **करोति**. दोषत्रयं देहस्य निरूपितं, निरन्तरं परिभ्रमणेन न एकत्र स्थितिः, कर्मफलभोगः, कर्मकरणञ्च इति. अन्ते कर्मनिरूपणात् पुनरावृत्तिरपि उक्ता।।४३।।

दोषार्थं च अयं वशे जातः इति आह **जीवस्य** इति.

जीवस्य ह्यनुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः ।

तन्निरोधोऽस्य मरणम् आविर्भावस्तु सम्भवः।।४४।।

भूतेन्द्रिय-मनोमयः आधिभौतिकादिरूपः चैतन्यव्यतिरेकेण न समर्थो भवति इति चिद्रूपस्य जीवस्य अनुगो भवति. युक्तश्च अयम् अर्थः. अचेतनो हि चेतनम्[४] अपेक्षते इति. तथात्वे दोषम् आह **तन्निरोधः** इति. जन्म-मरणे दोषः, तत्र मरणस्य स्वरूपम् आह **तन्निरोधो अस्य मरणम्** इति. **अस्य** जीवस्य **तन्निरोधो** देहनिरोधो **मरणम्**. नितरां रोधः सजातीयप्रवाहानुत्पादनम्. सूक्ष्मैः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

जीवस्य इत्यत्र. **सजातीयप्रवाहानुत्पादनम्.** सजातीयप्रवाहोत्पत्त्यभावः. सच अपक्षयेऽपि वर्तते इति तद्वारणाय प्रतियोगिस्वरूपं लक्षयन्ति **सूक्ष्मैः** इत्यादि. अत्र एतद् बोध्यम्. षट्सु भावविकारेषु अस्ति विपरिणामयोः न विरोधित्वम्. तद्व्यवहाराभावेऽपि रूपान्तरेण तस्यैव सत्त्वात्. वृद्ध्यपक्षययोस्तु प्रवाहप्रातिलोम्यानुलोम्याभ्यां विरोधित्वम्. एवम् उत्पत्ति-मरणयोरपि. तत्र

१.नित्यास्यात् क.नित्यास्य ङ.२.तद्वाभ्याम् ख.मां४. ३.'देहेन कृत' इति मां४. ४.'सचेतनम्' इति मां४.

तदवयवैः धर्मान्तरसहकृतैः पश्चात् सन्तत्यन्तरोत्पादनम्. इन्द्रिय-मनसामपि विशिष्टानां भिन्नत्वाद् अन्यत्वमेव. तस्मिन् निरुद्धे तदभिमानाद् ''**मृङ् प्राणत्यागे**'' (धातु.पा.तुदादि.१५१) इति धातोः येन प्रयत्नेन धृतः प्राणः सः प्रयत्नः शरीरादिसाध्यो भवति इति तेषु निरुद्धेषु प्रयत्नोऽपि गच्छति इति योगः तथा निरुक्तः.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

''**नित्यदा ह्यङ्गभूतानाम्**''(भाग.पुरा.११।२२।४२) इति वाक्यात् कालिकोत्पत्तिः सर्वदा भवति इति सन्ततिप्रवाहरूपा. सा अत्र **पश्चात् सन्तत्यन्तरोत्पादनम्** इत्यनेन उच्यते. तत्र प्रत्यक्षविरोधपरिहाराय **सूक्ष्मैः** इति. अङ्गरागोपदेहपुत्रादिव्यावृत्त्यर्थं **तदवयवैः** इति. ''**तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते, पूर्वप्रज्ञा च**''(बृहदा.उप.४।४।२) इति सहकार्यन्तरबोधनाय **कर्मान्तरसहकृतैः** इति. तथाच एतादृशोत्पत्तिविरामो मरणम् इति अर्थः. ननु इयम् उत्पत्तिः न प्रकृतोपयुक्ता, देहस्य भूतेन्द्रिय-मनोमयत्वेन अत्र कथनात्. उक्तोत्पतेस्तु भूतमात्रनिष्ठत्वेन इन्द्रियादिषु अभावात्. नच नैयायिकादिवद् इन्द्रियाणाम् आशुतरविनाशित्वं शक्यवचनम्, सिद्धान्त-भङ्गप्रसङ्गात्. तन्मते मनसो नित्यत्वेनापि प्रकृतानुपयोगाच्च इत्यतः आहुः **इन्द्रिय...**इत्यादि. **विशिष्टानाम्** इति. भूतविशिष्टानाम्. ''**अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाग्**''(छान्दो.उप.६।५।४) इति श्रुतौ विकारार्थक-प्रत्ययेन अन्नादिकृतपोषणस्य अभिप्रेतत्वाद् ''मनोवाचोः उत्पत्तिसम्भवे तत्समान-त्वाद् इतरेष्वपि तथात्वम्'' इति न्यायाद् इन्द्रियेष्वपि वृद्ध्योत्पतेः सम्भवदुक्ति-कत्वात् तत्पोषकभूतांशविशिष्टानां तेषां केवलतदपेक्षया विलक्षणत्वाद् **अन्यत्वमेव** इति. अन्यत्वञ्च अत्र आधिभौतिकरूपत्वम्. एवं सत्येव ''**सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदा मनुजाद्**''(भाग.पुरा.१०।८७।२६) इति वाक्यं च सङ्गच्छते, न अन्यथा, एकस्य स्वतो द्वैरूप्यासम्भवात्. तथाच एवम् इन्द्रिय-मनसोः उत्पत्ति-सम्भवाद् न प्रकृतानुपयोगिनी इति अर्थः. एवं प्रासङ्गिकम् उपपाद्य प्रस्तुतम् आहुः **तस्मिन्** इत्यादि. **तस्मिन्** इति. देहे. **तदभिमानाद्** इत्यस्य **येन** इत्यादिना अन्वयः. **योगः तथा निरुक्तः** इति ''**मृङ् प्राणत्यागे**''(धा.पा.तुदादि.१५१) इति धात्वर्थ-विवरक-प्राणत्याग-शब्दनिष्ठो योगो जीवस्य इति श्लोकीय-पादत्रयेण एवं निरुक्तः इति अर्थः. तथाच यद्यपि शास्त्रान्तरे देहप्राणवियोगो 'मरण'पदेन उच्यते, तथापि

काल–कर्म–स्वभावानां तत्तद्देवाधिष्ठितानां नियामकत्वाद् अपमृत्यु–प्रभृतीनां व्यवस्था. उत्पत्तेः स्वरूपम् आह **आविर्भावस्तु सम्भवः** इति. यो देहस्य आविर्भावः सएव जीवस्य सम्भवः उत्पत्तिः इति अर्थः. सर्वत्र हि भगवत्स्वरूपे सर्वे पदार्थाः सन्ति इति पूर्वम् उक्तम्. यत्र यावद् दूरे पदार्थान् आविर्भावयति तावद् आविर्भवन्ति. यत्र पुनः कारणेषु निविष्टो देहम् आविर्भावयति तत्र आविर्भवति इति तथा उक्तम्।।४४।।

ननु देहोत्पत्ति–प्रलयाभ्यां जीवस्य तथात्वं कथम्? इति चेत् तत्र आह **द्रव्योपलब्धिस्थानस्य** इति.

द्रव्योपलब्धि–स्थानस्य द्रव्येक्षा–योग्यता यदा ।
तत् पञ्चत्वम् अहंमानाद् उत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ।।४५।।

द्रव्याणां रूपादीनाम् **उपलब्धेः** ज्ञानस्य यत् स्थानं गोलकरूपं, तस्य यदा द्रव्येक्षायोग्यता, द्रव्येक्षायाम् अयोग्यता काच–कामलादिभिः भवति, तदैव चक्षुषोऽपि अयोग्यता भवति, तदैव द्रष्टुरपि. गोलके आच्छन्ने प्रमाण–प्रमात्रोरपि अयोग्यता. तद् आह **द्रष्टृत्वायोग्यता अनयोः** इति. दर्शनकरणत्वं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सूक्ष्मेक्षिकायां प्राणधारणप्रयत्नाभावएव 'मरण'पदार्थः. अतएव ''मृत्युः अत्यन्त-विस्मृतिः'' इति उक्तम्. एवञ्च एतस्य लिङ्गधर्मत्वम्. स्थूलविचारेतु देहधर्मत्वम् इति. ननु अपमृत्युप्रभृतिषु सजातीयप्रवाहविरामस्य अदर्शनाद् मरणम् अव्यापकम् इत्यतः आहुः **काले**त्यादि. **तत्तद्देवाधिष्ठितानाम्** इति. कालाद्यधिष्ठात-देवाधिष्ठितानाम्. तथाच, कालस्य बलिष्ठत्वे तद्देवेन स्वभाव-कर्मणोः, स्वभावस्य बलिष्ठत्वे तद्देवेन काल-कर्मणोः कर्मबलिष्ठत्वे तद्देवेन काल-स्वभावयोः नियमेन तदुपपत्तिः इति न कोऽपि दोषः इति अर्थः. एवञ्च वैद्यकोक्तं सर्वेषां त्रिदोषादेव मरणम् इत्यपि युज्यते, नियामकम् अन्तरेण दोषाणाम् आकस्मिक-कोपासम्भवाद् इति. ननु पूर्वाध्यायोक्त-प्रघट्टकेन देहस्य पूर्वम् असतः सत्तेव प्रतीयते, तत् कथं देहस्य आविर्भावः उच्यते? इति आशङ्कायाम् उपपादयन्ति **सर्वत्र** इत्यादि. तथाच, न असतः सत्तालेशः इति अर्थः ।।४४।

द्रव्योपलब्धीत्यत्र. **दर्शनकरणत्वं कर्तृत्वञ्च** इति. योग्यतारूप उत्पत्तिशेषः. तत्र अयोग्यता अत्र मरणम् इति देहोत्पत्तिलयकृत्याभ्यां जीवस्य

कर्तृत्वञ्च. **अनयोः** करण-कर्त्रोः अयोग्यता इति एकश्लोकपाठे अर्थः. श्लोकद्वयपाठेतु **द्रव्योपलब्धिस्थानस्य** सर्वद्रव्य-व्यवहारसाधकस्य देहस्य यदा **द्रव्येक्षायां** सर्वद्रव्य-व्यवहारे अयोग्यता **तत् पञ्चत्वं** मरणम् इति अर्थः. यस्य यः स्वभावः सः चेत् सर्वात्मना निवृत्तः तदा कारणे लीनः इति ज्ञातव्यम्. तथा पञ्चभूतेभ्यः आविर्भूतो देहः स्वकार्यं चेद् न करोति, तदा कारणत्वात् पञ्चत्वमेव. जीवस्यतु तथात्वम् अहंमानात्. **द्रव्यदर्शनं** द्रव्याणाम् उपलम्भः श्वासादिकार्य-करणसामर्थ्यं सैव[१] देहस्य उत्पत्तिः. मध्ये प्रविश्य अभिमानाद् जीवस्य च।।४५।।

तत्र दृष्टान्तम् आह **यथा अक्ष्णोः** इति.

यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयव-दर्शनायोग्यता यदा ।
तदैव चक्षुषो द्रष्टुः द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ।।४६।।

अक्ष्णोः गोलकयोः **द्रव्यावयवस्य** रूपादेः यदैव दर्शनायोग्यता, काच-कामलदिभिः तदैव चक्षुषः इत्यादि पूर्ववत्।।४६।।

एवं सर्वेषां बाधकत्वे किं कर्तव्यम्? इति चिन्तां परिहरन् शास्त्रार्थम् उपसंहरति **तस्माद्** इति द्वयेन त्याज्य-कर्तव्यभेदेन. तत्र प्रथमं त्याज्यम् आह **तस्माद्** इति.

तस्माद् न कार्यः संत्रासो न कार्पण्यं न संभ्रमः ।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेद् इह ।।४७।।

त्रयं त्यक्तव्यं : भयं, दैन्यं, सम्भ्रमश्च. उत्तालता सम्भ्रमः. देहादीनां पूर्वमेव सिद्धत्वात् तत्कार्यबाधनमपि पूर्वमेव अनुवर्तते इति ''अङ्गीकृता ग्लानिः न दोषाय'' इति न्यायेन भयं त्यक्तव्यम्. एते दुष्टाः त्याज्याएवेति, एतन्निर्वाहार्थं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

उत्पत्तिमरणे इति एकश्लोकपाठे अर्थः इति अर्थः. श्लोकद्वयपाठे प्रथमश्लोक-करण-कर्त्रोः योग्यत्वायोग्यत्वएव प्रतिपाद्ये, द्वितीयश्लोकेतु उभयाधिष्ठानदेहस्य स्वभावनिवृत्त्या मरणसाधनं, स्वाभाविक-कार्यकरणेन उत्पत्तिसाधनं, जीवस्यतु तदभिमानाद् उभयसाधनम् इति अर्थः ।।४५।।

तस्माद् इत्यत्र. **बाधनम्** इति, जीवश्रेयःप्रतिबन्धः. **उक्तैव** इति.

१.स चेद्देहास्योपत्तिः क.

कार्पण्यमपि त्यक्तव्यम्. एतद् बाधकानाम् अस्मन्मित्रत्वात् स्वस्य कर्तव्याभावात् का उत्तालता. जीवस्य गतिः उक्तैव, अतो जीवगतिं बुद्ध्वा देहगतिदोषातिक्रमं सोढ्वा, धीरो भूत्वा, बाधकं सङ्गं त्यक्त्वा चरेद् न एकत्र तिष्ठेद् इति अर्थः।।४७।।

एवं बहिःस्थितिः उक्ता. अन्तःस्थितिम् आह **सम्यग्** इति.

सम्यग् दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्य–युक्तया।
मायाविरचिते लोके चरेद् न्यस्य कलेवरम्।।४८।।

सम्यग् आत्मदर्शनं यस्याम्. तस्याः बुद्धेः योगो वैराग्यञ्च अङ्गम्. तया स्वात्मानं स्थिरीकृत्य मायया विशेषेण रचिते लोके कलेवरं **न्यस्य** लोकानुसारिणं कृत्वा स्वयं **चरेद्** उदासीनो भवेद् इति अर्थः।।४८।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षित–विरचितायां तृतीयस्कन्धे एकत्रिंशाध्यायविवरणम्.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

त्रितयाभिमानत्यागेन स्वरूपावस्थानरूपा पूर्वम् उक्तैव इति अर्थः ।।४७।।

एवञ्च अस्मिन् अध्याये बाल्यादि-तारुण्यान्तासु अवस्थासु कालकृतः कामः उक्तः, गर्भम् आरभ्य भौतिकेन्द्रियोत्पत्तिः च उक्ता इतिति(?) संवादद्वय-सम्बन्ध्यर्थो बोध्यः.

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे एकत्रिंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

।। द्वात्रिंशो अध्यायः ।।

कालस्य बाधकत्वे हि निषिद्धात् फलम् ईरितम् ।
निषिद्धरूपता चोक्ता पुण्यस्य फलम् ईर्यते ।।१।।
त्रिविधस्यापि धर्मस्य द्वात्रिंशे फलम् उच्यते ।
ज्ञानं मुख्यं फलं तस्य ससाधनम् इहोच्यते ।।२।।
अधोगतिर्मध्यगतिः पूर्वम् अत्र निरूपिता ।
उत्तमा मोक्षपर्यन्तं यथा स्यात् तद् इहोच्यते ।।३।।

तत्र प्रथमं तामसधर्मं[१] सफलम् आह चतुर्भिः **अथ** इति.

कपिलः[२] उवाच

अथ यो गृहमेधीयान् धर्मानेवावसन् गृहे ।
काम् अमर्थं च धर्मान् स्वान् दोग्धि भूयः पिपर्ति तान् ।।१।।

पुरुषार्थत्रयं तस्य तदर्थं साधनं परम् ।
फलं च तादृशं तस्य तस्य नाशश्च वर्ण्यते ।।१।।

प्रथमं स्वरूपम् आह **अथ** इति. ऊर्ध्वगतित्वाद् भिन्नः प्रक्रमः. यो गृहमेधीयानेव धर्मान् आचरति; आश्रमधर्माअपि गृहस्थानुगणाः इति 'गृहमेधीयान्'एव इति उक्तम्. **धर्माने**व इति निषिद्धव्यावृत्तिः **आवसन्** इति उभयत्र सम्बन्धः. धर्मात्मा गृहे तिष्ठन् इति. सुतरां काम्यकर्मपरः इति आह **धर्मम् अर्थं च कामञ्च.** धर्मे बहुवचनं, पश्चाद् निरूपणञ्च, तस्य मोक्षोपयोगमपि ज्ञापयितुम्. यथा अन्नं भुक्त्वा कृष्याद्यन्नम् उत्पादयति. धनेन धनं वर्द्धयति. धर्मेण अपमृत्युं दूरीकृत्य पुनः धर्मं वर्द्धयति इति तथा तं **पिपर्ति** पूरयति।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अथ द्वात्रिंशाध्यायं विवरिषवः एककार्यत्वरूपां प्रसङ्गरूपाञ्च सङ्गतिं बोधयितुं पूर्वस्य अर्थं बोधयन्तो अस्य अर्थम् आहुः **कालस्य** इत्यादित्रिभिः. अत्र **त्रिविधस्य** इति कथनाद् हीन-मध्ययोः वैराग्यजनकत्वादेव कार्यत्वं, तृतीयस्यतु मुख्यमुक्तिवत् प्रसङ्गः इति बोध्यम्. **ज्ञानम्** इत्यादिना बुद्धिः मोक्षश्च स्फुटीक्रियते इति शुक-मैत्रेयोक्तयोरपि अवरः स्मार्यते इति बोध्यम्.

१.तामसधर्मस्य फलम् क. घ. ङ.मां४. २.श्रीभगवानुवाच घ. ङ.मां४.

एवं धर्मार्थकामपरोऽपि तद्विषयत्वेन भगवत्परश्चेत् तदापि न काचित् चिन्ता, भगवतएव मोक्षपर्यवसानात्. अतः तादृशोऽपि भगवद्वैमुख्येनैव सर्वं करोति इति आह **स चापि** इति.

स चापि भगवद्धर्मात् काममूढः पराङ्मुखः ।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितंश्च श्रद्धयान्वितः ।।२।।
तच्छ्रद्धया क्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान् ।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ।।३।।

भगवान् कामं दूरीकरोतीति कामरक्षार्थं भगवत्परित्यागः, कामेन विवेकाभावो वा. भगवद्धर्मेषु भगवानेव सेव्यो नतु अन्यः तद्वैमुख्यान् नानाविधैः **क्रतुभिः देवान् पितंश्च यजते**. सर्वत्र अग्निहोत्रादिकर्मसु देवेषु पितृषु च तृप्तिः भवति इति तदर्थं यः कर्माणि करोति सः राजसः इति. वस्तुतो [१]देवादिश्रद्धया क्रान्तमतिः पितृ-देवसन्तर्पणमेव व्रतं यस्य तादृशः तैः साधितं फलं प्राप्नोति इति आह **गत्वा** इति. **चान्द्रमसं** लोकं गत्वा पञ्चाग्निविद्यया पुनः इहैव एष्यति. **सोमपाः** इति न सोमव्यतिरिक्तयागैः इदं फलं सिध्यति इति उक्तम्।।२-३।।

तस्य फलस्य परिमितकालत्वम् आह **यदैव** इति.

यदैवाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः ।
तदा लोकाः क्षयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम् ।।४।।

यदैव भगवान् शेते तदैव तेषां लोकाः क्षयं यान्ति. तच्छयनं वर्षास्वपि भवति इति तद्व्यावृत्यर्थम् आह **अहीन्द्रशय्यायाम्** इति. शेषशायी तदैव शेते. संवत्सरान्तेऽपि तादृशः प्रलयो भवतीति तद्व्यावृत्यर्थम् आह **अनन्तासनः** इति. **हरिः** इति भगवच्छयनं सर्वसुखार्थम्. **तदा गृहमेधिनां लोकाः क्षयं यान्ति**. तेषामेव लोकानां क्षयो नतु त्रिलोक्याः।।४।।

अथ सात्त्विकानां निष्कामानां धर्मं सफलम् आह **ये स्वधर्मम्** इति.

ये स्वधर्मं न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे ।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धमेधसः ।।५।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यदैव इत्यत्र. संवत्सरान्ते इति वैराग्यप्रयुक्ताः ।।४।।

१.तद्देवादिश्रद्धया क.मां४.

फलार्थं धर्मं कृत्वा देहादिकं प्रसाद्य तेन पुनः न धर्मं कुर्वन्ति सो अदोहः. अपेक्षिताकरणे हेतुः **धीराः** इति. धर्मार्थन्तु धर्मं दुहन्त्येव, अतः तद्व्यावृत्यर्थम् आह **कामार्थहेतवे** इति. कामः अर्थश्च हेतुः धर्मदोहे तादृशं धर्मदोहं न कुर्वन्ति. तेषां निवृत्तिधर्मे अधिकारम् आह **निःसङ्गाः** इति. बहिः सङ्गपरित्यागः, तत्सङ्गेन च यानि कर्माणि क्रियन्ते तेषामपि परित्यागः. अन्यथा सापेक्षत्वाद् अन्यतर-परित्यागो न सम्भवति. **प्रशान्ताश्च** इति इन्द्रियविक्षेपाभावः, रजोगुणाभावः उक्तः. विवेकवती शुद्धा मेधा येषाम्. एवं साधनचतुष्टयम् उक्तं : वैराग्यं, संन्यासः, योगः, साङ्ख्यञ्च इति।।५।।

तदनन्तरधर्माभावे पातित्यं स्याद् इति तद्धर्मनिरूपणपूर्वकं दोषत्रयाभावम् आह **निवृत्ती**ति.

निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः ।
स्वधर्माख्येन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा ।।६।।
सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् ।
परावरेशं प्रकृतिम् अस्योत्पत्त्यन्तभावनम् ।।७।।
द्विपरार्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते ।
तावद् अध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः ।।८।।

निवृत्तिधर्माः वैराग्योपाधयः, भगवद्धर्माः, चतुर्थाश्रमधर्माश्च. तत्र **निरताः** इति तद्धर्मैरेव नित्यसिद्धिः. 'अहं-मम' इति दोषद्वयाभावम् आह **निर्ममाः निरहङ्कृताः** इति. अन्तःकरणाशुद्धिश्च महान् दोषः इति साधनपूर्वकं तदभावम् आह **स्वधर्माख्येन** इति. **स्वधर्माः** दास्यरूपाः, निवृत्तिधर्मास्तु उक्ताएव. अतएव 'स्वधर्मः' इति आख्या यस्य. तादृशेन **सत्त्वेन** गुणेन परितः शुद्धेन चेतसा.

एवं ज्ञान-कर्मणोः फलं [1]सूर्यद्वारेण इति. **पुरुषं** प्रकृतेः परम्. ब्रह्माण्डात्मकं व्यावर्त्तयति **विश्वतोमुखम्** इति. सर्वतोमुखः [2]साकारात्मा. ततोऽपि पुरुषोत्तमं यान्ति इति तमेव पुरुषोत्तमं[3] विशिनष्टि **परे** कालादयः **अवरे**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सूर्येत्यत्र. **तम्** इति. विश्वतोमुखम् अक्षरात्मकम् ।।७।।

१.सूर्यद्वारेण ते यान्ति ग. २.सकलात्मा घ. ३.पुरुषम् क. ग. ङ.

ब्रह्मादयः, तेषां नियन्ता सर्वस्यापि समवायी. अस्य उत्पत्त्यादिनिमित्तञ्च. साकारं च नियन्तारं समवायिनिमित्तकम्. तेषां कालनियमम् आह **द्विपरार्धावसाने** इति. 'तु'शब्दः कल्पान्तरव्यावृत्त्यर्थः. **ते** तावत् **परस्य** ब्रह्मणो लोकम् अध्यासते. यतः ते **परचिन्तकाः,** पुरुषोत्तमत्वेन चिन्तयन्ति; **परस्य** भगवतो वा।।६-८।।

भगवद्भक्तानामेव तादृशधर्मयुक्तानां पुरुषोत्तमप्राप्तिः; न अन्येषाम् इति वक्तुम् अन्येषां प्रकृतावेव लयम् आह **क्ष्माम्भोऽनले**ति द्वाभ्यां

क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ–भूतादिभिः परिकृतं[१] प्रतिसञ्जिहीर्षुः।
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा कालं पराख्यम् अनुभूय पुनः स्वयम्भूः।।९।

केचित्तु परस्य ब्रह्मणः परत्वेन भगवत्त्वेन चिन्तकाः इति पूर्वफलमपि हिरण्यगर्भोपासकानामेव इति आहुः तद् भिन्नप्रक्रमे निमित्ताभावात् चिन्त्यम्. त्रैविध्यस्यैव वक्तव्यत्वाच्च. **क्ष्माम्भो अनलानिलवियन्ति** पञ्च भूतानि, मनश्च इन्द्रियाणि, **अर्थाः** विषयाः, **भूतादिः** अहङ्कारः तैः परितः कृतं, वृतं वा ब्रह्माण्डं, सर्वमेव[२] **प्रतिसञ्जिहीर्षुः** प्रतिकूलेन संहर्तुम् इच्छुः. यदा भगवान् एवं भवति तदा **स्वयम्भूः** ब्रह्मा प्रकृतिं विशति. यर्हि गुणत्रयात्मा नतु भगवद्भक्तः. तस्य ब्रह्मत्वे फलं **पराख्यं कालम् अनुभूय** इति. 'पर'शब्देन ब्रह्मणः शतवर्षम् आयुः, नतु मुक्त्यर्थं ब्रह्मा जातः इति. **पुनः** इति पूर्वमपि सः एवंविधएव।।९।।

तत्सहचराअपि प्रकृतावेव लीनाः भवन्ति इति आह **एवं परेत्य** इति.

एवं परेत्य भगवन्तम् अनुप्रविष्टा ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः।
तैनैव साकम् अमृतं पुरुषं पुराणं ब्रह्म प्रधानम् उपयान्त्यगताभिमानाः।।१०।।

ये **परेत्य** मृत्वा, लोकान्तरे वा गत्वा, **भगवन्तम् अनुप्रविष्टाः** नारदादयो अधिकारिणः, ये वा **योगिनः** योगाधिकारयुक्ताः. **विरागाः** इति योगफल-तत्फलानि निरूपितानि. तानि येषां जातानि तेतु ब्रह्मतुल्याः. अतः **तेनैव साकं** ब्रह्मणा सह **अमृतम्** अक्षरात्मकं **पुरुषं पुराणं** पुरुषत्रयाद् अतिरिक्तं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

क्ष्मेत्यत्र. **भिन्नप्रक्रमे** इति ''द्विपरार्द्धे''तिश्लोकीय'तु'शब्दोक्तेः।।९।।

एवं परेत्य इत्यत्र. **तत्फलानि** इति. ब्रह्मसाहचर्यफलानि,

१.परिवृतम् क. २.सर्वां प्रकृतिमेव'' इति मां४.

'ब्रह्म'शब्दवाच्यं, मूलभूतं **प्रधानं** प्रकृति-पुरुषोत्पादकम् **उपयान्ति,** नतु पुरुषोत्तमे गच्छन्ति. तत्र हेतुः **अगताभिमानाः**. न गतः अभिमानो येषाम्. वस्तुतस्तु कर्ता भगवान्. नारदादयस्तु आत्मानं मन्यन्ते. अतो अक्षरएव लयः. पुनरागमनञ्च वक्ष्यति. यद्यपि अक्षरमपि भगवानेव तथापि सृष्टीच्छावशगः इति पूर्वम् उक्तम्. **अमृतम्** इति तत्स्थानानाशाय. **पुरुषम्** इति मतान्तरव्युदासाय. **पुराणम्** इति. पुरुषान्तरव्युदासाय. **ब्रह्म** इति अक्षरत्वख्यापनाय. **प्रधानम्** इति ''**आसीद् ज्ञानमयो हि अर्थः**''(भाग.पुरा.११।२४।२) इत्यत्र एकादशे वक्ष्यति प्रकृति-पुरुषहेतुत्वेन. अतएव अक्षरोपासकानामपि भगवान् स्वसायुज्यमेव आह. 'एव'कारेण अक्षरप्रवेशं वारयति ''**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**'' (भग.गीता १२।४) इति. ब्रह्मानन्दस्य लक्ष्म्यात्मकत्वाद् आनन्दाभावे फलं न किञ्चिद् इत्यतः एतेषामपि निरोधमात्रं नतु तद्गतफलसम्बन्धः. ''**श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**'' (तैत्ति.उप.२।८) इति तस्यापि तावान् स्वरूपानन्दएव ।।१०।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

लोकान्तरगमनफलानि वा. **मन्यन्ते** इति. कर्तारं मन्यन्ते. **पूर्वम् उक्तम्** इति. तथा अत्र अभेदेपि एतावान् भेदं(?) पुनरागमनं न दूषकम् इति अर्थः. **मतान्तरव्युदासाय** इति. निराकारव्युदासाय. **पुरुषान्तरव्युदासाय** इति. क्षरपुरुषव्युदासाय. ननु 'प्रधान'शब्दः प्रकृतिवाचकत्वेन प्रसिद्धः इति कथम् अत्र ब्रह्मणो अक्षरस्य प्रधानरूपता उच्यते? इति आकाङ्क्षायां तत्तात्पर्यम् आहुः **आसीद्** इत्यादि. तथाच ''**मम योनिः महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्**''(भग.गीता १४।३) इति वाक्यात् प्रकर्षेण धीयते गर्भः प्रकृतिपुरुषरूपो अस्मिन् इति अधिकरणव्युत्पत्या, ''**योनिश्च हि गीयते**''(ब्रह्मसू.१।४।२७) ''**प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा**''(ब्रह्मसू.१।४।२३) इत्यादि सूत्रेभ्यो अत्र प्रधानरूपत्वम् उच्यते, न तावता ब्रह्मत्वक्षतिः इति अर्थः. अत्र गमकम् आहुः **अतएव** इति. ब्रह्मत्वादेव. ननु अक्षरस्य ब्रह्मत्वे तत्सायुज्यवारणं कुतः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **ब्रह्मानन्दस्य** इत्यादि. तथाच, तत्रत्यः आनन्दो भगवदेकता. न इति तस्य अन्यसम्बन्धाभावात्, तदभावे च अक्षरसायुज्यस्यापि अफलत्वबोधनाय तद्वारणम् इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **अतः एतेषाम्** इत्यादि. ननु यदि तादृशामपि फलसम्बन्धाभावः तदा ''**श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**''(तैत्ति.उप.३।८) इत्यनेन

अतो भगवद्भजनम् अवश्यं कर्तव्यं भगवदानन्दार्थम् इति आह **अथ** इति.

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम् ।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि! ।।११।।

यतो अभिमाने महत्यपि ज्ञाने योगे वा न सम्यक् कार्यसिद्धिः अतो भगवद्भजनमेव कर्तव्यं, नतु ब्रह्मादीनामिव वैयर्थ्यम् उचितम् इति अर्थान्तरत्वम्. **तं** पुरुषोत्तमम्. तत्प्राप्त्यर्थम् आह **सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम्** इति. यतो अत्रैव अन्तर्यामिभजने तत्प्राप्तिः भविष्यति इति भावः. मन्त्रप्रकारेण भजनं व्यावर्त्तयति **श्रुतानुभावम्** इति. श्रुतो अनुभावो यस्य. भगवन्माहात्म्यं श्रुत्वा भगवन्मार्गानुसारेण शरणं व्रज. **भावेन** इति स्नेहपूर्वकं भक्त्या सह वा प्रपन्ना भव. **भामिनि!** इति सम्बोधनम् उत्तमस्यैव विश्वासो भवति इति तदर्थम्. भामिनी महती स्त्री ।।११।।

यतो न प्रकारान्तरेण पुनरावृत्तिरहितं फलं भवति अतो भगवानेव सेव्यः इति वक्तुं सर्वसाधनसम्पत्तिः यथा ब्रह्मादीनां तथा न अन्यस्य भविष्यति. तेऽपि चेद् न मुक्ताः किं ज्ञानादिसाधनैः? इति पूर्वोक्तं भगवद्भजनं दृढीकर्तुं ब्रह्मादीनां वृत्तान्तम् आह **आद्यः** इति चतुर्भिः

आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः ।
योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्त्तकैः ।।१२।।
स्वरूपतो महत्वं च दोषस्तत्फलमेव च ।
पुनरप्यधिकारित्वम् अन्येषां च निरूप्यते ।।१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ब्रह्मानन्दस्यापि तादृशसम्बन्धित्वं कुतः उच्यते? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **श्रोत्रियस्य** इत्यादि. **तस्यापि** श्रोत्रियस्यापि तावान् जीवानन्दएव साधनाधिक्याद् अधिको अभिव्यक्तो भवति, नतु ब्रह्मानन्दः इति अर्थः ।।१०।।

अथ इत्यत्र. ब्रह्मानन्दस्य आधिक्य एवं सिद्धे तदर्थं साधनं वदन्तीति आहुः **अतो भगवदि**त्यादि. **अर्थान्तरत्वम्** इति. एतच्छ्लोकोक्तस्य फलात्मकस्य स्वरूपस्य पूर्वश्लोकोक्ताद् भिन्नत्वम् इति अर्थः ।।११।।

प्रथमं तेषां सर्वसाधनसहितं [1]रूपम् आह **स्थिरचराणाम् आद्यः** उत्पादकः, महत्त्वम् उक्तम्. **वेदगर्भः** इति ज्ञानादि-सर्वसाधनानि उक्तानि. **ऋषिभिः सह** इति सत्सङ्गः. ये सनत्कुमारादयोऽपि योगेश्वराः योगफलं नियमयितुं[2] शक्नुवन्ति[3] किं पुनः प्राप्तुम्. 'कुमार'शब्देन तेषां कालजयोऽपि सूचितः. केवलम् अधिष्ठातृदेववद् न योगनियामकत्वं किन्तु योगसिद्धिरपि अस्ति इति आह **सिद्धैः** इति. **योगप्रवर्तकैः** इति अन्येभ्योऽपि स्वसमान-फलदानसामर्थ्यं सूचितम्।।१२।।

तेषां दोषम् आह **भेददृष्ट्या** इति.

भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा ।
कर्तृत्वात् सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम् ।।१३।।

अन्ततो गत्वा वयं मुक्ताः न अन्यो मुक्तः इति; अभिमानो वयमपि कर्तारः इति; एवं दोषद्वयेन कृत्वा यद्यपि निःसङ्गं कर्म [4]कुर्वन्ति, तथापि कर्तृत्वाभिमानात् सगुणमेव ब्रह्म [5]गच्छन्ति पूर्वोक्तम्. स्वापेक्षया हीनभावव्यावृत्यर्थम् आह **पुरुषं पुरुषर्षभम्** इति. पुरुषो विराट् सहि स्वयमेव. स्वोत्तमस्तु प्रकृति-पुरुषो भवति. ततः पुरुषर्षभः अक्षरात्मा।।१३।।

तत्र गतस्य पुनरावृत्तिम् आह **सः संसृत्य** इति.

स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना ।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते ।।१४।।

सः ब्रह्मा अक्षरमपि प्राप्य **संसृत्य** सम्यक् तत्र परिभ्रमणं कृत्वा **पुनः** प्रत्यागमनकाले, ईश्वरमूर्तिना कालेन **गुणव्यतिकरे जाते** प्रकृति-पुरुषयोः उद्गमानन्तरम् अनुद्गमे वा क्षोभमात्रे जाते **यथा पूर्वं** महदादिद्वारा ब्रह्माण्डे उत्पन्ने तत्र नारायणनाभिकमलाद् **यथापूर्वं प्रजायते**. एवम् अक्षरे गतस्यापि पुनरावृत्तिः उक्ता।।१४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

भेदेत्यत्र. **पूर्वोक्तम्** इति. मुख्यजीवाख्यम् अक्षरम्. **स्वयमेव** इति. वेदगर्भएव. **प्रकृतिपुरुषः** इति. प्रकृतिभर्त्ता पुरुषः ।।१३।।

१.'स्वरूपम्' इति मां४. २.'नियमयितुमपि' इति मां४. ३. 'अशकुवन्ति' क. ४.करोति ख ङ. च.मां४. ५.गच्छति ख.मां४.

अन्येषामपि आह **ऐश्वर्यम्** इति.

ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं तत् तेषां धर्मेण निर्मितम् ।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति ॥१५॥

परमेष्ठिसभायां यद् **ऐश्वर्यं** प्रसिद्धं **तत् तेषां** निवृत्तिधर्मेण **निर्मितम्,** आधिदैविके महत्तत्वे, अक्षरे वा अनुभूय **गुणव्यतिकरे सति पुनः आयान्ति. सति** इति सम्बोधनं वा. **ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं** वा यान्ति इति॥१५॥

एवं भगवन्मार्गानुसारेण भगवद्भजनाभावे ब्रह्मादीनामपि एषा गतिः इति निरूप्य, ये पुनः तामसाः ऐहिकाः ते भजनाभावे सर्वथा नष्टाः भविष्यन्ति इति किं वक्तव्यम्! इति वक्तुं तामसधर्मप्रवर्तकानां स्वरूपसाधनफलानि आह षड्भिः **येतु इहासक्तमनसः** इति.

ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः ।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः ॥१६॥
रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः ।
पितन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥१७॥

राजसानाम् इति वा.

तेषां स्वधर्मकरणं दोषाश्चापि चतुर्विधाः ।
भगवद्विमुखाश्चैते लौकिकाश्चापि ते सदा ।
[१]मामप्राप्य निवर्तन्त इति तेषां निरूप्यते॥१॥

प्रथमतः तेषां स्वधर्मम् आह **इह** संसारे आसक्तं मनो येषाम् इति बहिर्मुखाः, कर्ममार्गएव श्रद्धान्विताः, संसारे साधकत्वात् कर्मणाम्. **अप्रतिषिद्धानि** लौकिकानि कुर्वन्ति. **नित्यान्यपि** अग्निहोत्रादीनि सर्वाण्येव कुर्वन्ति. इह आसक्त्या पुनः आगमनम्. कर्मणा पुनर्जन्म. अप्रतिषिद्धकरणाद् न अधोगतिः. नित्यकरणात् पितृलोकः. "**स्वकर्मणा पितृलोकः**" (बृहदा.उप. १।५।१६) इति श्रुतेः. **रजसा** गुणेन कुण्ठितं मनो येषाम्. अयं सहजो दोषो विक्षेपात्मा. **कामात्मानः** आगन्तुको दोषः कामएव. अतएव **अजितेन्द्रियाः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

रजसा इत्यत्र. **अयम्** इति. पितृयागः ॥१७॥

१.यमं प्राप्य ख. ङ. च.मां४.

संसर्गदोषवन्तः. **पितन् यजन्ति** इति स्वपितृ-पितामहानामेव यागं कुर्वन्ति. तेन न अलौकिकभजनम्. अयं लोकमध्य[1]एव इति गुणाभावार्थम् उक्तः. **गृहेषु अभिरताशयाः** इति कदाचिदपि [2]मोक्षाभावार्थम् उक्तः।।१६-१७।।

तेषां भगवद्वैमुख्ये हेतुः **त्रैवर्गिकाः** इति.

त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः ।

कथायाः कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ।।१८।।

धर्मार्थकामेष्वेव ते साधवः. अतएव **हरिमेधसो** वासुदेवाद् विमुखाः. **हरिः** सर्वदुःखहर्त्री **मेधा** बुद्धिः यस्य. बुद्धिमात्रेणैव संसारं नाशयिष्यति इति भयाद् विमुखाः. कथायाअपि विमुखाः, तद्वार्त्तामपि न कुर्वन्ति. कथनीयाः उरवो विक्रमाः यस्य. पराक्रमश्रवणे सर्वेषाम् अभिरुचिः, लोकरुच्याऽपि न शृण्वन्ति. स्वपुरुषार्थनाशकत्वं ज्ञात्वा निषिद्धमिव परित्यजन्ति इति भावः. **मधुद्विषः** इति जगत्कर्तृ-ब्रह्मभक्षक-नाशकत्वेन भगवन्निरूपणात् तदभजने कृतघ्नताऽपि सूचिता. पापनाशार्थमपि न भजन्ते इति निरूपितम्।।१८।।

ननु ते स्वधर्मनिष्ठाः परधर्मत्वेन ज्ञात्वा न भजन्ति इति चेत्, तत्र आह **नूनम्** इति.

नूनं दैवेन निहता ये चाऽच्युतकथासुधाम् ।

हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ।।१९।।

ते हि लोकवार्तां शृण्वन्ति नतु भगवत्कथाम्. अतो धर्मव्यापृताः भगवत्कथायाः अनवकाशाद् निवर्तन्ते इति न शङ्कनीयं किन्तु ते दैवेनैव निहताः, प्रतिकूलेन्द्रियदानाद्, भगवता ते चेद् बधिराः कृताः स्युः तदा यथास्थानएव[3] तिष्ठेयुः. तदपि न अस्ति इति **नूनं दैवेन निहताः**. यतः विद्यमानामपि तां कथां हित्वा तत्रापि सुधारूपाम्. असतां गाथाः "**यास्तु श्रुताः**" (भाग.पुरा.३।१५।२३) इति वाक्योक्तधर्मयुक्ताः शृण्वन्ति. ननु शास्त्रात् कथं न

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

त्रैवर्गिकाः इत्यत्र. त्रैवर्गिकाः इति अयं 'ठक्' "**तत्र साधुः**" (पाणि.सू. ४।४।९८) इति अधिकारस्थ इति ज्ञापयन्ति **धर्मे**त्यादि ।।१८।।

---

१. 'लौकिकमध्ये' इति मां४. २.मोक्षधर्माभावः ग. ३.वा तिष्ठेयुः ख. ग. च अवतिष्ठेयुः क.

निवर्तन्ते? तत्र आह **पुरीषमिव विड्भुजः** इति. भगवता तथैव ते उत्पादिताः विद्यमानेऽपि स्वन्ने सूकरादयः स्वभक्षमेव भक्षयन्ति. तेषां जिह्वा न रसान्तरं गृह्णाति ।।१९।।

एवं तेषां स्वरूपसाधनप्रवृत्तिं दूषयित्वा फलम् आह **दक्षिणेन** इति.

दक्षिणेन पथाऽर्यम्णः पितृलोकं व्रजन्ति ते ।
प्रजाम् अनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः ।।२०।।

दक्षिणमार्गाः बहवः सन्ति, तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह **अर्यम्णः** इति. अर्यमा अत्र यमः, मुख्य-यमस्य स्वाधिकारप्रच्युतौ सः यमो भवति इति पूर्वम् उक्तत्वाद् "**अबिभ्रद् अर्यमा दण्डम्**"(भाग.पुरा.१।१३।१५) इति वाक्यात्. अनेन मुख्ययमश्चेत् तिष्ठेत् तदा[1] तेषां सापि गतिः न भवेद् इति सूचितम्. तस्य वैष्णवत्वात् तद् वक्ष्यति षष्ठे. येन मार्गेण यमो गच्छति क्रूरात्मा, सः भयानको मार्गः, परं न अधोगतिरूपः, किन्तु तल्लोकात्मकः. यत्र अग्निष्वात्तादयः पितरः तिष्ठन्ति, तेन पथा ते पितृलोकं व्रजन्ति. अनेन मार्गक्लेशः तत्र नीत्यभावश्च सूचितः. पुनरावृत्तिम् आह **प्रजामनु प्रजायन्ते** इति. प्रजा स्वस्य अन्तःकोशः, तस्य स्वयम् अन्तःकोशाः भवन्ति, पुत्रगृहे पुत्राः भवन्ति इति अर्थः. ननु श्राद्धादिना मोक्षो भवति इति श्रूयते सुदरिद्रोपाख्याने, तत्कथम् उच्यते पितृलोकाद् आगतस्य[2] जन्म इति आशङ्क्य, तेषां पुत्रगृहे जन्मैव मोक्षः इति श्रुत्यर्थं वक्तुं "प्रजामनु प्रजायन्ते" इति श्रौतं पदम् उक्तम्. "**प्रजामनु प्रजायन्ते तदु ते मर्त्त्यामृतम्**"(   ) इति श्रुतेः. तत्रापि न अल्पस्य तत्, किन्तु **श्मशानान्ताः** निषेकाद्याः वैदिक्यः क्रियाः कृताः येषु ते **श्मशानान्त-क्रियाकृतः**।।२०।।

एवं बहुवार-गमनागमनाभ्याम् इहैव लोके जायस्व-म्रियस्व इति मार्गं गत्वा ततोऽपि सर्वथा क्षीणसुकृताः देवानां चक्षुष्याग उत्पाद्य तैः विभ्रंशितोदयाः सन्तः तद् अवध्यानजनितपापाः पूर्ववद् अधोलोकेषु गच्छन्ति इति आह **ततः** इति.

ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकम् इमं सति! ।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः ।।२१।।

१.यमत्व ङ., २.आगत्य तस्य क. ङ.मां४. ३.'पूर्ववद् पुनः' इति मां४.

पुनः इमं लोकम् इति ततः पुनः ऊर्द्ध्वगमनाभावः सूचितः. **सति!** इति सम्बोधनं तेषु रागाभावबोधनार्थम्. देवैरेव विवशाः. **सद्यः** इति विलम्बाभावार्थं, विलम्बेन नाशे जाते प्रतिक्रियां करिष्यन्तीति तथा उक्तम्. अन्तकालेऽपि प्रतिक्रियाकरणनिवृत्त्यर्थं **विभ्रंशितः उदयो येषाम्** इति उक्तम्. तदैव सर्वस्वनाशो [१]मरणं च इतिवत्. उदयो धनाद्यैश्वर्याणि।।२१।।

एवं भगवद्भजनार्थमेव तन्निन्दाम् उक्त्वा प्रकृतम् आह **तस्मात् त्वम्** इति.

तस्मात् त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम् ।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ।।२२।।

ये केचिद् यथाकथञ्चिद् भवन्तु नाम, **त्वं सर्वभावेन भगवन्तं भजस्व**. यावन्ति रूपाणि भजनीयानि ऐहिक-पारलौकिक-साधनानि, देहम् आरभ्य ईश्वरपर्यन्तं यावन्तो भजनीयाः यैः-यैः भावैश्च ते सर्वे भावाः भगवत्येव कर्तव्याः इति **सर्वभावः. परमेष्ठिनम्** इति. [२]परमोत्कर्ष-स्थानस्थितं पुरुषोत्तमम् इति यावत्. भक्त्यैव च भजनं न मार्गान्तरेण, अन्यस्य तथा साधकत्वाभावात्. सापि भक्तिः तद्गुणानेव आश्रित्य वर्तते, अन्यथा कालादिभिः उपहता भवति. लोकादिभिः प्रतिबन्धात् कदाचिदपि भजनाभावम् आशङ्क्य तन्निराकरणार्थम् आह **भजनीयपदाम्बुजम्** इति. सर्वैरेव भजनीयं पदाम्बुजं यस्य. साभिमानमार्गाणां सर्वेषां पुनरावृत्तिहेतुत्वाद् निरभिमानमार्गः समाश्रयणीयः, सतु भगवन्मार्गएव इति निश्चीयते. अन्यथा स्वस्य पूर्वसंस्कारे बलिष्ठे विद्यमाने शास्त्रीयज्ञानं प्रकृत्यविवेकेन कर्तृत्वम् इत्यादि दुर्बलमेव मत्वा न कदाचिदपि अहङ्कारनिवृत्तिः भवेत्. ''भगवानेव सर्वं करोति'' इति उक्तेऽपि भजनाभावे न सिद्ध्यतीति भजनम् अवश्यं कर्तव्यम् इति उक्तम्।।२२।।

तस्य मोक्षपर्यवसायित्वं स्वमार्गानुसारेण आह **वासुदेवे** इति अष्टभिः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

तस्माद् इत्यत्र. **अन्यथा** इति. यदि साभिमानमार्गोऽपि अपुनरावृत्तिहेतुः स्यात्. **प्रकृत्यविवेकेन कर्तृत्वम् इत्यादि** इति. प्रकृतितः स्वस्य भेदाज्ञानेन कर्तृत्वम् इत्यादिरूपम् इति अर्थः. **भजनाभावे न** इत्यत्र भिन्नम् ।।२२।।

१.'मारणम्' इति मां४. २.'परमोत्कृष्ट' इति मां४.

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम् ।।२३।।

ज्ञानवैराग्यजननं परीक्षा ज्ञानसम्भवे ।
ततश्च निरहङ्कारो ज्ञानमेव हरिः परः ।।१।।
वैराग्यस्यापि माहात्म्यं युक्तिस्तज्जननेऽपि च ।
तदर्थं च जगज्जातं वैराग्ये सर्वनिश्चयः ।।२।।

तत्र प्रथमं भक्तेः मोक्षसाधकत्वं ज्ञान–वैराग्यजननद्वारेति भक्त्या ज्ञान–वैराग्योत्पत्तिम् आह **वासुदेवे** इति. **वासुदेवे भगवति** इति हृदये आविर्भूते भगवति प्रत्यक्षतया **भक्तियोगः** फलसाधकः इति उक्तम्. प्रथमतः स्वसामर्थ्यादेव **आशु वैराग्यं ज्ञान**ञ्च **जनयति**. ज्ञानं प्रतीकविषयमपि भवति इति विशिनष्टि यद् ज्ञानं ब्रह्म दर्शयति इति, ब्रह्मदर्शनरूपं वा. यस्मिन् जाते ब्रह्म आविर्भवति. तद् देवतारूपं ज्ञानम्. मननादिना वा साधने सम्पन्ने साक्षात्कारः इति।।२३।।

ज्ञानस्य परीक्षाम् आह **यदा अस्य** इति.

यदाऽस्य चित्तम् अर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः ।
न विगृह्णाति वैषम्यं विप्रियं प्रियम् अप्युत ।।२४।।

अस्य ज्ञानाधिकारिणः पुरुषस्य, चित्तं वस्तुतः **समेष्वेव अर्थेषु** पाञ्चभौतिकेषु भगवदाधारेषु भगवद्रूपेषु वा, इन्द्रियवृत्तिभिः स्वराग–जनिताभिः यदा वैषम्यं न गृह्णाति. तस्य वैषम्यस्य स्वरूपम् आह **विप्रियं प्रियम्** इति. रागकृतमेव इति उक्तम् **उत** इति. प्रकारान्तरमपि उक्तं साध्वसाध्वित्यादि।।२४।।

किम् एवं निदर्शनसहिते ज्ञाने भवति? इति [१]आकाङ्क्षायाम् आह **सः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

वासुदेवे इत्यत्र. **ब्रह्म दर्शयति** इत्यादिना उक्तं पक्षद्वयं व्याकुर्वन्ति **यस्मिन्** इत्यादि. **देवतारूपम्** इति. एतच्च सप्तश्लोक्यां यद् ब्रह्मणे भगवता दत्तं तादृशं ज्ञेयम् ।।२३।।

यदा इत्यत्र. **अप्युक्तम्** इति. 'अपि'शब्दोक्तम्. **''इन्द्रो मायाभिः''** (बृहदा.उप.२।५।१९) इत्यत्र 'माया'पदेन इन्द्रियवृत्तिः शास्त्रार्थप्रकरणे व्याख्याता, तस्य इदमेव पद्यं मूलं ज्ञेयम् ।।२४।।

१.'आशङ्कायाम्' इति मां४.

तदैव इति.

स तदैवात्मनात्मानं निःसङ्गं समदर्शनम् ।
हेयोपादेयरहितम् आरूढं पदम् ईक्षते ।।२५।।

ज्ञानरूपं प्राप्तेन आत्मनैव आत्मानं स्व-स्वरूपं प्रकृतिसङ्गरहितं सर्वत्र समदर्शनरूपम्. प्रकृति-तद्विकारोपधानरहितम् इति अर्थः. **हेयोपादेयरहितं** प्रवर्तक-निवर्तक-सर्वशास्त्राणां पर्यवसानरूपं पदम् आरूढं साध्यांशरहितम् ईक्षते. मुक्तरूपं वा आत्मानमेव पश्यति इति अर्थः।।२५।।

ननु ज्ञानएव जाते कथम् एवं भवति? नहि ज्ञानं वस्तु उत्पादयति. अतः स्वभावतएव आत्मा तादृशः इति मन्तव्यम्. ततश्च न साङ्ख्यसिद्धिः, किन्तु मायावादिनामिव मतं सेत्स्यति इति आशङ्क्य ज्ञानस्यैव तत्सम्पादकत्वम् उपपादयति **ज्ञानमात्रम्** इति.

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैः भगवान् एक ईयते ।।२६।।

ज्ञानं नाम आविर्भूतं नित्यं केवलोपनिषद्वेद्यं चैतन्यं, तदेव 'ब्रह्म'शब्देन

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

सः तदेत्यत्र. **मुक्तरूपं वा** इत्यादि. उक्तरीत्या सिद्धत्वेन वा स्वात्मनि दृष्टे निरहङ्कारो भवति इति अर्थः ।।२५।।

ज्ञानमात्रम् इत्यत्र. आभासे. **न साङ्ख्यसिद्धिः** इत्यादि. साङ्ख्ये हि वस्त्रमलिनत्ववद् आत्मनः प्रकृति-तद्विकारसंसर्गेण आगन्तुको बन्धः इति क्षारेण वसनशोधनवद् नित्यानित्यवस्तूनाम् उक्तरीत्या विवेकेन तादृशः आत्मा साध्यते, नतु स्वतएव. एतादृशस्य अविद्यानिवृत्त्या विस्मृतकण्ठमणिस्मरण-न्यायेन पश्चात् तादृशज्ञानम् इति स्वीक्रियते. अतः एवं ज्ञानेन अहङ्काराध्यासनिवृत्यङ्गीकारे न साङ्ख्यसिद्धिः, किन्तु तथा इति अर्थः. **तत्सम्पादकत्वम् उपपादयति** इति. मोक्षसम्पादकत्वम्. मोक्षो हि ''**मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः**'' (भाग.पुरा.२।१०।६) इति लक्षणकः. तथा सति यथा वसने क्रियया शोधनं, तथा अत्र आत्मनि ज्ञानेन शोधनं विधाय स्वरूपम् आविर्भाव्यते इति तथात्वम् उपपादयति इति अर्थः.

उच्यते ब्रह्मप्रकरणे. तदेव पुनः स्वेच्छया आविर्भूतैश्वर्यम् 'ईश्वर'शब्देन उच्यते. यस्मिन् आविष्टे प्राकृतोऽपि पुरुषः **''मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्''** (कैवल्योप.१९) इति मन्यते. अतः तदेव ईश्वररूपं ब्रह्मरूपञ्च. उपाख्यानान्तरेऽपि अन्तःदृष्ट्या बोधनभेदप्रकारेण 'आत्मा' इति उच्यते. तदेव ज्ञानम् अन्तःदृष्ट्या आत्मत्वेन दृष्टं 'परमात्म'शब्देन उच्यते. तदेव च पुनः बहिःदृष्ट्या दृष्टम् 'ईश्वर'शब्देन 'काल'शब्देन उच्यते. सएव च पुनः उपास्यरूपेण व्यवहाररूपेण च दृष्टः पुमान् त्रिविध-पुरुषरूपेण भासते. अतो मूलभूते तस्मिन् आविर्भूते सर्वमेव सङ्गच्छते इति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्.

ननु एकमेव वस्तु कथम् अनेकधा भवति? इति आकाङ्क्षायाम् आह **दृश्यादिभिः** इति. द्रष्टुः भावभेदेनैव एकएव भगवान् बहुधा ईयते. भावास्तु पृथक्. यथा एकएव देवदत्तः 'पित्रा'दिशब्दैः अनेकभावैः व्यवह्रियते[१], भवति च तथा. तथापि यस्य यो भावः उत्पद्यते, तं प्रति तथैव इति तथैव अर्थसिद्धिः. अतो मूलरूपाविर्भावार्थं यत्नः कर्तव्यः इति सिद्धम्।।२६।।

ज्ञानस्य प्रशंसां स्वरूपञ्च उक्त्वा वैराग्यस्य प्रशंसा-स्वरूपाणि आह **एतावानेव** इति चतुर्भिः.

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

विवृतौ. अत्र श्लोके भिन्नलिङ्गकम् 'ईश्वर'पदं द्वयं भिन्नार्थकम् इति बोधयितुं प्रथमस्य अर्थम् आहुः **तदेव पुनः स्वेच्छया** इत्यादि. **उपाख्यानान्तरे** इति. शारीरब्राह्मण-मैत्रेयीब्राह्मणादौ. **बोधनभेदप्रकारेण** इति. द्रष्टृत्व-दृश्यत्वादिरूपेण प्रकारेण. **त्रिविधपुरुषरूपेण** इति. क्षराक्षर-पुरुषोत्तमरूपेण. **मूलभूते** इति. **''ज्ञानं परमगुह्यं मे''**(भाग.पुरा.२।९।३०) इति श्लोकोक्तरूपे. **न किञ्चिद् अनुपपन्नम्** इति. तथाच सर्वमतोपपादकत्वाद् ज्ञानस्य स्वरूपावस्थानरूप-मोक्षसाधकत्वे किं वक्तव्यम् इति भावः. **भवति च तथा** इत्यादि. तथाच, **''तं यथा यथोपासते तथैव भवति, तद्धैतान् भूत्वा अवति''**(शत.ब्राह्म.१०।५।२।२०) इति श्रुतेः, **''कामं क्रोधम्''**(तेजोबिन्दूप.१२) इत्यादिषु सिद्धाद् निदर्शनाच्च तथा इति अर्थः. **अतः** इति. मूलज्ञानस्य भगवद्रूपत्वात् ।।२६।।

१.भावार्धवत् ङ.

युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यद् असङ्गस्तु सर्वतः ।।२७।।

प्रथमतः सर्वेषां शास्त्राणां वैराग्यमेव फलम् इति प्रमाणनिर्णयम् आह. सम्पूर्णेनापि **योगेन**. योगशास्त्रे सर्वेषामेव ज्ञान-भक्ति-कर्मादीनां 'योग'शब्द-वाच्यतैव. अतो **योगिनः** सर्वैरेव उपायैः अयमेव अर्थो **युज्यते**. **यद्** यदा **सर्वतः** चेद् **असङ्गो** भवति. 'तु'शब्दः पक्षान्तरं व्यावर्तयति. ये वैराग्यं न अभिमन्यन्ते, वैराग्याभावे ज्ञानमेव न भवेत्. जातं वा न किञ्चित् कार्यं कुर्याद्, दोषस्य अनिवृत्तत्वात्. सर्वथा निवृत्ते दोषे स्वप्रकाशरूपः आत्मा आविर्भविष्यति इति कोऽपि न तत्र प्रयासः कर्तव्यः. अतः सर्वशास्त्राणां फलं वैराग्यम्।।२७।।

एवं प्रमाणविचारेण वैराग्योत्कर्षम् उक्त्वा प्रमेयविचारेणापि आह **ज्ञानम् एकम्** इति.

ज्ञानम् एकं पराचीनैः इन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ।।२८।।

वस्तुतः सर्वं जगद् बोधान्वय-व्यतिरेकानुसरणाद् बोधमात्रम् इति अवसीयते. यः कश्चन लौकिको वैदिकः, सर्वोऽपि व्यवहारः बोधएव पर्यवसितः इति. यथा सर्वे तरङ्गाः समुद्रे पर्यवसिताः इति. अतः एकमेव **ज्ञानं** [१]**पराचीनैः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एतावान् इत्यत्र. योगफलकथनेन कथं सर्वप्रमाणनिर्णयः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **योगशास्त्रे** इत्यादि. तथाच 'योग'पदेन सर्वसाधनसङ्ग्रहे तत्फलकथनादेव तद्बोधकप्रमाणनिर्णयः उक्तः, तेन वैराग्यमाहात्म्यम् अत्र साधितम् इति अर्थः. **न मन्यन्ते**(?) इति. तेषाम् इति शेषः।।२७।।

ज्ञानम् एकम् इत्यत्र. **प्रमेयविचारेण** इति. स्वरूपविचारेण. ननु सर्वस्य कथं बोधान्वय-व्यतिरेकानुसरणम्? इति आकाङ्क्षायां तद् उपपादयन्ति **यः कश्चन** इत्यादि. तथाच "**अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्याद्**"(भाग.पुरा.२।९।३५) इत्यत्र सर्ववस्तुस्वरूपस्य सदन्वय-व्यतिरेकानुसरणात् सद्रूपत्वं यथा सिद्धं, तथा अत्र सर्वव्यवहारस्य बोधनान्वयव्यतिरेकानुसरणाद् बोधे पर्यवसानेन बोधमात्रत्वम् इति अर्थः. ननु बोधेन जायमानोऽपि व्यवहारो न आभासते इति सोऽपि सन्मात्र-पर्यवसितएव, नतु बोधपर्यवसितः इति शङ्कायाम् आहुः **यथा सर्वे** इत्यादि. तरङ्गाः

१.पराचीनैरेव क.मां४.

प्राकृतैः इन्द्रियैः व्यापकत्वाद्, बृंहणत्वाच्च **निर्गुणमेव**, गुणानां तदतिरिक्तानाम् अभावाद् घट-पटाद्यर्थरूपेण **भ्रान्त्या अवभाति**. अतः शुक्तिका रजतवत् प्रतिभासते इति वस्तुविचारेणापि तत्र आसक्तिः न उचिता. ते हि प्राकृताः स्वबुद्ध्यनुसारेणैव तद् गृह्णन्ति. एकदेशग्रहणेन, स्व-स्वभावग्रहणेन च तद् अन्यथा गृहीतं भवति. अतः स्वेन्द्रियादिधर्माएव तत्र आरोप्य गृह्यन्ते इति ख्यातिवादाः बहुविधाः उत्पन्नाः. धर्माणामेव वस्तुतः प्रतिभानम् इति

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

यथा जलाद् उत्पद्यमानाः समुद्रे पर्यवस्यन्ति, अतएव तरङ्गेषु उत्पन्नोऽपि फेनः समुद्रफेनएव उच्यते, नतु तरङ्गफेनो जलफेनो वा, तथा सर्वे व्यवहाराः सता उत्पद्यमानाः सति पर्यवस्यन्तोपि सद्व्यवहारस्य ज्ञानम् अन्तरेण अभावाद् बोधएव पर्यवसिताः इति मूलज्ञानस्य सतश्च अभेदएव अध्यवसेयः इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. **तदतिरिक्तानाम् अभावाद्** इति. तज्जन्यत्वेन तदतिरिक्तत्वाभावात्. एवं बहिर्मुखप्रतीतेः भ्रान्तित्वं व्युत्पाद्य वैराग्यजनिकां युक्तिं तत्र स्फुटीकुर्वन्ति **अतः शुक्ती**त्यादि. तथाच, शुक्तिकारजतं यथा बुद्धिरूपत्वेऽपि तदतिरिक्तत्वेन भासते, तथा सर्वं ब्रह्मात्मकज्ञानरूपत्वेऽपि तदतिरिक्तं भासते इति पुरःस्फूर्तिके रूपे आसक्तिः न कार्या इत्यत्र प्रमेय-स्वरूपविचारएव तज्जनिका युक्तिः इति अर्थः. ननु एवं सर्वस्य ज्ञानरूपत्वे कथम् अर्थत्वेन प्रतीतिः? इति आकाङ्क्षायां **पराचीनैः इन्द्रियैः** इत्यनेन उक्तम् इन्द्रियदोषं तत्र हेतुत्वेन स्फुटीकुर्वन्ति **ते हि** इत्यादि. तथा बुद्धिदोषाद् अर्थत्वेन प्रतीतिः इति अर्थः. ननु सर्वजनीनप्रतीतेः कथं भ्रान्तत्वम्? इति आकाङ्क्षायां प्रकारम् आहुः **एकदेशे**त्यादि. व्यापकस्य सर्वाकारस्य ज्ञानस्य यः **एकदेशः** कश्चिद् आकारः, परिच्छेदश्च तद्ग्रहणेन, **स्वस्य** यः **स्वभावः** पराक्त्वं, तद्ग्रहणेन च तद्ब्रह्मात्मकं निर्गुणं ज्ञानम्, **अन्यथा** अर्थरूपेण गृहीतं भवति. अतो धर्माणां पराक्त्वस्य च अनन्तविधत्वात् ख्यातीनामपि बहुविधत्वेन, तासां प्रतीतीनां स्वरूपविचारेऽपि सर्वजनीनत्वाभावेन च भ्रान्तत्वम् इति अर्थः. तान् ख्यातिवादान् दिङ्मात्रेण बोधयितुं ख्यातिस्वरूपम् आहुः **धर्माणाम्** इत्यादि. **वस्तुतो** वस्तुनः सकाशाद् वस्त्वनालोच्य वा धर्माणां शुक्ति-रजतादौ रूपस्य, तिक्तगुडादौ रसस्य, दिङ्मोहादौ प्राचीनत्वादेः इत्येव केवलानां धर्माणां रजतादौ वस्तुशून्यानामेव बुद्धौ प्रतिफलितानां तया भानम् इति अन्यख्यातिस्वरूपम्,

अन्यख्यातिः. आधारमपि पुरस्कृत्य तत्र कञ्चन अर्थं परिकल्प्य ग्राहकधर्म-सम्बन्धाद् अन्यथा इत्यपि आहुः. यथा प्रतीतिः भ्रान्ता तथा कल्पनापि इति न अत्यन्तम् आग्रहः कर्तव्यः. शब्दादिधर्मवान् च अयम्. 'आदि'शब्देन अर्थः, [1]तद्वत् शब्दधर्मादयो गृहीताः. ते च धर्माः अनादिवासनया स्फुरन्ति इति मिथ्यावादिनोऽपि एकदेशिवैराग्यप्रवेशेन संगृहीताः भवन्ति।।२८।।

तानेव भेदान् गणयति युक्त्या विचारयन्निव **यथा** इति.

यथा महान् अहंरूपः त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट् ।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद् यतः ।।२९।।

तत्त्वानां तद्भावापन्नत्वेन 'तत्त्व'शब्दवाच्यत्वोपपत्तेः[2] यथा महदादयः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

एवं प्रकृतेऽपि ज्ञानरूप-धर्मिशून्यानां तदाकारादीनां भानं ज्ञेयम्. अन्यथाख्यातिस्वरूपम् आहुः **आधारम्** इत्यादि. आधारम् इदन्त्वावच्छिन्नं पुरस्कृत्य तत्र **कञ्चनार्थं** पूर्वदृष्टं वस्तुधर्मं रजतत्वादिकं रजताद्यभेदं वा परिकल्प्य, ग्राहकाणां मनइन्द्रियाणां धर्मरूपो यो दोषः, तत्सम्बन्धात् शुक्तिप्रभृतिः पुरोवर्त्येव अन्यरजतादिरूपेण आभास इति अन्यथाख्यातिरपि आहुः इति अर्थः. एवम् अनिर्वचनीयं रजतम् उत्पद्यते इत्याद्यपि बोध्यम्. एवं तासां सर्वप्रतीतीनाम् असार्वजनीनत्वं साधयित्वा तासां तद्वादानाञ्च अनादरणीयत्वम् आहुः **यथा** इत्यादि. एतेन "**सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च**"(विवेकधैर्या.२) इति विवेक-धैर्याश्रय-ग्रन्थोक्त-न्यायात् "**सर्वं सर्वमयम्**" (नृसिंहो.ताप.उप.९।४) इत्यादि तापनीयश्रुतेः च अख्यातिवादएव ब्रह्मवादिसिद्धान्तः इत्यपि बोधितम्. 'शब्दादि'पदं व्याकुर्वन्ति **शब्दे**त्यादि. **अयम्** इति अर्थरूपो ज्ञानधर्मः. **अर्थतया** इति. अभिधेयतया. **तद्वद्** इति. अर्थवत्. तथाच ज्ञानरूपएव ब्रह्मणि तदविदुषाम् 'अर्थ'शब्द-तद्धर्मज्ञानरूपो भ्रमः इति अर्थः. एतेन सिद्धम् आहुः **ते च** इत्यादि. **एकदेशि-वैराग्यप्रवेशेन** इति. एकदेशिनो अभिमतं यद् वैराग्यं, तत्प्रवेशेन. तथाच मिथ्यावादो मुख्यवद् अस्यैव एतत्साङ्ख्यस्यापि एकदेशः इति अर्थः।।२८।।

यथा इत्यत्र. **तद्भावापन्नत्वेन** इति. तस्य भावः तत्त्वं, तदापन्नत्वेन. **यथा**

---

१. अर्थतस्तद्वत् ग. अर्थनद्धशब्द... ख. ङ. २. उपपत्तौ क. घ.

प्राकृतैः धर्मैः कृत्वा [१]'तत्त्व'शब्दवाच्याः जायन्ते. वस्तुतो अन्यधर्मवत्त्वेन ज्ञानमेव तत्–तच्छब्दवाच्यम्. एवम् इदानीमपि प्रतीयमानम् इति अर्थः. अहङ्कारस्य अनेकरूपत्वाद् 'अहं'पदस्य 'आत्म'शब्दवाच्यत्वाच्च तत्सन्देहनिवृत्त्यर्थं 'रूप'पदम्. **त्रिवृत्** त्रिविधः. ततः सर्वे पञ्चविधाः, मात्रा–भूत–प्राणादिरूपाः **एकादशविधः** इन्द्रियरूपः. मध्ये **स्वराड्** इति पुरुषो नारायणः. इन्द्रियाद्यपेक्षारहितः इति ततः पूर्वं निरूपितः. **तस्य वपुः** विराड् अण्डं तस्य आवरकं जगत् तस्यैव मध्ये कार्यम्. यतो धर्मसहित–ज्ञानप्रतीत्यैव केवलम् अवभासते।।२९।।

साधितं युक्त्या फलमुखेन साधयति **एतद्** इति.

एतद् वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः ।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्तः परिपश्यति ।।३०।।

एतत् पूर्वोक्तं विरक्तः परिपश्यति, न अविरक्तः. एतच्च वैराग्यं भगवतः षष्ठो गुणः इति ततः पूर्वं पञ्चभिः पदार्थसाधकैः सिद्ध्यति इति तत्साधकत्वेन पञ्चसाधनानि आह [२]अत्र अर्थे आस्तिक्यबुद्धिः भगवति बुद्धिः, अष्टाङ्गो योगश्च इति गुणत्रयम्. दोषाभावद्वयम् आह **समाहितात्मा निःसङ्गः** इति. अन्तः बहिः सङ्गाभावो निरूपितः. एवं सप्तविधः शास्त्रार्थो निरूपितः. भगवत्प्रतिपादकत्वेन, गुणानां प्रत्येकप्रकारप्रतिपादकत्वेन च. अतः शास्त्राणां निरूपणभेदेषु परस्परविरोधो न आशङ्कनीयः ।।३०।।

उपसंहरति **इति एतद्** इति.

इत्येतत् कथितं गुर्वि! ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम् ।
येनावबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ।।३१।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति. भ्रान्त्या अनारोपितरूपत्वेन. **अन्यधर्मवत्त्वेन** इति. हेतुना इति अर्थात्. **एवम्** इत्यादि. तथाच तद् यथा भ्रान्त्या, तथा इदानीमपि इति अर्थः. **यतः** इत्यस्यैव विवरणं **धर्मसहितज्ञानप्रतीत्या** इति. एतेन वैराग्याभावाद् जगद् भ्रान्तम् इति उक्तम्. अग्रिमे वैराग्यात् सर्वनिर्णयः स्पष्टएव ।।२९।।

इतीत्यत्र. तस्य इति. ज्ञानरूपस्य हरेः. **अन्यानि** इति. दर्शनानि ।।३१।।

१.शब्दवाच्या क. घ. २.तत्रार्थे. क.मां४. तत्रास्ति क्य. घ. तत्रादौ ङ.

हे **गुर्वि!** एतावद् उपदेशेऽपि न अहं गुरुः, किन्तु त्वमेव गुरुः. आज्ञया परं निरूपितम् इति. **इती**ति समाप्त्यर्थे. एतत् सर्वं ज्ञानमेव निरूपितम्. सप्तविधोऽपि सिद्धान्तो [1]ज्ञानविदएव इति तेन उपसंहारः. अनेन ब्रह्माविर्भावो भवति इति ब्रह्माविर्भावः फलम् उक्तम्. यदपि देवहूत्या पृष्टं, "**जिज्ञासयाऽहं प्रकृतेः पुरुषस्य**" (भाग.पुरा.३।२५।११) इति तदपि अनेनैव भवति इति आह **येन अवबुध्यते** इति. एवं सप्तविधं ज्ञानशास्त्रं, भक्तिशास्त्रं च अपरं, तस्य च बहुविधाः भेदाः उक्ताः. सहि क्रियाप्रधानः. यथा पुरुषस्य स्वरूपं, गुणाः, कर्माणि च इति. तत्र स्वरूपप्रतिपादकं वैदिकं शास्त्रं, षड् अन्यानि गुणप्रतिपादकानि. क्रियाप्रतिपादकञ्च भक्तिशास्त्रम्. तेषां भिन्नान्येव सर्वेषां फलानि।।३१।।

तत्र स्वरूप-मुख्यभक्तिशास्त्रयोः एकं फलम् इति आह **ज्ञानयोगः च** इति.

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः।
द्वयोरप्येक एवार्थो 'भगवच्'छब्दलक्षणः ।।३२।।

मन्निष्ठः इति षण्णां व्युदासः. **नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः** इति निर्दुष्टो भक्तिमार्गः उक्तः. द्वयोरपि एकमेव फलं, भक्त्यापि भगवान् प्राप्यते धर्मी मुख्येनापि ज्ञानेन. अतएव 'भगवच्'छब्देन लक्ष्यते 'भगवच्'छब्दो वा लक्षणं यस्य इति. अतः शास्त्रद्वयम् एकं षड् अन्यानि अङ्गशास्त्राणि इति सिद्धम्।।३२।।

ननु एको भगवान् कथम् अनेकविधानि शास्त्राणि? इति आशङ्क्य दृष्टान्तेन स्पष्टयति **यथा इन्द्रियैः** इति.

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैः अर्थो बहुगुणाश्रयः ।
एको नानेयते तद्वद् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः।।३३।।

यथा रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवद् द्रव्यं सर्वैरेव इन्द्रियैः पृथक्-पृथक् प्रतीयते. चक्षू रूपपुरस्कारेण पदार्थं गृह्णाति, रसना रसपुरस्कारेण, घ्राणं

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे द्वात्रिंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

अथ त्रयस्त्रिंशाध्यायं विवरिषवः संवादस्य समाप्तत्वात् तत्सङ्गतिं पूर्वम्

१.ज्ञानमिदमेव क. ज्ञानमेवेति घ.मां४. ज्ञानमिवेति ङ.

गन्धपुरस्कारेण इत्यादि. एवम् अनेकधर्मयुक्तो भगवान् तद्धर्मपुरस्कारेण प्रतिपाद्यते इति सर्वेषां शास्त्राणाम् एकएव भगवान् तत्तद्धर्ममुख्यतया नाना ईयते।।३३।।

किञ्च, सर्वैरेव साधनैः एकएव प्राप्यते इति आह **क्रियया** इत्यादित्रिभिः

क्रियया क्रतुभिर्दानैः तपःस्वाध्यायमर्शनैः।
आत्मेन्द्रियजयेनाऽपि संन्यासेन च कर्मणाम्।।३४।।
योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि।
धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान्।।३५।।
आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च।
ईयते भगवान् एभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक्।।३६।।

क्रियया स्नानादि-स्मार्तक्रियया, **क्रतुभिः** यज्ञैः **दानैः** तुलापुरुषादिभिः, **तपः, स्वाध्यायो** वेदाध्ययनम्, **अवमर्शो** विचारो मीमांसा. **आत्मा** अन्तःकरणम् इन्द्रियाणि च तेषां जयः. **संन्यासः** 'अहं-मम' इत्यादिसर्वपरित्यागः. **कर्मणाम्** इति आवश्यकत्वज्ञापकम्.

विविधाङ्गो योगः षडङ्गो अष्टाङ्गः इत्यादि. भक्तियोगोऽपि अनेकविधः. धर्मो यो विधीयते वैराग्य-रागोपाधिभेदेन द्विविधः, अतः तयोः भेदम् आह **यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान्** इति.

आत्मतत्त्वावबोधः साङ्ख्यम्. **दृढेन वैराग्येण** इति. विरक्तिशास्त्रम्. एवं सर्वैरेव साधनैः एकएव **भगवान्** पृथक्-पृथग् **ईयते**. ननु सोपाधीनां गुणप्राप्तिः निरुपाधीनाञ्च आत्मप्राप्तिः इति कथम् एकफलम्? इति आशङ्क्य आह सएव **सगुणो निर्गुणः स्वदृग् आत्मा** च इति अर्थः।।३४-३६।।

एवम् एकं फलम् उपपाद्य, उक्तानां भक्तिभेदानां सगुणनिर्गुणभेद-प्रतिपादनार्थं चातुर्विध्यम् आह **प्रावोचम्** इति.

प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम्।
कालस्य चाऽव्यक्तगतेः योऽन्तर्धावति जन्तुषु।।३७।।

भेदः पारमार्थिकः इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोगः उक्तः. ते च साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः, तत्त्ववादिनः, रामानुजाश्च इति तमो-रजः-सत्वैः

भिन्नाः. अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः. एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादितः. ''**अभिसन्धाय यो हिंसाम्**''(भाग.पुरा.३।२९।८) इत्यादिभिः वैराग्यार्थं कालस्यापि अव्यक्तगतेः स्वरूपम् उक्तम्. अव्यक्ततायां हेतुः **यो अन्तर्धावति जन्तुषु** इति ।।३७।।

तस्य वैराग्यशेषत्वप्रतिपादनाय आह **जीवस्य** इति.

जीवस्य संसृतीर्बह्वीर् अविद्याकर्मनिर्मिताः ।
यास्वनुप्रविशन् आत्मा न वेद गतिम् आत्मनः।।३८।।

त्रिविधाः गतयो जीवस्य उक्ताः, प्रत्येकं बहुविधाः, **अविद्याकर्म–निर्मिताः** इति. सर्वाएव अज्ञानोपाधिकर्मनिर्मिताः **प्रावोचम्** इति सम्बन्धः. तासां कथनस्य प्रयोजनम् आह **यासु अनुप्रविशन्** इति. **यासु** गतिषु कर्मणा स्वयम् **अनुप्रविशन् आत्मनो गतिं न वेद**. अतएव तत्प्रवेशाभावएव आत्मगतिः भवति इति निषेधार्थम् उक्तम् इति अर्थः।।३८।।

एवं सर्वमेव सिद्धान्तम् उक्त्वा, इयं सर्गलीलेति, अस्याः वक्तारो भविष्यन्ति इति येषु एतद् वक्तव्यं येषु च न वक्तव्यं, तान् उभयान् भेदेन निर्दिशति **नैतत् खलाये**ति चतुर्भिः. द्वाभ्यां निषेधम् आह :

नैतत् खलायोपदिशेद् नाविनीताय कर्हिचित् ।
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च ।।३९।।
न लोलुपायोपदिशेद् न गृहारूढचेतसे ।
नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि ।।४०।।
श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायाऽनसूयवे ।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च ।।४१।।
बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम् ।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः।।४२।।

खलः सूचकः परमर्मभेदी राजसभासु प्रसिद्धः. अनुरोधात् तस्य उपदेशः प्राप्नोति. **अविनीतः स्तब्धः** श्रद्धारहितः स्पष्टः. भिन्नो मतान्तरैः. **धर्मध्वजः** पाखण्डी.

लोलुपः इन्द्रियविषयेषु अतिचपलः. गृहेषु आरूढं चित्तं यस्य सर्वथा

गृहस्थः, मम च अभक्तः, मम भक्तानां सर्वेषामेव वा द्वेषी. एवं नवविधाः अवक्तव्याः निरूपिताः. एकादशविधाश्च वक्तव्याः, अन्ये मध्यमाः.

श्रवणे परमश्रद्धावान्. भक्तो भगवतः. विनीतो वक्तरि सर्वत्र च, असूयारहितश्च. तथा सर्वप्राणिषु कृता मैत्री येन. शुश्रूषायाम् अभितो रतिः यस्य.

बाह्येषु अर्थेषु जातो विरागो यस्य. शान्तं च चित्तं यस्य. मात्सर्यरहितो निर्मत्सरः. शुचिः यः पापादिना न अभिभूतः. अथवा **शुचये** इति सर्वत्र विशेषणं पूर्वोक्त–नवविधस्यापि. यस्य च अहं प्रेयसामपि प्रियः तस्मै सर्वथा वक्तव्यम्. सर्वगुणदोषविचाराभावेन इति पृथग् उक्तम्।।३९–४२।।

एवं कथने श्रोतृगुणदोषान् उक्त्वा, श्रोतुः वक्तुश्च फलम् आह **यः इदम्** इति.

य इदं शृणुयाद् अम्ब! श्रद्धया पुरुषः स्वदृक् ।
यो वाभिधत्ते मच्चितः स ह्येति पदवीं च मे ।।४३।।

अम्ब! इति सम्बोधनं स्नेहसूचकम्. श्रवणे श्रद्धा मुख्यम् अङ्गम्. **पुरुषः** इति यः पुरुषएव नतु स्त्रिया वञ्चनार्थं मायापुरुषः **स्वदृग्** इति आत्मदर्शी, अबहिर्मुखः उक्तः. बहिर्मुखस्य वक्ष्यमाणं फलं न भवति इति वक्तापि चेद् मच्चितः भगवत्प्रीत्यर्थमेव न धनाद्यर्थं कथयति. युक्तं हि उभयोः मत्पदवीगमनम्. **च**कारात् कामितं च प्राप्नोति इति।।४३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज–श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे द्वात्रिंशाध्यायविवरणम्।।

।। त्रयस्त्रिंशो अध्यायः ।।

एवम् अष्टभिर् अध्यायैः मताष्टकम् उदीरितम् ।
सर्वेषां तु फलं मुक्तिः अतः सात्र निरूप्यते ।।१।।
त्रयस्त्रिंशे तथाध्याये स्त्रिया मुक्तिरुदीर्यते ।
सर्गस्तदवधिर्यस्माद् देवास्ते लीलयोद्गताः ।।२।।
त्रयस्त्रिंशद्द्विधा लीला सर्गाख्या देवबान्धवी ।
वसवश्च तथा रुद्रा एक इन्द्रप्रजापती ।।३।।
आदित्याश्च यतः सत्त्वात् ते चतुर्दशधा मताः ।
मुक्तिः प्रसादाद्धि भवेद् न शास्त्रैः साधनैरपि ।।४।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आहुः **एवम्** इत्यादि. **मताष्टकम्** इति. मुख्यभक्तिः, साङ्ख्यं, ज्ञानं, योगः, वैराग्यशेषं मतचतुष्टयञ्च इति एवं मताष्टकम्. तथाच हेतु-हेतुमद्भावः संवाद-सङ्गतिः इति अर्थः. शुकोक्तौ यो अवसरः पूर्वम् उक्तः, "**मुक्त एव**"(   ) इति कारिकया तं स्मारयन्तो अध्यायार्थम् आहुः **त्रयस्त्रिंशे** इत्यादि. **तथा** इति. अवसरसङ्गत्या. **तदवधिः** इति, मूलप्रकृतिः पूर्वावधिः यस्य तादृशः, तथाच मूलप्रकृतेः मुक्तौ पुनः अग्रे सर्गो बन्धश्च न भवति इति उत्तरावधिबोधनार्थं स्त्रीमुक्त्या सर्गः शास्त्रे समाप्यते इति अर्थः.

ननु एवं सति तत्त्वमुक्तौ सर्गसमाप्तिः इति सिद्धं, तच्च सङ्ख्यातो विरुद्ध्यते, तत्त्वानाम् अष्टाविंशति-सङ्ख्याकत्वाद् इति आकाङ्क्षायां निबन्धे स्फुटीकृतम्. तत्तात्पर्यम् आहुः **देवाः ते** इत्यादि. 'यस्माद्' इति पदम् अत्रापि अन्वेति. तथाच यस्माद् देवाएव मुक्तियोग्याः, ते वस्वादिभेदेन त्रयस्त्रिंशत्-सङ्ख्याका भगवल्लीलया उद्गताः. सर्गाख्या लीला बन्ध-मोक्षभेदेन द्विप्रकारका यस्माद् देवबान्धवी देवहितकारिणी, अतो हेतोः वसवो रुद्राश्च ऊनविंशतिप्रकाराः, एके बन्धकोटिनिविष्टाः. इन्द्रादयश्च यतः **सत्त्वात्** सत्वं प्राप्य वर्तमानाः, अतः ते चतुर्दशधा मोक्षकोटिनिविष्टाः इति एवं वैदिकतया मोक्षपर्यवसायित्वबोधनाय तावत्यध्यायसङ्ख्या उच्यते, इति न तद्विरोधो दोषाय इति अर्थः.

एवं शास्त्रसङ्गत्यादिकं प्रदर्श्य विशेषाकारेण अध्यायार्थं वदन्तो मैत्रेयोक्तेऽपि सङ्गतिं स्मारयन्ति **मुक्तिः** इत्यादि सार्द्धम्. तथाच मैत्रेयोक्तौ

प्रसादश्च स्वतः प्रीते न सम्बन्धादिभिः क्वचित्।
अतः स्तोत्रं प्रसादश्च मुक्तिश्चापि फलं ततः ॥५॥
सर्गत्वख्यापनार्थाय वक्तुः स्थितिरुदीर्यते।
भगवत्त्वात् स्थितौ तस्य सर्वः सर्गः प्रतिष्ठितः ॥६॥
शास्त्रार्थेऽवगते सम्यक् प्रसादे यत्नवान् भवेत्।
अतः प्रसादनार्थाय तस्या यत्न उदीर्यते ॥७॥

मैत्रेयः उवाच

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः।
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम् ॥१॥

एवं निशम्य इति. **एवं** पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वसिद्धान्तरहस्यं **वचो निशम्य तुष्टाव** इति सम्बन्धः. एवं शास्त्रार्थपरिज्ञाने तत्प्रसादव्यतिरेकेण शास्त्रज्ञान-साधनफलसिद्धयो न भवन्ति इति तत्प्रसादः प्राप्तव्यः इति बुद्धिः केन धर्मेण तस्याः जाता? इति आकाङ्क्षायाम् आह **जनित्री** इति. येन धर्मेण तादृशं पुत्रम् उत्पादितवती. **सा** इति प्रसिद्धा स्वधर्मैः तपसा च. भर्तृमुक्त्यापि स्वस्य कार्यं सिद्ध्यति इति ज्ञापयितुम् आह **कर्दमस्य दयिता** इति. **किल** इति तस्याः धर्मः प्रसिद्धः. **देवहूतिः** इति देवानां हूतिः यस्मादिति योगेनापि देवसान्निध्यम्. एवं पञ्चधा तस्याः माहात्म्यम् उक्तम्. किञ्च, शास्त्रफलमपि तस्याः जातम् इति आह **विस्रस्तमोहपटला** इति. पुत्रादिषु यो मोहः तदेव **पटलं** ज्ञानाच्छादकं तद् अधः पतितं यस्याः. अतएव **तं** पुत्रमपि **अभिप्रणम्य,** नमस्कारे मोहाभावो हेतुः, गुरुत्वात्. स्तोत्रे भगवानेव हेतुः, अतः स्तोत्रम् अनुचितम् इति आशङ्क्य, भगवतो ज्ञानकलावतारः इति साङ्ख्यप्रवर्तकत्वाद् उपपादयति **तत्त्वविष-**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

धर्मादीनां मोक्षमूलकत्वं यद् अभिप्रेतं तद् बोधनाय हेतुतासङ्गत्या अत्र मोक्षः उच्यते इति भावः. शेषम् अतिरोहितार्थम् ॥६॥

एवम् अध्यायार्थं विशेषाकारेण निरूप्य व्याख्यातुम् आरभमाणाः कारिकयैव अवतारयन्ति **शास्त्रार्थे** इत्यादि.

एवम् इत्यत्र. **अतः** इति ज्ञानस्य भगवदीयत्वात् ॥१॥

अथ इत्यत्र. कारिकासु. **प्रत्यक्षाश्चर्यहेतूक्तिः** इति. प्रत्यक्षस्य प्रत्यक्ष-

याङ्कितसिद्धिभूमिम् इति. तत्त्वलक्षणो यो विषयो वाच्यो अर्थः, तेन अङ्किता चिह्निता या सिद्धिः साङ्ख्यशास्त्रं, तत्त्वविषयेण [1]च अङ्कितं यच्छास्त्रं तेन सिद्धं यद् ज्ञानं तस्य भूमिम् आधारम्. पूर्वव्याख्याने प्रवर्तकं वा. [2]तत्त्वविषयं वा ज्ञानं तत्त्वज्ञानं तेन अङ्किता या सिद्धिः भगवतो ज्ञानकला, तस्याः भूमिः ज्ञानकलावतारः इति अर्थः. अतः स्तुत्यः।।१।।

[3]सर्वसिद्धान्तवक्तारं भक्तेर्विषयमेव च।
प्रसादे ह्यात्मदं देवं सप्तभिः स्तौति भास्करैः।।१।।
प्रत्यक्षाश्चर्यहेतूक्तिः जन्मादेः करणाद् बृहत्।
अवताराभर्तालीला मत्तो दारोरिवोद्गतिः।।२।।
नाम्नः स्तुत्यादि माहात्म्यं नाम्नश्च हि हरेर्महत्।
एवं तं भगवत्त्वेन स्तुत्वाऽन्ते नमनक्रिया।।३।।
हरौ कृत्यम् इहैतावद् अतस्तुष्ट इतीर्यते।

प्रथमं तव दर्शनं दुर्लभम् इति आह **अथ** इति.

देवहूतिः उवाच

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं दध्यौ स्वयं यद् जठराब्जजातः।।२।।

यद्यपि **अजो** महान्, अथापि यद् वपुः दध्यौ, नतु प्रत्यक्षतया दृष्टवान्. तस्य महत्वम् आह जातोपि अजत्वं प्राप्तः. **यद् जठराब्जजातः** यस्य नारायणस्य जठराब्जाद् जातः. मातातु भस्त्रा, पुत्रस्तु आत्मैव. पुत्रेण चेद् न दृष्टः कथम्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ाश्चर्यस्य हेतूक्तिः इति द्वाभ्यां समर्थनम्. तृतीये जगतः कारणाद् जगत्कारणत्वाद् बृहत्त्व-ब्रह्मत्व-समर्थनम्. तस्य प्रकारः **अवताराभर्तालीला** इति. चतुर्थेतु **मत्तो दारोरिवोद्गतिः** समर्थिता. शेषं स्फुटम्. **आविर्भावस्थानम्** इति. माता इति अर्थः. **तच्छक्तेः** इति. मातृशक्तेः. एवं स्वविचारेण दर्शनस्य दुर्लभत्वम् उपपाद्य प्रमेयविचारेण उपपादयति इति अर्थम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. **एवम्** इति. दर्शनयोग्यधर्मसद्भावे ।।२।।

सएव इत्यत्र. **तत्र दृश्यते** इति. कपिलस्वरूपे जगद् दृश्यते. **अतः** इत्यादि.

१.वाङ्कितम् क. ग. ङ. २.ते तत्त्वविषयम् क. घ. ङ. ३.सप्त इति ख, ग.

आविर्भावस्थानं द्रक्ष्यति, तच्छक्तेः सर्वस्याः कार्येण सह निर्गमात्. किञ्च, शयानो भगवान् सर्वैरपि द्रष्टुं शक्यते, नतु यो जागर्ति. तत्रापि सलिले शयानः अनन्यस्पष्टतया उपलभ्यते इति. किञ्च, भूतेन्द्रियादिभिः व्याप्तं स्पष्टम् उपलभ्यते, नतु तद्रहितम्. जगताम् आधारभूतं च प्रत्यक्षं भवितुम् अर्हति, कारणं च प्रत्यक्षं भवति; अन्यथा कार्यम् अप्रत्यक्षं स्यात्. **अन्तःसलिले** सलिलमध्ये. **भूतानि** इन्द्रियाणि, **अर्थाः** तन्मात्राः; **आत्मा** अन्तःकरणं मनो बुद्धिः अहङ्कारः चित्तम् इति. एतैः व्याप्तं "**भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः**"(भाग.पुरा.११।४।३) इति वाक्यात् पुरुषशरीरं भौतिकं भवति, तैः व्याप्तं तन्मयम्. गुणानां प्रवाहो यस्मिन्. **सद्** व्यक्तम् अशेषस्यापि जगतो बीजं, स्वयम् अजस्तु भगवानेव. एवमपि न दृष्टवान्, मयातु दृष्टम् इति आश्चर्यम्।।२।।

ननु इदं रूपम् अन्यदेव, नतु ब्रह्मरूपम् इति आशङ्क्य आह **सएव** इति.

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धिः आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ।।३।।

सएव भवान् यो ब्रह्मणा ध्यातः. यतो विश्वस्य सर्गादि विधत्ते. एतस्य जगत्कर्तृत्वं विश्वरूपइव तत्र दृश्यते इति तथा उक्तम्. **गुणानां प्रवाहेण** अन्योन्यमेलनपरम्परया सृष्ट्यादौ करणेन विभक्तं वीर्यं यस्य. ब्रह्मादिरूपेषु उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयरूपं वीर्यं विभक्तम् इति अर्थः. कर्तृत्वेऽपि लौकिकवद् न कर्तृत्वं, किन्तु चिन्तामण्यादिवद् इति आह **अनीहः** इति. न विद्यते ईहा चेष्टा यस्य. ननु चिन्तामण्यादौ परेच्छा नियामिका, तथा भगवतोऽपि अन्येच्छया सृष्टिकरणे जडता स्याद् अतः आह **अवितथाभिसन्धिः** इति. अभिसन्धिः अभिसन्धानम् इच्छा इति यावत्. स्वेच्छयैव करोति इति अर्थः. ननु तर्हि निमित्तं स्याद्, अतः आह **आत्मा** इति. सर्वस्य जगतः आत्मा स्वरूपं समवायिकारणम् इति यावत्. ननु एकस्य कथं द्विरूपता समवायित्वं निमित्तत्वञ्च इति तत्र आह **ईश्वरः** इति. सर्वं कर्तुं समर्थो हि ईश्वरः. ननु ईश्वरोऽपि लोके युक्तिसिद्धमेव करोति, नतु युक्तिबाधितम् इति आशङ्क्य युक्तिम् आह **अतर्क्यसहस्रशक्तिः**

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

ब्रह्मत्वस्य स्वरूपे समर्थनाद् दौर्लभ्ये दर्शनरूपम् आश्चर्यं समर्थितम् इति अर्थः।।३।।

सः त्वम् इत्यत्र **स्वामी** इति जगत्स्वामी ।।४।।

इति. अतर्क्याः सहस्रं शक्तयो यस्य. अतः एकम् आश्चर्यं समर्थितम्।।३।।

द्वितीयम् आश्चर्यम् आह **सः त्वं भृतः** इति.

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ! कथं नु यस्योदर एतद् आसीत् ।

विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः।।४।।

सएव त्वं चतुर्दशलोकात्मा **मे** मम जठरेण कथं **भृतो** धृतः. ननु अस्मादेव हेतोः न अहं सः इति चेत् तत्र आह **नाथ!** इति. हे नाथ! स्वामिन् नहि अन्यः स्वामी भवितुम् अर्हति. ननु अहं तव उदरे तदा सूक्ष्मएव स्थितः इति चेत् तत्र आह **कथं नु यस्य उदरे एतद् आसीद्** इति. तदेव भगवद्रूपं यद् विश्वाधारं; गर्भस्थितिदशायां यदि विश्वाधारता न स्याद्, ब्रह्मत्वमपि न स्याद् इति तदानीमपि विश्वाधारता वक्तव्या. तत्कथं जातम् इति आश्चर्यम्. **एतद्** इति ब्रह्माण्डरूपं स्थूलं प्रदर्शितम्. ननु ''परस्परविरोधे एकं त्याज्यम्'' इति न्यायेन गर्भस्थितेः दृष्टत्वाद् जगदाधारत्वं न अस्ति इति मन्तव्यम् इति चेद् युगान्ते वटपत्रे एकएव माया शिशुः भूत्वा अङ्घ्रिपानः अङ्गुष्ठं पिबन् यः शेते, सः भवान् इति. यथा तदा बाल्यं, जगदाधारत्वञ्च उभयम् अविरुद्धम्, तथा उदरेऽपि इति भावः।।४।।

ननु एतत् सर्वं [1]सच्चिदानन्दरूपे ब्रह्मणि, नतु देहभाजि मयि इति आशङ्क्य आह **त्वं देहतन्त्रः** इति.

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां निदेशभाजां च विभो! विभूतये ।

यथावतारास्तव सूकरादयः तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ।।५।।

एतदपि मुख्यसिद्धान्तानवगमाद् गृहीतलीलाविग्रहः इति लोकदृष्टिः, पुराणवाक्यानि च पाप्मनां प्रशमाय, आज्ञाकारिणां विभूतये च, त्वं **देहतन्त्रः** देहपरिकरः स्वीकृतमूर्तिः, देहाधीनः इति वा प्रतीत्या. **विभो** इति सम्बोधनं प्रकृतोपयोगिसामर्थ्यबोधनाय. अनेन स्वेच्छया देहतन्त्रत्वम् इति उक्तम्. तच्च स्वतन्त्रस्य परतन्त्रता न युक्ता इति आशङ्क्य आह **यथावताराः** इति. यथा सूकरादयः क्रियावताराः तद्व्यतिरेकेण क्रिया न उपपद्यते इति, तथा एवम्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

त्वम् इत्यत्र. **एतद्** इति. देहे तन्त्रत्वकथनम् ।।५।।

यन्नामधेयेत्यत्र. **द्वितीयम्** इति विश्वाधारस्य स्वोदरे स्थितिरूपं,

१.चिदानन्दरूपे ख. ङ.

अवतारव्यतिरेकेण ज्ञानमपि न सम्भवति इति **आत्मपथोपलब्धये** आत्ममार्ग-सिद्ध्ये ज्ञानाय अयम् अवतारः इति आह **तथा अयम्** इति. अनेन अस्य अवतारस्य प्रयोजनद्वयम् उक्तम्. सद्रक्षा अधर्मनाशः इति सामान्यम्, आत्ममार्ग-भूतज्ञानार्थम् इति विशेषप्रयोजनम्।।५।।

एवं श्लोकद्वयेन द्वितीयमपि आश्चर्यं स्थापयित्वा, रूपे आश्चर्यद्वयं [1]प्रतिपाद्य, नाम्नि आश्चर्यद्वयम् आह **यद् नामधेये**ति द्वाभ्यां.

यन् नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद् यत् प्रह्वणाद् यत् स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन् नु दर्शनात् ।।६।।

नामश्रवणादेः धर्मस्य धर्मद्वारा नाममाहात्म्यं साक्षाद् नाम्नश्च. तत्र प्रथमम् आह **यस्य** भगवतो नामधेयस्य गुरोः सकाशात् श्रवणानन्तरं यद् अनुकीर्तनं, तेन **श्वादोऽपि** चाण्डालोऽपि सद्यः **सवनाय** सोमाभिषवयोग्यत्वाय **सद्यः** तस्मिन्नेव जन्मनि अव**कल्पते**[2]. **कुतः पुनः** तव **दर्शनात्**, सोमाभिषवयोग्यो भवति इति किं वक्तव्यम् इति अर्थः. श्रवणानन्तरं कीर्तनकथनाद् वैष्णवदीक्षया मन्त्रोपदेशपरः इति केचित्. **सद्यः सवनाय** इति **''सर्वमेधे वायवे चाण्डालम्''** ( ) इति वाक्यात्, पर्यग्निकरणपर्यन्तं तद्योग्यत्वम् इति अपरे. वस्तुतस्तु आश्चर्यरूपं माहात्म्यमेव लौकिकोपपत्त्या चेत् सिद्ध्येद्, आश्चर्यमेव न भवेत्. अधर्म-संस्कृतभूतविशेषैः हि चाण्डालादिशरीरम् आरभ्यते; सर्वोत्कृष्ट-धर्मसंस्कृत-भूतविशेषैस्तु ब्राह्मणशरीरम्. भगवन्नाम्ना दीक्षया

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

मन्त्रोपदेशपरः इति. 'अनुकीर्तन'शब्दो मन्त्रोपदेशपरः. तथाच, वैष्णवदीक्षाप्रकारेण प्राप्तोपदेशः चाण्डालोऽपि तस्मिन्नेव जन्मनि सोमाभिषवयोग्यो भवति इति कस्यचित् टीकाकारस्य मतम् इति अर्थः. इदं मतं तन्त्रावलम्बि. विष्णुतत्त्वं परिज्ञाय एकं वा अनेकभेदवत्. **''दीक्षयेद् मेदिनी सर्वां किं पुनश्चोपसंनतान्''** (विज्ञानोप-निषत्संहि.१६) इति विज्ञानोपनिषत्संहितायाः षोडशे पटले कथनाद् इति. श्रौतावलम्बिमतान्तरम् आहुः **सर्वमेधे** इत्यादि. तत्र द्वितीये अस्वरसं स्फुटीकुर्वन्ति **वस्तुतः** इत्यादि.

वाल्मीकेः इति वाल्मीकेः उपाख्यानम्. तथाच नाममाहात्म्यपक्षएव मुख्यः

१.प्रसाध्य ग. २.अवकल्प्यते क. ङ.

प्राप्तेन वा सर्वान् दोषान् औत्पत्तिकान् परिहृत्य, तान्येव भूतानि उत्कृष्टसंस्कारेण संस्कृतानि क्रियन्ते इति नाम्नो युक्तमेव माहात्म्यम्. अनेन सर्वदोषनाशनपूर्वक-सर्वगुणोपपादकत्वं नाम्नः उक्तम्. श्रवणयोग्येन अनुकीर्तनेन वा. श्रवणेन दोषनिवृत्तिः कीर्तनेन गुणाधानम् इति वा. ननु एतद् अत्याश्चर्यम् उच्यते इति आशङ्क्य कैमुतिकन्यायेन तद् उपपादयति **यत् प्रह्वणाद् यत् स्मरणाद्** इति. **प्रह्वो** नम्रीभावो नमनम् इति यावत्. नम्रीभावस्य आख्यानम् अप्रसिद्धं; स्मरणस्यतु वाल्मीकेः. सहि चण्डालएव मार्गघातकः ऋषेः उपदेशात् पूर्वं महर्षिभावनां कृत्वा पश्चाद् रामस्मरणेन तस्मिन्नेव जन्मनि वाल्मीकिः जातइति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. अतएव **क्वचिद्** इति उक्तम्. यत्र नाम रूपं वा स्वसामर्थ्यं प्रकटयति तत्र एवमेव इति अतिप्रसक्तिरपि निवारिता. श्वादः चाण्डालानाम् अधमः. उत्कृष्टस्य उत्तमत्वे कः सन्देहः इति 'अपि'शब्दार्थः. ते दर्शनात् सवनाय पुनः कुतः कल्पते, पूर्वमेव जातत्वाद् इति अनकाराध्याहारपक्षे अर्थः. अथवा **कुतः** इति किमिति अर्थे अव्ययं; किं पुनः भगवद्दर्शनात् सवनाय कल्पते इति वक्तव्यम् इति अर्थात्. एवं पर्यवसानवृत्त्या नामश्रवणादेः माहात्म्यम् उक्तम्।।६।।

साक्षाद् नाम्नो माहात्म्यं प्रतिपादयन्, प्रह्लादवद् भगवत्सृष्टिमध्यत्वाद् ब्राह्मणापेक्षया श्वपचो महान् इति वदन् तत्र युक्तिम् आह **अहो बत** इति.

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यद् जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्माऽनूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ।।७।।

नच वक्तव्यं ब्राह्मणात् श्वपचः कथं महान् इति, न ब्रूमो वयं जात्या, स्वाचारेण, कर्मणा वा, श्वपचो महान् इति; किन्तु हेत्वन्तरेणैव सः महान्. तद् आह **श्वपचो अतो गरीयान्** इति. प्रथमतो नाममाहात्म्ये हृदयं प्रविष्टे पूर्वं ब्राह्मणमाहात्म्यं ज्ञातवत्या इदानीं हीनभावे **अहो** इति आश्चर्यम्. ब्राह्मण्यदृष्ट्या **बत** इति खेदे. स्वस्य ब्राह्मण्याभावेन एतावत्कालं खिन्नायाः नाममाहात्म्ये अवगते सति **बत** इति हर्षे[1] वा. अतो हेतोः श्वपचो गरीयान्. निर्वृतोऽपि ब्राह्मणः

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

इति अर्थः।।६।।

प्रजापतेः इत्यत्र. **नाम्नापि तुल्यस्य** इति. कर्चासौ दमः च इति

१.हर्षो वा क. च.

स्वस्य [1]स्वकर्मणाम् उत्कर्षं ज्ञात्वा, कदाचिद् अन्यद् उच्चारयेद्, अभिमानादि-दोषयुक्तो वा भवेद्; अतः तत्र नाम न तिष्ठेत्. अतो निरन्तरं नामस्थानं श्वपच-जिह्वैव, तस्यैव तथा दर्शनात्; सः निरूपितो वाल्मीकिः. किञ्च, यद् जिह्वा अग्रे विद्यमानमपि नाम **तुभ्यं** त्वदर्थमेव; नतु तेनापि शुद्धौ जातायां कार्यान्तरं करोति; किन्तु यथा सः रामकथामेव लोके प्रकटितवान्. एतन्नाममाहात्म्यम् असम्भावितं मत्वा युक्त्या साधयति **तेपुः तपः** इति. ये पूर्वजन्मनि प्रथमं तपः तेपुः. ततः शुद्धब्राह्मणजन्मनि **जुहुवुः** यज्ञादिकं कृतवन्तः. ततोऽपि उत्कृष्टजन्मनि **सस्नुः** सर्वतीर्थाभिगमनं कृतवन्तः. ततो अग्रिमजन्मनि **आर्याः** सन्तो जाताः वेद-वेदार्थपरिनिष्ठिताः. ततोऽपि अग्रिमजन्मनि [2]परमोत्कृष्टदेहं प्राप्य, व्यास-वाल्मीकि-शुक-पराशरादिरूपाः भूत्वा **ब्रह्म अनूचुः**, ब्रह्मोपदेश-कर्तारो जाताः. तएव नाम गृणन्ति. अतः श्वपचस्यापि तथा नामग्रहणे केवलम् अल्पपापवशाद् भगवदिच्छया नाममाहात्म्यं ख्यापयितुं श्वपचत्वं जातम् इति निरन्तर-नामोच्चारणाद् अवसीयते. अयं महानेव तथा जातः इति; अतो युक्तम् उक्तम् इति अर्थः।।७।।

एवं भगवतो माहात्म्यं साक्षात् परम्परया च उक्त्वा, अभिप्रेतार्थ-सिद्ध्यर्थं तं नमस्यति **तं त्वाम् अहम्** इति.

तं त्वाम् अहं ब्रह्म परं पुमांसं प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ।।८।।

तं पूर्वोक्तप्रसिद्धियुक्तं, **त्वां** तथैव परिदृश्यमानम्. व्यवहारे पुत्रत्वाद् नमस्कारानौचित्यम् आशङ्क्य आह **परं ब्रह्म** इति. जीवानां मध्ये अयं व्यवहारः, नतु परब्रह्मणि; तस्य लौकिकसम्बन्धकृतगुणदोषौ न स्तः. **पुमांसम्** इति सएव सर्वत्र पुरि वर्तते इति. किञ्च, उपास्यो भवानेव. यतः **प्रत्यक् स्रोतसि** अन्तर्मुखे चित्ते सम्यग् विभाव्यो भवान् "**कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद्**" (कठोप. २।१।१) इति श्रुतेः. सः भवान् अतो भवान् फलरूपः, साधनरूपश्च. एवं भगवदवतारत्वम् उक्त्वा, तत्रापि विशेषम् आह **स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहम्** इति. स्वस्यैव तेजसा चिच्छक्त्या स्वप्रकाशज्ञानेन ध्वस्तो गुणप्रवाहो देहाद्यध्यासो येन.

१.धर्माणाम् ख. ग. २.सर्वोत्कृष्टजन्मनि ख. ङ.मां४.

अतो मोक्षेप्सोः ज्ञानकलावतीर्णएव सेव्यः इति उक्तम्. अतः तमेव वन्दे. **विष्णुम्** इति तस्य मूलरूपकीर्तनं, वेदार्थरूपं वा. प्रमाणम् आह **वेदगर्भम्** इति. तवैव निःश्वसिताः वेदाः इति अर्थः।।८।।

एवं स्तुते मातुः अभिप्रायं ज्ञात्वा प्रसन्नो जातः इति आह **ईडितः** इति.

मैत्रेयः उवाच

ईडितो भगवानेवं कपिलाख्यः परः पुमान् ।
वाचा विक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सलः ।।९।।

स्तोत्रम् अस्य युक्तम् इति ज्ञापयितुम् आह **भगवान्** इति. **एवम् ईडितः. कपिलः** इति आख्या मात्रं, वस्तुतः परएव पुमान्, कार्यभगवत्त्वव्यावृत्त्यर्थम् उक्तम्. **विक्लवया वाचा** इति तस्यां दया उत्पत्तिः सूचिता. मातुः स्तोत्रमात्रमेव महद् इति **मातरम्** इति आह. अयं च प्रसादः सर्वथा न मर्यादाकृतः किन्तु पुष्टिकृतः इति आह **मातृवत्सलः** इति. मातरि वत्सलः।।९।।

प्रसादमार्गमाहात्म्ये क्रमेण आह **मार्गेण** इति.

[1]**कपिलः उवाच**

मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे ।
आस्थितेन परां काष्ठाम् अचिराद् अवरोत्स्यसि ।।१०।।

हे **मातः! अनेन** मदुक्तेन मार्गेण भगवद्ध्यानयुक्तयोगेन कर्तुं सुकरेण. मया **उदितेन** इति अन्योक्तकथने तद्गताङ्गान्तरापेक्षा अस्ति न वा? इति सन्देहोऽपि भवेद्, मयैव उक्तम् इति न अत्र अन्यापेक्षा. अतएव सम्यग् आस्थिता **अचिरादेव परां काष्ठाम्** असम्प्रज्ञातसमाधिं, ततो भगवत्सायुज्यञ्च **अवरोत्स्यसि** प्राप्स्यसि इति वरः।।१०।।

स्वोक्तमार्गस्य उत्कर्षं च आह **श्रद्धत्स्व एतद्** इति.

श्रद्धत्स्वैतन् मतं मह्यं जुष्टं यद् ब्रह्मवादिभिः ।
येन माम् अभयं यायाद् मृत्युम् ऋच्छन्त्यतद्विदः।।११।।

फलमपि अहमेव इति आह **मह्यम्** इति. **एतद्** मत्सम्बन्धिमतं प्रामाणिकं, यतो **ब्रह्मवादिभिः जुष्टम्**. अवश्यं फलसाधकम् इति आह **येन माम्**

१.श्रीभगवानुवाच घ. ङ.मां४. स्पष्टम् ङ.

अभयं यायाद् इति. येन मतेन, अभयम् इति स्वस्य[1] फलत्वम्, एतन्मतानभिज्ञास्तु मृत्युमेव ऋच्छन्ति इति अन्यनिन्दयापि एतद् दृढीकृतम्. मृत्युप्राप्तिस्तु स्वकारणादेव. तस्माद् विधेयप्रशंसार्थमेव एतद् उक्तं सर्वभावेन तत्र श्रद्धार्थम्।।११।।

एतावद् उक्त्वा तां कृतकृत्यां ज्ञात्वा, ततः स्वयं निर्गतः इति आह **इती**ति.

मैत्रेयः उवाच

इति प्रदर्श्य भगवान् उशतीम् आत्मनो गतिम् ।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ ।।१२।।

कथनमात्रेणैव वक्तुः माहात्म्यात् तस्याः शास्त्रार्थज्ञानं भविष्यति इति अभिप्रायेण आह **भगवान्** इति. गतिश्च उशती कमनीया. स्वस्यैव गतिः इति स्वेनैव ज्ञायते, न अन्येन इति ज्ञापितम्. तयापि तदुक्तो अर्थो हृदये निश्चितः इति ज्ञापयितुम् आह **स्वमात्रा** इति. सापि पूर्वभाषां परित्यज्य शास्त्रार्थदार्ढ्याद् ब्रह्मवादिनी जाता. यस्तु अत्यन्तं यन्मताभिनिविष्टः सः व्यवहारेऽपि तदेव वदति. तस्य च फलं मोहाभावः. अतएव तया अभ्यनुज्ञातः, स्वयन्तु मोहरहितः ततो ययौ. गन्तव्यो देशः पश्चाद् वक्ष्यते तस्याः सिद्ध्यनन्तरम्, अन्यथा फलविसंवादे सर्वमेव उक्तं व्यर्थं स्यात्।।१२।।

तस्याः सः मार्गः सिद्धः इति आह **सा चापी**त्यादि विंशत्या

सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुक् ।
तस्मिन् आश्रम आपीडे सरस्वत्याः समाहिता ।।१३।।

योगे परित्यागस्य अनङ्गत्वात् स्वस्य परित्यागाधिकाराभावात् तस्मिन्नेव आश्रमे सा स्थिता इति आह **सा चापि** पूर्वोक्तापि तस्मिन्नेव स्वाश्रमे [2]स्थिता, तनयोक्तेन योगोपदेशेन योगयुक्ता जाता. स्वगृहे योगो न सिद्ध्यति इति दूषणं तत्र न अस्ति, यतः **सरस्वत्याः तदाश्रमम् आपीडं** मुकुटस्थानीयम्. गृहम् अगृहं वा न प्रयोजकं किन्तु विशिष्टदेशत्वमेव. **समाहिता** इति सावधानान्तःकरणा. अनेन यमाः उक्ताः।।१३।।

१.तस्यैव ङ. २.संस्थिता क.

नियमान् आह **अभीक्ष्णे**ति.

अभीक्ष्णावगाहकपिशान् जटिलान् कुटिलालकान् ।
आत्मानं चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम् ।।१४।।

स्निग्धकुञ्चितकेशाअपि संस्कारव्यतिरेकेण निरन्तरावगाहेन कपिल-वर्णाः जाताः, केशाः जटिलाश्च अन्योन्यश्लेषयुक्ताः, पूर्वं कुटिलालकाः, एतादृशान् **बिभ्रती** इति. [१]देशपरिकराणाम् असंस्कारः उक्तः. शरीरस्यापि असंस्कारम् आह **आत्मानम्** इति. **च**कारेण दन्तनखादि-संस्काराअपि निवर्तिताः. **उग्रतपसा** युक्तं कृशं वा. तपसैव ज्ञानं भवति इति. नियमानन्तरं तपो निरूपितम्. तपः साङ्गं च इति आह **चीरिणम्** इति. चीरवाससैव तपः कर्तव्यम् इति. कृशत्वं च तस्य अभिव्यञ्जकम्।।१४।।

तस्याः वैराग्यं वक्तुं पदार्थानाम् उत्कर्षं वर्णयति **प्रजापतेः** इति पञ्चभिः

प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम् ।
स्वगार्हस्थ्यम् अनौपम्यं प्रार्थ्यं वैमानिकैरपि ।।१५।।

अलौकिकं तदुत्कृष्टं सर्वोपकरणोत्तमम् ।
गृहं च सर्वशोभाढ्यम् उद्यानातिमनोहरम् ।
[२]मनः सौख्यप्रदं स्वस्य तादृशे ममतां त्यजेत् ।।१।।
अविद्यमानसन्त्यागे लोकयोर्भ्रष्ट एव हि ।
ऐहिकं सुगमं नो चेद् दूरे ह्यन्यस्य साधनम् ।।२।।

प्रथमं तद् अलौकिकं गार्हस्थ्यम् इति आह **प्रजापतेः** ब्रह्मतुल्यस्य, नाम्नापि तुल्यस्य, तपो-योगाभ्यां **विजृम्भितं** विवाहप्रभृति-विमानभोगादिकं तपो-योगाभ्यामेव जातम्. यद्यपि भगवता सम्पादितं, तथापि त्यागे तत्त्वं हेतुः न भवति इति **तपोयोगाभ्यामेव विजृम्भितम्** इति उक्तम्. **गार्हस्थ्यं** गृहस्थाश्रमः सपरिकरः. **अनौपम्यम्** उत्तरलोकानां फलरूपत्वात्, किन्नरादीनां च फलरूपत्वाद्, मर्यादात्वेन तथा उत्कर्षाभावात् च, ब्रह्मादीनां गार्हस्थ्याभावाद्

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

अन्वर्थनाम्नः इति अर्थः ।।१५।।

ब्रह्मणीत्यत्र. **आधाराधेयभावः** इति. स्वस्मिन् ब्रह्मस्फूर्तिः हि

१.'देह' इति मां४. २.मानसौख्यप्रदम् ख. ग. च.मां४.

गार्हस्थ्यं कर्दमस्य अनुपममेव. **वैमानिकानां** किन्नरादीनां [1]तत्सम्भवम् आशङ्क्य परिहरति **प्रार्थ्यम्** इति. नियतभोगिनां मध्ये वैमानिकाः उत्तमाः।।१५।।

परिकराणाम् उत्कर्षम् आह **पयः** इति.

पयः फेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च ।।१६।।

दुग्धफेनवत् कोमलाः उज्ज्वलाः उत्तुङ्गाः शय्याः दन्तनिर्मिताः रुक्मपरिच्छदाः शय्याः, काष्ठांशाः सुवर्णेन चित्रिताः अन्तभागाः येषाम्. [2]दन्तानाम् आसनानि **च**कारात् भाण्डादीन्यपि हैमानि. **सुस्पर्शानि** कोमलानि नानाविधानि वस्त्राणि आस्तरणानि. परिकराणि द्विविधानि, भाण्डमयानि वस्त्रमयानि च इति द्वयम् उक्तम्।।१६।।

स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललना रत्नसंयुताः।।१७।।
गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः।
कूजद् विहङ्गमिथुनं गायन् मत्तमधुव्रतम् ।।१८।।
यत्र प्रविष्टम् आत्मानं विबुधानुचरा जगुः ।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम् ।।१९।।

स्वच्छेति. **स्वच्छानि** निर्मलानि **स्फटिकमयानि कुड्यानि** येषु गृहेषु; कुड्यान्येव वा. महामरकतनिर्मितेषु च तत्र योजिताः रत्नमयाः प्रदीपाः आभान्ति. स्त्रीरहिताः गृहा[3]अपि न शोभन्ते इति **ललनाः** स्त्रियोऽपि रक्ताभरणसंयुताः तेषु गृहेषु आभान्ति.

गृहस्य उद्यानं पुष्पवाटिका, देवद्रुमैः कल्पवृक्षैः रम्यम्. कूजतां विहङ्गानां मिथुनानि यत्र. गायन्तो मत्ताः मधुव्रताः यत्र. उद्यानस्य सर्वविषयत्वप्रतिपादनाय, उद्दीपनविभावत्वाय च [4]पारावतानां कूजनं, भ्रमराणाञ्च गानम् उक्तम्.

यत्र विमाने उद्याने, गृहे वा **प्रविष्टम् आत्मानं** देवहूतिं **विबुधानुचराः** गन्धर्वादयो **जगुः**. **वाप्यां** च प्रविष्टम् उत्पलगन्धयुक्तायां, कर्दमेन च उपलालितं, कर्दमसहितं वा आत्मानं जगुः।।१७-१९।।

१.सम्भावनामाशङ्क्य ग. २.दान्तानाम् क.ग.ङ.मां४. ३.गृहाश्चापि क.ङ. ४.पारावतादीनाम् ख.

एवं गार्हस्थ्यं वर्णयित्वा तत्त्यागो भगवद्ध्यानार्थएव युक्तः इति वक्तुं कैवल्यशास्त्रे भगवत्स्मरणं दृढं न भवति इति निरन्तर-भगवत्स्मरणार्थं भगवदिच्छया भगवत्त्वेन, पुत्रत्वेन च पुत्रे स्नेहः स्थितः इति आह **हित्वा** इति.

हित्वा तदीप्सिततमम् अप्याखण्डलयोषिताम् ।

किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषकातरम् ।।२०।।

आखण्डलयोषिताम् इन्द्रस्त्रीणाम् **ईप्सिततमं** तद् गृहं हित्वा पुत्रे निर्गते पुत्रविश्लेषेण किञ्चित् कातरं वदनं चकार. शास्त्र-पुत्रत्वयोः संरक्षार्थं **किञ्चिद्** इति. 'किञ्चिद्' इति अव्ययं, क्रियाविशेषणं वा।।२०।।

न [१]केवलं वदनएव विकारः, किन्तु हृदयेऽपि इति आह **वनम्** इति.

वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा ।

ज्ञाततत्त्वाऽप्यभूद् नष्टे वत्से गौरिव वत्सला ।।२१।।

पत्यौ प्रव्रजिते सति वनं च प्रविष्टे सति प्रव्राजस्तु परित्यागो लोकस्य इति लोकस्थितो न परित्यागी. येतु भिक्षादिनियमाः उक्ताः ते आश्रमस्थानां, तत्र परित्यागः पूर्वसिद्धपदार्थानामेव. स्वतन्त्रपरित्यागे वनप्रवेशएव, तद् आह **वनं प्रव्रजिते** इति. अपत्यविरहेण च आतुरा भर्तुः विरहो नित्यः उक्तः. वनगमनात् तत्सङ्गे पुत्रविरहः उक्तः इति सोऽपि नित्यः, अतः आतुरा. ननु शास्त्रतो ज्ञानेन देहाध्यासे निवृत्ते विरहद्वयं न बाधकम् इति चेत् तत्र आह **ज्ञाततत्त्वे**ति. ज्ञातं तत्त्वम् आत्मनो यया. एतादृश्यपि पुत्रे दूरं गते वत्से नष्टे गौरिव व्याकुला जाता, यतो **वत्सला** पुत्रस्नेहाधिक्ययुक्ता।।२१।।

अयं स्नेहः तस्याः उपकाराय जातः इति आह **तमेव** इति.

तमेव ध्यायती देवम् अपत्यं कपिलं हरिम् ।

बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे ।।२२।।

तमेव पुत्रं भगवन्तं योगे ध्यायती **अचिरतः** शीघ्रमेव **तादृशे गृहे निःस्पृहा** जाता; यतः सः हरिः. [२]स्पृहा च दुःखात्मिका. **वत्स** इति विदुरसम्बोधनं त्वयापि एतत्कर्तव्यम् इति बोधनार्थम्. परित्यागलक्षणं वैराग्यं प्रकृते न अस्ति इति स्पृहाभावएव उक्तः।।२२।।

१.केवल क. २.सा च. क.

न केवलं भगवद्ध्यानेन गृहानासक्तिः सिद्धा किन्तु योगोऽपि सिद्धः इति आह **ध्यायती** इति.

ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम् ।
सुतं प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया ।।२३।।

सुतो यद् आह भगवद्रूपं सर्वेषामेव योगिनां ध्यानगोचरं सुतएव भगवान् इति सुतं ध्यायती. **सुतः** इति वा पाठः. **प्रसन्नवदनम्** इति. तस्य ध्याने भगवान् प्रसन्नएव अभिव्यक्तः इति कार्यसिद्धिसूचनार्थं प्रसादः उक्तः. समस्त-व्यस्त-प्रकारो ध्याने उक्तइति तथैव आह **समस्त-व्यस्तचिन्तया** इति. समस्तचिन्ता "**प्रसन्नवदनाम्भोजम्**" (भाग.पुरा.३।२८।१३) इति; व्यस्तचिन्ता "**सञ्चिन्तयेद् भगवतः**" (भाग.पुरा.३।२८।१३) इति।।२३।।

तादृशध्यानेन यद् आसीत् तद् आह **भक्तिप्रवाहयोगेन** इति चतुर्भिः.

भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा ।
युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना ।।२४।।
चित्तशुद्धेः साधनानि कार्यं शुद्धस्य चेतसः ।
ज्ञानस्याऽप्युत्तमावस्था दोषाभावश्च सर्वतः।।१।।

भगवच्चिन्तनेन क्रमेण परमाम् अवस्थां प्राप्तवती इति वक्तुं चिन्तनेन जातं क्रमम् आह आदौ भक्तिप्रवाहो जातः. सच उपायभूतः इति योगः, ध्यानेन प्रथमं भक्तियोगो जातः इति अर्थः. भक्तेः प्रवाहनित्यतैव इति 'प्रवाह'पदं. ततो दृढं वैराग्यम्. ततो भगवद्धर्मेषु परमश्रद्धया परलोके **युक्तं यद् अनुष्ठानजातं** निवृत्तिधर्मरूपं; तदनन्तरं ब्रह्मप्रापकं ज्ञानम्. एतावता साधनत्रयसहितेन ज्ञानेन चित्तम् अत्यन्तं शुद्धं भवति ।।२४।।

तदा शुद्धचित्तकार्यम् आह **विशुद्धेन** इति.

विशुद्धेन तदात्मानम् आत्मना विश्वतोमुखम् ।
स्वानुभूत्या तिरोभूत-मायागुणविशेषणम् ।।२५।।

तदा इति तदैव शुद्धिः, न ज्ञानात् पूर्वं चित्तं शुद्धं भवति इति उक्तम्. अतो **विशुद्धेन आत्मना आत्मानं ध्यायती जाता** इति पूर्वेणैव सम्बन्धः. संसारावस्थातः तदानीन्तनम् आत्मानं विशिष्टम् आह **विश्वतोमुखम्** इति. पूर्वम्

आत्मा हृदयाभिमुखः शरीरप्रवणः. शुद्धेतु[१] चित्ते सर्वतोमुखम् आत्मानं दृष्टवती. सर्वत्र विद्यमानः सर्वतोमुखः. पूर्वं च अविद्यावच्छिन्नो देहाभिमानी, साम्प्रतं च तद्गतम् इति आह स्वानुभूत्यैव तिरोभूता **माया** प्रकृतिः, तद्गुणाः सत्त्वादयः, **तद्विशेषाः** तत्कार्याणि परिच्छेदादयो यस्य।।२५।।

आत्मज्ञाने प्रादुर्भूते मायागुणकार्याणि लीयन्ते इति अविद्या-तत्कार्य-विलये ब्रह्मण्येव स्थितो जातः इति आह **ब्रह्मणि अवस्थितमतिः** इति.

ब्रह्मण्यवस्थितमतिः भगवत्यात्मसंश्रये ।

निवृत्तजीवभावत्वात् क्षीणक्लेशाप्तनिर्वृतिः।।२६।।

तदेव ब्रह्म पूर्वं ध्यातो भगवान् इति ततो ज्ञातवती. ततोऽपि सः भगवान् न[२] ध्यानम् अपेक्षते, किन्तु **आत्मन्येव** स्वस्मिन्नेव **सम्यग् आश्रयो** यस्य तादृशं ज्ञातवती. एवं स्वस्मिन् भगवत्स्फुरणे जीवभावो निवृत्तः इति आह **निवृत्ते**ति. आधाराधेयभावोऽपि निवृत्तः. स्वस्य परिच्छेदेऽपि तिरोहितानन्दत्वं जीवभावः, प्रकटानन्दः स्वयमेव भगवान् जातः इति अर्थः. एवं सति अविद्यादयः सर्वे क्लेशाः क्षीणाः भवन्ति; क्लेशेषु च निवृत्तेषु परमा निर्वृत्तिः प्राप्यते. प्राप्यं रूपम् अधिकारातीतम् इति ज्ञापनार्थम्. प्राप्तेऽपि भगवद्रूपे पुनः [३]निवृत्तिः उक्ता. ब्रह्मभावेऽपि वा आधाराधेयभावः स्थितएव. मध्यावस्था वा एषा ।।२६।।

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतप्रकाशः

आधाराधेय-भावप्रयोजिका तन्निवृत्तौ सः निवृत्तः इति अर्थः. तद् विवृण्वन्ति **स्वस्य** इत्यादि. अग्रिमग्रन्थः प्रकटार्थः ।।२६।।

तृतीयस्कन्धविवृतेर्यो भावो हृदि मेऽस्फुरत्।

श्रीमदाचार्यकृपया तं प्रकाशितवान् अहम्।।१।।

यदबुध्वा मया किञ्चिद् उदितं बुद्धिदोषतः।

तत् क्षन्तव्यं दयालुत्वाद् दीनस्याप्यधमस्य मे।।२।।

इति श्रीतृतीयस्कन्धसुबोधिनीप्रकाशे श्रीमद्वल्लभदीक्षितचरणैकतान पीताम्बरात्मज-पुरुषोत्तमदासविरचितं त्रयस्त्रिंशाध्यायविवरणं सम्पूर्णम्।।

१.ख. पुस्तके नास्ति. २.नेति नास्ति क. ङ. 'ध्यानं नापेक्षते' इति मां४. ३-४.'निर्वृत्तिः' इति मां४.

नित्यारूढसमाधित्वात् परावृत्तगुणभ्रमा ।

न सस्मार तदात्मानं स्वप्नदृष्टम् इवोत्थितः ।।२७।।

निवृत्तौ जातायाम् इन्द्रियैः पुनः आनयनापेक्षाभावाद् नित्यारूढसमाधिः जाता. नित्यम् आरूढः समाधिः यया सा देवहूतिः नित्यारूढसमाधिः. तस्याः भावकथनं तत्स्थैर्यार्थम्, एवं समाधिदार्ढ्ये परावृत्ताः गुणैः कृताः भ्रमाः यस्याः. आनन्दतिरोभावः तमसः, परिच्छेदो रजसः, भेदः सत्त्वस्य इति त्रयोऽपि निवृत्ताः. एवं सति अध्यासाश्रयभूतस्य देहस्यापि स्फुरणं सर्वदोषहेतुः न जातम् इति आह **न सस्मार** इति. स्वप्नदृष्टं देहं यथा उत्थितः, अहम् इति न मन्यते, तदपेक्षयापि इमं देहम् आत्मानं न सस्मार [१]स्मृतवत्यपि न।।२७।।

ननु देहास्मरणे कथं देहः तिष्ठेद्? इति शङ्कां परिहरन्, तस्य [२]देहस्य अन्तर्ज्ञानप्रकाशेन प्रकाशमानत्वम् आह **तद्देहः** इति.

तद्देहः परतः पोष्योऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात् ।

बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः ।।२८।।

परतः योगनिर्मितस्त्रीभिः पोषितोऽपि अकृशः, बहिः वस्त्रादिनैव पोषो नतु भोजनकृतः, तथापि न कृशः. तत्र हेतुः **आध्यसम्भवाद्** इति. आधिः मनःपीडा[३]. मृत्युः पूर्वमेव जितः इति देहवृद्धिश्च अनपेक्षिता इति केवलं मनः पीडयैव देहह्रासो भवति; तदभावाद् अकृशः. **च**कारात् कान्तिनाशाभावश्च. अन्तःस्थितज्ञानेन, बहिःस्थितमलेन च **मलैः अवच्छनो बभौ**. उभयम् एकत्र साधयितुं दृष्टान्तः **सधूमः इव पावकः** इति.

अन्तःप्रज्वलितो वह्निः बहिर्निःसृतधूमकः ।

तादृशो ज्ञानसम्पन्नः तपसा मलिनो बभौ ।।१।। ।।२८।।

कदाचिद् उत्थानदशायां देहं स्मरिष्यति इति आशङ्क्य आह **स्वाङ्गम्** इति.

स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम् ।

दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः ।।२९।।

तपोयोगाभ्यां व्याप्तम्. **मुक्तकेशम्** इति दैवगत्या केशविमोकेऽपि,

---

१.स्मृतवानपि क. ग. घ. ङ. च. २.देहस्येति नास्ति. ग. २.मानसी क.

वस्त्रविमोकेऽपि, स्त्रीणां लज्जया अत्यावश्यकेऽपि निमित्ते देहं **न बुबुधे**. स्थितिस्तु दैवाधीना इति आह **दैवगुप्तम्** इति. अबोधे हेतुः वासुदेवे प्रविष्टा धीः यस्या ।।२९।।

एवं तस्याः बाह्याभ्यन्तर-व्यवस्थाम् उक्त्वा, आन्तरं फलितम् आह **एवम्** इति.

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम् ।
आत्मानं ब्रह्मनिर्वाणं भगवन्तम् अवाप ह ।।३०।।

सा देवहूतिः **कपिलोक्तेन मार्गेण** भक्ति-ज्ञान-योगात्मकेन, **अचिरतः** शीघ्रमेव, **परमात्मानं** ब्रह्मानन्दं **भगवन्तं** सर्वशास्त्रप्रतिपाद्यम् **अवाप**. **ह** इति आश्चर्ये. स्त्रिया मुक्तिः दुर्लभा इति।।३०।।

तस्याः मुक्तिः सर्वजनीना जाता इति क्षेत्रप्रसिद्ध्या निरूपयति **तद् वीर आसीद्** इति.

तद् वीरासीत् पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिम् उपेयुषी ।।३१।।

वीर! इति सम्बोधनं तथाशौर्यकरणार्थं, स्वधर्मप्रतिपादनेन विश्वासार्थं [1]वा. **तत् क्षेत्रं** नाम्ना 'सिद्ध'शब्दवाच्यं, 'सिद्ध'पदं पुण्यतमम् आसीत्, **त्रैलोक्य-विश्रुतम्** इति तन्मुक्त्यैव इति तन्मुक्तौ प्रमाणम्. अन्यथा सर्वेषु तीर्थेषु विद्यमानेषु तस्यैव कथं प्रसिद्धिः स्यात्? अतः [2]प्रसिद्धिहेतुम् आह **सा संसिद्धिम् उपेयुषी** इति. सा हि सम्यक् सिद्धिम् **उपेयुषी** प्राप्तवती।।३१।।

शरीरस्य विनियोगम् आह **तस्याः** इति.

तस्यास्तद्योगविधुत-मार्त्यं मर्त्यम् अभूत् सरित् ।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य! सिद्धिदा सिद्धसेविता ।।३२।।

तपोयोगेन **विधुतं मार्त्यं** मृदंशो यस्य. जलमेव हि घनीभूतं मृद् भवति, यथा हिमः, यथा वा करकाः, यथा वा सैन्धवं, योगीश्वरो[3] वा, महता तापेन तद् विशकलितं भवति, अतएव एतादृशं मर्त्यं तत् सरिद् अभूत्. सा स्रोतसि सरस्वत्याः प्रविष्टा **स्रोतसां प्रवरा** सरस्वत्येव अभूत्. **सौम्य** इति सम्बोधनं

१.च. क. ङ. २.'प्रसिद्धेः हेतुम्' इति मां४. ३.वागीश्वरः क. घ.

विश्वासार्थम्. यथा वा सोमः अमृतमयः, पाने विशकलितावयवो भवति; नवम्याः सोमकलायाः पातायमः इति. ततः प्रभृति सा सरस्वती सिद्धिदा जाता तत्रैव. अतः सिद्धसेविता जाता।।३२।।

एवं तस्याः सर्वसिद्धिम् उक्त्वा स्त्रीमुक्त्यवधिभूतां सर्गलीलां समाप्य, तस्य सर्गस्य विसर्गसाधकत्वएव सर्गत्वं सेत्स्यति इति उत्तरोपयोगार्थं कपिलस्य स्थितिम् आह **कपिलोऽपि** इति त्रिभिः.

कपिलोऽपि महायोगी भगवान् पितुराश्रमात् ।
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ ।।३३।।

गतिः स्तोत्रं प्रतिष्ठा च त्रयम् आह गुणान्वितम्. तत्र प्रथमं गतिम् आह **महायोगी** गमनेऽपि प्रयासरहितः, मातुः सिद्धिं च ज्ञात्वा, अग्रे कर्तव्यमपि जानाति इति. **भगवान्** इति सर्गनियामकत्वे हेतुः. पितुः आश्रमात् मातरं समनुज्ञाप्य प्राग् उदीचीं दिशं प्रति ययौ. एषा वै देव-मनुष्याणां शान्ता दिक्।।३३।।

गमने सिद्धादीनां स्तोत्रम् आह **सिद्धे**ति.

सिद्ध-चारण-गन्धर्वैः मुनिभिश्चाप्सरोरगैः ।
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः।।३४।।

ये केचित् सिद्धिकामुकाः, ते भगवदंशाः षड्विधाः निरूपिताः. **उरगाः** वासुकिप्रभृतयः. **गणैः** इति पाठे, अप्सरसां गणाः येषां ते इन्द्रादयः, तैः स्तूयमानः. यत्र गच्छति तेनापि पुरस्कृतः इति आह **समुद्रेण दत्ते अर्हणनिकेतने** यस्य ।।३४।।

एवं तस्य गमन-मध्यस्थिति-निरूप्य तत्र स्थितस्य कृत्यम् आह **आस्ते** इति.

आस्ते योगं समास्थाय साङ्ख्याचार्यैरभिष्टुतः ।
त्रयाणामपि लोकानाम् उपशान्त्यै समाहितः।।३५।।

योगं सम्यग् आस्थाय सम्यग् आस्ते. तत्र स्थितो द्वयं कृतवान् साङ्ख्यमतप्रवृत्तिः, त्रयाणामपि लोकानाम् उपशान्त्यर्थं शुभाशंसनञ्च. अतः साङ्ख्याचार्यैः स्तुतः।।३५।।

एवं तच्चरित्रम् उक्त्वा उपसंहरति **एतद् निगदितम्** इति.

एतन् निगदितं तात! यत् पृष्टोऽहं त्वयानघ ।
कपिलस्य च संवादो देवहूत्याश्च पावनः ।।३६।।

कपिलस्य यत् चरित्रं पृष्टं तद् निगदितम्. संवादोऽपि **पावनः** इति निगदितः. एतस्य द्वितीयसर्गरूपत्वात् सर्गोऽपि निगदितः इति अर्थः. **च**कारद्वयेन द्विविधोऽपि सर्गः उपसंहृतः।।३६।।

एतत् चरित्रश्रवणस्य फलम् आह **यः इदम् अनुशृणोति** इति.

य इदम् अनुशृणोति योऽभिधत्ते कपिलमुनेर्मतम् आत्मयोगगुह्यम् ।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेतावुपलभते भगवत्पदारविन्दम् ।।३७।।

कपिलमुनेः मतं साङ्ख्यम्. **आत्मयोगेषु** आत्मप्राप्त्युपायेषु **गुह्यं** गोप्यम् अनुशृणोति इति शिष्यरूपेण, नतु प्रभुरूपेण. **यो अभिधत्ते** सम्यक् शिष्यहृदये स्थापयति, तौ उभावपि भगवति कृतबुद्धी, तस्मिन्नेव **सुपर्णकेतौ** गरुडध्वजे कालातिक्रमार्थं, शास्त्रपर्यवसानार्थञ्च तादृशे निश्चितबुद्धिः, तत्पदारविन्दम् उपलभते. एतस्य मतस्य श्रवणं भगवति मतिनिश्चयार्थम्. यत्र एतन्मतश्रवणेऽपि भगवत्पदप्राप्तिः भवति तत्र किं वक्तव्यं तन्मतानुसारेण प्रवृत्तस्य सम्पूर्ण-सर्गलीलाश्रोतुः वा।।३७।।

तृतीयस्कन्धविवृत्तिः श्रीकृष्णचरणाम्बुजे ।
निवेदितातियत्नेन सर्वसिद्धान्तगुम्फिता ।।१।।
सुज्ञेषु भक्तिहृदयेषु निवेदयामि सर्गाभिधा यदि यथार्थतया विचिन्त्या ।
लीला सदैव मतियुक्तिभिरन्विताङ्गी भाव्या तदा विवृतिरुज्ज्वलयुक्तियुक्ता ।।२।।
सर्वभक्तसमुद्धारे सर्वार्थोत्पादकं हरिम् ।
त्रयस्त्रिंशत्सर्गयुतं वन्दे सर्गाय माधवम् ।।३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज-श्रीमद्वल्लभदीक्षित-विरचितायां तृतीयस्कन्धे त्रयस्त्रिंशाध्यायविवरणं समाप्तम्।।

समाप्तो अयं स्कन्धः

।। ग्रन्थोद्धृतवचनानुक्रमणिका ।।

अतिपाप्मानमरातिं तरेम	(तैत्ति.आर.१०।११)	१०१
अथाहं स्वांशकलया	(भगा.पुरा.३।२१।३२)	१०८,११२,१२२
अधस्ताद् भूमेः	( )	२९८
अनावृत्तिः शब्दाद्	(ब्रह्मसू.४।४।२२)	२३४
अन्नमयं हि सौम्य मन	(छान्दो.उप.६।५।४)	
अन्यैश्च	(भाग.पुरा.३।२८।७)	२३८
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्	(भाग.पुरा.२।९।३५)	३४०
अबिभ्रद् अर्यमा दण्डम्	(भाग.पुरा.१।१३।१५)	
अभिगम्य स्वयं कन्याम्	( )	५०
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते	(भग.गीता ५।२६)	३१२
अभित्वाशूरनो नुमः	(ऋग्वेदसं. मं.७।३२।२२)	५४
अभिसन्धाय यो हिंसाम्	(भाग.पुरा.३।२९।८)	३४६
अमानोनाः प्रतिषेधे	( )	१५६
अयम आत्मा अपहतपाप्मा	(छान्दो.उप.८।१।५)	२३६
अयम् आत्मा ब्रह्म	(बृहदा.उप.२।५।१९)	१२६,२८४
अयम् आत्मा ब्रह्म विज्ञानमयः	(बृहदा.उप.४।४।५)	२८४
इत एव ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्	(जाबा.उप.४)	
इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा	(बृहदा. उप.२।४।६)	२८४
इन्दुर्मन्दिरमिन्दिरा मृगमदः	( )	९२
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि	(भग.गीता १०।२२)	१९४
इन्द्रियाणि दशैकं च	(भग.गीता १३।५)	१९४
इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः	(भग.गीता ३।४२)	१९३
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था	(कठोप.१।३।१०)	१९३
इन्द्रो मायाभिः	(बृहदा.उप.२।५।१९)	
इषे प्राणाय ऊर्जेअपानाय	( )	३
इषेत्वोर्जेत्वा	(यजुर्वेद.१।१।१)	२९
उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवद्	(ब्रह्मसू.३।२।२७)	२८४
ऊर्ग्वा अन्नाद्यं दधि	(तैत्ति.ब्राह्म.२।७।२।६)	२९
ऊर्ग्वा उदुम्बरम्	( )	२९

ऋणत्रयम् अपाकृत्य मनो मोक्षे	(मनुस्मृति ६।३५)	४४
एकमेवाद्वितीयम्	(छान्दो.उप. ६।२।१)	२८४
एतस्माद् जायते प्राणो मनः	(मुण्डकोप. २।१।३)	१९३
एते देवाः कला विष्णोः	(भाग.पुरा. ३।५।३७)	१
एवं पञ्चविधं लिंगम्	(भाग.पुरा.४।२९।७४)	१४३
एष मानवि ते गर्भम्	(भाग.पुरा.३।२४।१८)	१३२
एष सप्तदश प्रजापतिः	(शतप.ब्राह्म. ५।१।३।७)	१२
कयानश्चित्रे	(ऋग्वेदसं.मं.४।३१।१)	५४
करोति कर्माणि कृतावतारः	(भाग. पुरा.३।५।५)	१२९
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद्	(कठोप.२।१।१)	२२१, ३५५
कामं क्रोधम्	(तेजोबिन्दूप.१२)	३३९
काममयएव अयं पुरुषः	(बृहदा.उप. ४।४।५)	१६५
कार्यकारणकर्तृत्वे	(भाग.पुरा.३।२६।८)	१६८
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा	(श्वेताश्वतरोप.१।२)	१७९
कुत्र क्षत्तुर्भगवता	(भाग.पुरा.३।१।३)	९
कुम्भीपाके महाघोरे	( )	२९३
को अयम् आत्मा	(ऐतरेयोप.५।१)	२२६
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति	(भग.गीता९।२१)	१५६
गुणतो वृद्धिवृत्तयः	(भाग.पुरा.११।१३।२७)	१९५
गृहं सर्वात्मना त्याज्यम्	(पञ्चश्लोकी१)	२७९
चरणं पवित्रं विततं पुराणम्	(त्रि.म.ना.उप.७।३)	१०१
जक्ष भक्ष-हसनयोः	(धा.पा.अदादि.६४)	१८
जबगडदशम्	(माहेश्वरसू.)	१९२
जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिर्	(तैत्ति.सं.६।३।१०)	४४
जिज्ञासयाऽहं प्रकृतेः पुरुषस्य	(भाग.पुरा.३।२५।११)	३४४
ज्ञानं परमगुह्यं मे	(भाग.पुरा.२।९।३०)	३३९
ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्त-गुणोर्मिचक्रम्	(भाग.पुरा.२।३।१२)	९
तं यथा यथोपासते तथैव	(शत.ब्राह्म.१०।५।२।२०)	३३९
तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते	(बृहदा.उप.४।४।२)	३२२
तं वोदस्म-मृतीषहम्	(ऋग्वेदसं.मं.८।८८।१)	५४

तत्र साधुः	(पाणि.सू. ४।४।९८)	३३४
तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः	(भाग.पुरा. ३।२९।२९)	१९४
तद् द्वयं निर्व्यलीकेन	(भाग.पुरा.३।२१।५६)	६७
तद् भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम्	(भाग.पुरा.२।१।३०)	२५६
तयोरेकतरो ह्यर्थः	(भाग.पुरा.११।२४।४)	१६७
तरति शोकम् आत्मविद्	(छान्दो.उप.७।१।३)	३०५
तस्मात् त्रिरः पशवः प्रेरित(?)	(तैत्ति.ब्राह्म.)	६२
तानि मृत्युः श्रमो भूत्वा उपयेमे	(बृहदा.उप. १।५।२१)	४०
तान्त्रिकाः परिचर्यायाम्	(भाग.पुरा.१२।११।२)	२७६
तिरोभिर्वावदद् वस्तुम्	( )	५४
ते ध्यानयोगे तु ता अपश्यन्	(श्वेताश्वतरोप.१।३)	१७९
ते प्राप्नुवन्ति मामेव	(भग.गीता १२।४)	३३०
तेन स परमां काष्ठाम् अगच्छद्	( )	३१
त्वं यज्ञः	(बृहदा.उप. १।५।१७)	१२१
दत्तामपि हरेत् कन्यां श्रेयांश्चेद् वर	(विष्णुध.पुरा.२।८७।१०)	७२
दास्यम् ऐश्वर्यवादेन ज्ञाते(ती)नां	( )	१७
दिक्काला-वाकाशादिभ्यः	(साङ्ख्यसू.२।१२)	१७२
दीक्षयेद् मेदिनी सर्वां किं	(विज्ञानोपनिषत्संहि.१६)	३५३ ३२२
दुरन्तसर्गोयदपांगमोक्षः	(भाग.पुरा.२।१।३१)	५८
द्वया ह प्राजापत्याः	(बृहदा.उप.१।३।१)	१५१
धूमेनाव्रियते वः	(भग.गीता ३।३८)	५९
न एकः पुत्रः पुत्रो भवति	( )	६८
न तं विदाथ	(ऋग्वेद १०।८२।७)	२६०
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके	(वाक्यपदी.ब्रह्मका. ११४)	१९२
नाथृ-नाधृ याञ्चोपतापैश्वर्याशीःषु	(धा.पा. भ्वादि.६-७)	३०६
नित्यदा ह्यंगभूतानाम्	(भाग.पुरा.११।२२।४२)	३२२
नीतिरस्मि जिगीषताम्	(भग.गीता १०।३८)	१९४
न्यबोधयद् देवनिधारय	(भाग.पुरा.३।२।२२)	१७
पञ्चभ्यो हिंकरोति स एकया तिसृभिः	(ताण्ड्यब्राह्म.३)	५४
परोक्षभागिनश्च ह्रीकाः	( )	३०

पुनन्तु मां ब्राह्मण–पादपांसवः	(१संस्कारमालायां)	६७
पुनरत्राव्रजच्छुचिः	(भाग.पुरा.३।३०।३४)	३०५
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे	(भग.गीता १३।२०)	१६८
पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः	(साङ्ख्यसू. ६।४५)	१६९
पूर्ववद् वा	(ब्रह्मसू.३।२।२९)	२८४
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा	(ब्रह्मसू.१।४।२३)	३३०
प्रजामनु प्रजायन्ते तदु ते मर्त्त्यामृतम्	( )	
प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि	(पात.योगसू.१।७)	१९३
प्रयतात्मनः	(भग.गीता९।२६)	११०
प्रसन्नवदनाम्भोजम्	(भाग.पुरा.३।२८।१३)	३६१
प्राणी स्वधर्मं करिष्यति	( )	२८६
बभ्रूग्रसेनयो राज्यं नाप्तुं शक्यं	( )	१७
बहु स्यां प्रजायेय	(छान्दो.उप. ६।२।३)	१३
बाढं वृणीध्वम्	( )	७१
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा	(भग.गीता १८।५४)	२५६
ब्रह्मवादिनो वदन्ति. किं कारणं	(श्वेताश्वतरोप.१।१)	१७९
ब्रह्मेति परत्मात्मेति भगवान्	(भाग.पुरा.१।२।११)	२८५
ब्रूहि कारणयोरस्य	(भाग.पुरा.३।२६।९)	१७४
भीषास्माद् वातः पवते	(तैत्ति.उप.२।८)	१५९
भूतानाम् अस्मि चेतना	(भग.गीता १०।२२)	१९४
भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः	(भाग.पुरा.११।४।३)	३५१
मखभंगो अनुगृह्णता	(भाग.पुरा.१०।२७।१५)	१७
मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य	(भाग.पुरा.११।२७।५०)	२७५
मद्धर्माचरणैरेतैः	(भाग.पुरा.३।२९।१९)	२७२
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि	(भग.गीता १५।७)	१९३
मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं	(ब्रह्मबिन्दूप.१)	२३६
मन्निकेतं तु निर्गुणम्	(भाग.पुरा.११।२५।२५)	२७६
मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्	(भाग.पुरा.११।२५।२४)	१५२
मम योनिर् महद् ब्रह्म	(भग.गीता १४।३)	२४८, ३३०
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं	(कैवल्योप.१९)	३३९

महउद्धव उत्सवः	(अमरको. १।३८)	७
महतस्तु विकुर्वाणाद्	(भाग.पुरा.२।५।२३)	१४
मा रक्षतैनं यक्षध्वम्	(भाग.पुरा.३।२०।२०)	१९
मां द्विषतः	(भग.गीता १६।१९)	२७७
मानो हि महतां धनम्	(चाणक्यनीति ८।१)	७०
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण	(भाग.पुरा.२।१०।६)	३३८
मृङ् प्राणत्यागे	(धा.पा.तुदादि.१५१)	३२२
मृते म्रियते या नारी सा स्त्री ज्ञेया	(बृहस्प.स्मृति १।२५।१२)	७३
मृत्यवे वा एष नीयते	(तैत्ति.संहि.३।१।५)	२७३
य आत्मनि तिष्ठन्	(शतप.ब्राह्म.१४।५।३०)	३१०
यं द्विष्यात् तं ध्यायेद्	(तैत्ति.संहि.६।४।५)	२७७
यजमान–पञ्चमाम् इडां भक्षयति	( )	१९३
यज्ञो दानं तपश्चैव	(भग.गीता १८।५)	११०
यज्ञो वै विष्णुः	(तैत्ति.संहि.१।७।४)	२८५
यतो–यतो निःसरति	(भाग.पुरा.७।१५।३३)	२३७
यथा हि भगवानेव वस्तुतः	(भाग.पुरा.६।८।३१)	२७०
यदा ह्येव एष एतस्मिन् उदरम्	(तैत्ति.उप.२।७)	२७९
यदि अन्यां देवताम् उपास्ते	(बृहदा.उप.१।४।१०)	२७९
यस्मिन् विदिते सर्वम् इदं विदितम्	(शाण्डिल्योप.२।२)	
यस्य पृथिवी शरीरम्	(बृहदा.उप.३।७।३)	२८४
यस्यात्मा शरीरम्	(बृहदा.उप.३।७।२२)	१७०
या वै लसत् श्रीतुलसी–विमिश्र	(भाग.पुरा. १।१९।६)	२४७
यावत्तेजो बिभृयाद्	(भाग.पुरा.३।२२।१९)	९०
यावद् अस्थि मनुष्याणाम्	(स्कन्दपुरा.काशीखण्ड २८।३५)	२४७
यावद् जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयाद्	(मैत्राण्युप.६।३०)	७४
यावान् यश्चास्मि यादृशः	(भाग.पुरा.११।११।३३)	१२८
यास्तु श्रुताः	(भाग.पुरा.३।१५।२३)	३३४
ये यथा मां प्रपद्यन्ते	(भग.गीता ४।११)	२५६
येषां नाशितम् आत्मनः	(भग.गीता ५।१६)	२५६
यो अर्केन्द्वग्नीन्द्रे	( )	६७

यो मां द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः	(कौषी.ब्राह्म.उप.२।८)	२७७
यो राज्ञः प्रतिगृह्णीयाद्	(मनुस्मृति ४।८७–८८)	२९३
योगः चित्तवृत्तिनिरोधः	(पात.योगसू.१।२)	१३८
योगेन माम् अवरुन्धे	( )	१४९
योनिश्च हि गीयते	(ब्रह्मसू.१।४।२७)	३३०
रूपभेदविदः तस्माद्	(भाग.पुरा.३।२९।३०)	१९४
लिंगं व्यपोहेत् कुशलोऽहम् आख्यम्	(भाग.पुरा.५।५।१३)	१३८
वस्तुनो लघुकाठिन्यम्	(भाग.पुरा.२।१०।२३)	२०२
वादः प्रवदताम् अहम्	(भग.गीता १०।३२)	१९४
विश्वं येन समन्वितम्	(भाग.पुरा.३।२६।३)	१७४
विश्वामित्र–जमदग्नी	( )	२७७
विश्वावसुः पर्यमुष्णाद्	( )	२८
विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसाम्	(भाग.पुरा.११।१६।३३)	२८
वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजाम्	(भाग.पुरा.१०।१।७)	१७४
शब्द इति चेन्नातः प्रभवाद्	(ब्रह्मसू.१।३।२८)	
शारीरम् आत्मानम् ... इदं मयोऽदोमयः	(बृहदा.उप.४।४।५)	२८४
श्रुतस्य पुंसाम्	(भाग.पुरा.३।१३।४)	१२९
श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य	(तैत्ति.उप.२।८)	३३०
श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य	(तैत्ति.उप.३।८)	३३०
स एष प्रकृतिं सूक्ष्माम्	(भाग.पुरा.३।२६।४)	१७०
स वा एष महान् अज आत्मा	(बृहदा.उप.४।४।२५)	१७०
स वाचमेव प्रथमाम् अत्यमुच्यत	(बृहदा.उप.१।३।१२)	
संगः सर्वात्मना त्याज्यः	(ब्रह्मवै.पुरा.)	१४६
सञ्चिन्तयेद् भगवतः	(भाग.पुरा.३।२८।१३)	३६१
सत्यं वद	(तैत्ति.उप.१।११।१)	६७
सत्वात् सञ्जायते ज्ञानम्	(भग.गीता १४।१७)	१६७
सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदा	(भाग.पुरा.१०।८७।२६)	३२२
सद्भावे साधु–भावे च सद् इत्येतत्	(भग.गीता१७।२६) ६४	
सद्यस्त्व–प्रियवादिनीम्	(गरुडपुरा.१।११५।६४)	८५
सद्यो नष्टस्मृतिः	(भाग.पुरा. १०।८।४४)	

सरस्वती–दृषद्वत्योर्–देवनद्योर्	(मनुस्मृ.२।१७)	५०
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	(छान्दो.उप.३।१४।१)	२८४
सर्वं गंगासमं तोयं सर्वेव्याससमा	(पद्मपुरा.१।५०।२२९)	१९१
सर्वं सर्वमयम्	(नृसिंहो.ताप.उप.९।४)	३४२
सर्वत्र तस्य सर्वं हि	(विवेकधैर्या.२)	३४२
सर्वमेधे वायवे चाण्डालम्	( )	३५३
सहस्रसम्मितः स्वर्गोलोकः	( )	१८०
सहस्राराच्युतोऽव्यय	(भाग.पुरा.९।५।४)	२५३
सिद्धा विद्याधराश्चैव योगएव	( )	९९
सुखं दुःखं भवो भावः	(भग.गीता १०।४)	२१
सुखं दुःखम्	(भाग.पुरा.१०।२४।१३)	३०७
सो अकामयत	(तैत्ति.उप.२।६)	१३
स्तेयं हरेर्हरति यद् नवनीतचौर्यम्	(श्रीकृष्णकर्णामृतम् ३।९०)	२४९
स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि	(चाणक्यनीति १।१६)	७३
स्थाने अथ धर्मः	( )	६०
स्वकर्मणा पितृलोकः	(बृहदा.उप. १।५।१६)	३३३
स्वकृतं भुङ्क्ते	( )	१६७
स्वयं पुष्टश्च तरुणः सकामः	( )	६
स्वामिकार्यप्रसमानां तथात्वेऽपि	( )	६
हंसे गुरौ	(भाग.पुरा.५।५।१०)	१३८
हरिर्हि निर्गुणः साक्षाद्	(भाग.पुरा.१०।८८।५)	१५२
हेतुभूति निषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न	(न्यायकुसु.१।५)	१७७
ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मनएव	(बृहदा.उप.१।५।३)	१६८